पशुधन और कुक्कुट पालन

डा. वी. के. सोनी, उप-महानिदेशक (पशु विज्ञान), भा. कृ. अ. प. के सौजन्य से

करन-स्विस गाय (साहीवाल × ब्राउन स्विस)

भारत की सम्पदा

प्राकृतिक पदार्थ

•

पूरक खण्ड

•

पशुधन और कुक्कुट पालन

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली

1973

प्राक्कथन

यह खण्ड 'भारत की सम्पदा—प्राकृतिक पदार्थ', ग्रन्थमाला का पूरक खण्ड है जिसमें भारतीय पशुधन के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की गयी है. वैसे तो इस सामग्री को 'भारत की सम्पदा' के चतुर्थ खण्ड में 'पशुधन' के अन्तर्गत समाविष्ट होना चाहिये, किन्तु भारत के पशुधन का विशेष महत्व है, अतः जनसाधारण से लेकर बुद्धिजीवियों के लिये इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुये पशुधन से सम्बन्धित यह सामग्री पृथक् से एक पूरक खण्ड के रूप में प्रस्तुत की जा रही है. इस खण्ड में 11 अनुभाग हैं जिनके नाम इस प्रकार है : गोपशु तथा भैंसें; भेड़ें; बकरियाँ; सुअर; घोड़े तथा टट्टू; गधे तथा खच्चर; ऊँट; याक; पशुधन उत्पादों का रसायन; विपणन और व्यापार; तथा कुक्कुट पालन.

अपने मूल रूप में यही सामग्री "वेल्थ आफ इण्डिया, रॉ मटीरियल्स" के चतुर्थ खण्ड के साथ अंग्रेजी में "लाइव स्टॉक सप्लीमेंट" के नाम से प्रकाशित हो चुकी है जिसका लेखन विभिन्न विशेषज्ञों ने किया है. प्रस्तुत पूरक खण्ड उसका हिन्दी संस्करण है जिसके अनुवाद में विश्वविद्यालयों एवं अन्य संस्थाओं के विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया गया है. वैज्ञानिक शब्दों के लिये यथास्थान जनसमुदाय में प्रचलित शब्दों के उपयोग करने का भी प्रयास किया गया है. अंग्रेजी में यह पूरक खण्ड 1970 में ही प्रकाशित हुआ है. महत्वपूर्ण विवरण, सारणियों द्वारा, प्रस्तुत किये गये हैं. रूपान्तर करते समय आँकड़ों को यथासम्भव अद्यतन किया गया है.

पशुओं का वर्णन करते समय उनके वैज्ञानिक तथा देशज नाम मोटे टाइप में दे दिये गये हैं. इस ग्रन्थ के अन्त में पुस्तक में उल्लिखित सभी संदर्भ ग्रन्थों और संदर्भ शोध पत्रिकाओं का विवरण दे दिया गया है, जिससे अधिक सूचना प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति उन पुस्तकों और ग्रन्थों की सहायता ले सकें.

इस पूरक खण्ड में 5 फलक रंगीन और 21 फलक सादे हैं.

इस खण्ड में प्रयुक्त बहुमूल्य जानकारी के लिये हम निम्नलिखित संस्थाओं तथा विभागों के आभारी हैं: केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (मन्त्रिमंडल सचिवालय), नई दिल्ली; कृषि सांख्यिकी अनुसंधान संस्थान (भा. कृ. अ. प.), नई दिल्ली; अर्थ एवं सांख्यिकी निदेशालय; खाद्य तथा कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली; विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय, खाद्य तथा कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नागपुर; व्यापारिक सूचना तथा सांख्यिकी महानिदेशालय, कलकत्ता; प्रधान नियंत्रक आयात-निर्यात, नई दिल्ली; तकनीकी विकास महानिदेशालय, नई दिल्ली; भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर; भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली; राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल; केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर; श्रीराम औद्योगिक अनुसंधान संस्थान, दिल्ली; केन्द्रीय डेरी फार्म, अलीगढ़; प्रसार निदेशालय, खाद्य तथा कृषि ंत्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली; भारतीय घासभूमि तथा चारा अनुसंधान संस्थान, झाँसी; केन्द्रीय गोसंवर्धन परिषद्, नई दिल्ली; कृषि सेवा समिति तथा भारत कृषक समाज, नई दिल्ली; खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग, नई दिल्ली; अन्तर्राष्ट्रीय ऊन

सचिवालय, नई दिल्ली; सैनिक फार्म निदेशालय, नई दिल्ली; इलाहाबाद कृषि अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद; दिल्ली दुग्ध योजना, दिल्ली; एफ. ए. ओ. तथा यूनीसेफ, नई दिल्ली; कैरा जिला सहकारी दुग्ध-उत्पादन संघ लिमिटेड, आनन्द (गुजरात) इत्यादि.

दूध, दही, मक्खन जैसे खाद्य पदार्थ तथा पैरों की चप्पलों से लेकर हाथ-कंगन एवं लहलहाते खेतों के लिये उर्वरकों और दैनिक उपयोग की बटन, कंघी जैसी अनेक उपयोगी वस्तुओं में पशुधन सम्पदा का विशेष महत्व है. लाखों लोगों को पशुधन उत्पादों के उद्योगों से जीविका मिलती है और देश-विदेशों के बाजारों को व्यापारिक सामग्री उपलब्ध होती है. कस्तूरी जैसी अनेक पशुजन्य ओषधियाँ मनुष्य के जीवन को नीरोग बनाती हैं. अविकसित स्थानों में परिवहन का एकमात्र साधन पशु है. मांस, मछली तथा अण्डे कहीं-कहीं भोजन का मुख्य भाग हैं. पशुधन से बने वस्त्र, ऊन और ऊनी सामग्री, सौंदर्य बढ़ाने वाले हैं तथा प्रतिकूल मौसम से हमारी रक्षा करते हैं. कुछ पशुओं के बारे में तो ऐसा कहा जाता है कि 'जीवित हाथी लाख का, तो मरने पर सवा लाख का'. जहाँ पशुओं और पशुधन का इतना महत्व हो वहाँ उनसे सम्बन्धित जानकारी देने वाले ग्रन्थ का महत्व भी कम नहीं होना चाहिये. अतः यह आशा करना स्वाभाविक ही है कि जनता की भाषा में यह खण्ड जनसाधारण, विद्यार्थियों, अनुसंधानकर्ताओं, उद्यमियों आदि के लिये लाभदायक सिद्ध होगा.

समय पर अनूदित सामग्री के सम्पादन, उत्पादन तथा मुद्रण में सहयोग के लिये वे सभी बधाई के पात्र हैं जिनके परिश्रम से यह सुसज्जित खण्ड प्रस्तुत किया जा सका.

विजयादशमी
6 अक्टूबर 1973
नई दिल्ली

स्वामी (डा.) सत्य प्रकाश
अध्यक्ष
सम्पादक मण्डल एवं प्रधान सम्पादक

इस पूरक खण्ड के अनुवादक

डा. देवनारायण पाण्डेय
पशुचिकित्सा विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा. दीपिका कौल
प्राणि विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

श्री जनार्दन स्वरूप शर्मा
स्योहारा, जिला बिजनौर
उत्तर प्रदेश

डा. रमेशचन्द्र तिवारी
कृषि रसायन विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

श्री जोगेन्द्र सक्सेना
उपसूचना अधिकारी
वै. औ. अ. प.
नई दिल्ली

श्री तुलसीदास नागपाल
पी. आई. डी., नई दिल्ली-12

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

चित्र-सूची

पशुधन
और
कुक्कुट पालन

पशुधन

विषय-प्रवेश

भारतवर्ष मे कुल मिलाकर 34.43 करोड़ पशु हैं. इनमें 22.84 करोड़ गाय-भैंस, 10.76 करोड़ भेड़-बकरी, 50 लाख सुअर तथा 34 लाख घोड़े, खच्चर, गधे और ऊँट जातीय पशु हैं. इनके अतिरिक्त 11.49 करोड़ मुर्गियाँ भी हैं. भारतवर्ष में पाये जाने वाले गो तथा भैंस जातीय पशुओं की संख्या विश्व की अनुमानित 111.5 करोड़ पशु संख्या की 20% है.

इतने अधिक पशु होते हुए भी, जिनमें विश्व के लगभग 50% भैंस जातीय पशु, 20% गोजातीय पशु तथा 16.7% बकरियाँ सम्मिलित हैं, भारतवर्ष में दूध का उत्पादन केवल 1.98 करोड़ टन है. यहाँ प्रति व्यक्ति दूध की औसत खपत केवल 130 ग्रा. प्रति दिन है, जबकि यह मात्रा स्विटज़रलैंड में 741 ग्रा., न्यूज़ीलैंड में 637 ग्रा., अमेरिका में 623 ग्रा. तथा इंगलैंड में 509 ग्रा. है. विश्व का यह औसत 303 ग्रा. है. अन्य देशों की तुलना मे भारतीय पशुओं की दुग्धोत्पादन-क्षमता बहुत कम है. भारतीय गाय एक वर्ष में औसतन 173 किग्रा. दूध देती है, जबकि डेनमार्क की गाय औसतन 3,710, स्विटजरलैंड की 3,250, अमेरिका की 3,280 तथा इंगलैंड की 2,900 किग्रा. दूध देती है. प्राप्त जानकारी के अनुसार भारतवर्ष की आजकल की दुधारू गायों में से 94.3% गायें नित्य 1 किग्रा. से कम दूध देती हैं, तथा केवल 0.4% गायें ऐसी है जो 2 किग्रा. से अधिक दूध देती हैं. भैंसों मे से 19.2% एक किग्रा. से कम दूध देने वाली तथा 18.8% नित्य 2 किग्रा. से अधिक दूध देने वाली हैं.

पशुधन की अन्य प्रजातियों की स्थिति निम्नांकित है: यद्यपि भेड़ों की संख्या की दृष्टि से विश्व मे भारतवर्ष का 5 वाँ स्थान है, किन्तु इनसे ऊन का उत्पादन बहुत ही कम होता है. साथ ही इनसे प्राप्त ऊन अधिकांशतः निम्न श्रेणी का होता है. यह बालयुक्त तथा खुरदरा होता है तथा अच्छे कपड़े बुनने के योग्य नहीं होता. भारतवर्ष मे प्रति भेड़ ऊन का वार्षिक औसत उत्पादन केवल 700 ग्रा. है जबकि कुछ विदेशी नस्ल की भेड़े एक वर्ष में 5 से 7 किग्रा. तक ऊन देती हैं. जहाँ तक मांस-उत्पादन का सम्बन्ध है भारतीय भेड़ों का औसत शरीर भार 25 से 30 किग्रा. तक होता है, जबकि विदेशी भेड़ें इनसे तीन गुनी भारी होती हैं.

प्राप्त आँकड़ों के अनुसार 1965 में संपूर्ण विश्व में भेड़-बकरियों से प्राप्त होने वाले मांस की मात्रा 5,923 हज़ार टन थी, जिसमें से 357 हज़ार टन भारतवर्ष में, 1,000 हजार टन रूस में, 295 हजार टन अमेरिका में तथा 239 हजार टन इंगलैंड में उत्पादित हुआ था. सम्पूर्ण विश्व के सुअरों से प्राप्त होने वाले मांस की मात्रा 31,453 हजार टन थी, जिसमें से रूस के 4,100, अमेरिका के 5,064 तथा इंगलैंड के 900 हजार टन की तुलना में भारत का योगदान केवल 20 हजार टन था.

जहाँ तक कुक्कुट-पालन का सम्बन्ध है अन्य देशों की तुलना मे भारतवर्ष में जनसंख्या के आधार पर बहुत ही कम मुर्गियाँ पाली जाती हैं. प्रति 100 व्यक्तियों पर डेनमार्क में 540, कनाडा मे 373, अमेरिका में 286, इंगलैंड में 179 तथा अन्य यूरोपीय देशों में 150 से 200 तक पक्षी पाले जाते हैं, जबकि भारतवर्ष में प्रति 100 मनुष्यों पर केवल 26 मुर्गियाँ पाली जाती हैं. एक भारतीय मुर्गी वर्ष-भर में औसतन 60 अण्डे देती है जबकि अमेरिका की **ह्वाइट लेगहार्न** तथा **रोड आइलैंड रेड** नस्ल की मुर्गियों का वार्षिक औसत उत्पादन क्रमशः 193 तथा 212 अण्डे है. देश की यह संख्या विश्व की वार्षिक औसत संख्या (130 अण्डे) की आधे से भी कम है. भारत में इस समय प्रति मनुष्य प्रति वर्ष 12 अण्डे उपलब्ध होते हैं, जबकि अमेरिका में यही संख्या 295, कनाडा में 282 तथा पश्चिमी जर्मनी में 249 है.

इसी प्रकार, भारतवर्ष में विभिन्न प्रकार की मुर्गियों से उपलब्ध मांस की वार्षिक खपत 131 ग्रा. प्रति मनुष्य है, जबकि अमेरिका मे यह 13.18 किग्रा. तथा अन्य यूरोपीय देशों मे 2.47 किग्रा. है.

भारतवर्ष में पशुधन का पालन-पोषण विभिन्न प्रकार की प्रतिकूल जलवायु तथा वातावरण की परिस्थितियों में किया जाता है. यहाँ का पशु-पालन व्यवसाय छोटे-छोटे किसानों के हाथ में है जिनमें से अधिकांश कृषक अपनी कृषि के मूल धन्धे के साथ इसे सहायक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं. साधारण किसान 3 हेक्टर से कम भूमि पर छोटे-छोटे खेतों में 2–3 पशु रखकर अपना जीवन-यापन करता है. यूरोप के कुछ देशों में औसत झुंड में पशुओं की संख्या 30 से अधिक होती है.

केवल खराब जलवायु, चरागाहों का अभाव, अन्य पारिस्थितिक कारक, क्रय-विक्रय की सुविधाओं का अभाव, विपणन सुविधाओं की अपर्याप्तता के अतिरिक्त प्रमुख रूप से वर्तमान पशुधन का खराब जीन रूप तथा चारे-दाने के अत्यन्त अभाव आदि से भारतवर्ष में पशुधन व्यवसाय की उन्नति तथा विकास में बाधा उत्पन्न होती है. वर्तमान काल में प्रमुख रूप से चारे-दाने की कमी से ही भारतीय पशुधन की उत्पादन-क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो रहा है. हमारी वार्षिक अनुमानित आवश्यकता 9.54 करोड़ टन दाना तथा 86.978 करोड़ टन सूखा चारा है जिसमें से भारत

में उपलब्ध हरे चारे के अतिरिक्त केवल 1.736 करोड़ टन दाना तथा 30.89 करोड़ टन सूखा चारा ही प्रति वर्ष जुट पाता है. भारतवर्ष मे पशुधन की प्रति इकाई पर केवल 0.06 हेक्टर भूमि स्थायी चरागाह के रूप में उपलब्ध है जबकि ऑस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के लिये यही आँकड़े क्रमश: 14.59 तथा 2.04 हेक्टर हैं. आजकल खाद्य एवं अखाद्य फसलें उगायी जाने वाली भूमि का 4% से भी कम अंश चारा उगाने के लिये प्रयुक्त होता है जो भारतवर्ष की इतनी बड़ी पशु संख्या को खिलाने के लिये अत्यन्त अपर्याप्त है.

अत: यह स्पष्ट है कि पशु संख्या इतनी अधिक होने पर भी देश की अर्थ-व्यवस्था में पशुधन का योगदान उसकी संख्या के अनुरूप नही है. भारतवर्ष की कुल राष्ट्रीय आय का 11.83% पशुधन से प्राप्त होता है. 1960–61 में पशु-उत्पादों से प्राप्त होने वाली कुल अनुमानित आय 1,592.72 करोड़ रु. थी. इसमें से 988.34 करोड रु. दूध तथा दूध से बने पदार्थों से, 120.01 करोड रु. मांस तथा मांस उत्पादों से, 42.8 करोड़ रु. खाल तथा चमड़े से, 66.91 करोड़ रु. मुर्गियों तथा अण्डों से, 12.74 करोड़ रु. ऊन तथा बालों से, 262.8 करोड़ रु. गोबर से तथा 99.11 करोड़ रु. को आय अन्य उत्पादों से हुयी थी.

भारतवर्ष मे कृषि से होने वाली मूल आय का 18.3% पशुधन से प्राप्त होता है. देश की इतनी बड़ी पशु संख्या को देखते हुये यह योगदान काफी कम है. इसकी तुलना में यह आय डेनमार्क में 82%, आयरलैंड में 81%, स्वीडन में 79% तथा इंगलैंड और नार्वे मे प्रत्येक देश से 78% होती है. अभी हाल के कुछ वर्षों मे पशुओं के प्रवर्धन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है तथा देश के विभिन्न भागों में इस दिशा मे किये गये कार्यों से यह स्पष्ट हो गया है कि यदि पशुओं का प्रवर्धन वैज्ञानिक ढंग से किया जाय तो भारतीय पशुओं की उत्पादन-क्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो सकती है और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनका योगदान काफी बढ़ सकता है.

1966 में हुयी दसवीं पंचवर्षीय पशु गणना के लेखों में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न जाति के पशुओं की संख्या का विवरण मिलता है. ये आँकड़े सारणी 1 में दिये गये हैं.

गो तथा भैंस जातीय पशु

भारतवर्ष मे काफी बड़ी संख्या मे गो तथा भैंस जातीय पशु है. 1961–62 की पशुगणना के अनुसार गो तथा भैंस जाति के पशु पूरे विश्व में 111.5 करोड और भारत में 22.68 करोड (20.35%) थे. किन्तु पशु-उद्योग का उत्पादन मान इतनी बड़ी पशु संख्या के अनुरूप नहीं है. प्रशासकीय सचिवालय के सांख्यिकी विभाग के संशोधित आकलन के अनुसार 1960–61 में, धन के रूप मे इसका अनुमानित योगदान 1160 करोड़ रु. था.

भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में पशुओ का योगदान महत्वपूर्ण है. आज भी कृषि कार्यों के हेतु आवश्यक शक्ति बैलों से ही मिलती है और अधिकांश लोगों की खुराक मे पशु-प्रोटीन का प्रमुख स्रोत दूध ही है. जुताई, खुदाई, फसल की कटाई, गहाई, सिंचाई के लिए तथा कृषि-उत्पादों को बाजार तक पहुँचाने आदि अनेक कार्यों में बैलों का प्रयोग होता है. इसके अतिरिक्त पशु अपने गोबर की खाद से भूमि को उपजाऊ बनाते हैं तथा खाल और चमड़ा भी प्रदान करते हैं, इसीलिए भारतवर्ष मे गायों तथा बैलो को कृषि की आधारशिला माना गया है. भारतवर्ष, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को सबसे बड़ी मात्रा मे खाले तथा चमड़े बेचता है और इनकी बिक्री से काफी विदेशी मुद्रा अर्जित होती है. पशुओं के सींग, खुर तथा हड्डियाँ कारखानों मे अस्थि-चूर्ण तथा अन्य सामान बनाने मे प्रयुक्त होती हैं. अस्थि-चूर्ण को खनिज-पूरक के रूप में पशु-खाद्यों मे मिलाया जाता है और उर्वरक के रूप में भी डाला जाता है. पशु-उद्योग छोटी-छोटी असंख्य इकाइयों के रूप में पूरे देश मे फैला हुआ है इसलिये उसका सही मूल्यांकन करना काफी कठिन है. भारतीय कृषि मे पशुश्रम के रूप में, पशुधन का एक महत्वपूर्ण योगदान है. खेती में इस श्रम का अनुमानित मूल्य 300 से 500 करोड़ रु. होगा. भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने में पशुओं से लगभग 270 करोड़ रु. के मूल्य की सामग्री मिलती है.

भारतीय पशुओं में अनावृष्टि, पशु-प्लेग तथा किलनियों से लगने वाले रोगों के प्रति प्रतिरोध शक्ति होती है. इससे विदेशी बाजारों में इनका बहुत अच्छा मान है. इसी कारण यूरोपीय पशुपालकों ने भारतवर्ष के ककुदधारी देशी ढोरों (जेबू पशुओं) का प्रयोग अपने यहाँ के पशुओं से संकरण कराने के लिये किया जिससे और भी अच्छे पशु पैदा हो सकें जिनमें भारतीय पशुओं की सहिष्णुता तथा रोगप्रतिरोध क्षमता और यूरोपीय पशुओं की उत्पादन क्षमता हो. ऐसा करने से यह पता लगा कि भारतीय पशुओं के 30% प्रभेद उनके शरीर में पहुँचकर उन्हे उष्ण-कटिबन्धीय वातावरण की विषमताओं में रहने के योग्य बना देते हैं.

भारतीय ककुदधारी पशु, **बॉस इंडिकस** लिनिअस [बैल, गाय, गऊ, ढोर, डाँगर (सींग वाले पशु), दुधार (दूध देने वाली गाय)] (कुल **बोविडी**, उपकुल **बोविनी**) यूरोप और उत्तरी एशिया के पालतू पशुओं से शारीरिक बनावट, रंग तथा स्वभाव में भिन्न होते हैं. इनका मूल निवास स्थल अज्ञात है किन्तु ये अफीका के जन्मजात जान पड़ते हैं. भारतीय जन्मजात गो-पशुओं के पूर्वजों की अभी तक कोई खोज नहीं हो पायी है और उनका कोई जीवाश्म अभी नहीं मिल पाया है. भारत के ककुदधारी पशु प्राय: खूँख्वार हो जाते हैं. यहाँ गो-पशुओं का पालना बहुत ही सम्मानित व्यवसाय माना जाता है तथा इनसे प्राप्त दूध, मक्खन, पनीर आदि पदार्थों को सभी वर्ग के लोग उपयोग में लाते हैं. देश के विभिन्न भागों मे पालतू गो-पशुओं की अनेक नस्लें पायी जाती हैं.

1961 की पशु-गणना के अनुसार भारतवर्ष में 15.23 करोड़ हेक्टर कृषि योग्य भूमि के लिये 8.04 करोड़ गो तथा भैंस जातीय पशु थे. तीन वर्ष से अधिक आयु वाली 5.1 करोड़ गायें तथा 2.423 करोड़ भैंसों को प्रजनन तथा दूध-उत्पादन के लिये रखा गया था. इनमें से 2.07 करोड़ गायें तथा 1.25 करोड़ भैंसे दूध देती थीं तथा शेष या तो सूखी थीं अथवा एक बार भी नहीं ब्यायी थी. सारणी 2 और 3 में 1966 का गो तथा भैंस जातीय पशुओं का प्रादेशिक वितरण दिखाया गया है. 1956 और 1961 के बीच भारतवर्ष में गो तथा भैंस जातीय पशुओं की संख्या में क्रमश: 10.7 तथा 13.9% की वृद्धि हुयी थी. 1961–1956 की अवधि में गो जातीय पशुओं की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं

सारणी 1 – 1966 में भारतवर्ष की पशु संख्या*

राज्य	गोपशु	भैंसें	भेड़	बकरी	घोड़े तथा टट्टू	सुअर	ऊँट	कुक्कुट	अन्य पशु
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	10,131	8,107	26	10,131	5	21,314	..	98,659	...
असम	65,61,997	5,79,741	73,497	15,94,571	45,848	4,22,799	...	1,09,84,502	2,558
आन्ध्र प्रदेश	1,23,41,889	67,90,727	80,03,869	37,58,439	48,896	5,81,871	643	1,46,14,683	68,155
उड़ीसा	1,03,15,762	12,62,500	11,81,726	30,45,552	65,884	1,79,027	...	76,81,465	14,595
उत्तर प्रदेश	2,59,86,488	1,14,37,915	25,21,372	81,26,322	2,31,510	11,56,399	49,140	36,46,900	3,12,057
केरल	28,56,727	4,71,235	11,519	11,89,218	426	1,11,928	4	99,08,987	318
गुजरात	65,43,951	31,40,432	16,51,965	27,71,339	70,403	1,657	45,670	23,24,402	1,12,488
जम्मू एवं कश्मीर	17,90,842	4,28,351	11,51,896	6,05,501	65,797	485	2,303	15,34,820	34,073
तमिलनाडु	1,08,59,345	27,24,017	66,21,177	37,70,847	17,140	4,74,891	109	1,12,25,890	1,01,435
त्रिपुरा	5,33,391	48,533	2,198	1,24,009	1,247	31,182	...	6,36,930	225
दादरा, नगर हवेली	38,279	3,365	344	12,753	49	160	...	39,147	50
दिल्ली	81,667	1,03,826	5,749	13,266	7,257	10,797	2,623	1,29,417	1,839
नागालैंड	76,433	4,320	259	12,417	508	1,10,854	...	4,38,157	10,157
पंजाब	60,24,079	50,93,739	11,96,261	13,90,544	68,467	1,43,873	2,50,710	22,09,039	1,51,136
पांडिचेरी	71,549	10,573	7,100	32,180	73	1,788	...	1,07,139	177
बंगाल	1,25,75,911	10,42,777	6,39,509	48,34,894	27,384	1,43,676	48	1,28,18,190	1,901
बिहार	1,51,56,456	36,54,364	12,46,890	78,01,141	1,15,878	6,46,248	122	1,08,49,858	34,329
मणिपुर	2,88,476	47,411	8,420	12,460	803	73,926	...	6,22,713	12,178
मध्य प्रदेश	2,46,44,682	56,07,410	10,15,166	66,06,457	1,50,042	3,78,095	19,384	57,38,903	56,861
महाराष्ट्र	1,46,80,619	30,29,656	22,00,450	51,04,462	1,00,666	1,81,009	1,935	98,87,497	67,130
मैसूर	96,85,581	29,45,997	47,47,964	27,83,682	64,874	207,078	986	82,76,797	49,300
राजस्थान	1,31,29,427	42,05,713	88,05,274	1,05,60,899	63,166	84,336	6,53,226	8,76,452	1,98,617
लक्षद्वीप, मिनिकोय एवं अमीनदीवी द्वीप समूह	1,342	...	...	5,435	...	...		18,540	...
हिमाचल प्रदेश	12,44,981	2,24,243	7,29,226	5,69,151	9,028	2,690	124	1,46,225	5,975
योग	17,55,20,025	5,28,64,964	4,28,21,857	6,47,36,670	11,56,351	49,66,083	10,27,027	11,49,15,311	12,35,554

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of food & Agriculture, Govt. of India, 1972.

हुआ. इस अवधि में भैंस जातीय पशुओं की संख्या में भी केवल 3.2% की वृद्धि हुयी है.

प्रति 100 हेक्टर कृष्य क्षेत्रफल के अनुपात में ढोरों की संख्या 116 है और यह पंजाब में 61, महाराष्ट्र तथा गुजरात में 283, पश्चिमी बंगाल में 188, एवं उड़ीसा में 162 है.

विश्व की पशु संख्या की दृष्टि से भारतवर्ष का प्रमुख स्थान होने पर भी पशुपालन व्यवसाय में रुचि रखने वाले अन्य देशों की तुलना में पशुओं का जनसंख्या से अनुपात उतना अधिक नहीं है (सारणी 4).

भारतवर्ष के गोपशुओं की शारीरिक बनावट तथा गठन में काफी भिन्नता है जिसके कारण वह विभिन्न भागों में पायी जाने वाली जलवायु के अनुकूल बन गये हैं. यहाँ के पशु या तो अपने को स्थानीय जलवायु तथा भूमि के अनुकूल बना लेते हैं अथवा वहीं अच्छी तरह वृद्धि करते हैं जहाँ उनका जन्म तथा पालन-पोषण होता है. भारतीय पशु शुष्क क्षेत्रों में भी भली-भाँति बढ़ते देखे गये हैं जबकि अन्य नस्लों को उपयुक्त ताप तथा आर्द्रता की आवश्यकता पड़ती है. पंजाब, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र के कुछ भागों, तमिलनाडु, मैसूर तथा आन्ध्र प्रदेश में भारतीय गो-पशुओं की सर्वोत्तम नस्लें पायी जाती हैं. देश के पूर्वी भागों तथा तटीय क्षेत्रों में देशी तथा कम दूध देने वाले पशु पाये जाते हैं. इस प्रकार असम, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा तथा केरल में निम्न-कोटि के पशु मिलते हैं. देश के अन्य भागों में पाये जाने वाले पशुओं के गुण उपर्युक्त दोनों वर्गों के पशुओं के गुणों के बीच के होते हैं. पर्वतीय क्षेत्रों में, जहाँ वर्षा काफी अधिक होती है,

सारणी 2 – 1966 में भारतवर्ष में गोपशुओं का वितरण*

(हजार में)

प्रदेश	तीन वर्ष से ऊपर के नर पशु				तीन वर्ष से ऊपर के मादा पशु				पशु-बच्चे		योग
	प्रजनक साँड़	कार्य तथा प्रजनन में प्रयुक्त बैल	केवल कार्य में प्रयुक्त बैल	अन्य	प्रजनक गायें (दूध में)	प्रजनक गायें (सूखी, अनब्यायी)	कार्यकारी गायें	अन्य	नर	मादा	
असम	49.98	221.54	2,155.69	82.45	1,088.61	734.52	141.89	60.25	996.31	1,012.16	6,562.00
									18.60 (अवर्गीकृत)		
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह, लक्षदीवी, मिनिकोय एवं अमोनदीवी द्वीप समूह	0.05	0.18	2.72	0.11	1.98	2.08	0.02	0.07	2.05	2.27	11.53
आन्ध्र प्रदेश	36.19	281.70	4,884.75	204.41	1,292.24	2,537.37	207.44	116.80	1,342.74	1,438.24	12,341.88
उड़ीसा	24.61	95.27	4,187.89	89.18	1,137.53	2,020.94	155.80	104.31	1,403.94	1,411.27	10,627.74
उत्तर प्रदेश	42.65	64.75	13,037.60	86.40	2,668.28	4,041.67	7.24	33.81	3,208.86	2,929.18	26,120.44
केरल	6.91	12.47	491.28	8.86	483.42	726.97	3.61	5.25	393.53	724.43	2,856.73
गुजरात	10.49	14.80	3,052.69	23.40	812.95	948.47	10.03	8.30	809.82	853.00	6,543.96
जम्मू एवं कश्मीर	1.34	55.19	493.71	8.38	254.81	391.60	3.41	3.70	279.42	299.28	1,790.84
तमिलनाडु	66.70	592.64	4,052.79	234.94	1,194.57	1,657.10	657.83	201.79	1,096.61	1,104.37	10.859.34
त्रिपुरा	3.41	18.93	185.41	3.11	102.03	73.87	1.83	3.44	93.29	102.97	588.29
दिल्ली	0 14	0.62	27.32	0.13	15.83	8.59	0.08	0.03	11.37	11.39	75.50
पंजाब	3.57	3.94	1,275.17	7.14	484.69	340.26	1.67	1.93	541.70	501.66	3,161.73
बंगाल	50.45	161.56	4,585.98	110.59	2,125.42	1,957.68	38.32	51.21	1,637.82	1,856.88	12,575.91
बिहार	13.84	78.58	6,781.02	57.28	1,395.12	2,419.24	198.72	91.69	2,050.69	2,060.27	15,156.45
मणिपुर	3.94	16.79	85.35	8.67	31.30	26.13	24.76	5.86	45.24	40.43	288.47
मध्य प्रदेश	29.44	119.12	8,942.14	105.34	2,622.70	4,513.09	137.04	87.02	3,774.92	4,305.87	24,644.68
महाराष्ट्र	30.44	318.36	6,125.55	75.80	1,606.73	2,873.90	24.87	28.82	1,800.25	1,844.73	14,729.45
मैसूर	26.47	169.24	3,204.46	266.03	1,220.07	1,897.91	356.49	97.87	1,198.02	1,249.02	9,685.58
राजस्थान	16.86	9.10	3,994.42	71.40	1,825.34	2,953.69	6.71	14.45	1,927.74	2,303.73	13,123.44
हिमाचल प्रदेश	1.00	17.34	654.75	8.68	233.62	376.49	1.86	3.09	290.76	303.99	1,891.58
हरियाणा	5.31	2.00	934.75	6.17	351.50	259.68	1.61	2.18	331.17	362.43	2,226.80
योग	423.79	2,254.12	69,132.44	1,458.47	20,948.75	30,761.25	1,981.23	921.87	23,243.25	24,718.57	1,75,862.34
									18.60 (अवर्गीकृत)		

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Food & Agriculture, Govt. of India, 1972.

सारणी 3 – 1966 में भारतवर्ष में भैंस वंशज पशुओं का वितरण*
(हज़ार में)

प्रदेश	तीन वर्ष से ऊपर के नर पशु				तीन वर्ष से ऊपर के मादा पशु				पशु-बच्चे		योग
	प्रजनक साँड़	कार्य तथा प्रजनन में प्रयुक्त	केवल कार्य में प्रयुक्त	अन्य	प्रजनक भैंसें (दूध में)	भैंसें (सूखी, अनव्यायी)	कार्यकारी भैंसें	अन्य	नर	मादा	
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	0.01	0.45	3.59	0.03	1.00	1.03	0.06	0.01	0.84	1.08	8.10
असम	13.41	41.47	175.44	10.19	80.67	78.56	26.60	7.60	72.19	73.40	579.74†
आन्ध्र प्रदेश	24.95	114.59	1,241.86	78.99	1,544.78	1,569.38	56.09	48.41	873.43	1,238.25	6,790.73
उड़ीसा	38.78	64.36	475.76	19.28	131.09	206.26	38.41	15.94	136.17	142.81	1,268.86
उत्तर प्रदेश	36.20	39.70	1,337.69	14.90	3,029.16	2,925.52	20.63	15.82	1,383.19	2,622.67	11,425.48
केरल	1.09	5.02	241.05	6.70	66.70	61.90	4.59	1.58	41.89	40.72	471.24
गुजरात	8.24	2.66	21.38	2.72	1,015.94	785.10	13.20	5.61	208.44	1,077.14	3,140.43
चंडीगढ़	0.03	0.00	0.01	0.00	5.96	4.61	0.00	0.00	0.79	5.12	16.52
जम्मू एवं कश्मीर	3.13	4.75	33.73	0.73	115.03	127.68	3.78	0.69	37.29	101.54	428.35
तमिलनाडु	65.11	97.51	284.40	54.80	687.63	542.99	64.53	51.11	383.17	492.77	2,724.02
त्रिपुरा	0.97	5.21	10.68	1.17	7.71	9.75	1.67	0.57	5.08	6.94	49.75
दादरा और नगर हवेली	0.02	0.15	1.64	0.03	0.26	0.53	0.00	0.01	0.36‡	0.36‡	3.36
दिल्ली	0.20	0.59	0.47	0.05	48.45	14.95	0.16	0.03	13.21	25.30	103.41
पंजाब	4.09	34.71	211.22	1.10	861.20	625.35	24.67	2.86	360.95	857.11	2,983.26
पांडिचेरी	0.02	0.02	0.83	0.04	3.01	2.84	0.05	0.01	1.51	2.24	10.57
बंगाल	7.58	38.81	471.04	14.82	161.22	115.29	8.16	8.08	103.55	114.23	1,042.78
बिहार	44.76	75.73	595.08	15.45	701.64	871.71	64.78	24.55	493.01	766.65	3,654.36
मणिपुर	5.82	3.73	7.64	1.53	4.62	4.89	5.05	1.03	6.21	6.89	47.41
मध्य प्रदेश	25.69	17.33	1,185.68	8.13	1,025.69	1,277.74	13.90	25.26	763.18	1,264.81	5,607.41
महाराष्ट्र	15.85	27.54	288.68	7.62	855.01	855.72	14.93	9.41	316.45	650.70	3,041.91
मैसूर	17.70	33.50	213.66	24.50	837.68	833.37	16.69	19.08	342.29	607.53	2,946.00
राजस्थान	8.12	7.35	133.71	4.27	1,035.82	1,109.09	5.13	3.42	578.80	1,345.33	4,222.04
हरियाणा	3.88	4.41	25.81	0.69	586.34	422.56	1.55	0.74	253.74	635.01	1,934.73
हिमाचल प्रदेश	3.57	1.71	9.71	0.66	117.63	151.94	0.77	1.49	27.39	101.49	415.36
योग	329.22	620.30	6,971.76	268.40	12,924.24	12,589.76	385.40	243.31	6,403.13	12,180.09	52,915.82

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Food & Agriculture, Govt. of India, 1972.
† इस संख्या में 210 पशु सम्मिलित हैं जिनसे सम्बंधित विस्तृत सूचना प्राप्त नहीं है. ‡ अनुमानित.

सारणी 4 – कुछ देशों में पशु संख्या की सघनता*

देश	पशु संख्या (हजार)	गोपशु/ (वर्ग किमी.)	गोपशु/100 व्यक्तियों पर
अर्जेण्टाइना	34,010	12.3	241
आस्ट्रिया	7,187	25.8	32
ऑस्ट्रेलिया	14,184	0.2	199
कनाडा	10,759	0.1	90
डेनमार्क	3,184	73.8	79
न्यूजीलैंड	4,628	1.7	268
फ्रांस	14,273	2.6	35
भारतवर्ष	1,75,557	4.4	44
संयुक्त राज्य अमेरिका	81,909	10.8	58

*Mamoria, *Agricultural Problem of India*, 1951.

पशु बहुत ही घटिया नस्ल के होते हैं. छोटे कद तथा कम उत्पादन वाले अनेक देशी पशुओं के अतिरिक्त भारतवर्ष में 26 नस्लों के गोपशु तथा 7 नस्लों की भैंसें पायी जाती हैं.

भारतीय पशुओं को दुधारू, भारवाही तथा सामान्य उपयोगिता वाली नस्लों में वर्गीकृत किया गया है. उनकी शारीरिक विशेषतायें, बनावट, भारवाही एवं दूध देने वाले गुण सारणी 5 में उल्लिखित हैं.

गोपशु

दूध देने वाली नस्लें

इन नस्लों के पशुओं का शरीर भारी, गलकम्बल तथा मुतान लटकते हुये और सींग सिर के दोनों ओर से निकलकर प्राय: मुड़े हुये होते हैं. **गिर, साहीवाल, लाल सिन्धी तथा देवनी** इस समूह की कुछ प्रमुख नस्लें हैं.

सारणी 5 – भारतीय गोपशु तथा भैंसों की नस्लों की विशेषतायें एवं शारीरिक गठन*

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें	रंग	शारीरिक माप (मी.) ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा	शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारू गुण
दूध देने वाली नस्लें :		गोपशु					
गिर	सुगठित शरीर, उभरा हुआ तथा चौडा मस्तक, टेढे तथा पीछे को मुडे हुये सींग, लम्बे तथा लटकते हुये कान, लम्बी तथा कोड़े जैसी पूँछ तथा उभरी हुयी नितम्ब ग्रस्थियां.	लाल और सफेद से लेकर काला तथा सफेद ग्रथवा बिल्कुल ही लाल या बिल्कुल सफेद	नर : 1.35 मादा : 1.25	 1.50 1.70	 1.80 1.65	 544.00 385.50	इस नस्ल के बैल काफी भारी-भरकम शरीर वाले और शक्तिशाली होते है और बोझा खीचने के लिये बहुत अच्छे माने जाते है. गाये अच्छी दुधारू होती है. 300 दिन के दुग्धकाल मे लगभग 1,675 किग्रा. दूध देती है, इनके दूध मे 4.5% वसा होती है.
साहीवाल	सुडौल शरीर, ढीली त्वचा, भारी नस्ल, शरीर मांसल, लम्बा, भारी तथा सुडौल, ढीली त्वचा, पैर छोटे, मस्तक चौडा, सींग गुट्ठल, कान मध्यम ग्राकार के तथा किनारो पर काले वालो युक्त, गलकम्बल लम्बा तथा भारी, नरो मे ककुद सीधा, नितम्ब ग्रस्थियाँ ऊँची तथा दूर-दूर, पूँछ लम्बी, तथा कोडे जैसी तथा ग्रयन बडा होता है.	बादामी या चितकबरा बादामी	नर : 1.70 मादा : 1.25	 1.45 1.35	 1.85 1.70	 544.00 408.25	इस नस्ल के बैल बहुत ही सुस्त तथा मट्ठर होते है. गाये दूध देने के लिये सुविख्यात है. सुप्रजनित गाये 300 दिन के दुग्धकाल मे लगभग 2,725 किग्रा. दूध देती है. इनके दूध मे 4.3–6.0% वसा होती है.
लाल सिंधी	ग्राकार मँझोला, शरीर सुडौल तथा सुगठित, ककुद भारी, गलकम्बल तथा सुतान लटकता हुग्रा, सीग नीचे मोटे, सिर के किनारे से निकल कर ऊपर को मुडे हुये, कान मध्यम ग्राकार वाले तथा लटकते हुये, तथा ग्रयन सुविकसित होता है.	गहरे लाल से हल्के पीले रंग तक	नर : 1.30 मादा : 1.20	 1.40 1.35	 1.75 1.55	 454.00 317.50	इस नस्ल के बैल सभी प्रकार के कृषि कार्यों मे प्रयुक्त होते है. गाये अधिक दूध देती है. 300 से ग्रधिक दिनों के दुग्धकाल मे इनसे 5,440 किग्रा. तक दूध प्राप्त होता है जिसमे 4.9% वसा होती है.
देवनी	इस नस्ल के पशु गिर जाति के पशुग्रो से काफी मिलते-जुलते होते है. इनका ग्राकार मँझोला, मस्तक कम उठा हुग्रा, गलकम्बल तथा सुतान सुविकसित, सीग वाहर तथा पीछे की ग्रोर मुड़े हुये ग्रौर कान छोटे तथा लटके हुये, सिरे पर ग्रदन्तुर होते है.	काला एवं सफेद ग्रथवा लाल ग्रौर सफेद धब्बे युक्त, चितकबरा, धब्बे ग्रनियमित	नर : 1.50 मादा : 1.30	 1.70 1.45	 2.00 1.65	 589.65 340.20	इस नस्ल के बैल ग्रच्छा काम करने वाले तथा गाये दुधारू होती है. 300 दिन के दुग्धकाल मे गायों का ग्रौसत दुग्धोत्पादन 1,135 किग्रा. होता है.

(क्रमशः)

सारणी 5–क्रमशः

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें	रंग	शारीरिक माप (मी.)			शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारू गुण
			ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा		
भारवाही नस्लें :							
नागौरी	इनका शरीर लम्बा भारी, सशक्त तथा सुगठित, पीठ सीधी, अगले तथा पिछले पुट्ठे सुविकसित, कान लम्बे तथा लटकते हुये, ककुद औसत दर्जे का, गलकम्बल छोटा तथा देखने में अच्छा, चेहरा पतला तथा लम्बा, मस्तक चपटा, सींग औसत लम्बाई के ऊपर को उठे हुये, बाहर की ओर थोड़े घुमावदार तथा नुकीले और पूँछ औसत लम्बाई वाली होती है.	सामान्यतया सफेद अथवा भूरा	नर : 1.50 मादा : 1.40	 1.45 1.25	 2.00 1.85	 408.00 340.20	भारतवर्ष की भारवाही गुणों वाली यह अति उपयोगी नस्ल है जिसे आमतौर पर सड़क पर तेज कार्य करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है. फार्म पर रखी गयी गायें नित्य लगभग 3.65 किग्रा. दूध देती है.
बछौर	इनका शरीर सुगठित, पीठ सीधी पार्श्व तथा तलपेट वाला भाग गोल, मस्तक चौड़ा तथा चपटा, आँखें बड़ी-बड़ी, कान मध्यम आकार के एवं लटकते हुए, ककुद औसत आकार का, गठा हुआ एवं सुदृढ़ और पूँछ छोटी होती है.	धूसर	नर : 1.40 मादा : 1.00	 1.20 1.15	 1.80 1.70	 385.50 317.50	इस नस्ल के पशु अपने मध्यम भारवाही गुणों के लिये सुप्रसिद्ध है. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं. इनका औसत दुग्धोत्पादन लगभग 1.35 किग्रा. प्रति दिन है.
केनकथा	इनका शरीर सुगठित तथा छोटा. पीठ सीधी, सिर छोटा तथा चौड़ा, मस्तक दबा हुआ, पैर अच्छे तथा सुदृढ़, गलकम्बल मध्यम आकार का, सींग दृढ़ तथा बाहर की ओर निकले हुये, नुकीले, कान लटकते हुये तथा सिरे पर नुकीले, ककुद सुविकसित तथा पूँछ मध्यम लम्बी होती है.	पार्श्व तथा तलपेट वाला भाग धूसर एव शरीर के अन्य भाग गहरे धूसर	नर : 1.25 मादा : 1.00	 1.20 1.15	 1.80 1.70	 344.50 295.00	इस नस्ल के बैल सुदृढ़ और शक्तिशाली होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती है.
मालवी	इनका शरीर छोटा, भारी तथा सुगठित, पीठ सीधी, पिछले पुट्ठे ढलवा, गलकम्बल सुविकसित, सिर छोटा और चौड़ा, मस्तक दबा हुआ, थूथन बड़ी, सींग ऊपर को उठे हुए, सुदृढ़ एवं नुकीले, कान छोटे, नुकीले और सीधे और पूँछ की लम्बाई औसत होती है.	सामान्यतया धूसर, जो प्रौढ़ नर पशुओं में लोहिया, ग्रीवा, कंधों, ककुद, अगले तथा पिछले पुट्ठों पर काला होता चला जाता है	नर : 1.40 मादा : 1.30	 1.45 1.40	 1.95 1.65	 498.95 340.20	कृषि तथा सड़क के कार्य के लिये इस नस्ल के बैल बड़े अच्छे माने जाते हैं. गायें सामान्य दूध देती हैं. प्रति दुग्धोत्पादन काल में लगभग 917 से 1,234 किग्रा. दूध देती हैं.

(क्रमशः)

सारणी 5–क्रमश:

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें		शारीरिक माप (मी.)			शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारू गुण
			ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा		
खेरीगढ़	इनका चेहरा छोटा तथा पतला, सींग पतले तथा ऊपर को उठे हुये, आँखें चमकीली, कान छोटे, साँड़ों में ककुद सुविकसित, गलकम्बल पतला तथा लटकता हुआ और पूँछ लम्बी होती है.	सामान्यतया सफेद	नर : 1.25 मादा : 1.25	 1.15 1.25	 1.75 1.50	 476.00 317.50	इस नस्ल के बैल हल्का बोझ खींचने तथा तेज भागने वाले होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं. तराई के क्षेत्र के लिये ये पशु बहुत उपयुक्त हैं.
हल्लीकर	इनका शरीर सुगठित एवं मांसल, कद औसत, सींग तथा सिर इस नस्ल के लिये लाक्षणिक, मस्तक ऊँचा तथा बीच में गड्ढेदार, कान नुकीले तथा छोटे, सींग पीछे की ओर मुड़े हुये, लम्बे तथा नुकीले, ककुद छोटा, गलकम्बल मध्यम सुविकसित, पीठ सीधी एवं सुदृढ़, त्वचा चमकीले बालों से युक्त तथा मुलायम और पूँछ सुन्दर होती है.	अगले तथा पिछले पुट्ठों पर कालापन लिये हुये धूसर अथवा गहरा धूसर रंग	नर : 1.35 मादा : 1.20	 1.45 1.25	 1.90 1.70	 453.50 317.50	इस नस्ल के बैल मजबूत, फुर्तीले तथा खेत और सड़क पर अच्छा कार्य करने वाले होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.
अमृतमहल	इनका शरीर सुगठित, सिर तथा सींग नस्ल की विशेषताओं के अनुसार, मस्तक उठा हुआ तथा बीच में गड्ढेदार, सींग सिर के सिरे से निकल कर ग्रीवा के दोनों ओर पीछे तक बढ़कर ऊपर को मुड़े हुये तथा नुकीले, कान छोटे तथा पतले, ककुद तथा गलकम्बल सुविकसित, त्वचा चिकने बालों युक्त तथा मुलायम और पूँछ सुन्दर होती है.	प्राय: धूसर, कुछ का रंग सफेद से काले तक, कुछ पशुओं में चेहरे तथा गलकम्बल पर निश्चित आकार के धूसर तथा सफेद निशान मिलते है	नर : 1.30 मादा : 1.25	 1.45 1.30	 1.85 1.70	 498.90 317.50	इस नस्ल के बैल काफी मजबूत तथा अच्छे भारवाही गुणों वाले होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं किन्तु इनकी प्रजनन क्षमता बहुत अच्छी होती है. ये अपनी सहिष्णुता के लिये सुविख्यात हैं. प्रति दुग्धकाल में इनसे लगभग 1,012 किग्रा. दूध प्राप्त होता है.
खिल्लारी	मैसूर में हल्लीकर नामक स्थान की यह नस्ल अपने गुणों में अमृतमहल से बहुत कुछ मिलती-जुलती है. इनका शरीर सुगठित तथा चुस्त, मस्तक थोड़ा-सा उठा हुआ, सिर बड़ा, सींग सिर के बीचोबीच से निकल कर ऊपर को उठे हुये तथा लम्बे, ककुद सुविकसित, आँखें बड़ी-बड़ी, कान छोटे तथा नुकीले, गलकम्बल बड़ा और पूँछ अपेक्षाकृत छोटी होती है.	धूसर सफेद	नर : 1.35 मादा : 1.25	 1.35 1.10	 1.75 1.70	 498.95 340.00	इस नस्ल के बैल बहुत ही परिश्रमी और फुर्तीले होते हैं तथा सड़क के कार्य के लिये बहुत उपयुक्त हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.
बरगुर	इस नस्ल के पशुओं का शरीर मैसूर प्रकार की अपेक्षा छोटा पर अधिक सुगठित, मस्तक कुछ-कुछ उभरा हुआ, सींग पीछे की ओर	प्राय: लाल और सफेद तथा [illegible] कभी-कभी हल्का धूसर	नर: 1.15 मादा : 1.00	 1.35 1.25	 1.75 1.65	 340.00 295.00	इस नस्ल के बैल बहुत ही परिश्रमी, तेज तथा फुर्तीले होते हैं जिन्हें काम सिखाने में बड़ी कठिनाई

(क्रमश:)

सारणी 5—क्रमशः

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें	रंग	शारीरिक माप (मी.)			शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारू गुण
			ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा		
	तथा ऊपर को बढ़े हुये, ककुद औसत आकार का, गलकम्बल पतला एवं एक समान और पूँछ छोटी होती है.						पड़ती है. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.
कांगायाम	इनका शरीर औसत लम्बाई का, पीठ सीधी, गर्दन छोटी तथा मजबूत, गलकम्बल छोटा, सिर औसत आकार का, मस्तक कुछ-कुछ उभरा हुआ, थूथन पर्याप्त चौड़ा, सींग ऊपर, बाहर तथा कुछ-कुछ अन्दर की ओर मुड़े हुये और मजबूत, कान छोटे तथा नुकीले और पूँछ औसत लम्बी होती है.	प्राय: धूसर अथवा सफेद	नर : 1.37	1.60	1.90	317.50	इस नस्ल के बैल मजबूत तथा अच्छे भारवाही गुणों वाले होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं. इनका औसत दुग्धोत्पादन लगभग 2.8 किग्रा. प्रति दिन है.
			मादा : 1.35	1.40	1.70	294.80	
पंवार	इनका चेहरा छोटा तथा पतला, कान छोटे, आँखें बड़ी-बड़ी तथा चमकीली, ककुद सुविकसित, सींग लम्बे तथा ऊपर को उठे हुये और पूँछ लम्बी तथा गावदुम होती है.	सामान्यतया काला तथा सफेद	नर : 1.35	1.35	1.60	317.50	इस नस्ल के बैल गति और सहनशक्ति के लिये विख्यात हैं और खेत तथा सड़क के कार्यों के लिये बड़े अच्छे माने जाते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.
			मादा : 1.25	1.25	1.55	294.80	
सीरी	इनका सिर छोटा तथा चौखुंटा, मस्तक चौड़ा तथा चपटा, सींग आगे की ओर तथा थोड़ा ऊपर को बढ़े हुये एवं नुकीले, कान छोटे और ककुद अन्य जेबू नस्लों की तुलना में कुछ आगे को बढ़ा हुआ होता है.	काला तथा सफेद अथवा एकदम काला	नर : 1.25	1.45	1.85	453.50	इस नस्ल की चुनी हुयी गायों का 280 दिनों के दुग्धकाल में औसत दुग्धोत्पादन 1,360 किग्रा. है जिसमें 6–10% वसा होती है.
			मादा : 1.15	1.30	1.75	362.85	
सामान्य उपयोगिता वाली नस्लें :							
निमाड़ी	इनका शरीर सुगठित एवं सुडौल, सिर औसत लम्बाई का, मस्तक थोड़ा उभरा हुआ, सींग गिर नस्ल के पशुओं की भाँति पीछे की ओर निकले हुये, शरीर भारी, पीठ सीधी, गलकम्बल औसत आकार का, ककुद सुविकसित और त्वचा पतली तथा कुछ ढीली होती हैं.	शरीर के विभिन्न भागों पर सफेद चकत्तेयुक्त लाल रंग	नर : 1.55	1.75	1.75	390.00	इस नस्ल के बैल बहुत ही सीधे तथा अच्छा कार्य करने वाले होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं. औसत दुग्धोत्पादन 1.35–1.80 किग्रा. प्रति दिन है.
			मादा : 1.35	1.25	1.60	317.50	
डांगी	इनका आकार मँझोला, त्वचा चिकनी, सिर छोटा, मस्तक उभरा हुआ, सींग छोटे तथा मोटे और कान छोटे होते हैं.	लाल और सफेद अथवा काला और सफेद	नर : 1.25	1.35	1.50	362.85	इस नस्ल के बैल काफी मजबूत, मध्यम, धीमी गति के, भारवाही और पश्चिमी भारत के अधिक वर्षा वाले
			मादा : 1.15	1.25	1.45	294.85	

(क्रमशः)

सारणी 5—क्रमशः

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें	रंग	शारीरिक माप (मी.)			शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारु गुण
			ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा		
							क्षेत्रों के लिये उपयुक्त होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.
हरियाना	इनका शरीर सुगठित एवं सुडौल तथा औसत लम्बाई का, सिर ऊँचा, सींग छोटे तथा ऊपर को उठकर अन्दर की ओर मुड़े हुये, आँखें बड़ी-बड़ी तथा चमकीली, कान छोटे तथा कुछ-कुछ लटकते हुये, गलकम्बल छोटा, नर पशुओं में बड़े आकार का ककुद, पूँछ छोटी, पतली एवं गावदुम और गायों का अयन सुविकसित होता है.	सफेद अथवा हल्का धूसर	नर : 1.40 मादा : 1.30	1.50 1.35	1.95 1.70	498 95 353.80	उत्तरी भारत की यह एक सुविख्यात द्विप्रयोजनीय नस्ल है. इस नस्ल के बैल शक्तिशाली तथा अच्छा कार्य करने वाले होते हैं. ये हल जोतने तथा सड़क पर यातायात के लिये तीव्र गति से कार्य करने में उपयोगी हैं. गायें कुछ-कुछ अच्छा दूध देती हैं, 300 दिन के दुग्धकाल में इनका औसत उत्पादन लगभग 1,140 किग्रा. है. कुछ फार्मों पर इनका उत्पादन 1,815 किग्रा. तक देखा गया है.
मेवाती (कोसी)	लम्बे, भारी तथा सुगठित शरीर वाले इस नस्ल के पशु हरियाना तथा गिर नस्ल के पशुओं से मिलते-जुलते हैं. इनका चेहरा लम्बा तथा पतला, मस्तक उभरा हुआ, सिर के दोनों किनारों से बाहर की ओर निकले सींग, आँखें बड़ी-बड़ी, कान लटकते हुये, ककुद सुविकसित तथा पूँछ लम्बी होती है.	सफेद	नर : 1.55 मादा : 1.20	1.75 1.25	1.85 1.55	385.55 326.60	इस नस्ल के बैल बहुत ही मजबूत तथा अच्छा कार्य करने वाले माने जाते हैं. पानी खींचने, बोझा ढोने तथा अधिक जुताई के लिये ये विशेष उपयोगी हैं. गायें सामान्य दुधारु होती हैं. इनका औसत दुग्धोत्पादन 4.55 किग्रा. प्रति दिन है.
राठ	मूलरूप में हरियाना से मिलते-जुलते इस नस्ल के पशु मँझोले आकार के तथा शक्तिशाली होते हैं. इनका सीना बड़ा, शरीर सुगठित, चेहरा लम्बा, मस्तक चपटा, आँखें चौड़ी तथा बड़ी-बड़ी, कान छोटे एवं लटकते हुये, सींग छोटे तथा किनारे से निकले हुये, ककुद सामान्य विकसित, गलकम्बल हल्का, अगले तथा पिछले पुट्ठे सुविकसित और पूँछ छोटी तथा काले गुच्छे वाली होती है.	इनके सिर पर सफेद गहरे धूसर रंग के निशान पाये जाते हैं.	नर : 1.45 मादा : 1.15	1.50 1.35	1.95 1.50	385.50 326.60	इस नस्ल के बैल फुर्तीले तथा शक्तिशाली होते हैं. ये खेत तथा सड़क के सामान्य कार्य के लिये काफी उपयुक्त हैं. इनके पालन-पोषण में खर्च भी कम आता है. गायें लगभग 4.5 किग्रा. दूध प्रति दिन देती हैं.

(क्रमशः)

सारणी 5–क्रमशः

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें	रंग	शारीरिक माप (मी.)			शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारू गुण
			ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा		
अंगोल	ढीले-ढाले शरीर वाले ये बड़े आकार के पशु हैं. इनका शरीर लम्बा, पैर लम्बे तथा गठीले, आँखों के बीच में चौड़ा मस्तक, कान लम्बे, सींग गुट्ठल, गलकम्बल बड़ा तथा माँसल, नर पशुओं में सीधा एवं सुविकसित ककुद होता है.	इनका रंग श्वेत तथा सिर पर सफेद गहरे धूसर निशान पाये जाते हैं.	नर : 1.45	1.55	2.00	567.60	इस नस्ल के बैल शक्तिशाली और भारी हल खींचने तथा बोझा ढोने के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं, किन्तु तेज चलने वाले नहीं होते. गायें अच्छी दुधारू होती हैं. 300 दिन के दुग्धकाल में इनका औसत दुग्धोत्पादन लगभग 1,360 किग्रा. है.
			मादा : 1.30	1.05	1.75	431.00	
गाओलाओ	इनका कद मध्यम, शरीर हल्का, सिर सामान्यतया लम्बा, पतला तथा सींगों की जड़ के पास कुछ चौड़ा, मस्तक प्रायः चपटा, आँखें बादाम की आकृति की, कान औसत आकार के, सींग छोटे तथा गुट्ठल, गलकम्बल बड़ा तथा पूँछ अपेक्षाकृत छोटी होती है.	सफेद अथवा हल्का धूसर	नर : 1.45	1.20	1.85	431.00	इस नस्ल के बैल अच्छा काम करने वाले तथा गायें कुछ अच्छा दूध देने वाली होती हैं. 250 दिन के दुग्धकाल में इनका औसत दुग्धोत्पादन लगभग 816.5 किग्रा. है.
			मादा : 1.25	1.30	1.70	340.20	
कृष्णा घाटी	यह नस्ल गिर, अंगोल तथा स्थानीय मैसूर प्रकार की नस्लों का मिश्रण है. इनका शरीर लम्बा तथा भारी, सीना बड़ा तथा चौड़ा, सिर छोटा, मस्तक उभरा हुआ, सींग छोटे, आगे से निकल कर अन्दर की ओर मुड़े हुये, गलकम्बल सामान्य सुविकसित, कान छोटे तथा नुकीले होते हैं.	धूसर श्वेत	नर : 1.45	1.50	1.90	498.95	इस नस्ल के बैल बहुत ही मजबूत, धीरे चलने वाले तथा भारी हल खींचने के लिये उपयुक्त होते हैं. गायें सामान्य दुधारू होती हैं. एक ब्यांतकाल में इनका औसत दुग्धोत्पादन लगभग 916 किग्रा. है.
			मादा : 1.15	1.25	1.50	340.20	
थारपारकर	इनका कद औसत, सुडौल एवं सुगठित; पैर छोटे, सीधे तथा मजबूत; सुगठित सन्धियाँ, चेहरा लम्बा, सिर मध्यम आकार का; मस्तक चौड़ा तथा चपटा अथवा आँखों के ऊपर कुछ-कुछ उभरा हुआ; आँखें बड़ी-बड़ी तथा चमकीली; कान कुछ-कुछ लम्बे, चौड़े तथा आधे लटकते हुये; सींग मध्यम आकार के; अगले तथा पिछले पुट्ठे कुछ-कुछ ढलवां और पूँछ लम्बी, पतली, टखनों तक लटकती हुयी एवं काले गुच्छे से युक्त होती है.	सफेद अथवा धूसर	नर : 1.30	1.40	1.85	544.30	इस नस्ल के बैल सभी प्रकार के कृषि कार्य के लिए उपयुक्त होते हैं; गायें अच्छा दूध देती हैं; चुनी हुई ग्रामीण गायों का औसत दुग्धोत्पादन 1,360 किग्रा. प्रति ब्यांत है; कुछ फार्मों पर सुप्रजनित यूथ का औसत दुग्धोत्पादन 1,815–2,720 किग्रा. है.
			मादा : 1.25	1.35	1.65	385.60	

(क्रमशः)

सारणी 5—क्रमशः

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें	रंग	शारीरिक माप (मी.) ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा	शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारू गुण
कांकरेज	भारतीय नस्लों में यह सबसे भारी नस्ल है. इनका शरीर शक्तिशाली; सीना चौड़ा; पीठ सीधी; ककुद सुविकसित; त्वचा मोटी; गलकम्बल मध्यम आकार का; मस्तक अपेक्षाकृत चौड़ा, बीचोबीच थोड़ा-सा दबा हुआ; चेहरा छोटा, नाक थोड़ी ऊपर को मुड़ी हुयी और पूँछ औसत लम्बाई की काली गुच्छेदार.	धूसर श्वेत से लेकर लोहिया अथवा स्टील जैसा काला	नरः 1.55 मादा: 1.30	1.60 1.40	2.00 1.75	589.60 430.90	इस नस्ल के पशु तेज, शक्तिशाली एवं अच्छे भारवाही गुणों वाले होते हैं. गायें अच्छा दूध देती हैं. प्रति ब्यांत इनका औसत दुग्धोत्पादन 1,360 किग्रा. है.
			भैंस जातीय पशु				
मुर्रा	इनका शरीर भारी; सिर अपेक्षाकृत हल्का; सींग छोटे तथा छल्लेदार; अयन सुविकसित; नितम्ब चौड़े; अगले तथा पिछले पुट्ठे ढलवाँ और पूँछ लम्बी तथा टखनों तक लटकती हुयी होती है.	रंग गहरा काला, तथा पूँछ, मुँह एवं शरीर के किनारे वाले भागों पर सफेद धब्बे होते हैं.	नरः 1.45 मादा: 1.35	1.50 1.45	2.25 2.20	567.00 431.00	इस नस्ल की भैंसें काफी अधिक दूध देती हैं जिनमें अधिक वसा होती है. कुछ फार्मों पर रखी गयी सुप्रजनित भैंसें 300 दिन के दुग्धकाल में 2,270 किग्रा. तक दूध देती देखी गयी है.
भदावरी	इनका कद मध्यम, शरीर फानाकार; सिर अपेक्षाकृत छोटा; पैर छोटे तथा मजबूत, खुर काले, भैंसों मे पिछले पुट्ठे अगले पुट्ठों की अपेक्षा भारी तथा ऊँचे; शरीर पर बहुत थोड़े बाल तथा पूँछ लम्बी, पतली, लचीली एवं पिछले घुटनों तक लटकती हुयी, काले तथा सफेद अथवा बिल्कुल सफेद गुच्छे वाली होती है.	ताँबे जैसा	नरः 1.30 मादा: 1.25	1.40 1.35	1.85 1.80	476.30 385.50	नर पशु बोझ ढोने के काम आते हैं. काली नस्लों की अपेक्षा ये अधिक गर्मी सहन कर सकते हैं. भैंसें अच्छा दूध देती हैं. औसत दैनिक दुग्ध मात्रा 3.50 किग्रा. है. इनके दूध में चिकनाई की प्रतिशतता बहुत अधिक होती है.
जाफराबादी	इनका शरीर लम्बा; गलकम्बल ढीला, मादा पशु कुछ-कुछ ढीले-ढाले; सिर तथा गर्दन वाला भाग भारी, मस्तक खूब उठा हुआ; सींग भारी तथा गर्दन के दोनों ओर लटकते हुये किन्तु मुर्रा की अपेक्षा बहुत थोड़े मुड़े हुये तथा अयन सुविकसित होता है.	प्रायः काला	नरः 1.45 मादा: 1.40	1.65 1.65	1.90 1.85	590.00 454.00	इस नस्ल के नर पशु भारी बोझा खींचने के काम आते हैं. भैंसें काफी अच्छी दुधारू होती हैं. ये प्रति ब्यांत काफी अच्छी चिकनाई वाला 2,450 किग्रा. दूध देती हैं.
सूरती	इनका शरीर सुडौल, कद मध्यम, फानाकार बेलनाकार; सिर लम्बा तथा चौड़ा एवं सींगों के बीच गोल; पीठ सीधी, आँखें बड़ी-बड़ी;	इनका रंग काला अथवा बादामी होता है तथा जबड़े के चारों ओर और	नरः 1.30 मादा: 1.25	1.42 1.35	1.85 1.75	499.00 408.00	इस नस्ल की भैंसें थोड़ा दूध देती हैं. फार्म पर रखे गये सुप्रजनित पशुओं के 300 दिन ब्यांतकाल

(क्रमशः)

सारणी 5—क्रमशः

नस्ल	विभेदी विशिष्टतायें	रंग	शारीरिक माप (मी.)			शरीर भार (किग्रा.)	भारवाही तथा दुधारू गुण
			ऊंचाई	लम्बाई	हृतघेरा		
	सींग हंसिये के आकार के, साधारण लम्बे तथा चपटे और पूँछ काफी लम्बी तथा सफेद गुच्छे वाली होती है.	अधर वक्ष के पास एक-एक सफेद धारी होती है.					में औसत दुग्धोत्पादन 1,655 किग्रा. होता है.
मेहसाना	इनका शरीर मुर्रा की अपेक्षा लम्बा; पैर हल्के; सिर लम्बा तथा भारी; सींग मुर्रा की अपेक्षा सिरे पर कम मुड़े हुये किन्तु लम्बे और अयन सुविकसित होता है.	काला या बादामी धूसर तथा चेहरे, पैरों अथवा पूँछ के सिरे पर सफेद निशान.	नर : 1.45 मादा: 1.35	1.75 1.55	2.10 2.10	567.00 431.00	इस नस्ल की भैंसें अच्छी दुधारू होती हैं. ये शहर में दुग्धोत्पादन के लिये बड़ी उपयुक्त मानी जाती हैं. प्रति ब्याँत इनका औसत दुग्धोत्पादन 1,360 किग्रा. है.
नागपुरी अथवा एलिचपुरी	अन्य भैंसों की अपेक्षा इस नस्ल के पशु अपनी शारीरिक बनावट में कुछ अधिक ऊँचे होते हैं. इनका सामान्य रूप मुर्रा से भिन्न होता है. सींग लम्बे, चपटे तथा मुड़े हुये; चेहरा लम्बा तथा पतला, ग्रीवा कुछ लम्बी, पैर हल्के और पूँछ पिछले घुटनों से थोड़ा नीचे लटकती हुयी अपेक्षाकृत छोटी होती है.	इनका रंग प्रायः काला होता है किन्तु कभी-कभी कुछ पशुओं के मुँह, पैरों तथा पूँछ के गुच्छे पर सफेद चकत्ते भी मिलते हैं.	नर : 1.42 मादा : 1.32	1.75 1.45	2.10 2.00	522.00 408.00	इस नस्ल के नर पशु धीमी प्रकृति के होते हैं और भारी कार्य के लिये प्रयुक्त होते हैं. भैंसें अच्छी दुधारू होती हैं. इनका प्रति दिन का औसत दुग्धोत्पादन 5.50–7.25 किग्रा. है.
नीली-रावी	इनका सिर लम्बा ऊपर उठा हुआ, मस्तक का आँखों के मध्य वाला भाग नीचे दबा हुआ; थूथन पतला; कद मध्यम; सींग छोटे तथा छल्लेदार; ग्रीवा लम्बी तथा पतली, अयन सुविकसित और पूँछ जमीन को छूती हुयी काफी लम्बी होती है.	रंग प्रायः काला होता है और मस्तक, चेहरे, थूथन तथा पैरों पर सफेद निशान होते हैं.	नर : 1.35 मादा : 1.35	1.55 1.45	2.25 2.25	567.00 454.00	इस नस्ल के नर पशु भारी बोझा खींचने के काम आते हैं. भैंसे अधिक दूध देने वाली होती हैं. प्रति ब्याँत इनका औसत दुग्धोत्पादन 1,585 किग्रा. है.

*Agriculture and Animal Husbandry in India (I.C.A.R., New Delhi), 1958; Zebu Cattle of India and Pakistan (F.A.O., Rome), 1953; Harbans Singh, A Handbook of Animal Husbandry for Extension Workers (Directorate of Extension, Ministry of Food & Agriculture, New Delhi), 1963; Definitions of the Characteristics of Cattle and Buffalo Breeds in India, *Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 86, 1960.

गिर—सम्भवतः गुजरात में दक्षिणी काठियावाड़ के गिर जंगलों से निकलने वाली यह नस्ल भारतवर्ष में पायी जाने वाली श्रेष्ठतम दुधारू नस्लों में से एक है. सम्पूर्ण गुजरात तथा महाराष्ट्र एवं राजस्थान के समीपवर्ती प्रक्षेत्रों में इस नस्ल के लगभग विशुद्ध पशु देखने को मिलते हैं. पश्चिमी राजस्थान के एक बड़े हिस्से, बड़ौदा तथा महाराष्ट्र के उत्तरी भाग में इस नस्ल के अशुद्ध पशु मिलते हैं. उपयुक्त चरागाह की तलाश में दूर-दूर तक जाने की आदत के कारण निकटवर्ती क्षेत्रों की विभिन्न नस्लों में गिर नस्ल का मिश्रण पाया जाता है.

गिर नस्ल की गायें अच्छी दुधारू होती हैं. 325 दिन के दुग्धकाल में इनका अधिकतम उत्पादन 3,175 किग्रा. है. सुव्यवस्थित यूथ औसतन 1,675 किग्रा. दूध देते हैं. तमिलनाडु के होसुर फार्म पर तथा गुजरात के मोर्वी फार्म पर रखी गयी इस नस्ल की गायें क्रमशः 6.0 तथा 5.0 किग्रा. दूध नित्य देती हैं. सैनिक फार्म, पूना पर रखे गये यूथ का उत्पादन कीर्तिमान 7.5 किग्रा. दूध प्रति दिन प्रति गाय रहा है. महाराष्ट्र तथा गुजरात के अन्य क्षेत्रों में इस नस्ल के पशुओं का उत्पादन 2.25 – 4.50 किग्रा. है.

इस नस्ल के बैल भारी, शक्तिशाली किन्तु धीमी प्रकृति के होते हैं. बोझा ढोने के लिये इनका अधिक प्रयोग होता है.

मांस की दृष्टि से भी गिर नस्ल के पशु भारतवर्ष में श्रेष्ठतम हैं अतः वहाँ के स्थानीय पशुओं में मांसोत्पादन सम्वन्धी गुणों के सुधार हेतु इन्हें विदेशों को भी भेजा जाता है.

साहीवाल—इस नस्ल का मूल स्थान पाकिस्तान का माण्टगोमरी जिला है. आजकल यह पंजाब तथा उन अन्य प्रदेशों मे पाली जाती हैं जहाँ शहरों के लिये दुग्धपूर्ति परियोजनायें कार्यान्वित हैं. अपने अधिक दुधारू गुणों तथा भारतवर्ष के सभी भागों में भली-भाँति वृद्धि कर सकने की क्षमता रखने के कारण इस नस्ल के अनेक विशुद्ध यूथ पंजाव, दिल्ली, उत्तर प्रदेश और विहार मे पाले जाते हैं.

300 दिन के दुग्धकाल मे इस नस्ल का औसत दुग्धोत्पादन 2,725–3,175 किग्रा. है. कुछ गायें सामान्यतया 4,535 किग्रा. तक दूध देती हैं.

इस नस्ल के बैल वहुत ही सुस्त तथा ढीले-ढाले होते हैं किन्तु मन्द कार्य के लिये उपयुक्त होते हैं.

प्रजनन कार्य हेतु संसार के विभिन्न उष्णकटिवन्धीय देशों मे इस नस्ल के विशुद्ध वंशागत साँड़ों की वहुत माँग है.

लाल सिन्धी—पाकिस्तान के सिन्ध प्रदेश में कोहिस्तान से प्रारम्भ होने वाली यह नस्ल भारतवर्ष के गोपशुओं की एक विशिष्ट नस्ल है. मूल स्थान वाले क्षेत्रों मे ही इस नस्ल के विशुद्ध पशु मिलते हैं तथा अन्य स्थानो में धूसर रंग वाले पशुओं से रक्त का सम्मिश्रण हो जाने के कारण यह नस्ल अशुद्ध अवस्था में प्राप्त होती है. लाल सिन्धी नस्ल के पशु सिन्ध प्रदेश के काफी वड़े क्षेत्र तथा भारत के सीमावर्ती जनपदों मे पाये जाते हैं.

सिन्धी गायें लाभप्रद और अधिक दुधारू होती हैं तथा भारतीय नस्लों मे दुग्धोत्पादन की दृष्टि से साहीवाल के वाद इनका दूसरा स्थान है. 300 दिन के दुग्धकाल मे ये 5,440 किग्रा. तक दूध देती है. सुव्यवस्थित यूथ का औसत दुग्धोत्पादन 1,725 किग्रा. है. भारतवर्ष की उन्नत सिन्धी गायो का दैनिक औसत दुग्धोत्पादन 4.5–6.5 किग्रा. प्रति गाय है. ये लगभग नियमित रूप से गर्भित होती तथा वच्चे देती रहती हैं.

सिन्धी नस्ल के बैलो का आकार मध्यम, शरीर मांसल तथा सुगठित और मासपेशियाँ तथा हड्डियाँ मजवूत होती हैं. ये अच्छे भारवाही गुणों वाले और खेत तथा सड़क दोनों कार्यो के लिये उपयोगी हैं.

कद मे छोटे, विभिन्न प्रकार की जलवायु मे वृद्धि कर सकने का गुण तथा सामान्य रोगों के प्रति प्रतिरोध शक्ति होने के कारण सिन्धी नस्ल के पशु भारतवर्ष के कुछ भागों, विशेषकर असम, उड़ीसा, केरल तथा तमिलनाडु के कुछ क्षेत्रों में स्थानीय पशुओं की नस्ल सुधारने के लिये वड़ी संख्या में प्रयोग किये जाते हैं. कोरिया, मलाया, ब्राज़ील, क्यूवा, ब्रह्मा, श्रीलंका, जापान तथा फिलीपीन्स द्वीप समूहों में भी इनकी वड़ी माँग है. सिन्धी नस्ल के अनेक विशुद्ध यूथ वर्षों से भारतवर्ष के व्यक्तिगत, सहकारी समितियों तथा राजकीय फार्मों पर रखे गये है. राजकीय फार्म, होसुर; राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल; सैनिक फार्म, वंगलोर तथा हैदरावाद; और कृषि संस्थान, इलाहावाद में इस नस्ल के वहुत ही अच्छे यूथ रखे गये है.

देवनी—इस नस्ल के पशु आन्ध्र प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी तथा पश्चिमी भागों मे पाये जाते हैं. ये अपने कद तथा चितकवरे रंग मे गिर नस्ल से मिलते-जुलते हैं तथा इनमें अन्य नस्लों का मिश्रण भी हो सकता है.

इस नस्ल की गायें कुछ अच्छी दूध देने वाली होती हैं. ये 300 दिन के दुग्धकाल में लगभग 1,135 किग्रा. दूध देती हैं. फार्मों पर रखी गयी सुप्रजनित गायें इसी अवधि में 1,580 किग्रा. तक दूध देती हैं. देवनी नस्ल के बैल भारी काम के लिये वहुत अच्छे होते हैं तथा सघन खेती के लिये विशेषकर उपयोगी हैं.

महाराष्ट्र के उदगिर फार्म पर इस नस्ल की विशुद्ध प्रजातियाँ विकसित की जा रही हैं.

भारवाही नस्लें

इन नस्लों की गायें वहुत थोड़ा दूध देती हैं किन्तु बैल भारवाही कार्यों के लिये अच्छे होते हैं. भारतवर्ष में 80% से अधिक किसान कृषि कार्यों के लिये बैलों पर ही निर्भर रहते हैं. फार्मों पर रखे गये पशुओं मे से लगभग 42% भारवाही होते हैं. फार्म पर रखे गये बैलों के खाली समय का उपयोग फार्म यातायात तथा ग्रामीण उद्योग-धन्धों मे होता है. 1961 में कार्य करने वाले बैलों की संख्या 6.87 करोड़ अनुमानित की गयी थी.

भारवाही नस्लें चार प्रकार की होती हैं : (1) छोटे सींग वाले सफेद अथवा हल्के धूसर रंग के पशु जिनका चेहरा तथा खोपड़ी लम्बी एवं वनावट कुछ-कुछ उन्नतोदर होती है. (2) वीणा के आकार के सींग वाले धूसर पशु जिनका मस्तक चौड़ा, आँखें वड़ी-वड़ी, वनावट चपटी अथवा दवी हुयी, शरीर भारी तथा कार्य करने की क्षमता वहुत अधिक होती है. (3) मैसूर प्रकार के पशु जिनका मस्तक वड़ा तथा सींग एक दूसरे के पास से निकल कर लम्बे तथा नुकीले होते हैं. (4) छोटे कद के काले, लाल अथवा काले-भूरे रंग के पशु जिनके शरीर पर प्रायः सफेद रंग के वड़े-वड़े चकत्ते होते हैं तथा सींग छोटे अथवा कुछ-कुछ वीणा के आकार के होते हैं.

(1) **नागौरी** तथा वछौर नस्लें पहले प्रकार के भारवाही गुणों वाले पशुओं के अति उत्तम उदाहरण हैं. **नागौरी** भारतवर्ष की सुप्रसिद्ध दौड़ने वाली नस्ल है जो प्राचीन जोधपुर रियासत (राजस्थान) के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र मे पायी जाती है. इस शुष्क क्षेत्र में कृषकों द्वारा वहुत ही सावधानी से इनका प्रजनन कराया जाता है. इस नस्ल में धूसर रक्त का सम्मिश्रण भी मिलता है. फार्म पर रखी गयी गायें नित्य 3.65 किग्रा. दूध देती हैं. बैल काफी वड़े कद के तथा तेज भागने वाले होते हैं. ये सड़क के द्रुतगामी कार्य के लिये काफी उपयुक्त होते हैं. गहरी वलुई जमीन के लिये इनकी विशेष उपयोगिता है.

वछौर प्रमुखतया एक भारवाही गुणों वाली नस्ल है जो विहार प्रदेश में दरभंगा के वछौर परगना, भागलपुर के कोइलपुर परगना, मुजफ्फरपुर की सीतामढ़ी तहसील और चम्पारन जिले में पायी जाती है. इस नस्ल की गायें वहुत कम दूध देती हैं. इनका औसत दुग्धोत्पादन 1.35 किग्रा. प्रति दिन है. बैल वहुत अच्छा कार्य करने वाले होते हैं. यह नस्ल केवल स्थानीय महत्व की है तथा अन्य धूसर नस्लों की अपेक्षा यह कम सुविख्यात है.
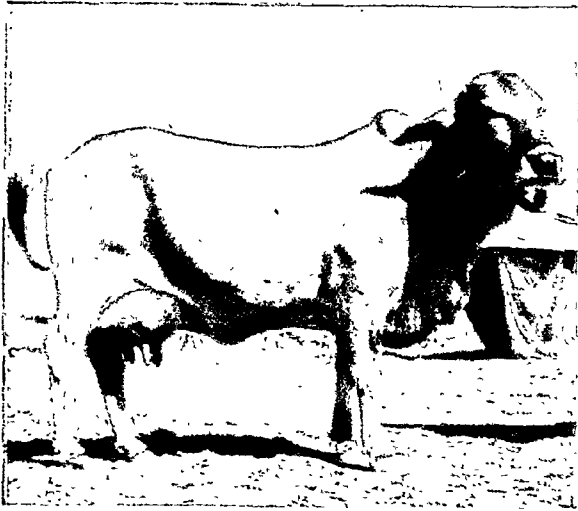
साहीवाल
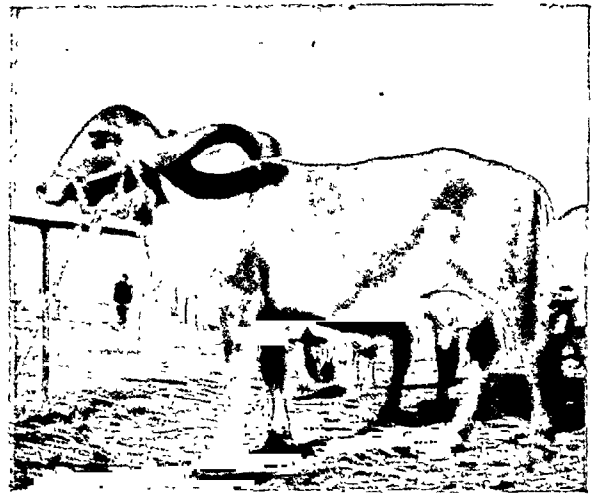
गिर
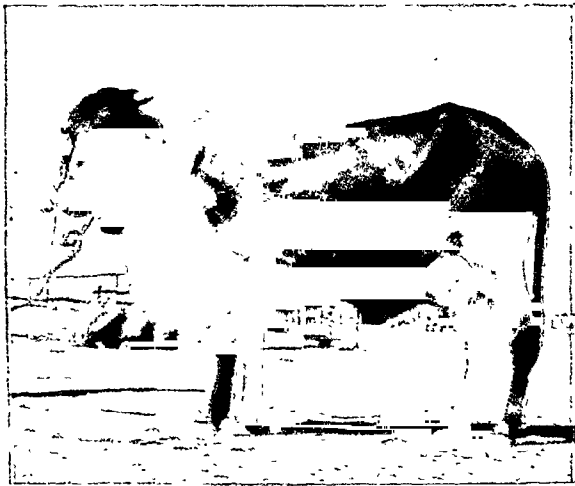
लाल सिंधी

थारपारकर

गोपशु : दुधारू नस्लें

(2) **केनकठा, मालवी** तथा **खेरीगढ़** नस्लें भारवाही गुणों में दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं. **केनकठा या केंवरिया** नस्ल के पशु उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले की केन नदी के किनारे के क्षेत्र तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों में पाये जाते हैं. इस नस्ल के बैल छोटे किन्तु सुदृढ़ तथा शक्तिशाली होते है. वे सड़क तथा खेत का हल्का कार्य करने के लिये बड़े अच्छे माने जाते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.

मालवी नस्ल मध्य भारत के शुष्क मालवा क्षेत्र एवं मध्य प्रदेश तथा हैदराबाद के कुछ भागों में पायी जाती है: कृषि तथा यातायात के हल्के एवं मध्यम कार्य के लिये इस नस्ल के पशु बड़े अच्छे माने जाते हैं. इनको खिलाने में व्यय कम होता है तथा ये विभिन्न जलवायु तथा मिट्टी वाली परिस्थितियों में वृद्धि कर सकते हैं. गायें सामान्य दूध देती है.

खेरीगढ़ अपेक्षाकृत एक अविख्यात नस्ल है जो सरयू और मोहन के बीच वाले भाग, घाघरा के उत्तर तथा लखीमपुर के परगना खेरीगढ़ और उत्तर प्रदेश के खीरी जिले में पायी जाती है. इस नस्ल के बैल हल्के कार्य तथा भगाने के लिये अच्छे होते हैं. ये बहुत ही चुस्त होते हैं तथा केवल चरागाह पर चरकर ही जीवित रह सकते हैं. तराई के क्षेत्र के लिये ये बहुत उपयुक्त हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.

(3) **हल्लीकर, अमृतमहल, खिल्लारी, बरगुर** तथा **काँगायाम** नस्लें मैसूर प्रकार के भारवाही पशु हैं जो बहुत ही मजबूत तथा सड़क के तेज कार्य के लिये उपयुक्त होते हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.

हल्लीकर मैसूर की सुविख्यात भारवाही नस्ल है. इसका मूल स्थान तमकुर, हसन तथा मैसूर है. कुछ गुणों में यह **अमृतमहल** से मिलती-जुलती है. इस नस्ल के बैल सुदृढ़, जोशीले, तेज तथा सड़क और खेत पर जमकर काम करने वाले होते हैं.

अमृतमहल भारत की सुप्रसिद्ध भारवाही नस्ल है. इसका मूल स्थान मैसूर है. इस नस्ल के पशु छोटे तथा फुर्तीले होते हैं और अपनी सहिष्णुता के लिये प्रसिद्ध हैं. अपने वाह्य गुणों में ये मैसूर प्रकार से काफी मिलते-जुलते हैं. इनके सिर तथा सींगों की बनावट विशिष्ट प्रकार की होती है. इनकी हल्लीकर, खिल्लारी और काँगायाम नस्लों के साथ तुलना की जा सकती है. यह नस्ल तेज कार्य के लिये बहुत ही उपयुक्त है और सड़क तथा कृषि कार्य में सक्षम है. इस नस्ल के पशु कभी-कभी बहुत ही क्रोधित होते देखे जाते हैं. राजकीय फार्म, आजमपुर पर रखे गये अभिलेखों के अनुसार इस नस्ल की गायों का औसत दुग्धोत्पादन 1.6 किग्रा. प्रति दिन है.

खिल्लारी नस्ल के पशु प्रमुख तौर पर महाराष्ट्र के दक्षिणी भागों, विशेषकर आंशिक रूप से शोलापुर तथा सतारा ज़िलों एवं सतपुड़ा क्षेत्र में, पाले जाते है. मध्यम कद की भारवाही गुणों वाली यह एक प्रसिद्ध नस्ल है. यह मैसूर की अमृतमहल तथा हल्लीकर नस्लों से मिलती-जुलती है. इस नस्ल के बैल बहुत ही शक्तिशाली तथा तेज कार्य करने वाले होते हैं. ये बहुत ही परिश्रमी, चारे के अभाव में थोड़ा खाकर जीवित रहने वाले तथा सड़क अथवा खेत पर बहुत ही साहस से काम करने वाले होते हैं. इस नस्ल के पशु अकाल की परिस्थितियों में भी जीवित रहने की क्षमता रखते हैं, और इस कारण इनका बहुत बड़ा महत्व है. इस नस्ल के पशु श्रीलंका भी भेजे गये है, जहाँ स्थानीय पशुओं में भारवाही गुणों के सुधार हेतु इनसे प्रजनन कराया जाता है.

बरगुर नस्ल के पशु तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले के भवानी तालुके के बरगुर के पर्वतीय जंगलों मे पाले जाते हैं. देखने मे यह नस्ल हल्लीकर से काफी मिलती-जुलती है. इस नस्ल के पशु छोटे, सुगठित शरीर वाले तथा आकर्षक होते हैं. ये बैल क्रोधी होते है और साहस, मजबूती तथा चाल में अद्वितीय माने जाते हैं.

काँगायाम भारत की एक अन्य लोकप्रिय नस्ल है जो प्रमुख तौर पर तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले में पायी जाती है. यह नस्ल मैसूर नस्लों से सम्बन्धित हैं तथा देखने में उनसे मिलती-जुलती है. इस नस्ल के पशु औसत कद के तथा कार्य करने में तेज होते हैं; गायें कम दूध देती हैं तथा एक दुग्धकाल में इनसे औसत 816.5 किग्रा. दूध प्राप्त होता है. काँगायाम पशुओं का अनेक पीढ़ियों से वैज्ञानिक ढंग से प्रजनन कराया गया है. इस नस्ल के बैल शक्तिशाली भारवाही गुणों वाले होते हैं और इनके रख-रखाव मे व्यय भी कम होता है. दक्षिण भारत तथा श्रीलंका मे कार्य के लिये इनको बहुत बड़ी संख्या में खरीदा जाता है.

(4) **पंवार** तथा **सीरी** नस्लें भी अच्छे भारवाही गुणों वाली होती हैं. ये फुर्तीली तथा हल्का हल खीचने एवं अन्य कार्यों के लिये उपयुक्त होती हैं. गायें बहुत थोड़ा दूध देती हैं.

पंवार नस्ल उत्तर प्रदेश के पीलीभीत जिले की पूरनपुर तहसील और खीरी जिले के उत्तरी-पश्चिमी भागों मे मिलती है. बैल अपनी तेजी और सामर्थ्य के लिये प्रसिद्ध है और खेती तथा बोझ ढोने के लिये अच्छे है. गायें थोडा दूध देती हैं.

सीरी नस्ल दार्जिलिंग, सिक्किम और भूटान के पर्वतीय क्षेत्रों मे पायी जाती है. कड़ाके की सर्दी तथा वर्षा से बचाव के लिये पशुओं के शरीर पर बालों की एक मोटी परत होती है. इस नस्ल के बैल विशेषकर पहाड़ी क्षेत्रों मे 375–670 किग्रा. भार की गाडियाँ खींचने के काम आते हैं. घर पर बाँधकर खिलाने से इस नस्ल की गायें कुछ अच्छा दूध देती हैं. चुनी हुयी गायें 280 दिन के दुग्धकाल में औसतन 1,360 किग्रा. दूध देती हैं. साधारण परिस्थितियों मे ये नित्य केवल 1.35–1.80 किग्रा. दूध देती हैं.

सामान्य उपयोगिता वाली नस्लें

इन नस्लों के पशु द्विप्रयोजनीय या दुकाजी होते हैं. गायें थोडा अच्छा दूध देती हैं तथा बैल अच्छा कार्य करने वाले होते हैं. देश मे विशिष्ट उद्देश्यों से पाले गये गाय-भैंस जाति के पशुओं की संख्या का कुल पशु संख्या से अनुपात अपेक्षाकृत काफी कम है. 1961 की पशु गणना के अनुसार देश के कृषक 17.5 करोड़ बैलों तथा 5.1 करोड़ भैंसों के विशाल समूह को कृषि कार्य के प्रयोग में लाते हैं.

फार्मों का औसत आकार, वितरण तथा वहाँ रहने वाले पशुओं की संख्या कुछ भी क्यों न हो, महाराष्ट्र, पंजाब तथा पश्चिमी बंगाल, इन तीनों प्रदेशों में किये गये सर्वेक्षणों के अनुसार यहाँ के फार्मों पर कार्य करने वाले, दूध देने वाले तथा अन्य पशुओं का अनुपात एक जैसा ही है. फार्मों पर लगभग 42% पशु कार्य करने वाले हैं तथा शेष 58% मे दूध देने वाले तथा अन्य पशु लगभग बराबर के अनुपात में हैं. किसान, कार्य करने वाले पशुओं को अधिक पसंद करते हैं तथा दुधारू पशु दूध देने की अपेक्षा अच्छे बैल पैदा करने की दृष्टि से रखे जाते हैं.

सामान्य उपयोगिता वाली नस्लों के पशु दो प्रकार के होते हैं: (1) छोटे सींग वाले सफेद अथवा हल्के धूसर रंग के पशु जिनका चेहरा तथा खोपड़ी लम्बी एवं बनावट कुछ-कुछ उन्नतोदर होती है; (2) वीणा के आकार के सींग वाले धूसर रंग के पशु जिनका मस्तक चौड़ा, आँखें बड़ी-बड़ी, बनावट चपटी अथवा दबी हुयी; शरीर भारी तथा कार्य करने की क्षमता बहुत अधिक होती है.

(1) **निमाड़ी, डाँगी, हरियाना, मेवाती (कोसी), राठ, अंगोल, गाओलाओ** तथा **कृष्णाघाटी** नस्लें पहले प्रकार की सामान्य उपयोगिता वाली नस्लों के उदाहरण हैं. **निमाड़ी** नस्ल मध्य प्रदेश के निमाड़ जिले, नर्मदा घाटी तथा प्राचीन इन्दौर राज्य (जो अब मध्य प्रदेश में सम्मिलित है) के खारगाँन ज़िले में पायी जाती है. इस क्षेत्र में यह नस्ल अपनी विशुद्ध अवस्था में मिलती है तथा अन्य स्थानों पर गिर और खिल्लारी नस्लों के साथ मिली-जुली पायी जाती है. यह खारगोनी नस्ल के नाम से भी जानी जाती है. पशु-पालन व्यवसायी इसी क्षेत्र में इनका प्रजनन करवाते हैं. सम्भवतः यह नस्ल स्थानीय पशुओं और गुजरात की गिर नस्ल के साथ मिश्रण होने से निकली है. निमाड़ी नस्ल के पशु कार्य करने तथा दुग्धोत्पादन दोनों ही दृष्टि से अच्छे होते हैं. एक दुग्धकाल में इनका औसत दुग्धोत्पादन 915 किग्रा. है. बैल बहुत ही शक्तिशाली तथा अच्छा काम करने वाले होते हैं और विशेषकर पानी खींचने के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं. महाराष्ट्र के गिलिगान पशु प्रजनन फार्म, पिम्पिल (जलगांव जिला), गंगापुरी पशु प्रजनन फार्म, जमनास (जलगांव जिला) और शहादा तालुक (धुलिया जिला) में पाटिलवादी फार्म पर इस नस्ल के विशुद्ध वंशागत यूथ रखे जाते हैं.

डाँगी एक छोटी सी नस्ल है जो अहमदनगर जिले के अकोला तालुके, पुराने खानदेश जिले के सोनखद तालुके, नासिक के घाटों, महाराष्ट्र के थाना और कोलाबा जिलों, धरमपुर, जवाहर, डाँग्स और बनसदा की पुरानी रियासतों में पायी जाती है. इस नस्ल के पशु बहुत ही मजबूत होते हैं तथा पर्वतीय इलाको एवं अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में भली-भाँति बढ़ते हैं.

व्यावसायिक पशु-पालक तथा स्थानीय कृषक दोनों ही इस नस्ल के पशुओं को पालते हैं. सम्भवतः स्थानीय पशुओं का गिर नस्ल के पशुओं से प्रजनन करा कर यह नस्ल निकाली गयी है. दुग्धोत्पादन तथा भारवाही गुणो के अध्ययन एवं विकास हेतु तथा पशु-प्रजनकों को विशुद्ध नस्ल वाले साँड़ देने के लिये 1946-47 में महाराष्ट्र के नासिक जिले के इगतपुरी नामक स्थान पर एक राजकीय पशु-प्रजनन केन्द्र की स्थापना की गयी.

इस नस्ल के बैल बहुत ही मजबूत तथा पश्चिमी भारत के अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों के लिये अत्यन्त उपयुक्त हैं. ये काम करने में चुस्त होते हैं तथा तराई के क्षेत्रों में धान की खेती और यातायात के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं. बछड़ों को बचपन में ही बधिया करके बैल बनाने के लिये पाला जाता है. गाये बहुत थोड़ा दूध देती हैं. प्रति गाय औसत दुग्धोत्पादन 1.35–1.80 किग्रा. होता है. मैसूर के धारवाड़ जिले तथा महाराष्ट्र के नासिक ज़िले के फार्मों पर रखी गयी गायों का प्रति दिन का औसत दुग्धोत्पादन लगभग 3.5 किग्रा. है.

हरियाना भारतवर्ष में गोपशुओं की बहुत ही प्रमुख नस्ल है और सम्पूर्ण देश में प्रथम श्रेणी की द्विप्रयोजनीय नस्ल मानी जाती है. विशेषकर इस नस्ल के पशु हरियाणा प्रदेश के रोहतक, हिसार, करनाल तथा गुड़गाँव जिलों तथा दिल्ली राज्य में पाले जाते हैं. हिसार ज़िले में पाये जाने वाले पशु अपनी शारीरिक बनावट में विशुद्ध **हरियाना** नस्ल से कुछ भिन्न होते हैं और इनका नाम **हिसार** नस्ल रखा गया है. अपनी विशुद्ध अवस्था में हरियाना नस्ल के पशु पंजाब तथा राजस्थान के कुछ भागों, विशेषकर अलवर तथा भरतपुर जिलों में और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रजनित किये जाते हैं. हरियाना पशुओं का शरीर बहुत ही सुगठित तथा सुडौल होता है. इस नस्ल के बैल अच्छे कार्य करने वाले होते हैं.

हरियाना गायें अच्छी दुधारू होती हैं. 300 दिन के दुग्धकाल में एक गाय प्रति दिन औसतन 1.15 किग्रा. दूध देती है. चुने हुये यूथों का औसत दुग्धोत्पादन 4.5 किग्रा. प्रति गाय प्रति दिन है. इस नस्ल के पशु बड़ी संख्या मे दुग्धोत्पादन के लिये अपने मूल स्थान से कलकत्ता जैसे बड़े-बड़े शहरों को तथा दुग्धोत्पादन एवं कार्य करने के लिये उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा जैसे अन्य प्रदेशों को भेजे जाते हैं. कई राजकीय फार्मों पर हरियाना नस्ल के विशुद्ध यूथ रखे गये है. इनमें से सर्वोत्तम तथा सबसे बड़ा यूथ कलकत्ता के निकट हेरिंघाटा फार्म पर पाला गया है.

मेवाती (कोसी) नस्ल के पशु उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले के कोसी क्षेत्र और राजस्थान के अलवर तथा भरतपुर जिलों में पाये जाते हैं. वे कद मे हरियाना से छोटे होते हैं किन्तु इनमे गिर नस्ल के रक्त का सम्मिश्रण होता है. इस नस्ल के बैल बहुत ही शक्तिशाली तथा सीधे होते हैं और भारी हल खींचने तथा बैलगाड़ी मे चलने के लिये बहुत उपयुक्त माने जाते हैं. गायें कुछ अच्छी दुधारू होती हैं और प्रत्येक गाय औसतन नित्य 4.5 किग्रा. दूध देती है.

राठ नस्ल राजस्थान में अलवर के उत्तरी एवं पश्चिमी भागों तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में पायी जाती है. सम्भवतः *यह नस्ल* **नागौरी, हरियाना** तथा **मेवाती (कोसी)** *नस्लों का सम्मिश्रण है.* देखने में ये हरियाना नस्ल के समान होते हैं. पशु सुगठित शरीर वाले, मध्यम कद के तथा शक्तिशाली होते हैं और मध्यम भारी हल खींचने तथा बैलगाड़ी में जोतने के काम आते हैं. गायें कुछ अच्छी दुधारू होती हैं और 4.5 किग्रा. की मात्रा में प्रति दिन दूध देती हैं. इस नस्ल के पशु प्रायः कृष्य भूमि पर ही पाले जाते है.

अंगोल (नेल्लोर) नस्ल के पशु आन्ध्र प्रदेश के नेल्लोर तथा गुंटूर जिलों में पाये जाते है. इन दोनों जिलों में सर्वत्र बहुत बड़ी संख्या मे इस नस्ल के विशुद्ध पशु पाये जाते हैं. यहाँ के किसान इन्हें विशेष प्रकार से उगाये हुये चारे तथा अनाज की फसलों के अवशेषों पर पालते हैं. अधिकतर ये गुंटूर जिले में पाले जाते हैं.

कार्य तथा दुग्धोत्पादन की दृष्टि से अंगोल भारतवर्ष की सर्वोत्तम नस्लों में से एक है. इस नस्ल के बैल बहुत ही शक्तिशाली तथा भारी हल एवं गाड़ी खींचने के उपयुक्त होते हैं, किन्तु अधिक भागने वाले नहीं होते. गायें अच्छी दुधारू होती हैं. राजकीय फार्मों पर रखी गयी गायों का प्रति दिन का औसत दुग्धोत्पादन 2.25 किग्रा. है. एक दुग्धकाल में इनका औसत उत्पादन 1,360 किग्रा. है. कुछ पशु 3.5–5.0 किग्रा. तक दूध देते देखे गये हैं.

यूरोप के स्थानीय पशुओं के सुधार हेतु अंगोल नस्ल के पशु काफी बड़ी संख्या में अमेरिका तथा अन्य देशों को भी भेजे गये हैं. अन्य देशी (जेबू) पशुओं की भांति इनमें बीमारियों के प्रति प्रतिरोध शक्ति, सुदृढ़ता तथा थोड़े एवं सूखे चारे पर पलने की
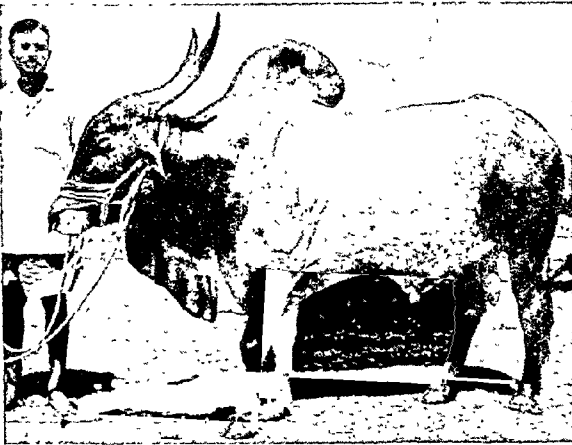
अमृतमहल
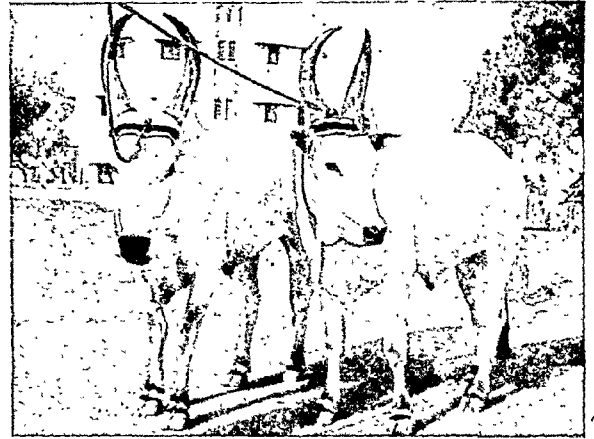
कांगायाम

खिल्लारी
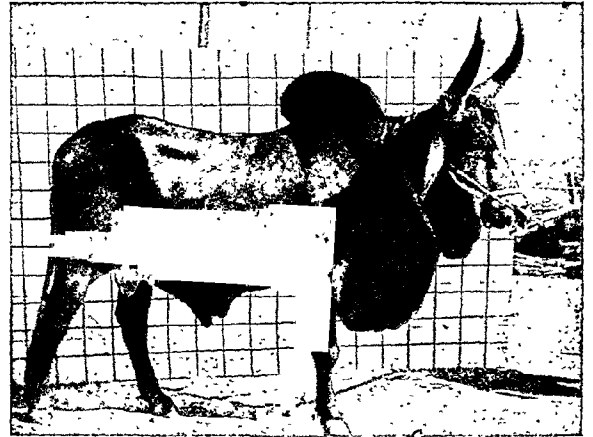
केनकठा

मालवी

नागौरी

गोपशु : भारवाही नस्लें

फलक 4

हिसार गाय

हिसार सांड़

गाओलाओ सांड़

गाओलाओ गाय
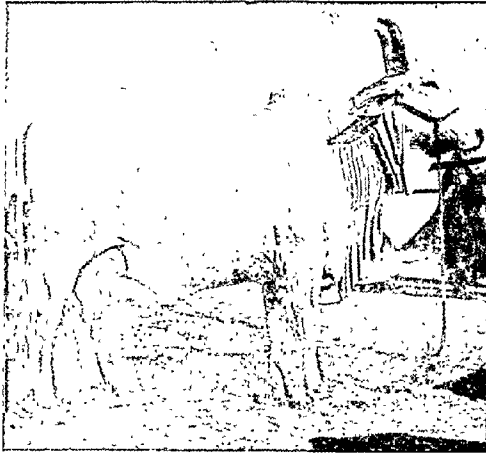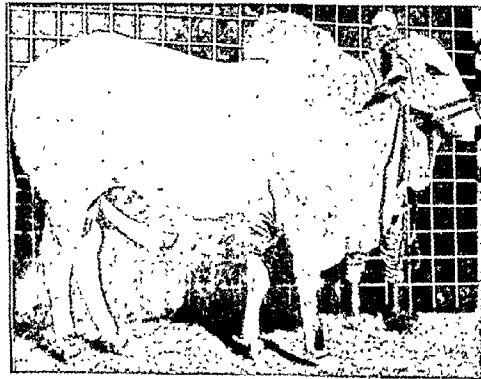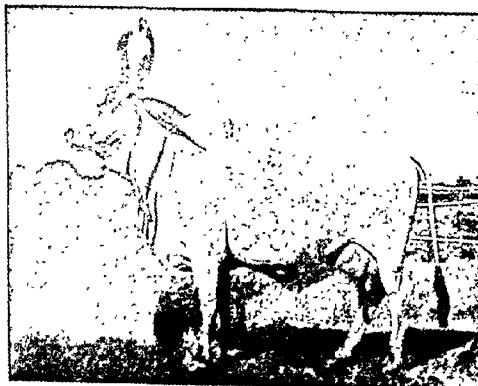
कांकरेज गाय
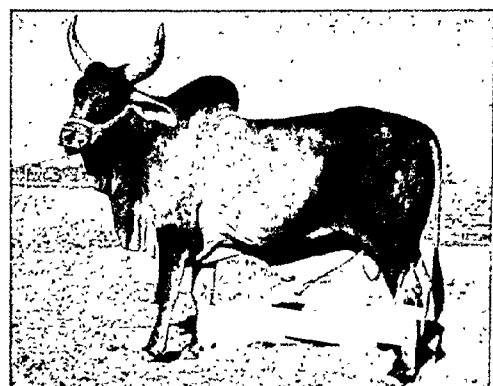
कांकरेज सांड़

गोपशु : सामान्य उपयोगिता वाली नस्लें

क्षमता आदि गुण होते हैं. ये गुण अन्य देशों में मांस उत्पादन हेतु उपयुक्त नस्ल पैदा करने में काफी सहायक सिद्ध हुये हैं.

गाओलाओ नस्ल अधिकतर छिदवाड़ा, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र के उत्तरी वर्धा और नागपुर जिलों में पायी जाती है. इस नस्ल के पशु मध्यम कद के तथा हल्के शरीर वाले होते हैं. बैल अच्छा कार्य करने वाले तथा गायें मध्यम दुधारू होती हैं. इनका प्रति दिन का अधिकतम दुग्धोत्पादन 7.5 किग्रा. तक देखा गया है.

कृष्णाघाटी नस्ल, बम्बई तथा हैदराबाद के सीमा-क्षेत्र में बहने वाली कृष्णा नदी के किनारे कपास की काली मिट्टी वाले क्षेत्र में पायी जाती है. इस नस्ल के पूर्णतया शुद्ध होने में संदेह है क्योंकि इनमें मैसूर प्रकार के पशुओं के रक्त के सम्मिश्रण के लक्षण मिलते हैं.

इस नस्ल के बैल काफी शक्तिशाली होते हैं तथा बोझभरी गाड़ी अथवा भारी हल खींचने के लिये उपयुक्त हैं. ये अच्छा काम करते हैं. इससे इनको काफी महत्व दिया जाता है. गायें थोड़ा दूध देती हैं. एक दुग्धकाल में इनका औसत दुग्धोत्पादन लगभग *916* किग्रा. है.

(2) **थारपारकर** तथा **काँकरेज** भारतवर्ष की दो प्रमुख द्विप्रयोजनीय नस्लें हैं जिनमें द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत वर्णित पशुओं के गुण मिलते हैं. **थारपारकर** एक बाहरी नस्ल है जो पाकिस्तान में दक्षिणी-पश्चिमी सिन्ध के अर्ध-रेगिस्तानी इलाके की मूलवासी है. इस नस्ल के पशु कच्छ, जोधपुर तथा जैसमलेर के कुछ कम विकसित फार्मों पर भी पाये जाते हैं. **थारपारकर** अथवा **थारी** नस्ल के पशुओं का कद मध्यम, शरीर सुगठित तथा पैर गठीले, सीधे एवं मजबूत होते हैं. अमरकोट, नौकोट, धोरो नारो एवं छोड़ के बलुई टीबों वाले क्षेत्र में इस नस्ल के विशुद्ध पशु मिलते हैं. थारपारकर पशुओं का सर्वोत्तम यूथ केन्द्रीय सरकारी फार्म, करनाल पर रखा गया है, जहाँ इनका नियंत्रित प्रजनन कराकर अनेक पीढ़ियाँ प्राप्त की जा चुकी हैं. भारत के अन्य फार्मों पर भी इस नस्ल के कुछ पशु पाले जाते हैं.

थारपारकर भारतवर्ष की बहुत ही अच्छी द्विप्रयोजनीय नस्ल सिद्ध हुयी है. इस नस्ल के बैल हल जोतने तथा गाड़ी खींचने के लिये बहुत ही अच्छे माने जाते हैं और गायें अच्छी दुधारू होती हैं. कुछ फार्मों पर 300 दिन के दुग्धकाल में इन पशुओं से 1,815–2,720 किग्रा. दूध प्राप्त हुआ है और अधिकतम उत्पादन 4,375 किग्रा. तक देखा गया है. औसत दुग्धोत्पादन लगभग 1,360 किग्रा. है. कुछ पशुओं का प्रति दिन का औसत दुग्धोत्पादन 7.5 किग्रा. तक है.

काँकरेज भारतवर्ष के गोपशुओं की बहुत ही अच्छी नस्ल है. इस नस्ल के विशुद्ध पशु गुजरात में अहमदाबाद जिले के कच्छ की खाड़ी के दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र तथा पूर्व में दीसा से लेकर पश्चिम में प्राचीन रधनपुर राज्य तक, विशेषकर बनास और सरस्वती नदियों के किनारे पाये जाते हैं. **काँकरेज अथवा वाघियर,** पशुओं की सुप्रजनित नस्ल है और अपनी तेज चाल, शक्तिशाली कार्य और भारवाही गुणों के कारण बहुत अच्छी मानी जाती है. हल जोतने तथा गाड़ी में चलने के लिये इस नस्ल के पशु बड़े उपयोगी होते हैं. सूरत, काठियावाड़ तथा बड़ौदा में इस नस्ल के पशुओं का बड़ी संख्या में प्रयोग होता है. गायें अच्छी दुधारू होती हैं. फार्मों पर रखी गयी गायें एक दुग्धकाल में औसतन 1,360 किग्रा. दूध देती हैं. गाँवों में रखी जाने वाली गायों का उत्पादन इनसे कम होता है. कुछ गायों का प्रतिदिन का दुग्धोत्पादन 4.5–6.5 किग्रा. है.

व्यवसायी पशु-पालकों द्वारा भी काँकरेज नस्ल के पशुओं का प्रजनन कराया जाता है. काँकरेज का प्रमुख प्रजनन क्षेत्र तराई की भूमि है तथा समुद्रतल की ऊँचाई से नीचे वाले कुछ स्थानों पर भी इस नस्ल के पशु पाये जाते हैं. इस नस्ल के विकास में दो बातों का योगदान महत्वपूर्ण है और ये हैं—छरोदी फार्म पर पाले गये विशुद्ध साँड़ों का ग्रामीण क्षेत्रों में प्रयोग तथा कुछ वर्षों पूर्व भूतपूर्व बम्बई सरकार द्वारा चलायी गयी यूथ पुस्तिका पंजीकरण की पद्धति. कृषि संस्थान, आनन्द (गुजरात) में किये गये प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि इस नस्ल की दूध देने की क्षमता की बड़ी संभावनायें हैं. **हरियाना** के बाद भारतवर्ष की यह श्रेष्ठतम द्विप्रयोजनीय नस्लों में से है.

गोपशुओं की विदेशी नस्लें

देशी गायों की दुग्धोत्पादन-क्षमता की वृद्धि के लिये भारतवर्ष में विदेशी नस्लों का काफी अधिक उपयोग किया गया है. अब से लगभग 50–60 वर्ष पूर्व सर्वप्रथम सैनिक फार्मों पर **शार्टहॉर्न, आयरशायर** तथा **होल्स्टाइन-फ्रीजियन** जैसी सुप्रसिद्ध यूरोपीय नस्लें प्रविष्ट की गयीं. तत्पश्चात् अनेक अन्य विदेशी नस्लों का भी भारत में समावेश हुआ. इनमें से **जर्सी, ब्राउन स्विस, गर्नसे,** तथा **जर्मन फ्लेक्वीह** (चितकबरे पर्वतीय पशु) नस्लें अधिक महत्वपूर्ण हैं. जर्सी नस्ल की हमारे यहाँ माँग बढ़ी है. जर्सी नस्ल के साँड़ों के प्रवर्धन तथा संकर एवं विदेशी नस्लों के उन्नत यूथों के प्रजनन हेतु भारतवर्ष में विभिन्न पर्वतीय तथा अर्धपर्वतीय स्थानों पर लगभग 20 प्रजनन फार्म स्थापित किये जा चुके हैं. सैनिक फार्मों पर ऐसे संकर पशुओं के 3,500 यूथ हैं जहाँ इनके एक दुग्धकाल का अधिकतम दुग्धोत्पादन 6,000 किग्रा. तथा औसत उत्पादन 2,600 किग्रा. रहा है. एक गाय का एक दिन का अधिकतम उत्पादन 46 किग्रा. तक देखा गया है. दुग्धोत्पादन की वृद्धि के लिये प्रजनन कार्य में प्रयुक्त होने वाली भारत में प्रमुख विदेशी नस्लों का विवरण नीचे दिया जा रहा है :

जर्सी, यू. के. के जर्सी द्वीप पर विकसित की गयी डेरी पशुओं की सबसे छोटे आकार की नस्ल है. जर्सी नस्ल के पशु कम खर्च पर अधिक दूध देने वाले होते हैं और इनके दूध में 5.3% वसा तथा 15% ठोस पदार्थ होते हैं. 365 दिन के दुग्धकाल में इनसे अधिकतम उत्पादन 11,381 किग्रा. दूध तथा 544 किग्रा. वसा का रहा है. भारतवर्ष की जलवायु में यह नस्ल भली-भाँति वृद्धि करती है तथा देशी गायों को जर्सी नस्ल के साँड़ों से गाभिन कराने के फलस्वरूप उत्पन्न संकर संतान का प्रथम पीढ़ी में ही दुग्ध उत्पादन 2.5 गुना अधिक बढ़ गया है. ऐसी वर्ण-संकर संतान शीघ्र वयस्कता को प्राप्त होती है तथा वह जल्दी-जल्दी बच्चे देती है. कृषि संस्थान, इलाहाबाद में भी विशुद्ध नस्ल के सिन्धी पशुओं के प्रवर्धन तथा उनका जर्सी नस्ल के पशुओं से संकरण कराने का कार्य चल रहा है. जमैका में **साहीवाल** का जर्सी से संकरण कराकर तथा उनके बच्चों में अंत:प्रजनन कराकर डेरी की सर्वोत्तम नस्ल निकाली गयी है जिसे **जमैका होप** कहते हैं.

होल्स्टाइन-फ्रीजियन का मूल स्थान हालैंड है. अनगढ़ बनावट वाले इन पशुओं का अयन काफी बड़ा होता है. इस नस्ल की गायें काफी अधिक मात्रा में दूध देती हैं किन्तु अन्य पशुओं की

तुलना में इनके दूध में वसा कम (3.5%) होती है. भारतवर्ष में संकर गायें नित्य 46 किग्रा. तक दूध देती हैं.

आयरशायर, जो स्काटलैंड में विकसित की गयी हैं, डेरी पशुओं की सुन्दरतम नस्ल मानी जाती है. इस नस्ल के पशु बहुत ही फुर्तीले होते हैं किन्तु इनको सँभालना काफी कठिन होता है. ये उतना अधिक दूध अथवा मक्खन-वसा (केवल 4%) नहीं प्रदान करते जितना कि दुग्धशाला की कुछ अन्य नस्लें करतीं हैं.

ब्राउन स्विस, जो स्विट्जरलैंड के पर्वतीय क्षेत्रों में विकसित की गयी थी, अन्य डेरी नस्लों की तुलना में कम उत्तम नस्ल है. इस नस्ल के पशु बड़े सीधे होते है और आसानी से सँभाले जा सकते है. इनके दूध में लगभग 4% वसा होती है. 365 दिन के दुग्धकाल में प्रति दिन तीन बार दूध निकालकर अब तक इनका अधिकतम दुग्धोत्पादन 14,024 किग्रा. देखा गया है.

गर्नसे नस्ल का मूल स्थान फ्रांस के समुद्री तट के समीप का एक छोटा-सा द्वीप गर्नसे है. अपनी शारीरिक बनावट में ये पशु होल्स्टाइन से कम तथा जर्सी से अधिक अनगढ़ होते है. गायों का पिछला पुट्ठा भद्दा तथा कमर का भाग कमजोर होता है. जर्सी की अपेक्षा इनके अयन कम समानुपातिक होते हैं. 365 दिन के दुग्धकाल में इनका अधिकतम दुग्धोत्पादन 12,954 किग्रा. तथा वसा (5%) 556 किग्रा. रही है.

जर्मन फ्लेक्वीह (धब्बेदार पर्वतीय पशु) नस्ल के पशु दक्षिणी तथा दक्षिणी-पश्चिमी जर्मनी में पाले जाते हैं. ये पशु रुक्ष पर्वतीय परिस्थितियों के लिये विशेष उपयुक्त समझे जाते है. अपने इस गुण के कारण ये पशु भारतवर्ष में लाये जाकर हिमाचल प्रदेश में रखे गये है. इस नस्ल की गायें अच्छी दुधारू होती है. 305 दिन के दुग्धकाल में इनका औसत दुग्धोत्पादन 4,000 किग्रा. है जिसमें 4.1% वसा होती है. भारतीय जलवायु तथा चारे की परिस्थितियों में इन पशुओं के पालन पर विशिष्ट दृष्टि रखी जा रही है.

भैंसें

वर्तमान समय मे भारतीय भैंसे देश मे दूध की पूर्ति का प्रमुख स्रोत हैं और गायों की तुलना में ये लगभग तीन गुना अधिक दूध देती हैं. देश के कुल उत्पादन का आधे से अधिक दूध (1.109 करोड़ टन, 55%) 2.423 करोड दूध देने वाली भैंसों से प्राप्त होता है, जबकि देश की 5.1 करोड़ गायो से कुल दूध-उत्पादन का केवल 45% (87.5 लाख टन) प्राप्त होता है. इधर कुछ काल मे भारतीय डेरी उद्योग अधिकाधिक भैंसों पर ही निर्भर रहता चला आ रहा है जिसके फलस्वरूप गायों की उपेक्षा हुयी है और सहकारी एवं निजी क्षेत्रों में चल रही दुग्ध-व्यवसाय की विभिन्न प्रायोजनाओं से प्राप्त कुल दूध का 1% भी गाय का दूध नहीं होता. निजी (अव्यवस्थित) दुग्ध-व्यवसाय जो अभी हाल तक पूर्वी तथा दक्षिणी प्रदेशों के शहरी उपभोक्ताओं को गाय का दूध देता रहा है, अब भैंस का दूध देने लगा है. भारतवर्ष के दुग्ध-व्यवसाय में भैंस का अब प्रमुख स्थान होता जा रहा है.

भारतीय भैंसें या जल भैंसे (बुवालस बुवालिस लिनिअस) (अरना, भैंस, गेरा, एरुमाइ) देश के सभी मैदानी भागों तथा कम ऊँचाई वाले पर्वतीय क्षेत्रों में पायी जाती हैं. ये अर्ध-जलचर हैं तथा आर्द्र क्षेत्रों में बहुतायत मे पायी जाती हैं. भारी-भरकम शरीर तथा बेढंगी आकृति वाले इन पशुओं के पैर विशेषतः छोटे तथा मोटे एवं खुर काफी बड़े होते हैं. सींग मोटे, चपटे, मुड़े हुये अथवा सीधे होते हैं और उन पर आयु प्रदर्शित करने वाले वलय भी पाये जाते हैं. दक्षिणी तथा पश्चिमी राज्यों के विशेषकर निचले लम्बी घास वाले तराई के दलदली स्थानों को छोड़कर भारतवर्ष में जंगली भैंसें काफी पायी जाती हैं. जंगली मादा भैंस पालतू भैंसे से गाभिन नही होती किन्तु पालतू भैंस जंगली भैंसे से शीघ्र ही गाभिन हो जाती है. इससे नस्ल में सुधार भी हो जाता है. कार्य के लिये ये पशु बड़े मजबूत होते हैं. हल तथा गाड़ी में चलने के लिये भैंसे प्रायः बधिया कर दिये जाते है. दिन की भीषण गर्मी में इनसे अच्छा काम नही लिया जा सकता. गहरे काले रंग के पशुओं की अपेक्षा हलके बादामी रंग के पशु अधिक गर्मी सहन कर सकते हैं. गाय के दूध (4.5%) की तुलना में भैंस के दूध में अधिक वसा (7%) होती है. मक्खन, घी, पनीर, खोवा आदि दूध के पदार्थों को बनाने में सामान्यतः भैंस का दूध ही अधिक प्रयोग किया जाता है.

भैंसों की लगभग सात देशी नस्लें अपने दुग्धोत्पादन के गुणों के कारण सुविख्यात हैं. इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है. इनकी प्रमुख भौतिक विशेषतायें तथा शारीरिक गठन आदि गुण सारणी 5 में दिये गये है.

भैंसों की सबसे प्रमुख नस्ल **मुर्रा** है. इसका मूल स्थान हरियाणा के दक्षिणी भाग (रोहतक, करनाल, हिसार एवं गुड़गाँव जिले) तथा दिल्ली प्रदेश हैं. यहाँ ये अपनी विशुद्ध अवस्था में पायी जाती हैं. इस नस्ल की विशेष पहचान इसके कसकर मुड़े हुए सींग है. मुर्रा नस्ल के पशु उत्तरी उत्तर प्रदेश से लेकर दक्षिणी पंजाब तथा पाकिस्तान में सिंध तक, अर्थात् लगभग पूरे उत्तरी भारत मे पाले जाते हैं. विशुद्ध जातीय मुर्रा के पाले जाने का सर्वोत्तम क्षेत्र हरियाणा प्रदेश है. भारत के दक्षिणी तथा अन्य भागों मे मुर्रा नस्ल के भैंसों को स्थानीय देशी भैंसों को उन्नत बनाने के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है.

मुर्रा भैंसें भारतवर्ष के अति उत्तम दूध तथा वसा प्रदायक पशु हैं. इनके दूध में 7% वसा होती है. इससे औसत दुग्धकाल में 1,360 से 2,270 किग्रा. दूध प्राप्त होता है, तथा बहुत-सी भैंसें एक दुग्धकाल में 3,175 किग्रा. से अधिक दूध देती हैं. इससे प्रति दिन औसतन 6.8 किग्रा. दूध मिलता है जबकि कुछ पशु 18.1 किग्रा. तक दूध देते देखे गये हैं.

मुर्रा नस्ल की भैंसों का दुग्ध-पूर्ति केन्द्रों पर बहुतायत से प्रयोग किया जाता है. देश के सैनिक डेरी फार्मो पर इस नस्ल के पशु हजारों की संख्या मे रखे जाते हैं. वहाँ इस नस्ल का विकास किया जाता है. अनेक राज्य सरकारें भी अपने राजकीय फार्मो पर मुर्रा नस्ल के पशु पालती हैं. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने मुर्रा नस्ल के लिये यूथ-पुस्तिका रख छोड़ी है.

भदावरी हलके बादामी रंग की भैंसों की नस्ल है जिसका मूल-स्थान आगरा जिले (उत्तर प्रदेश) की बाह तहसील की भदावरी रियासत और भूतपूर्व ग्वालियर रियासत के निकटवर्ती क्षेत्र तथा इटावा जिले है. इनसे प्रति पशु प्रति दिन औसतन लगभग 3.5 किग्रा. दूध मिलता है. इनके दूध में वसा की प्रतिशतता बहुत अधिक होती है. इस नस्ल के भैंसे भारवाही पशु की तरह काम आते है और काले रंग के पशुओं की अपेक्षा अधिक गर्मी सहन कर सकते है. राजकीय पशु-प्रजनन फार्म, भरारी (झाँसी) में **भदावरी** नस्ल के पशु रखे जाते हैं.
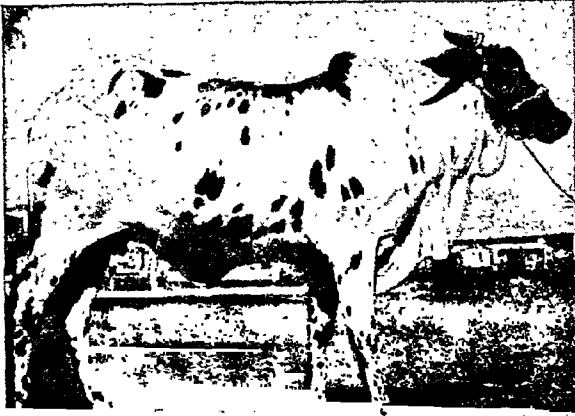
डांगी गाय

डांगी सांड़

गोपशः सामान्य उपयोगिता वाली नस्लें
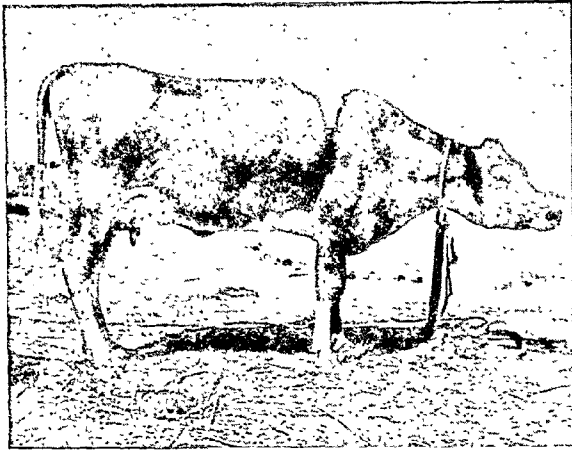
जर्सी गाय
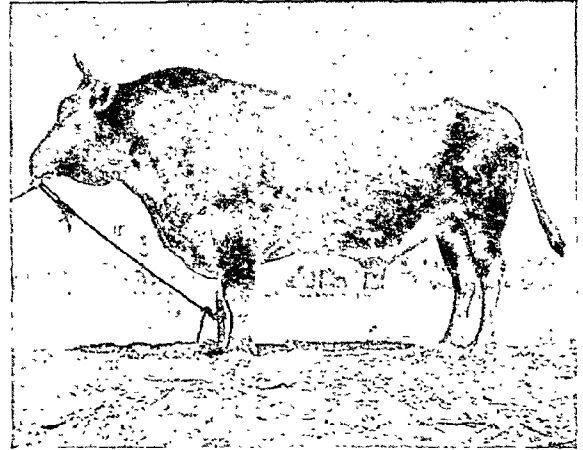
जर्सी सांड़

होल्स्टाइन फ्रीजियन सांड़

होल्स्टाइन फ्रीजियन गाय

गोपशुः विदेशी नस्लें

मुर्रा भैंसा सांड़

मुर्रा भैंस
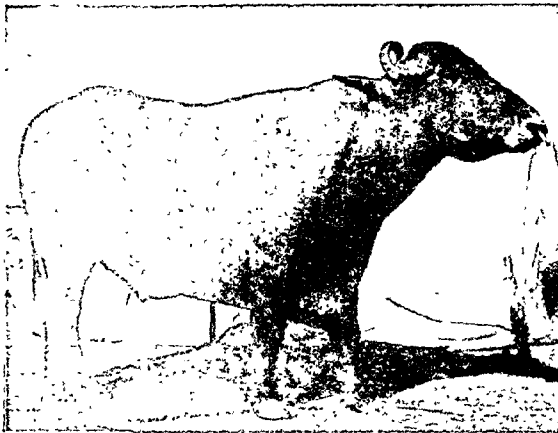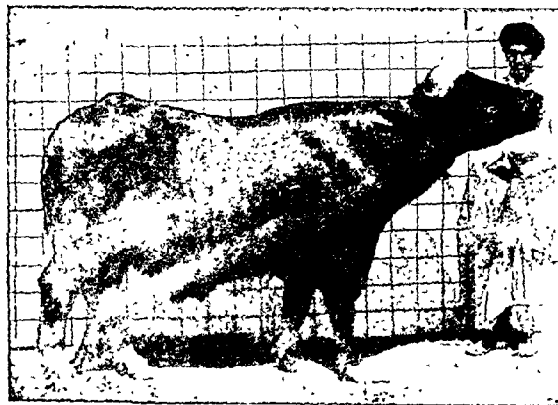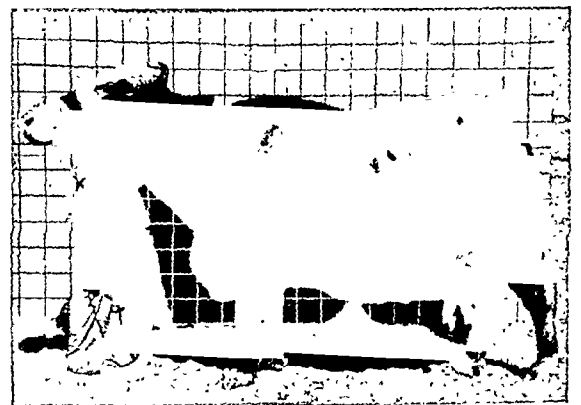
नीलीरावी भैंसा सांड़

नीलीरावी भैंस

सूरती भैंसा सांड़
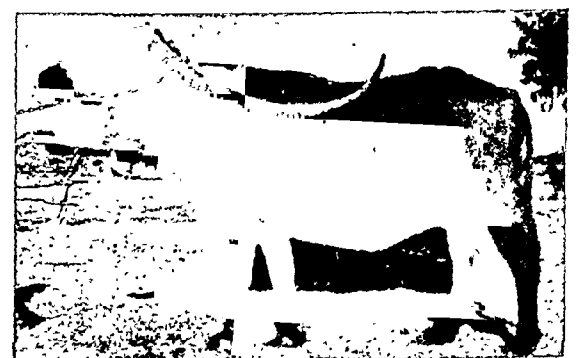
नागपुरी भैंस

भैंसें और भैंसे : प्रजनक भैंसा सांड़ और दुधारू भैंसों की नस्लें

जाफरावादी भैंसें काफी भारी होती है. ये अपनी विशुद्ध अवस्था मे गिर जंगलों एवं गुजरात प्रदेश मे सौराष्ट्र क्षेत्र के जाफरावाद के समीपवर्ती भागों में पायी जाती हैं. इन पशुओं को काफी अधिक चारे की आवश्यकता पड़ती है. इस नस्ल के पशु बहुत अधिक वसायुक्त और अधिक मात्रा मे दूध देते हैं. भैंसे का उपयोग भारी बोझ खींचने के निमित्त होता है.

सूरती मध्यम कद की सुडौल आकार वाली नस्ल है जिसकी पीठ सीधी तथा सींग हँसिये के समान होते हैं. इसका मूल-स्थान गुजरात प्रदेश का चरोत्तर क्षेत्र है जिसके अन्तर्गत कैरा जिला तथा माही और साबरमती नदियों के बीच वाले क्षेत्र आते हैं जो भूतपूर्व वड़ौदा रियासत से लगे हुये हैं. इस नस्ल के विशुद्ध पशु आनन्द, नादियाद, बोरसद तथा कैरा मे पाये जाते है. सूरती को **देशी** अथवा **नादियादी** नाम से भी जाना जाता है. इस नस्ल के पशुओं में दो सफेद धारियाँ पायी जाती हैं. इनमें से एक जबड़े के चारो ओर तथा दूसरी अधर-वक्ष के चारें ओर होती है.

सूरती नस्ल कम खर्चे पर दूध तथा वसा देती है. इससे 300 दिन के दुग्धकाल मे 7.5% वसायुक्त औसतन 1,655 किग्रा. दूध प्राप्त होता है. महाराष्ट्र सरकार द्वारा **सूरती** भैंसों का विशुद्ध जातीय यूथ पूना के समीप कृषि महाविद्यालय डेरी, किरकी पर रखा गया है. इसमें प्रति दिन सबसे अधिक दूध वाली भैंस 15 किग्रा. दूध देती है.

मेहसाना, मुर्रा और सूरती के बीच की एक मिश्रित नस्ल है जो गुजरात के मेहसाना जिले तथा उसके समीपवर्ती उन क्षेत्रो मे पायी जाती है जो महाराष्ट्र प्रदेश मे है. इस नस्ल के पशु सामान्यतया पालनपुर, दीसा तथा बनासकंठा जिले के अन्य भागो एवं गुजरात के साबरकंठा जिले के रधनपुर और थारड नामक स्थानों मे पाये जाते हैं. इस नस्ल के पशुओ के लक्षण स्थायी न होकर स्थान-स्थान पर विभिन्नता दिखाते है. मेहसाना क्षेत्र में मुर्रा भैंसे अब भी इनकी नस्ल सुधारने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं. मेहसाना नस्ल की भैंसे अच्छी दुधारू होती हैं जो जल्दी वयस्क और नियमित रूप से गर्भित होती हैं, और काफी लम्बी अवधि तक दूध देती हैं. ये पशु सरल स्वभाव के होते हैं और पशुशाला में बाँधकर खिलाये जा सकते हैं. ये मैदानों पर चराकर भी पाले जा सकते हैं. आर्थिक दृष्टि से कम खर्चे पर दूध तथा वसा देने वाली मेहसाना नस्ल शहरो मे दूध के लिये लोकप्रिय है. 300 दिन से अधिक के दुग्धकाल में इससे 1,360–1,825 किग्रा. तक दूध प्राप्त होता है. घी उत्पादन की दृष्टि से भी यह नस्ल बहुत अच्छी मानी जाती है.

नागपुरी अथवा **एलिचपुरी भैंसे** छोटे कद की, लम्बे चपटे तथा मुड़े हुये सींगों वाली होती हैं. यह नस्ल अपने गुणों में **मुर्रा** से सर्वथा भिन्न होती है तथा मध्य एवं दक्षिणी भारत में, विशेषतया प्राचीन मध्य प्रदेश (अब महाराष्ट्र) के नागपुर, वर्धा और बरार जिलों मे तथा निकटवर्ती भूतपूर्व हैदराबाद राज्य के क्षेत्रों मे पायी जाती है. ये पशु मुर्रा अथवा उत्तरी या पश्चिमी भारत की अन्य नस्लों की अपेक्षा अपनी शारीरिक बनावट मे हल्के तो होते हैं किन्तु दुधारू भी होते हैं. इनका प्रति दिन का औसत दुग्धोत्पादन 5.50–7.25 किग्रा. है. नर पशु प्रायः भारी कार्य के लिये प्रयुक्त होते हैं किन्तु इनकी चाल मन्द होती है.

नीली-रावी, मुर्रा नस्ल से मिलती-जुलती दो प्रकार की भैंसें हैं जो पंजाब में सतलज और रावी नदी की घाटियों में विशेषतया फीरोजपुर जिले मे पायी जाती है. देखने मे ये पशु भारी लगते हैं और इनके शरीर पर सफेद निशान होते हैं. प्रायः इनका रंग काला होता है किन्तु कुछ पशु बादामी रंग के भी होते हैं. इस नस्ल के सर्वोत्तम पशु फीरोजपुर जिले मे सतलज नदी के तराई वाले क्षेत्र में, पाकपट्टन तथा मैलसी तहसीलों के दक्षिण-पश्चिम मे पाये जाते हैं. ये पशु काफी सीधे होते हैं तथा पशुशाला मे बाँधकर खिलाने एवं बच्चों को दूध छुड़ा देने पर भली-भाँति बढते रहते हैं.

नीली-रावी भैंसे अच्छी दुधारू हैं और 250 दिन के दुग्धकाल मे औसतन 1,585 किग्रा. दूध देती है. इस नस्ल का प्रयोग शहर मे दूध फार्मो पर मुर्रा के साथ-साथ होता है. सैनिक डेरी फार्मो पर मुर्रा के साथ इस नस्ल के भी यूथ रखे जाते हैं. भैंसे भारी कार्य करने के लिये प्रयुक्त होते हैं. यह दूध देने वाली नस्लों मे सर्वोत्तम है. इस नस्ल की भैंसें दुग्ध उत्पादन के लिये कलकत्ता तथा बम्बई जैसे दूर-दूर के शहरों तक भेजी जाती है. भारतवर्ष में इस नस्ल का वंशावली अभिलेख कहीं भी नहीं रखा गया है.

गोपशुओं तथा भैंसों का प्रबन्ध

पशुओं के रख-रखाव के ढंग वातावरणीय कारकों, यथा जलवायु, वर्षा, मिट्टी के प्रकार तथा उस पर उगाये जाने वाले पेड़-पौधों द्वारा बहुत ही अधिक प्रभावित होते है. अतः अलग-अलग क्षेत्रों में इन पद्धतियों मे पर्याप्त भिन्नता होती हैं. गाय-भैसों के अच्छे रख-रखाव मे खिलाये जाने के ढंग तथा रोग नियंत्रण साधनों का भी महत्वपूर्ण योगदान है.

भारतवर्ष की जलवायु अधिकतर उष्णकटिबंधीय है. यहाँ अक्तूबर से फरवरी तक जाड़ा पड़ता है जिसमें मौसम अपेक्षाकृत सूखा रहता है, मार्च से जून तक गर्मी पड़ती है और अन्य तीन महीने वर्षा ऋतु के होते हैं. यहाँ 38 से 380 सेंमी. तक तथा कुछ स्थानों में इससे भी अधिक वर्षा होती है.

जलवायु, वर्षा तथा चारे की प्राप्ति मे पर्याप्त विभिन्नता होने के कारण पशु-पालन के अन्तर्गत प्रबन्ध की पद्धतियों को सुगम करने के लिये पूरे देश को पाँच क्षेत्रो मे बाँटा गया है.

शीतोष्ण हिमालयी क्षेत्र के अन्तर्गत सिक्किम, भूटान, नेपाल, कुमायूँ, गढ़वाल, शिमला, कुल्लू, छम्ब, कश्मीर तथा असम के पर्वतीय प्रदेश आते हैं. इस क्षेत्र में अत्यधिक वर्षा भी होती है और पाला तथा वर्फ भी पड़ती है. इस क्षेत्र मे विशेष रूप से उद्यान लगाये जाते हैं तथा गेहूँ की खेती की जाती है.

शुष्क उत्तरी क्षेत्र में पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा भूतपूर्व पेप्सू रियासत सम्मिलित हैं. इस क्षेत्र में वर्षा की मात्रा काफी कम है. वनस्पति भी कम है और सिचाई करके अधिकांश खेती की जाती है.

आर्द्र पूर्वी क्षेत्र के अन्तर्गत असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु का उत्तरी-पूर्वी भाग तथा मध्य प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र आते हैं. यहाँ वर्षा काफी अधिक होती है और धान की खेती विशेष रूप से होती है.

दक्षिणी क्षेत्र में उत्तर प्रदेश की झाँसी कमिश्नरी, मध्य प्रदेश, पूर्वी हैदराबाद, पश्चिमी तमिलनाडु, बड़ौदा, बम्बई तथा मैसूर का थोड़ा-सा भाग सम्मिलित है. यहाँ अनियमित वर्षा होती है और प्रमुख उगायी जाने वाली फसल **मिलेट** (बाजरा-ज्वार) है.

समुद्र तटीय क्षेत्र में, पूर्वी और पश्चिमी घाटों की पट्टियाँ और मैसूर, कुर्ग और केरल के भाग सम्मिलित हैं. इस क्षेत्र में भीषण वर्षा होती है और इसकी मुख्य फसल धान है. पशुओं के विकास और प्रजनन की दृष्टि से यह क्षेत्र पूर्वी आर्द्र क्षेत्र के समान है.

भारतवर्ष में पशु-पालन व्यवसाय छोटे-छोटे किसानों के हाथ में है जिनमें से अधिकांश किसान पशुओं को सहायक उद्योग के रूप में पालते हैं. उनके पास छोटे-छोटे खेत (औसतन 3 हेक्टर के) तथा दो-तीन पशु होते हैं.

बरसात के दिनों को छोड़कर, जब हरे चरागाह उपलब्ध होते हैं, पशुओं को बहुत कम चरने को मिलता है. जो अन्य साधन उपलब्ध हैं वे वर्तमान पशु संख्या के लिये पर्याप्त नहीं हैं. दूध तथा दुग्ध-जन्य पदार्थों के लिये हाट व्यवस्था इतनी खराब है कि किसानों को इनके विक्रय के लिये या तो दलालों की आवश्यकता पड़ती है जो अधिकांश लाभ स्वयं खा जाते हैं अथवा अपने दूध से घी बनाकर बेचना पड़ता है जिसमें न्यूनतम लाभ होता है. फलत. पशुओं पर ध्यान नहीं दिया जाता, उनकी बाढ़ कम होती है तथा वे अन्य देशों के पशुओं की तुलना में काफी विलम्ब से वयस्क हो पाते हैं उनके ब्यांत का अवकाश बढ़ जाता है और भुखमरी तथा बीमारियों से काफी क्षति होती है. अन्ततः दूध का उत्पादन काफी कम हो जाता है.

इन कमियों के अतिरिक्त प्रजनन के लिये अच्छे साँडों की कमी तथा पशुओं को बटने के लिये चारे-दाने की अपर्याप्त मात्रा होने से भारतवर्ष में पशु-पालन व्यवसाय की उन्नति तथा विकास में बाधा आयी है इन परिस्थितियों में निजी पशु-पालक स्वस्थ पशु रख सकने में असमर्थ हैं राजकीय फार्मों की परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत कुछ अच्छी हैं

खराब मौसम से पशुओं को बचाना होता है. उन्हें ऐसे अच्छे हवादार घरों में रखना चाहिये जहाँ सफाई, पानी तथा अन्य सुविधायें उपलब्ध हों. पशुशालाओं को कुछ ऊँचे स्थानों पर बनाना चाहिये जिससे पानी का निकास अच्छा रहे और उनकी बनावट ऐसी हो कि पशुओं को आसानी से खिलाया तथा देखभाल की जा सके. आयु, उपयोगिता तथा कार्य के आधार पर गायों, बड़े बछड़ों तथा साँडों को अलग-अलग बाड़ों में रखना चाहिये. आमतौर पर एक गाय को 6 वमी. तथा भैंस को इससे अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ती है. पशुशालाओं के निर्माण हेतु भारतीय मानक निर्धारित किये जा चुके हैं [IS 4466 (Pts I & II) 1967].

पशुधन फार्म, गोशालायें तथा पशु संबंधी अन्य स्थान परजीवी कीटों से मुक्त होने चाहिये तथा इनको सदैव साफ-सुथरा रखना चाहिये. पशुओं को ठीक दशा में रखने तथा चर्म रोगों से बचाने के लिये उन्हें समय-समय पर नहलाना तथा खरहरा करना चाहिये.

गाभिन पशुओं को अतिरिक्त राशन देकर तथा व्यायाम के लिये नित्य चरने भेजकर उनकी भली-भाँति देखभाल करनी चाहिये. ब्याने के समय गाय को स्वच्छ, आरामदेह, पुआल की बिछाली से युक्त शान्त स्थान में रखना चाहिये. नवजात बछड़ों की समुचित देखभाल करनी चाहिये तथा तीव्र बाढ़ के लिये उन्हें पर्याप्त राशन देना चाहिये.

दुधारू पशुओं के बच्चों का प्राय. एक से दो सप्ताह की आयु पर ही सींग-रोधन कर दिया जाता है जिससे उनकी देखभाल में सुभीता हो. भारतवर्ष में अवांछित बछड़ों को 15 से 18 माह की आयु से पहले बधिया कर दिया जाता है. ऐसे बधिया किये हुये पशुओं को घर में रखना तथा देखभाल करना आसान हो जाता है.

पशुओं को आहार देना

अन्य देशों की तुलना में भारतवर्ष में भली-भाँति पालन-पोषण करने तथा समुचित आहार देने के लिये पशुओं की संख्या कहीं अधिक है. इस कारण चारे के स्रोतों एवं खाने वाले पशुओं की संख्या के बीच चिन्ताजनक असंतुलन उत्पन्न हो गया है. दूसरे देशों में गोमांस मनुष्य के भोजन का आवश्यक अंग बन जाने के कारण वहाँ चारे के स्रोतों और पशु संख्या के बीच इस प्रकार का असंतुलन नहीं है. न्यूजीलैंड जैसे सुविकसित डेरी व्यवसाय वाले देश में गाय के वृद्ध हो जाने पर उसकी पूर्ति के लिये उसके जनें गये 6 या 8 बच्चों में से केवल एक बछिया चुनकर भली-भाँति पाली-पोसी जाती है और शेष का वध कर दिया जाता है. इस प्रकार देश में पशुओं की कुल संख्या को नियंत्रण में रखा जाता है. भारतवर्ष में गोमांस खाने के प्रति भावात्मक विरोध है अतः यहाँ न केवल उत्पादक पशुओं को बल्कि अनुत्पादक पशुओं को भी खिलाने की समस्या है. अतः अनुत्पादक पशुओं की वृद्धि एवं विकास पर कुछ नियंत्रण रखना आवश्यक है जिससे कि प्रत्येक क्षेत्र में रहने वाली पशु संख्या को समुचित मात्रा में चारा मिल सके.

भारतवर्ष में पशुओं की खिलायी न तो पर्याप्त है और न सन्तुलित है क्योंकि न तो आवश्यक आहार तथा चारे मिल पाते हैं और न जानवरों के लिये अच्छे हाट हैं जिससे अधिक अच्छे चारे-दाने में लगाया गया धन और समय न्यायोचित प्रतीत हो. देश में उत्पादक पशुओं के विकास के लिये लाभदायक बाजार, चारे की सघन खेती, चराई के क्षेत्र तथा चरागाहों का विकास एवं सुरक्षा और अतिरिक्त चारे को सुखाना अथवा साइलेज बनाकर रखना ये पूर्वापेक्षित बातें हैं.

पशुओं के आहार को चारे (मोटा) तथा दाने (सान्द्र) में वर्गीकृत किया गया है. चारे में रेशे की मात्रा अधिक किन्तु कुल पचनीय पोषण-मान निम्न होता है. दाने में रेशे की मात्रा अल्प तथा कुल पचनीय पोषण मान उच्च होता है. मोटे चारों के अन्तर्गत उगाये गये चारे, सूखी घास, साइलेज तथा भूसा जैसे पदार्थ आते हैं और दाने में अधिक कार्बोहाइड्रेट वाले अनाज ; अधिक प्रोटीनयुक्त तैलीय खलियाँ, तैलीय बीज, अनाज एवं पशु-उपजात सम्मिलित हैं. सारणी 6 में भारतवर्ष में उपलब्ध होने वाले पशुओं को दिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के आहार दिये गये हैं. सारणी 7 में कुछ प्रमुख भारतीय पशु खाद्य पदार्थों के रासायनिक संघटन एवं पोषण मान दिये गये हैं.

पशु द्वारा खाये जाने वाले चारे की मात्रा उसके शरीर-भार तथा उत्पादन-क्षमता पर निर्भर करती है. सामान्यतया पशु अपने शरीर-भार का 2–3% शुष्क पदार्थ उपभोग कर पाते हैं. दुधारू पशुओं को थोड़ा अधिक खिलाना पड़ सकता है. भैंसें, गायों की अपेक्षा कुछ अधिक चारा-दाना खाती हैं. पशु द्वारा उपभोग किये जाने वाले शुष्क पदार्थ का अधिकांश भाग चारे से तथा शेष दाने से प्राप्त होता है. तब पशुओं के विभिन्न शरीर-भारों के लिये राशन द्वारा प्राप्त होने वाले पचनीय कच्चे प्रोटीन की मात्रा, ऊर्जा मान (स्टार्च तुल्यांक तथा कुल पचनीय पोषक तत्वों) की मात्रा का पता लगा लिया जाता है (Sen, *Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 25, 1964, 10-12).

नियमतः किसी 450 किग्रा. शरीर-भार वाले पशु को केवल अपने जीवन निर्वाह के लिये नित्य 0.3 किग्रा. प्रोटीन तथा

सारणी 6 – भारतवर्ष में उपलब्ध पशु-खाद्य पदार्थ*

प्राकृतिक घासें : दूब, अन्जन, पल्वन, छिम्बर, स्पियर घास, कार्ड तथा गोरिया घास

उगायी जाने वाली घासें : हाथी घास, गिनी घास, सूडान घास, रोड घास, टियोसिंटे, पैरा घास तथा नेपियर घास की संकर प्रजाति

उगाये जाने वाले चारे : ज्वार (चोलम), बाजरा (कुम्बु), रागी अथवा मंडल, जई, चीना, चिकना बोंड़ा, मक्का, लूसर्न, बरसीम, शफताल, सेंजी तथा सूरजमुखी

जड़ें तथा कन्द : शलजम, स्वीडिश शलजम (दीर्घ शिखामूल), चुकन्दर, आलू तथा गाजर

सूखी घास : लूसर्न, बरसीम, जई, लोबिया, दूब, गन्ने के अगोले तथा मूँगफली की पत्तियों की सुखायी गयी घास

भूसा : जई, जौ, गेहूँ, लूसर्न, सेम, मटर, पुआल तथा फलीदार फसलों का भूसा

रातव

खलियाँ : मूँगफली की खली, अलसी की खली, ताड़ की गुठलियों की खली, गरी की खली, तिल की खली, तोरिया की खली, सरसों की खली तथा बिनौले की खली

तिलहन : अलसी तथा सूरजमुखी के बीज

अन्न तथा बीज : चना, अरहर, ग्वार, मटर, मोथ, जई, गेहूँ तथा गेहूँ के उपोत्पाद, जौ, धान, मक्का

*With India—Industrial Products, pt III, 1953, 9.

सारणी 7 – कुछ भारतीय पशु आहारों के रासायनिक संघटन एवं पोषण मान*

पशु आहार	प्रति 100 किग्रा. शुष्क पदार्थ में पचनीय पोषक तत्व (किग्रा.)				
	कच्चा प्रोटीन	कार्बोहाइड्रेट	ईथर-निष्कर्ष	सम्पूर्ण	पोषण अनुपात
हरा चारा					
बरसीम	14.10	48.23	0.94	64.44	3.1
लोबिया (बड़ा वाला)	20.26	38.51	1.52	62.19	2.7
हाथी घास	3.85	48.54	1.33	55.39	13.4
गिनी घास	5.83	58.00	0.56	65.09	10.2
ज्वार पका हुआ	0.97	52.02	0.60	54.34	54.9
लूसर्न	15.92	40.00	0.84	57.79	2.6
मक्का	4.18	60.94	0.96	67.77	13.5
सूडान घास	1.57	41.47	0.61	44.41	27.2

(क्रमशः)

सारणी 7—क्रमशः

पशु आहार	कच्चा प्रोटीन	कार्बोहाइड्रेट	ईथर-निष्कर्ष	सम्पूर्ण	पोषण अनुपात
साइलेज					
ज्वार	2.35	46.93	0.82	51.13	0.8
मक्का	3.41	56.70	0.59	61.13	17.0
रागी का भूसा	0.30	51.04	0.64	52.78	1.7
गेहूँ का भूसा	0.86	47.37	0.11	48.48	55.5
सूखी घास					
दूब	3.68	38.98	0.17	43.04	10.7
गन्ने के अगोले	...	45.50	0.36	46.30	...
बरसीम	10.29	54.44	0.47	65.79	5.4
लोबिया	10.33	40.13	...	50.46	3.9
मूँगफली	14.93	34.00	...	48.90	2.3
लूसर्न	16.37	38.59	0.42	55.90	2.4
भूसे					
चने का भूसा	2.41	34.67	...	37.08	14.4
रागी का भूसा	0.23	54.55	0.38	55.63	243.5
पुआल	0.28	42.85	0.44	44.13	154.4
गेहूँ का भूसा	0.18	55.20	1.45	49.69	330.6
दाने – अनाज और बीज					
बाजरा	5.08	49.17	2.81	60.57	11.1
जौ	7.39	75.69	1.30	86.01	10.6
बिनौला	12.49	34.65	18.50	88.77	6.1
चना	14.33	63.27	1.96	82.01	4.7
ग्वार	32.33	39.93	2.96	78.82	1.4
ज्वार	7.30	70.76	1.63	85.73	10.2
मक्का	8.22	76.90	4.08	94.31	10.5
जई	7.86	57.81	5.70	78.48	9.0
खलियाँ तथा चूरे					
गिरी की खली (कोल्हू से पिरी)	21.10	39.75	13.00	90.10	3.3
बिनौले की खली	19.42	39.56	8.97	79.56	3.1
बिनौले का चूरा	31.65	25.99	12.62	86.04	1.7
मूँगफली की फली	46.39	14.59	7.97	78.92	0.7
सरसों की खली	30.68	28.06	10.34	82.41	1.7
तिल की खली	42.60	23.36	9.32	86.92	1.0
अन्न-उपोत्पाद					
चने का छिलका	...	59.59	0.77	61.33	...
ग्वार का चूरा	42.52	33.86	3.18	83.49	1.0
मक्के का छिलका	4.54	68.94	0.81	75.30	15.6
चावल की भूसी	6.76	35.15	10.00	64.40	8.5
गेहूँ का चोकर	11.80	58.00	2.28	74.93	5.4
टैपिओका	1.46	81.19	0.28	83.28	56.0

*Sen, *Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 25, 1964, Appx. III, 112-33.

2.5 किग्रा. स्टार्च तुल्यांक अथवा 3.4 किग्रा. कुल पचनीय पोषक तत्वों की आवश्यकता पड़ती है. 6 माह की आयु तक डेरी पशुओं की दैनिक शरीर वृद्धि की दर का औसत 450 ग्रा. है. शरीर निर्वाह की अपेक्षा वृद्धि के लिये अधिक पोषक तत्वों की आवश्यकता पड़ती है तथा वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ऊर्जा की अपेक्षा अधिक प्रोटीन की आवश्यकता होती है. दूध देने वाली गायों को निर्वाह राशन के अतिरिक्त भी पोषक तत्वों की आवश्यकता पड़ती है.

अधिक दिन के गाभिन दुधारू पशुओं को (गर्भकाल के छठे माह से) निर्वाह तथा दुग्धोत्पादन के लिये दिये जाने वाले राशन के अतिरिक्त प्रतिदिन 150 ग्रा. पचनीय प्रोटीन तथा 500 ग्रा. स्टार्च-तुल्यांक या 700 ग्रा. कुल पचनीय पोषक तत्व मिलने चाहियें. साँड़ को अपने शरीर-भार तथा जितना अधिक संगम करना हो उसके अनुसार अपने को स्वस्थ रखने के लिये अच्छे चारे के अतिरिक्त 2–3 किग्रा. दाने की आवश्यकता पड़ती है.

पशु की निर्वाह आवश्यकता प्रायः सूखे अथवा रसीले चारे से थोड़ी मात्रा में प्रोटीनयुक्त पौष्टिक मिश्रण के साथ अथवा इसके बिना पूरी की जाती है. इससे अधिक उत्पादन के लिये तैयार किया गया राशन विभिन्न प्रकार के दानों को मिलाकर बनाया जाता है. इन दानों का चुनाव करते समय उनके स्वाद, मृदुरेचकता, वृद्धि एवं उत्पादन के लिये आवश्यक विभिन्न ऐमीनो अम्लों के प्रदान करने की क्षमता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है. राशन बनाते समय उससे प्राप्त होने वाले विटामिन तथा खनिज लवणों पर भी विचार कर लेना चाहिये. राशन में थोड़ा हरा चारा सम्मिलित कर लेने से पशु की विटामिन-आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है. खनिज लवणों की पूर्ति के लिये पशु को आवश्यकतानुसार खनिज मिश्रण देना चाहिये. पशुओं के लिये विभिन्न संतुलित खाद्य-मिश्रण तैयार करने के लिये भारतीय मानक निर्धारित किये गये हैं (IS: 2052-1962).

बच्चों (एक माह से लेकर तीन वर्ष की आयु तक के पशु) एवम् वयस्क पशुओं (तीन वर्ष से अधिक आयु के) को हरे तथा सूखे चारे, पौष्टिक मिश्रण, नमक, खनिज मिश्रण और दाने से बनाये गये संतुलित आहार के अवयवों की विभिन्न अनुपातों में आवश्यकता पड़ती है. यह पौष्टिक मिश्रण प्रायः खली, बिनौले, चावल अथवा गहूँ का चोकर, चने का छिलका तथा दला हुआ चना मिलाकर बनाया जाता है. हमारे देश में पशुओं के आहार की कमी ही सम्भवतः उनके विकास तथा अधिक दुग्ध उत्पादन में सबसे बड़ी बाधा है. सारणी 8 में 1961 की पशु गणना के अनुसार बहुत ही अल्पव्ययी पोषक मानकों पर आधारित पशुओं के चारे-दाने की आवश्यकतायें दी गयी हैं.

सारणी 8 – गोपशुओं तथा भैंसों के लिये पशु आहार की वार्षिक आवश्यकता तथा उपलब्धि

(1961 की पशु-गणना पर आधारित)

पशुओं का प्रकार	पशुओं की संख्या (हजार में)	आवश्यकता* (हजार टन)			उपलब्धता** (हजार टन)		
		रातब	हरा चारा†	सूखा चारा‡	रातब	हरा चारा	सूखा चारा
गोपशु							
तीन वर्ष से ऊपर के नर पशु	72,477	43,486.2	1,44,954.0	3,62,385.0	8,121	1,31,239	1,49,519
दूध देने वाली गायें	20,721	6,151.4	1,24,326.0	1,03,605.0	2,178	33,611	26,774
सूखी तथा प्रजनन के योग्य गायें	33,603	6,720.6	67,206.0	1,68,015.0	1,533	33,778	34,649
पशु-बच्चे	48,871	19,548.4	97,742.0	48,871.0	821	28,202	26,293
भैंसें							
तीन वर्ष से ऊपर के नर पशु	7,658	4,594.8	15,316.0	38,290.0	486	18,197	15,200
दूध देने वाली भैंसें	12,581	5,032.4	1,00,648.0	67,937.4	3,660	31,153	27,098
सूखी तथा प्रजनन के योग्य भैंसें	12,446	2,489.2	24,892.0	62,230.0	468	19,606	18,221
पशु-बच्चे	18,452	7,380.8	36,904.0	18,452.0	94	10,722	11,160
योग	2,26,809	95,403.8	6,11,988.0	8,69,785.4	17,361	3,06,508	3,08,914

*राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान के पूर्वी प्रक्षेत्रीय केन्द्र, कल्याणी, नदिया जिला (बंगाल) के आँकड़े डा. एम. एल. माथुर से प्राप्त हुये.
**कृषि सांख्यिकी अनुसंधान संस्थान (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्), नई दिल्ली से प्राप्त आँकड़े.
†अनुमानित औसत उत्पादन 25 टन प्रति हेक्टर. ‡अनुमानित औसत उत्पादन 1.7 टन प्रति हेक्टर.
नोट : समस्त आँकड़े वास्तविक उपयुक्त चारे के भार पर आधारित हैं और इनमें चरायी से प्राप्त होने वाला चारा सम्मिलित नहीं है.

भूतकाल मे पशु-खाद्य पदार्थों की अनुमानित आवश्यकता तथा भारतवर्ष में उनकी उपलब्धि के आकलन से यह प्रदर्शित होता है कि पशुओं के अधिकतम विकास के लिये देश मे पशु-खाद्य पदार्थों की माँग तथा पूर्ति के बीच काफी अन्तर है. एक अनुमान के अनुसार पशुओ की वार्षिक आवश्यकता 4.092 करोड़ टन दाने तथा 94.8 करोड़ टन चारे की थी जबकि उस वर्ष दाने तथा चारे की वास्तविक उपलब्धि क्रमश: 1.398 तथा 78 करोड़ टन रही. [*Human vis-a-vis Animal Nutrition in India* (ICAR), 1954].

केंद्रीय गोसम्वर्धन परिषद् की पशु-आहार उपसमिति ने 1961 मे यह आकलन किया है कि देश मे 2.418 करोड़ टन दाने, 26.8 करोड़ टन हरे चारे तथा 2.641 करोड़ टन भूसा एवं करवी (सूखे ज्वार के डंठल) की और आवश्यकता है. कृषि सांख्यिकी अनुसंधान संस्थान (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्), नई दिल्ली ने 1956–57 से ही पंजाब, उत्तर प्रदेश, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश तथा उड़ीसा के कुछ चुने हुये क्षेत्रों मे सर्वेक्षण करके गोपशुओं तथा भैसो द्वारा खाये जाने वाले चारे का औसत निकाला. इस सर्वेक्षण के आधार पर निकाली गयी चारे-दाने की वार्षिक उपलब्धि सारणी 8 मे दी गयी है.

देश मे उपयुक्त पशु-आहार के अभाव की पूर्ति के लिये चारे-दाने के नवीनतम स्रोत ढूढ निकालने के लिये भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर मे शोध कार्य हो रहा है. यहाँ यह पता लगाया जा चुका है कि बहुत से ऐसे पदार्थों मे जो पशुओं के लिये वृथा समझे जाते है, समुचित मात्रा मे पोषक तत्व रहते है और इन्हे ऐसे ही अथवा ससाधित करके पशुओं को खिलाया जा सकता है. आम तथा जामुन की गुठलियो, पँवार (**कैसिया टोरा**) तथा इमली के बीजो, बबूल की फलियो, ओझड़ी तथा मछली आदि पदार्थों मे प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है और इन्हे पौष्टिक मिश्रण मे दाने के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है. इसी प्रकार काँस तथा मूँज जैसी मोटी घासों, कटियारी जैसे पौधो, अगोलों तथा पँवार (**कैसिया टोरा**) के भूसे को मोटे चारे के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है. अकाल के समय मूँगफली के छिलके भी खिलाये जा सकते है. ग्रामीण क्षेत्रो मे खोई, शीरा तथा मूँगफली के मिश्रण को पशुओ के राशन मे मिलाये जाने वाले अनाजो के छिलको के स्थान पर डाला जा सकता है. अभी हाल मे किये गये परीक्षणो से यह परिणाम प्राप्त हुआ है कि महुआ की खली तथा फूल सनई के बीज, शोभा वनाम्लिका (वर्षा वृक्ष) की फलियाँ, वज्र और पतझड के मौसम मे गिरी हुयी पेड़ो की पत्तियां भी पशु-आहार के रूप मे प्रयुक्त हो सकती है.

जिन क्षेत्रो मे चारे की फसले उगायी जाती है वहाँ इन फसलो के अतिरिक्त पशु आहार के अन्य स्रोत निम्नलिखित है : (1) देहातो मे सार्वजनिक भूमि पर पशुओ की चराई, (2) सरकारी भूमि पर उगी हुयी घास को काटकर पशुओ को खिलाना अथवा चराना, और (3) जंगली क्षेत्र मे उगी हुयी घासो को काटकर पशुओ को खिलाना अथवा चराना. लेकिन यह पता लगाना कठिन है कि देश मे चारे के स्रोतो मे उपर्युक्त प्राकृतिक चरागाह कितना योगदान करते है. ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारतवर्ष मे पशु-आहार के सबसे बडे तथा प्रमुख स्रोत चरागाह ही है. चरागाहों मे प्राप्त होने वाले 78 करोड़ टन चारे मे से लगभग 53.5 करोड टन चारा हरी घास के रूप मे प्राप्त होता है जिससे 90% पशु अपना जीवन निर्वाह करते है. भारतवर्ष मे (राज्य स्तर पर) 1958–59 मे चारे की फसलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल, वास्तविक बोया जाने वाला क्षेत्रफल तथा चरागाहों का तुलनात्मक विवरण सारणी 9 मे दिया गया है.

सारणी 9 – 1958–59 में भारतवर्ष में चारे की फसलों तथा चरागाहों का क्षेत्रफल*

(हजार हेक्टर में)

राज्य	चारे की फसलें	वास्तविक बोया गया क्षेत्रफल	स्थायी चरागाह तथा अन्य चरायी के क्षेत्रफल
अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	...	6.8	4.4
असम (नेफा सहित)	0.4	2,047.2	152.0
आन्ध्र प्रदेश	160.0	10,920.8	1,218.4
उडीसा	100.4	5,541.6	727.6
उत्तर प्रदेश	716.8	16,848.8	35.6
केरल	0.4	1,834.8	44.4
जम्मू एवं कश्मीर	8.8	638.8	140.0
तमिलनाडु	79.6	5,730.4	371.6
त्रिपुरा	...	200.0	56.0
दिल्ली	10.8	90.8	4.8
पंजाब	1,170 4	7,395.2	87.6
पश्चिमी बंगाल	2.0	5,171.6	...
बिहार	29.6	7,876.0	208.4
मणिपुर	...	92.8	...
मध्य प्रदेश	44.4	15,514.4	3,575.2
महाराष्ट्र (बम्बई)†	1,673.6	26,975.2	2,490.0
मैसूर	168.0	10,056.8	1,747.6
राजस्थान	1,193.2	12,441.6	1,508.4
लक्षद्वीप, मिनिकोय, अमीनदीवी द्वीप समूह	...	2.8	...
हिमाचल प्रदेश	2 0	266.8	582.4
योग	5,400.4	1,29,649.2	12,954.4

*Building from Below : Essays on India's Cattle Economy (Sarva Seva Sangh, Krishi Gosewa Samiti, New Delhi), 1964.

†ये आँकड़े भूतपूर्व बम्बई प्रदेश से सम्बन्धित है.

1959–60 मे केवल 9,87,000 हेक्टर भूमि मे चारे की फसले थी. इसका तात्पर्य यह हुआ कि खाद्य अथवा अखाद्य फसलों के कुल सिंचित क्षेत्र मे से हमारे देश मे केवल 3.24% भूमि मे चारे की फसले उगायी जाती है जो वास्तव में बहुत ही कम और अपर्याप्त है. द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956–61) की अवधि मे पशु खाद्य पदार्थों के विकास के लिये एक योजना बनायी गयी थी. इस योजना के अन्तर्गत अनुदान के रूप मे बीजो तथा पौधो के वितरण, पशुग्राम केन्द्रो मे चरागाह के प्रदर्शन क्षेत्रो की स्थापना,

राजकीय फार्मों पर चरागाहों के सुधार, अनुदान देकर साइलेज के गड्ढों के निर्माण और प्रदेशों में चारा विकास अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी.

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक 12 प्रदेशों तथा 2 केन्द्रीय प्रशासित राज्यों मे यह योजना चालू हो गयी थी. तीसरी पचवर्षीय योजना की अवधि (1961–66) मे इस योजना को एक आदर्श रूप दिया गया है.

चारे की आवश्यकता की पूर्ति के लिये चारा-बैंक स्थापित करने की केन्द्र द्वारा सरक्षण प्राप्त योजना भी द्वितीय पचवर्षीय योजना में सम्मिलित की गयी थी. इसके अन्तर्गत महाराष्ट्र के धुलिया नामक स्थान में एक चारा-बैंक खोला गया है. तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दो और चारा-बैंक खोलने का लक्ष्य था.

पशुओं को सतुलित सान्द्र (रातव) मिश्रण देने के लिये निजी तथा सार्वजनिक स्तर पर लगभग 25 पशु-आहार तैयार करने वाले कारखाने खोले गये है. इनमे से प्रमुख नाम ये हैं: पशु आहार कारखाना, आनन्द दुग्ध सघ लिमिटेड, आनन्द (गुजरात) ; पशु आहार कारखाना, हिन्दुस्तान लीवर, बम्बई; पशु आहार कारखाना, शॉ वैलेस क., मद्रास; पशु आहार कारखाना, ईस्ट एशियाटिक क, मद्रास; मैसूर फीड्स प्राइवेट लिमिटेड, बगलौर, बी. टी. क्वालिटी फीड्स, देवनगेरी (मैसूर); सदस्ता फूड्स एण्ड फाइबर्स लिमिटेड, हुबली (मैसूर) तथा नन्दी प्रोवेंडर मिल्स, नई दिल्ली. ये कारखाने विभिन्न व्यावसायिक नामो से लगभग 80,000 टन पशु-आहार तथा 42,000 टन कुक्कुट आहार तैयार करते है. ये आहार, भारतीय मानक सस्थान द्वारा निर्धारित विनिर्देशो के अनुसार, विटामिनयुक्त तथा सतुलित होते है (विस्तृत जानकारी के लिए देखे – With India—Industrial Products, pt VII, Processed Feeds).

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निर्धारित कार्यक्रम दो बड़े-बड़े भागों मे रखा जा सकता है: (1) खाद्य पदार्थ एव चारा उत्पादन के वर्तमान स्रोतों का सम्वर्धन और (2) उचित सरक्षण एव ससाधन द्वारा उपलब्ध स्रोतों का भरपूर उपयोग. इन कार्यक्रमो का मुख्य उद्देश्य चुनिन्दा क्षेत्रों मे चारे की फसलों की सघन खेती तथा गोपशु एव अन्य पशुधन को समुचित आहार उपलब्ध कराना है इन कार्यक्रमो के अतिरिक्त, चारा उत्पादन स्रोतों को बढावा देने के लिये अनेक शोध सस्थाये कार्य कर रही हैं. इनमें से भारतीय चरागाह एव चारा अनुसंधान सस्थान, नई दिल्ली; राष्ट्रीय डेरी अनुसधान सस्थान, करनाल और बम्बई, बगलौर तथा कल्याणी में स्थित इसके क्षेत्रीय केन्द्र एव केन्द्रीय शुष्क मण्डल अन्वेषण सस्थान, जोधपुर प्रमुख है. चारा उत्पादन स्रोतों के विकास हेतु भारत सरकार द्वारा चलायी गयी योजनाओं में सयुक्त राष्ट्र सगठन के खाद्य एव कृषि सगठन ने भी आवश्यक तानीकी सहायता प्रदान की है.

प्रजनन

भारतवर्ष मे इस समय 26 नस्लो के गोपशु तथा 7 नस्लो की भैंसे पायी जाती है. उन्नत एव विशिष्ट नस्ले आमतौर पर उत्तरी-पश्चिमी तथा पश्चिमी शुष्क क्षेत्रों मे मिलती हैं. भारतवर्ष में पाये जाने वाले गोपशुओं तथा भैंसों मे से केवल थोड़े ही शुद्ध नस्ल के हैं. 75% पशु संख्या किसी भी विशिष्ट नस्ल की नहीं है, अत. इन्हें अज्ञात श्रेणी में रखा जाता है. कृषि की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शताब्दियों से किये गये पशुओं के चुनाव के परिणामस्वरूप हमें काफी अच्छे भारवाही पशु प्राप्त होते रहे हैं गोपशुओं की कुछ द्विप्रयोजनीय एव दुधारू नस्लें भी इस बीच विकसित की गयी. शुद्ध नस्ल की गायो द्वारा अधिकतम तथा औसत दुग्धोत्पादन (किग्रा.) के मध्य बहुत बडी विभिन्नता है. डेनमार्क (3,710), नीदरलैंड (4,280), यू. के. (2,900), संयुक्त राज्य अमेरिका (3,280), न्यूजीलैंड (2,750), इजरायल (4,380), जापान (3,640) तथा सयुक्त अरब गणराज्य (680) की तुलना मे भारतीय गाय तथा भैंस के एक दुग्ध-काल में औसत वार्षिक उत्पादन क्रमशः 173 तथा 491 किग्रा. हे शुद्ध नस्ल के कुछ दुधारू पशु एक ब्यॉत में 5,902 किग्रा. से भी अधिक दूध देते देखे गये हैं भारतीय गाय की तुलना मे विदेशी गायो का औसत दुग्धोत्पादन 16 से 25 गुना (2,750–4,280 किग्रा.) है

भारतीय पशुओं से कम उत्पादन मिलने के कई कारण हैं जिनमें से पशुधन व्यवसाय का असगठित होना सम्भवत. प्रमुख है. भारतवर्ष का पशु-पालक सम्भवत. विश्व का सबसे गरीब किसान होता है जिसके पास इने-गिने पशु रहते है. छोटे-छोटे खेतों वाले किसानो के पास सामान्यत· एक या दो पशु होते है अव्यवस्थित प्रजनन तथा पीढ़ियों से पशुओं के प्रति लापरवाही के कारण यह दशा उत्पन्न हो गयी है.

ससार के अन्य देशों मे गोपशुओं को विशेषत दूध एव मास उत्पादन के लिये पाला जाता है लेकिन भारतवर्ष में अभी तक हल जोतने तथा अन्य कृषि कार्यों के लिये बैल पैदा करने पर ही अधिक बल दिया जा रहा है. इधर हाल के कुछ वर्षों मे बढती हुयी जनसख्या के कारण दूध की माँग लगातार बढती जा रही है. देश मे कृषि का धीरे-धीरे यन्त्रीकरण होता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप कृषि कार्यों मे बैलो की आवश्यकता घट जायेगी किन्तु वर्तमान परिस्थितियों मे ऐसा लगता है कि अभी दीर्घ-काल तक बैल ही कृषि कार्यों के लिये शक्ति का स्रोत बना रहेगा. भारतवर्ष मे गोपशुओं तथा भैंसों के आनुवशिक उत्थान की योजना बनाते समय इस आवश्यकता को ध्यान में रखना जरूरी है.

अपने शुभारम्भ के साथ ही 1929 से भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् ने देश मे गोपशुओं के विधिवत विकास सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत गोपशुओं की विभिन्न नस्लों की वशावली का पंजीकरण तथा दुग्ध उत्पादन का अभिलेखन प्रारम्भ कर दिया था. इस विधि मे सुधार लाने के उद्देश्य से 1941 में यूथ-पुस्तिकाओं का चलन हुआ. ये यूथ-पुस्तिकायें देश की मानी हुयी नस्लों और उनके दूध उत्पादन के ब्यौरे की प्रदर्शिका हैं. अभी तक इन पुस्तिकाओं मे आवश्यक न्यूनतम दुग्धोत्पादन (किग्रा.) के आधार पर जो यूथ सम्मिलित किये जा चुके हैं उनके नाम हैं. मुर्रा भैंस (1,362), साहीवाल (1,362), लाल सिंधी (1,135), थारपारकर (1,135), हरियाना (908), गिर (908), कांकरेज (681), अंगोल (681), तथा कांगायाम (454).

इसमें कोई सदेह नहीं कि हमारे देश में गोजातीय तथा भैंस जातीय प्रजनक स्टाक में विभिन्नता होने के कारण पशु प्रजनकों को कार्य करने के लिये अच्छी सामग्री प्राप्त हो जाती है किन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि अज्ञात, कम उत्पादनशील अशुद्ध नस्ल की इतनी बड़ी पशु संख्या मे आनुवशिक सुधार ला पाना अत्यन्त कठिन कार्य है. अतः विविध गुणों वाले इन समस्त

पशुओं में प्रजनन की कोई भी एक विधि समान रूप से लागू नहीं की जा सकती. देश में गायों तथा भैंसों के सुधार के लिये प्रजनन की सर्वोपयुक्त पद्धतियों को नामांकित करने के लिये अखिल भारतीय प्रजनन नीति अपनानी पड़ी. स्थायी पशु प्रजनन एवं पशुधन तथा दुग्ध समितियों की संस्तुति पर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने 1950 में एक प्रजनन नीति निर्धारित की जिसको कार्यान्वित करने की स्वीकृति प्रादेशिक तथा केन्द्रीय सरकारों ने दे दी है. इस प्रजनन नीति का मुख्य उद्देश्य भारवाही तथा दुग्धोत्पादन गुणों का अधिकाधिक समावेश करके देशी पशुओं को उन्नत करना तथा चुनिन्दा प्रजनन द्वारा दुधारू नस्लों की दुग्धोत्पादन क्षमता को बढ़ाना है.

भारतवर्ष के गोपशुओं के गुणों को सुधारने के लिये अच्छे साँड़ों की आवश्यकता है. ऐसे साँड़ों की पूर्ति के लिये अनेक राज्य पशुधन फार्म खोले गये हैं और साँड़ों की कमी पूरी करने के लिये बड़े पैमाने पर कृत्रिम वीर्यसेचन किया जा रहा है. राजकीय पशुधन फार्मों तथा निजी पशु प्रजनकों द्वारा किये गये प्रयासों से सिद्ध होता है कि उन्नत नस्लों से प्रजनन कराने पर गायों का दुग्धोत्पादन बढ़ने की संभावना है.

चुनिंदा प्रजनन—प्रजनन के लिये गाय अथवा साँड का सावधानी से चुनाव करना बहुत आवश्यक है. भारतवर्ष में बछियों के वयस्क होने की आयु तीन वर्ष है और यह पशु को दिये जाने वाले चारे-दाने, जलवायु तथा वातावरण के अनुसार प्रत्येक पशु में बदल सकती है. बछियों को बरदवाने का सर्वोपयुक्त समय निरीक्षण द्वारा निश्चित किया जाता है. एक प्रजनक गाय, जब तक कि वह बहुत ही कमजोर न हो ऐसी अवधि में गाभिन हो जाती है जिससे बिसुकने और दूसरा बच्चा देने के बीच का समय 6–8 सप्ताह से अधिक न हो. साधारणतः ब्याने के दूसरे या तीसरे महीने बाद उसे पुनः गाभिन करा देना चाहिये. गायें हर 21 दिन के अवकाश पर ऋतुमती होती हैं और लगभग एक दिन तक गरम रहती है. गाय के ऋतुमती होने के बाद बीच की अवधि से अन्तिम समय के बीच तक उसे गाभिन कराना चाहिये. गायों तथा भैंसों का औसत गर्भकाल क्रमशः 280 तथा 310 दिन है.

साँड़ के परिपक्व होने की आयु, जब वह प्रजनन के लिये तैयार हो जाता है, उसके खान-पान के ढंग तथा देखभाल पर निर्भर करती है. यदि ठीक से पालन-पोषण एवं देखभाल होती रहे तो भारतीय साँड़ लगभग 2.5 वर्ष की आयु में गायों के साथ संगम करने योग्य हो जाता है. सामान्यतः एक साँड़ प्रजनन योग्य आयु वाली 60–70 गायों अथवा भैंसों के लिये काफी होता है.

चुनिंदा प्रजनन के लिये प्रत्येक प्रदेश को विभिन्न खण्डों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक खण्ड में प्रयुक्त होने वाली नस्ल का कार्यक्रम निर्धारित कर लिया गया है. खण्डों में इस प्रकार के विभाजन का उद्देश्य यह है कि जिन क्षेत्रों में अच्छी नस्ल के पशु हों और जहाँ विद्यमान नस्लों में काफी सुधार पाया गया हो वहाँ बाहरी रक्त का प्रवेश न किया जाय. रोहतक क्षेत्र, **हरियाना** पशुओं के लिये सुविख्यात है. इन पशुओं के प्रजनन के लिये केवल **हरियाना** नस्ल के साँड़ों का ही प्रयोग किया जाता है. इसी प्रकार अंगोल क्षेत्र में केवल **अंगोल** तथा गुजरात में **कांकरेज** नस्ल के साँड़ों को ही प्रजनन के लिये प्रयुक्त किया जाता है. उसी नस्ल में प्रयुक्त होने वाला साँड़ ऐसे यूथ से लेना चाहिये जिसका दुग्ध उत्पादन नस्ल के औसत उत्पादन से अच्छा हो जिससे कि उसकी बछियों से अधिक दूध प्राप्त हो सके. माता, पिता तथा निकटतम संबन्धियों के उत्पादन के आधार पर ही साँड़ का चुनाव किया जाता है. यदि ऐसा साँड़ आसानी से उपलब्ध न होता हो तो कम से कम बाह्य रूप एवं उत्पादन में अपनी मां से मिलते-जुलते विशुद्ध नस्लीय साँड़ ही उस प्रजनन के क्षेत्र से चुने जाने चाहियें.

सुसंगठित फार्मों तथा अच्छी नस्ल के पशु उत्पादक क्षेत्रों में नस्लों के भारवाही अथवा दुग्धोत्पादन गुणों के सुधार के लिये चुनिन्दा प्रजनन ही अपनाया जाता है. दुधारू, भारवाही तथा सामान्य उपयोगिता वाली तीनों ही नस्लों में चुनिंदा प्रजनन करने से उनके दुग्धोत्पादन में बढ़ोतरी होती देखी गयी है.

पूसा के विशुद्ध वंशागत **साहीवाल** यूथ में (1904 से) प्रत्येक गाय का एक दिन का औसत दुग्धोत्पादन 1913–14 में केवल 2.6 किग्रा. रहा, किन्तु लगातार चुनिदा प्रजनन के परिणामस्वरूप इनके उत्पादन में काफी बढ़ोतरी हुई है और 1966–67 में 306 दिनों के दुग्धकाल में प्रतिदिन का अधिकतम दुग्धोत्पादन 34.5 किग्रा. हो गया है. उत्पादन बढ़ाने के लिये 1966 में इस नस्ल में एक विदेशी नस्ल **होल्स्टाइन फ्रीज़ियन** का समावेश किया गया. इसी प्रकार सैनिक डेरी फार्म, मेरठ पर **मीना** नामक **साहीवाल** गाय ने एक दुग्धकाल में 6024 किग्रा. दूध देकर अधिकतम उत्पादन का कीर्तिमान स्थापित किया है.

लाल सिन्धी नस्ल की चुनिदा ग्रामीण गायों का दुग्धोत्पादन 300 दिन के दुग्धकाल में लगभग 1,135 किग्रा. रहा है किन्तु कुछ सुप्रजनित यूथों का औसत दुग्धोत्पादन 1,816 किग्रा. तक देखा गया है. राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, बंगलौर के दक्षिणी प्रक्षेत्रीय केन्द्र तथा होसुर पशुधन अनुसंधान केन्द्र पर रखे गये **लाल सिन्धी** यूथ की कुछ गायों ने 305 दिनों में 4,540 किग्रा. तक दूध दिया है.

एक अच्छी ग्रामीण **गिर** गाय 300 दिनों में लगभग 908 किग्रा. दूध देती है किन्तु कुछ फार्मों पर अच्छी तरह से रखे गये इस नस्ल के यूथ औसतन 1,590 किग्रा. दूध देते हैं. राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, बंगलौर के दक्षिण क्षेत्रीय केन्द्र पर, जहां अनेक वर्षों से लगातार चुनिदा प्रजनन किया जा रहा है, कुछ-कुछ गायों ने एक दुग्धकाल में 2,725 किग्रा. से भी अधिक दूध दिया है.

चुनिदा ग्राम की **हरियाना** नस्ल की गायें एक दुग्धकाल में लगभग 1,135 किग्रा. दूध देती हैं, किन्तु कुछ फार्मों पर जहां चुनिंदा प्रजनन अपनाया जा रहा है औसत उत्पादन 1,816 किग्रा. रहा है. भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर पर रखी गयी **हरियाना** यूथ की कुछ गायों ने एक दुग्धकाल में 2,725–3,178 किग्रा. तक दूध दिया है. राजकीय पशुधन फार्म, पटना तथा राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान करनाल पर रखी गयी **थारपारकर** नस्ल की गायों ने 4,540 किग्रा. और कृषि संस्थान, आनन्द (गुजरात) में रखी गयी **कांकरेज** नस्ल की गायों ने 5,900 किग्रा. से भी अधिक दूध दिया है.

अपने भारवाही गुणों के लिये सुविख्यात **हल्लीकर** नस्ल की गायें बहुत कम दूध देने वाली मानी जाती हैं लेकिन होसुर पशुधन फार्म पर, जहां चुनिंदा प्रजनन अपनाया जाता है, 69 गायों ने अपने बछड़ों के लिये आवश्यक दूध छोड़कर औसतन नित्य 1.6 किग्रा. दूध दिया.

चुनिंदा प्रजनन द्वारा भैंसों के दुग्धोत्पादन में भी बढ़ोतरी होते देखी गयी है. चुनिंदा ग्रामीण **मुर्रा** नस्ल की भैंसों के 300 दिन के दुग्धकाल में 1,362 किग्रा. की तुलना में कुछ फार्मों पर रखी

गयी सुप्रजनित भैंसें औसतन 2,270 किग्रा. अथवा और अधिक दूध देती देखी गयी हैं.

श्रेणी उन्नयन—अशुद्ध नस्ल के देशी तथा स्थानीय पशुओं की उन्नति के लिये सामान्य नीति यह अपनायी गयी है कि ऐसी मादाओं को गर्भित करने के लिये सदैव दुधारू अथवा सामान्य उपयोगिता वाले गुणों के विशुद्ध नस्लीय साँड़ों का ही प्रयोग किया जाय, जिससे कि उनकी श्रेणी में धीरे-धीरे उन्नति हो और वे अधिक दूध दे सकें. इस नीति को कार्यान्वित करने के लिये विभिन्न प्रदेशों को अलग-अलग खण्डों में विभाजित किया गया है और इन खण्डों में पशुओं के सुधार के लिये काफी विचार-विमर्श करके उपयुक्त नस्ल के साँड़ रखे जाने का निश्चय किया गया है. इस कार्य के लिये आमतौर पर **हरियाना, थारपारकर, कांकरेज, लाल सिन्धी** तथा **साहीवाल** नस्लों को ही प्रयुक्त करने का निश्चय हुआ है. उत्तरी भारत में इस कार्य के लिये विशेष रूप से **हरियाना** नस्ल के साँड़ों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है तथा दक्षिण भारत में अनेक स्थानों पर **लाल सिन्धी** नस्ल के साँड़ उन्नयन के लिये प्रयुक्त होते हैं.

अशुद्ध नस्लीय देशी भैंसों के सुधार के लिये सम्पूर्ण देश में **मुर्रा** नस्ल के भैंसों का ही प्रयोग किया जाता है.

भारतवर्ष के देशी तथा अशुद्ध गोपशुओं के सुधार के लिये सर्वप्रथम 1936 में पूरे देश में 'प्रीमियम साँड़ योजना' चलायी गयी थी जिसके अन्तर्गत विशुद्ध नस्लीय वंशागत साँड़ ग्रामीण क्षेत्रों में वितरित किये जाते थे और वहाँ उनका पालन-पोषण उपदान द्वारा किया जाता था. ग्रामीण गायों को गाभिन करने के लिये इन साँडों की सेवायें निःशुल्क उपलब्ध होती थीं. प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रमुख ग्राम योजना का शुभारम्भ करके पशुओं के सर्वांगीण विकास का सुसंगठित प्रयास हुआ. इस योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत कृत्रिम वीर्यसेचन अथवा अच्छे साँड़ों से प्राकृतिक प्रजनन द्वारा निम्नश्रेणी के गाय-भैंसों के श्रेणी उन्नयन का कार्य भी सम्मिलित किया गया. इस योजना का मुख्य उद्देश्य देश में उपलब्ध उत्तम जननद्रव्य (जर्मप्लाज्म) का कम से कम समय में अधिकतम उपयोग करना है.

1962–63 के अन्त तक भारतवर्ष में कुल मिलाकर 420 प्रमुख ग्राम खण्ड थे और इन खण्डों में 20.25 लाख प्रजनक गायें तथा 10.49 लाख प्रजनक भैंसे थी. 1964–65 के अन्त तक प्रमुख ग्राम योजना के अन्तर्गत उत्पन्न 54,393 सुविकसित बछड़ों का पालन-पोषण अन्य क्षेत्रों में पशुधन का सुधार करने के लिये उपदान देकर किया गया. इस योजना से 17,292 गाँवों की 46 लाख गाय-भैंस लाभान्वित हुयीं. देशी पशुओं के श्रेणी उन्नयन के लिये उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत किये गये कार्य के अतिरिक्त प्रादेशिक स्तर पर राज्य सरकार के अन्य संगठन भी काम कर रहे हैं. श्रेणी उन्नयन के लिये राज्य सरकार द्वारा बाँटे जाने वाले साँड़ स्थानीय सुविधाओं के अनुसार कृत्रिम वीर्यसेचन अथवा प्राकृतिक ढंग से प्रजनन कराने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं.

संकरण—भारतीय नस्लों की गायों को विदेशी साँड़ों से गाभिन करा कर संकरण कार्य किया जाता है. इस प्रजनन का प्रमुख उद्देश्य भारतीय पशुओं के रक्त में अधिक दुग्धोत्पादन, अगेती लैंगिक परिपक्वता एवं नियमित प्रजनन के गुणों का समावेश है.

भारतवर्ष में विदेशी नस्ल के साँड़ों के द्वारा संकरण कार्य 1875 से चालू है जिसके परिणामस्वरूप विहार प्रदेश में पटना के निकट देशी गायों को यूरोपीय साँड़ों से गाभिन कराकर **टेलर** नस्ल विकसित की गयी थी. प्रारम्भ में संकरण कार्य मद्रास के एक सरकारी फार्म तथा लखनऊ और बंगलौर आदि के सैनिक डेरी फार्मों तथा कुछ रजवाड़ों में निजी तौर पर किया जाता रहा. लेकिन दुग्धोत्पादन की बढ़ोतरी के लिये सुव्यवस्थित ढंग से यह कार्य 1900 में पहले-पहल सैनिक फार्मों द्वारा अपनाया गया. प्रारम्भ में देशी गायों को गाभिन कराने के लिये यूरोप से मँगाये गये **आयरशायर** नस्ल के साँड़ों का प्रयोग किया गया, किन्तु, बाद में **शार्टहार्न, जर्सी, होल्स्टाइन-फ्रीजियन, गर्नसे, ब्राउन स्विस** आदि अन्य विदेशी नस्लों के साँड़ों से भी संकरण कार्य सम्पन्न हुआ.

सैनिक डेरी फार्मों पर किये गये संकरण के प्रयोगों से यह पता चला है कि संकर संतान में विदेशी नस्ल का जितना ही अधिक रक्त आता है उसी के अनुपात में उसकी दूध देने की क्षमता बढ़ जाती है. अन्य स्थानों पर किये गये संकरण कार्य से भी ऐसे ही फल प्राप्त हुये हैं. यह सच है कि संतति में विदेशी रक्त की बढ़ोतरी के साथ उसका दुग्ध-उत्पादन बढ़ता है किन्तु ऐसे पशु बीमारियों के प्रति अधिक संवेदनशील, कम गर्मी सहन करने वाले, कम मजबूत तथा लगातार अधिक दूध उत्पादन के लिये आवश्यक गुणों के प्रति कम क्षमता वाले होते चले जाते हैं. इलाहाबाद में तथा सैनिक डेरी फार्मों पर होने वाले शोध कार्य से यह पता चलता है कि 5/8 श्रेणी स्तर पर विदेशी रक्त की प्राप्ति एवं अभिग्रहण से सर्वोत्तम परिणाम मिलते हैं.

भैंसों के वर्तमान यूथ **मुर्रा** एवं **नीली-रावी** नस्लों तथा श्रेणियों वाले हैं. इन फार्मों पर रखे गये विशुद्ध नस्लीय पशुओं में चुनिंदा प्रजनन तथा देशी भैंसों का सुधार करने के लिये मुर्रा नस्ल के साँड़ों द्वारा श्रेणी उन्नयन की विधि अपनायी जाती है. पिछले 60 वर्षों से अधिक दुग्धोत्पादन की क्षमता के कारण, भारतीय **साहीवाल** नस्ल की गायों का संकरण **जर्सी, आयरशायर** तथा **होल्स्टाइन-फ्रीजियन** जैसे विदेशी नस्ल के साँड़ों से कराया जाता रहा है. **होल्स्टाइन-फ्रीजियन** नस्ल के साँड़ इस कार्य के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुये हैं और ये समय-समय पर विदेशों से मँगाये जाते रहे हैं. संकरण नीति के अन्तर्गत 50% या कम विदेशी रक्त वाली गायों को **होल्स्टाइन-फ्रीजियन** नस्ल के साँड़ों से अथवा 50% से अधिक विदेशी रक्त वाली गायों को पुनः **साहीवाल** नस्ल के साँड़ों से गाभिन कराया जाता है. सैनिक फार्मों पर रखी गयी वर्णसंकर गायों के आँकड़े यह सूचित करते हैं कि 50% विदेशी रक्त वाली एवं 5/8 श्रेणी स्तर की संततियाँ अच्छा दूध देती हैं; उनमें बीमारी कम होती है और पशु देश की जलवायु में बढ़ने के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं.

1948 से पूर्व **साहीवाल** तथा **लाल सिन्धी** नामक केवल दो भारतीय नस्लों की गायें ही क्रमशः फीरोजपुर तथा बंगलौर के सैनिक डेरी फार्मों पर रखी जाती थीं. अब **साहीवाल** नस्ल की गायें मेरठ, लखनऊ तथा अम्बाला और **लाल सिन्धी** इलाहाबाद में भी पाली जाती हैं. 1950 से सैनिक डेरी फार्मों पर **हरियाना, थारपारकर** तथा **गिर** नस्लों की गायें भी रखने लगे हैं. संकरण कार्य के लिये साँड़ों की पूर्ति के लिये विभिन्न सैनिक फार्मों पर विशुद्ध **होल्स्टाइन-फ्रीजियन** नस्ल के यूथ भी रखे जाते हैं.

यद्यपि सैनिक डेरी फार्मों पर किये गये संकरण कार्य से काफी संतोषजनक परिणाम प्राप्त हुये हैं फिर भी कुछ कठिनाइयों के कारण संकरण विधि का उपयोग सीमित-सा रहा है. इन विधि

गिर — लाल सिंधी
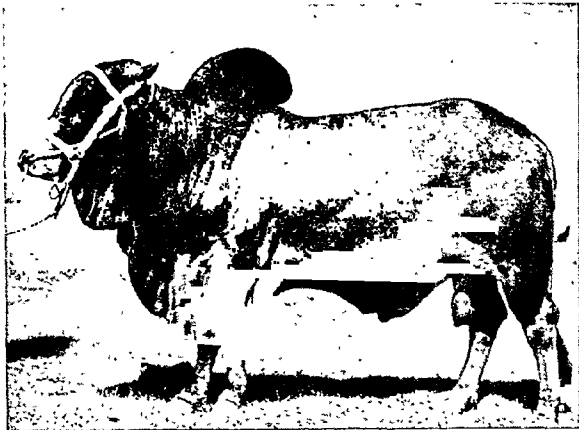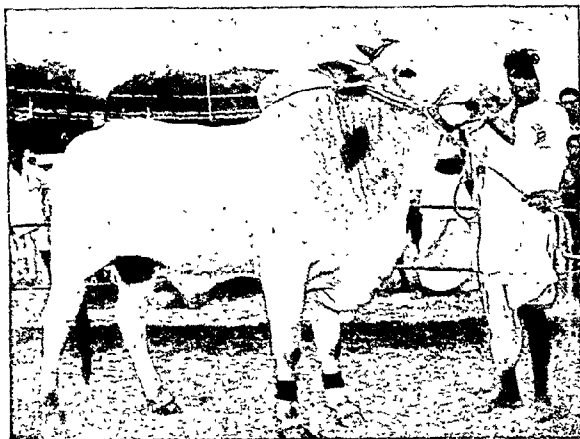
अंगोल — हरियाना
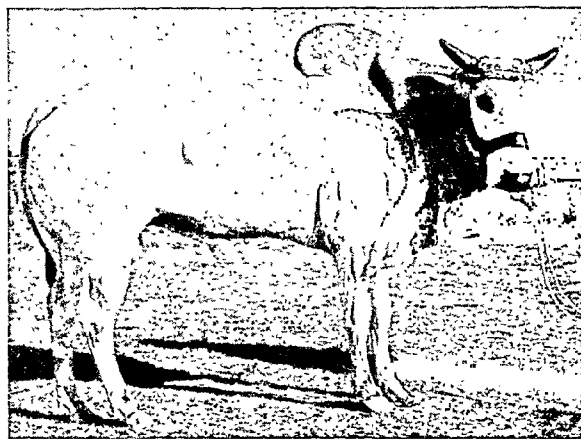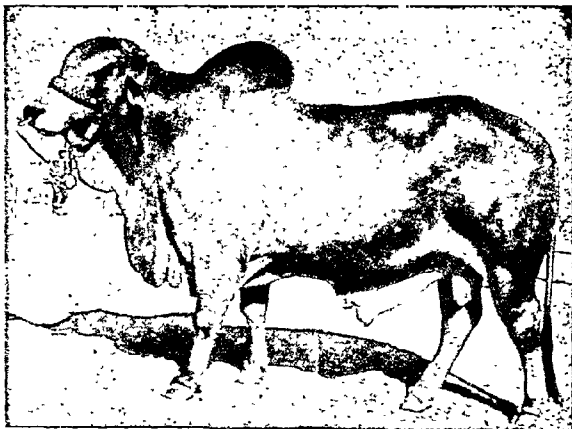
थारपारकर — साहीवाल

गोपशु: प्रजनक सांड़
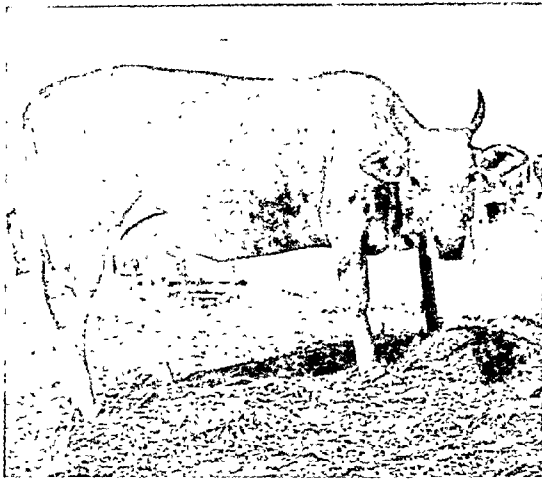
जर्सी × हिली
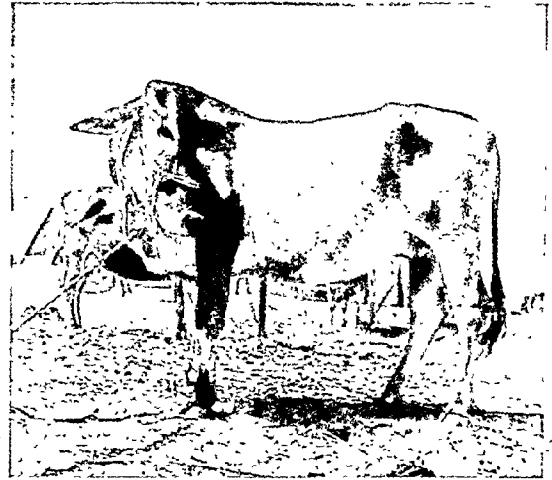
जर्सी × हरियाना
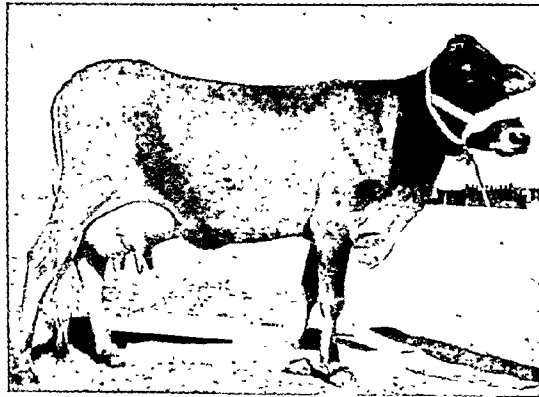
जर्सी × लाल सिंधी
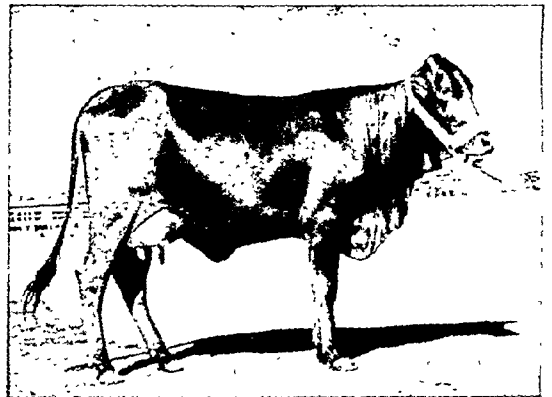
ब्राउन स्विस × लाल सिंधी

गोपशु : संकरित दुधारू पशुओं की पहली पीढ़ी

कृत्रिम वीर्यसेचन द्वारा जर्सी सांड़ से पैदा बछड़े के साथ अमृतमहल गाय

द्वारा सर्वोत्तम परिणाम वहीं प्राप्त किये जा सकते हैं जहाँ पशुओं के खान-पान तथा उनकी देखरेख की उत्तम व्यवस्था हो और गर्मियों के दिनों में उच्च श्रेणी के पशुओं को स्वस्थ बनाये रखने के लिये ठंडी जलवायु में भेजे जाने की सुविधायें उपलब्ध हों. विदेशी साँड़ का जितना ही अधिक रक्त संतति में आता है उसी के अनुसार पौरुष तथा सहिष्णुता में ह्रास एवं बीमारियों के प्रति वर्द्धमान संवेदनशीलता की समस्यायें उत्पन्न होती हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती. संकरण से उत्पन्न नर पशु प्रजनन के अयोग्य समझे जाते हैं और विदेशी साँड़ों के आयात में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं.

1933 में असैनिक राजकीय पशुधन फार्मों पर संकरण कार्य बन्द कर दिया गया था किन्तु सैनिक डेरी फार्मों पर यह कार्यक्रम चलता रहा. सैनिक डेरी फार्मों पर किये गये संकरण कार्य की समीक्षा करने के लिये 1953 में एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त हुयी जिसने यह सिफारिश की कि इस कार्यक्रम को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जाये. फिर भी, 1953 में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने पुनः संकरण के प्रश्न पर विचार किया जिसमें यह निश्चित किया गया कि पहाड़ी तथा अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में इस कार्यक्रम को पुनः लागू किया जाय, क्योंकि यहाँ देशी नस्ल के साँड़ों के श्रेणी उन्नयन की गति मन्द है और इससे संतोषजनक परिणाम प्राप्त नहीं होते. कुछ राज्यों में ग्रामीण परिस्थितियों के अन्तर्गत अधिक वर्षा तथा ऊँचाई वाले क्षेत्रों में एक-एक अग्रणी संकरण योजना लागू की गयी. इसके केन्द्र हैं : पालमपुर (पंजाब), दार्जिलिंग (पश्चिमी बंगाल), चोहरपुर (उत्तर प्रदेश), राँची (बिहार), शिलांग (असम), इम्फाल (मणिपुर), विशाखापटनम् तथा हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश), कुर्ग (मैसूर), उटकमंड (तमिलनाडु) और नेत्तिनकारा एवं चलकुड़ी (केरल). इन क्षेत्रों की स्थानीय देशी गायों को, केन्द्रीय कृत्रिम वीर्य सेचन केन्द्र, बंगलौर से जर्सी नस्ल के साँड़ों का वीर्य मंगाकर कृत्रिम विधि से गाभिन कराया गया. टालीगंज (पश्चिमी बंगाल) में भी एक क्षेत्रीय कृत्रिम वीर्य सेचन केन्द्र चालू किया गया. इन अग्रगामी परियोजनाओं से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुये.

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत देशी गायों को विदेशी नस्ल के साँड़ों से गाभिन करा कर पर्वतीय पशुओं के सुधारने का एक समन्वित एवं विस्तृत कार्यक्रम निर्धारित किया गया. इस परियोजना के अन्तर्गत एक जर्सी पशु प्रजनन फार्म हिमाचल प्रदेश के कतौला नामक स्थान में तथा दूसरा मैसूर प्रदेश के हेसरघट्टा नामक स्थान पर खोला गया. इस कार्य के लिये जर्सी तथा ब्राउन स्विस के अतिरिक्त कुछ अन्य विदेशी नस्लों के चुनिंदा साँड़ों का भी प्रयोग किया जाता है.

भारत सरकार द्वारा स्थापित कृषि एवं पशुपालन बोर्ड ने 1961 में कुछ चुनिंदा क्षेत्रों में विशेषतया जो अच्छी सड़कों द्वारा बड़े-बड़े दुग्ध-उपभोक्ता केन्द्रों से जुड़े हुये है, संकरण कार्यक्रम चलाने की सम्भावना पर पुर्नविचार किया. बोर्ड ने यह सिफारिश की कि उन विदेशी नस्लों के चुनिंदा साँड़ों से उन क्षेत्रों में संकरण कार्य चालू किया जाय जहाँ अशुद्ध जाति के पशु हों तथा जहाँ की जलवायु वर्णसंकरता के बढ़ाने के लिये उपयुक्त हो.

भारतीय गोपशुओं के संकरण एवं विकास के लिये भारत सरकार द्वारा 1952 में स्थापित केन्द्रीय गोसंवर्धन परिषद् ने 1961 में देश की सामान्य पशु प्रजनन नीति तथा विदेशी नस्लों द्वारा संकरण कराने की नीति के अपनाये जाने पर विचार किया. इस परिषद् की शासकीय समिति की सिफारिश पर, भारत सरकार के खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय ने देश में तब तक हुयी प्रगति के आधार पर गोपशुओं के लिये प्रजनन नीति की समीक्षा के लिये एक कार्यकारिणी उपसमिति गठित कर दी. इस उपसमिति द्वारा संशोधित प्रजनन नीति के अन्तर्गत दुधारू, द्विप्रयोजनीय एवं भारवाही नस्लों के क्षेत्र में चुनिदा प्रजनन करना, देशी पशुओं को द्विप्रयोजनीय अथवा दुधारू नस्ल के साँड़ों से गाभिन करा कर श्रेणी उन्नयन करना, पहाड़ी क्षेत्रों मे विदेशी नस्ल के साँड़ों मे संकरण कराना और भैंसों का चुनिदा प्रजनन एवं श्रेणी उन्नयन द्वारा सुधार करना सम्मिलित हैं. इस कार्यकारिणी उपसमिति ने संतति-परीक्षित एवं विशुद्ध नस्ल के वंशागत साँड़ों के उत्पादन के लिये और पशु प्रजनन फार्म खोलने तथा देवनी, खिल्लारी एवं कांकरेज नस्लों वाले प्रजनन क्षेत्रों में और अधिक प्रमुख ग्राम खण्डों की स्थापना की भी सिफारिश की.

राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, बंगलौर, के दक्षिणी क्षेत्रीय केन्द्र तथा कृषि संस्थान, इलाहाबाद में नियंत्रित परिस्थितियों में किये गये प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि विदेशी नस्ल के साँड़ों द्वारा किये गये संकरण से पशुओं का बहुत जल्दी सुधार होता है. ऐसे ही प्रयोग करनाल, हेरिंघाटा तथा भारत के अन्य केन्द्रों पर भी किये गये हैं.

यद्यपि इज़राइल की भाँति विदेशी नस्लों को गर्म जलवायु में भी रखकर अधिकतम उत्पादन लिया जा सकता है किन्तु प्रयुक्त विधियाँ खर्चीली होती हैं और भारतवर्ष मे वर्तमान परिस्थितियों में इन्हें लागू करना असम्भव-सा प्रतीत होता है. देश की अशुद्ध नस्ल वाली पशु संख्या में 50% से अधिक विदेशी रक्त का समावेश धीरे-धीरे तथा नियंत्रित परिस्थितियों में ही किया जा सकता है. इस दिशा में जो प्रयास पहले कम सफल हुये हैं उनका मुख्य कारण विशुद्ध नस्ल के विदेशी साँड़ों का अभाव था. हिमीकृत वीर्य बिना किसी क्षति के वर्षो तक संरक्षित रखा जा सकता है, अतः उच्च श्रेणी के संतति-परीक्षित साँड़ों के वीर्य का आयात भी सम्भव हो गया है.

राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल में साहीवाल तथा लाल सिंधी गायों को अमेरिका के ब्राउन स्विस साँड़ों के हिमीकृत वीर्य से गाभिन करा कर संकरण का कार्य किया जाता है. साहीवाल और ब्राउन स्विस के संकरण से करनस्विस–65 नस्ल विकसित की गयी है जिसने 1973 में 4 बार दोहन करने पर 43 ली. दैनिक दुग्ध उत्पादन का कीर्तिमान स्थापित किया है. कृत्रिम वीर्यसेचन द्वारा 144 बच्चों का पहला बैच (संकर$_1$) उत्पन्न हुआ. इनमें से 63 बछियाँ परिपक्वता को प्राप्त कर सकीं. द्वितीय पीढ़ी (संकर$_2$) प्राप्त करने के लिये इन्हें सर्वोत्तम गायों से प्राप्त संकर साँड़ों से गाभिन कराया गया. इनमें से तीन गायों ने करनाल में उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है. पहली पीढ़ी की बछियों में से एक की भी छटनी नहीं हुयी. हाँ, स्थानीय जलवायु के प्रति अनुकूलन तथा इनकी शरीरक्रियात्मक, जननात्मक एवं उत्पादन क्षमता का पता लगाने के लिये प्रेक्षण किये जा रहे हैं. संकर पशुओं ने पहले-पहल 1966 में बच्चे देकर दूध देना प्रारम्भ किया. सारणी 10 में दिये गये संक्षिप्त विवरण के अनुसार अब तक इनकी प्रगति आशानुकूल ही रही है.

चारे तथा पानी के उपभोग, पशुओं के स्वास्थ्य, दुग्ध उत्पादन में ऋतु के अनुसार विभिन्नता आदि बातों से स्पष्ट है कि संकर

सारणी 10 – साहीवाल तथा लाल सिंधी नस्ल की तुलना में संकर पशुओं की क्षमता* (1965–68)

लक्षण	संकर पशु	साहीवाल	लाल सिंधी
जन्म के समय भार (किग्रा.)			
नर :	27(66)	22(82)	21(76)
मादा :	24(57)	21(81)	19(74)
शरीर भार में दैनिक वृद्धि (ग्रा.)			
नर :	530	400(59)	410(61)
मादा :	510	390(64)	344(48)
पहली बार ब्याने पर आयु (माह)	30(57)	42(48)	35(15)
दूध देने वाली गायें (%)	93	66	60
प्रथम दुग्धकाल का उत्पादन 305 दिन में (किग्रा.)	3,180(31)	1,868(53)	1,529(11)
ब्यात कालान्तर (दिन)	385(22)	511(144)	493(37)
प्रति गर्भाधान साँड़ों का प्रयोग	1.3	1.8	1.7
गर्भाधान की दर (%)	83	68	81
दोहन का औसत (किग्रा./दिन, 3 दोहन):			
ग्रीष्मकाल (मार्च-जून)	13.3	7.5	7.8
वर्षा ऋतु (जुलाई-अक्टूबर)	11.0	6.9	6.9
जाड़े की ऋतु (नवम्बर-फरवरी)	9.8	6.3	6.5

*दुग्ध-विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल.

नोट : कोष्ठकों के भीतर दिये हुये अंक उन पशुओं की संख्या प्रदर्शित करते हैं जिनका औसत लिया गया है.

पशु, करनाल की जलवायु (जो उत्तरी भारत के मैदानों में लाक्षणिक है) के लिये सर्वथा अनुकूल है. **साहीवाल** तथा **लाल सिन्धी** नस्लों की अपेक्षा संकर बैल बहुत अच्छे (तेज एवं मजबूत) होते हैं. इनमें ककुद के न होने से उनकी भारवाही क्षमता में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता. जाड़े तथा गर्मी के निकटतम सम्पर्क में रहने के बाद भी इन पशुओं के दुग्धोत्पादन में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं दिखायी देता, बल्कि जैसा कि सारणी 10 से स्पष्ट है वास्तव में गर्मियों की ऋतु में इनका दुग्धोत्पादन अधिकतम रहा. विदेशी नस्लों से संकरण कराने के बाद संकर संतान मिलने से देशी पशुओं में जल्दी सुधार हुआ है. एक बार संकरण कार्य के विधिवत प्रारम्भ होने पर विदेशी साँड़ों अथवा हिमीकृत वीर्य की आवश्यकता अपने आप घटती जायेगी.

कृत्रिम वीर्यसेचन

भारतीय गोपशुओं के आनुवंशिक सुधार में अच्छे साँड़ों का अभाव सबसे बड़ी बाधा बनता है. एक अनुमान के अनुसार देश में प्रजनन योग्य 7.5 करोड़ गायों-भैंसों को प्राकृतिक ढंग से गाभिन कराने के लिये लगभग 10 लाख अच्छी नस्लों के साँड़ों की आवश्यकता होगी. यह मानकर कि प्रत्येक चार वर्ष बाद साँड़ों को बदलना पड़े तो प्रतिवर्ष हमें 2.5 लाख साँड़ों की आवश्यकता होगी. किन्तु इस समय जहाँ 250 साँड़ चाहिये वहाँ केवल एक ही अच्छा प्रजनक साँड़ उपलब्ध है. अतः केवल कृत्रिम वीर्यसेचन ही इस समस्या का हल हो सकता है.

परीक्षित साँड़ों का अधिकाधिक उपयोग करने के उद्देश्य से ही भारतवर्ष में कृत्रिम वीर्यसेचन प्रणाली अपनायी गयी है. विभिन्न केन्द्रों से प्राप्त अनुभवों से यह प्रदर्शित होता है कि इस प्रणाली के सही-सही उपयोग से ही पशुओं का शीघ्र सुधार हो सकता है.

भारतवर्ष में कृत्रिम वीर्यसेचन सम्बन्धी क्रमबद्ध अनुसंधान का प्रारम्भ भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर (उत्तर प्रदेश) में हुआ. भारतीय परिस्थितियों में इस प्रविधि को लागू करने में कोई कठिनायी नहीं आयी. फलतः देश में गायों-भैंसों के सुधार के लिये इसे बड़े पैमाने पर अपनाया गया. प्रथम पंचवर्षीय योजना में चलायी गयी प्रमुख ग्राम योजना ने भी पशुओं के सुधार हेतु कृत्रिम वीर्यसेचन प्रविधि को साधन स्वरूप अपनाया. द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में कृत्रिम वीर्यसेचन काफी दूर-दूर के क्षेत्रों में अपनाया गया. सम्पूर्ण देश में बहुत बड़ी संख्या में कृत्रिम वीर्यसेचन केन्द्र खोले गये. इनमें से अधिकांश पशु प्रजनन क्षेत्रों में तथा शेष अशुद्ध नस्ल के देशी पशुओं वाले क्षेत्रों में स्थापित किये गये. आजकल प्रमुख ग्राम योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजना में कृत्रिम वीर्यसेचन को प्रमुख स्थान प्राप्त है. इसमें प्रमुख ग्राम वीर्य गुणन केन्द्र का कार्य करते हैं और जो गांव प्रजनन क्षेत्र में स्थित हैं वे आवश्यक संख्या में विभिन्न नस्लों के साँड़ तैयार करते हैं.

प्रथम पंचवर्षीय योजना में 555 प्रमुख ग्रामों में 146 कृत्रिम वीर्यसेचन केन्द्र थे जिनमें 2,92,751 गायों-भैंसों का वीर्यसेचन किया गया. द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 1960–61 तक 261 केन्द्रों द्वारा 17,80,594 गाय-भैंसें सेचित की गयीं. तीसरी पंचवर्षीय योजना में 23 कृत्रिम वीर्यसेचन केन्द्र और खोले गये.

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने एक क्षेत्रीय कृत्रिम वीर्यसेचन योजना की रूपरेखा तैयार की है जिसका प्रमुख उद्देश्य विभिन्न भौगोलिक तथा जलवायु की परिस्थितियों में रहने वाले पशुओं की अनेक नस्लों पर कृत्रिम वीर्यसेचन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करके एक ऐसा सम एवं समन्वित शोध कार्यक्रम तैयार करना था जिसे पूर्वी क्षेत्र के लिये कटक तथा कलकत्ता, दक्षिणी क्षेत्र के लिये पूना, और उत्तरी क्षेत्र के लिये इज्जतनगर जैसे चुनिंदा केन्द्रों में कार्यान्वित किया जा सके.

प्रमुख ग्राम योजना के अन्तर्गत चालू कृत्रिम वीर्यसेचन केन्द्रों के अतिरिक्त राज्य सरकारों ने इस कार्य के लिये अपने कुछ और केन्द्र भी खोले हैं.

अच्छी नस्ल वाले क्षेत्रों में तथा कुछ सुसंगठित फार्मों पर भी चुनिंदा प्रजनन करने के लिये छोटे स्तर पर कृत्रिम वीर्यसेचन कार्य किया जाता है. कुछ प्रदेशों में जहाँ राजकीय पशुधन फार्मों पर समुचित सुविधायें उपलब्ध हैं, पशुओं को केवल कृत्रिम वीर्यसेचन प्रविधि द्वारा ही सेचित कराया जाता है. भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर (उत्तर प्रदेश) के डेरी फार्म पर रखी गयी **हरियाना** नस्ल की गायों को 1944 से ही इस विधि से गाभिन किया जाता रहा है. यहाँ रखी गयी **मुर्रा** नस्ल की भैंसों में भी 1953 से यही विधि अपनायी जा रही है.

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की एक योजना के अन्तर्गत कुछ चुनिंदा स्थानों में 1955 में विदेशी नस्ल के साँड़ों से पुनः चलाया गया संकरण कार्य पूरी तरह कृत्रिम वीर्यसेचन पर ही आश्रित है. इस कार्य के लिये बंगलौर तथा टालीगंज (पश्चिमी बंगाल) में वीर्य-बैंकों की स्थापना की गयी है जहाँ से जर्सी नस्ल

के साँड़ों का वीर्य एकत्रित करके कृत्रिम वीर्यसेचन के लिये विभिन्न संकरण केन्द्रों पर भेजा जाता है. इसके अतिरिक्त दक्षिणी प्रदेशों के 25 केन्द्रों को भी यहीं से वीर्य भेजा जाता है. विशाखापटनम, ऊटकमंड, चलकुड़ी, पालमपुर तथा चोहरपुर स्थित केन्द्रों में जर्सी से संकरित द्वितीय पीढ़ी के पशु रखे गये हैं. शेष इकाइयों में प्रथम पीढी के पशु मिलते हैं.

वीर्य एकत्रीकरण – साँड़ द्वारा मैथुन के बाद योनि तल से वीर्य एकत्रित करने के पुराने तरीके बेकार हो चुके हैं. अब तो वीर्य कृत्रिम योनि (स्वीडिश तथा डैनिश माडल) में इकट्ठा किया जाता है. यह मोटे रबर के एक खोखले सिलिण्डर (लम्बाई 30 सेंमी., भीतरी व्यास 6 सेंमी. तथा किनारे उठे हुये) और 40 सेंमी. लम्बे एवं आधार पर 10 सेंमी. व्यास वाले रबर शंकु की बनी होती है. शंकु के पतले एवं संकरे सिरे पर एक अंशांकित पाइरेक्स की परखनली होती है जिसमें साँड़ द्वारा स्खलित पूरा-पूरा वीर्य अपनी विशुद्ध अवस्था में एकत्र हो जाता है. शंकु तथा परखनली को रोधी थैली में रखकर सुरक्षित रखा जाता है. शंकु तथा रबर के अस्तर के बीच पानी अथवा हवा भरकर 42–45° सें. ताप तथा वांछित दाब रखा जाता है. चिकना करने के लिये इसमें थोड़ी मात्रा में निर्जमित सफेद वैसलीन अथवा कोई अन्य चिकना पदार्थ लगा दिया जाता है. भारतीय नस्लों, विशेषकर **हरियाना** तथा **साहीवाल** के साँड़ कम ताप की अपेक्षा 45° से 48° सें. के उच्च ताप पर कृत्रिम योनि में वीर्य देना अधिक पसंद करते हैं.

ढाई से तीन वर्ष की आयु के युवा साँड़ कृत्रिम वीर्यसेचन कार्य के लिये उपयुक्त होते हैं. स्थानीय जलवायु तथा वातावरण की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये इनके खान-पीन और रहने का ठीक प्रबन्ध किया जाता है. अच्छा रखने के लिये इन्हें नियमित रूप से व्यायाम कराया जाता है. वीर्य एकत्रीकरण से पूर्व चुनिंदा साँड़ों को बाड़ों से परिचित कराया जाता है. तत्पश्चात् इन्हें पाँच-पाँच मिनट के लिये तीन बार अड़गड़ा में खड़ी भैंस अथवा बनावटी गाय के पास ले जाकर कृत्रिम योनि में वीर्य इकट्ठा कर लिया जाता है. **हरियाना** साँड़ों की अपेक्षा **साहीवाल** तथा **थारपारकर** नस्लों के साँड़ वीर्य स्खलित करना अधिक समय में सीख पाते हैं. अधिकांश भारतीय नस्लों के नये साँड़ लगभग पन्द्रह दिनों में यह कार्य सीख लेते हैं जबकि अधिक आयु वाले साँड़ों को दो-तीन माह लग जाते हैं. थोड़े-थोड़े अवकाश पर बार-बार एकत्रित करने की अपेक्षा एक सप्ताह में दो बार अथवा पूरे सप्ताह में एक ही दिन में दो बार वीर्य एकत्रित करना अधिक अच्छा है.

वीर्य एकत्रीकरण की वैद्युत उद्दीपन विधि, यद्यपि दूध देने वाली नस्लों के धीमी प्रकृति वाले साँड़ों से वीर्य प्राप्त करने के लिये अधिक उपयुक्त है, लेकिन बारम्बार प्रयोग करने से होने वाले खतरों तथा कुपरिणामों के कारण यह अधिक पसंद नहीं की जाती. यह विधि भारत में प्रयुक्त नहीं होती.

वीर्य एकत्रित करने के लिये पशु के मलाशय में हाथ डाल कर शुक्रवाहिनी कलशिका एवं वाहिनी को मलकर साँड़ का वीर्य स्खलित कराने की विधि मर्दन विधि कहलाती है. यह अत्यन्त सीमित उपयोग की विधि है लेकिन यह विधि उन साँड़ों से वीर्य लेने के लिये बहुत अच्छी है जो शारीरिक रूप से मैथुन करने के अयोग्य होते हैं. इस विधि को लागू करने में बहुत ही दक्षता की आवश्यकता पड़ती है अतः दैनिक कृत्रिम वीर्य सेचन कार्य में इसका उपयोग नहीं किया जाता.

सारणी 11 – भारतीय साँड़ों द्वारा एक बार में स्खलित वीर्य का औसत आयतन*

नस्ल	वीर्य (मिली.)	नस्ल	वीर्य (मिली.)
हरियाना	3.16	अंगोल	4.10
कुमायूँ	2.00	अमृतमहल	4.10
साहीवाल	3.80	लाल सिंधी	4.70
थारपारकर	3.80	गिर	5.70
नागौरी	3.60	भारत-यूरोपीय संकरित	3.40

*Singh, *Tech. Bull. Indian Coun. agric. Res. (Anim. Husb.)*, *No. 1, 1965.*

वीर्य का रख-रखाव – एकत्रीकरण के समय से लेकर उसके उपयोग होने तक वीर्य को अत्यन्त सावधानी से रखना पड़ता है. इसकी ताप अथवा शीत से रक्षा करनी पड़ती है तथा इसे पानी, हानिकारक रासायनिक पदार्थों तथा वायु और सूर्य की रोशनी से बचाना पड़ता है. वीर्य को तनु करने से पूर्व उसे 25° से कम ताप पर नहीं रखना चाहिये.

वीर्य की विशेषतायें – साँड़ का वीर्य अपारदर्शक एवं दूधिया सफेद रंग का होता है और शुक्राणुओं की सान्द्रता के अनुसार यह दूधिया, श्वेतपीत अथवा पानी जैसा पतला हो सकता है. वीर्य का आयतन साँड़ की आयु, कद एवं नस्ल पर निर्भर करता है. विभिन्न नस्ल के भारतीय साँड़ों के एक स्खलन का औसत आयतन सारणी 11 में दिया गया है.

साँड़ द्वारा स्खलित एक बार के वीर्य में शुक्राणुओं की सांद्रता निम्नांकित विधियों द्वारा ज्ञात की जाती है:

(1) तनुकृत वीर्य में शुक्राणुओं की संख्या ज्ञात करने के लिये रुधिर कोशिका गणक के प्रयोग से; (2) नेफेलोमीटर की सहायता से तनुकृत वीर्य की रुधिर कोशिका गणक द्वारा मानकीकृत सांद्रता के वीर्य के नमूने के साथ प्रकाश शोषित करने की क्षमता की तुलना से; (3) बेरियम सल्फेट अथवा रुधिर कोशिका गणक द्वारा परोक्ष गणना के आधार तैयार किये गये अन्य घनत्व मानकों के साथ वीर्य के घनत्व की तुलना से; और (4) साँड़ द्वारा स्खलित एक बार के वीर्य का अपकेन्द्रण करने के बाद उसके कोशिका आयतन की तुलना रुधिर कोशिका गणक द्वारा की गयी परोक्ष गणना के साथ करके. भारतवर्ष में तनुकृत वीर्य में रुधिर कोशिका गणक द्वारा परोक्ष रूप से शुक्राणुओं की संख्या गिन कर साँड़ के प्रत्येक स्खलन में शुक्राणुओं की सांद्रता का पता लगाया जाता है. इस विधि से किसी त्रुटि के हुये बिना शुक्राणुओं की लगभग सही-सही संख्या ज्ञात हो जाती है. भारतीय पशुओं की कुछ नस्लों की औसत शुक्राणु संख्या (करोड़ शुक्राणु/मिली. में) निम्नांकित प्रकार हैं: **हरियाना**, 1034; **कुमायूँ**, 701.

शुक्राणुओं का परिरक्षण एवं भंडारण – कृत्रिम वीर्यसेचन में प्रयुक्त करने के लिये वीर्य को तनु करके उसका आयतन बढ़ा दिया जाता है. एक अच्छे तनुकारी में निम्नलिखित गुण होने चाहिये: वह विषैला न हो, आसानी से तैयार किया जा सकता हो, उसका मूल्य कम हो, शुक्राणुओं को अधिक समय तक जीवित रखने की शक्ति प्रदान करता हो, उसे आसानी से रखा जा सकता हो, और उसमें पी-एच में परिवर्तन रोकने की उभयरोधी

क्षमता हो. साँड़ के वीर्य को सुरक्षित रखने के लिये पहले सल्फेटों, टार्टरेटों अथवा फॉस्फेटों को जिलेटिन, रक्त-सीरम, ऊतक सम्वर्ध निष्कर्ष आदि के साथ अथवा इनके बिना भी वीर्य तनुकारी के रूप में प्रयुक्त किया जा चुका है. अब इनका स्थान अण्डपीत फॉस्फेट (अ. फा.) तथा अण्डपीत सिट्रेट (अ. सि.) तनुकारियों ने ले लिया है और ये भारतवर्ष में बहुतायत से इस्तेमाल हो रहे हैं. अण्डपीत सिट्रेट ग्लाइसीन (अ.सि.ग्ला.), अण्डपीत ग्लाइसीन (अ.ग्ला.), उबाला हुआ अथवा पास्तुरीकृत, समांगीकृत अथवा असमांगीकृत दूध, अण्डपीत युक्त अथवा उससे रहित उबाला हुआ या पास्तुरीकृत, क्रीम उतारा दूध, तथा अण्डपीत युक्त अथवा उससे रहित दुग्ध-चूर्ण या क्रीम उतारा दूध वीर्य को तनुकृत करने के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले अन्य पदार्थ हैं. सिट्रेटयुक्त उबाला हुआ दूध, अण्डपीत सिट्रेट की ही भाँति अच्छा तनुकारी है. अण्डपीत-ग्लूकोस-सोडा बाइकार्बोनेट भी एक अच्छा तनुकारी है. यह शुक्राणुओं की संसेचन क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं डालता और सामान्यत: वीर्य के दैनिक परिरक्षण में इसका उपयोग किया जाता है. आजकल अण्डपीत सिट्रेट, सल्फानिलैमाइड एवं प्रतिजैविक पदार्थों के साथ मिलाकर सभी जगह प्रयुक्त होने लगा है. हमारे देश में गरी के दूध को वीर्य तनुकारी के रूप में प्रयुक्त करने की, केन्द्रीय वीर्य-बैंक, हेव्वल (बंगलौर) में एक नवीन प्रविधि विकसित की गयी है.

'इलिनी परिवर्तनशील ताप तनुकारी' नामक एक नया तनुकारी भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान द्वारा विकसित किया गया है जो कमरे के ताप (15–25°) पर सात दिन तक साँड़ के शुक्राणुओं को (50% से अधिक) गतिवान एवं गर्भधारण कराने के योग्य रख सकता है.

वीर्य को तनुकृत किये जाने में प्रयुक्त होने वाले किसी भी तनुकारक के पी-एच को 7 से अधिक नहीं होना चाहिये और इसे वीर्य-द्रव के साथ समपरासारी होना चाहिये. वीर्य को शारीरिक ताप पर ही तनुकृत किया जाता है. वीर्य को उतना ही तनु करना चाहिये जिससे शुक्राणुओं की वीर्यसेचन क्षमता पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े और उसका अधिक से अधिक पशुओं पर प्रयोग हो सके. आमतौर पर वीर्य को 1 : 10 के अनुपात में ही तनु किया जाता है, यद्यपि 1 : 5 से 1 : 40 तक के अनुपात से भी वीर्यसेचन करने में सफलता प्राप्त की जा चुकी है. तनुकृत वीर्य को विभिन्न तापों 25, 20, 15, 10 तथा 5° वाले पानी में क्रमश: रखकर धीरे-धीरे ठंडा करना चाहिये. फिर भविष्य में प्रयुक्त होने के लिये इसे प्रशीतक में भण्डारित करना चाहिये. भारतवर्ष में कृत्रिम वीर्य सेचन के लिये वीर्य का गहन-हिमीकरण अव्यावहारिक सिद्ध हुआ है.

वीर्य का परिवहन – दूरस्थ केन्द्रों पर भेजे जाने वाले वीर्य को परिवहन से पूर्व भली-भाँति बंद करना तथा उस पर लेबिल लगाना आवश्यक है. परिवहन काल में वीर्य का ताप 10° से नीचे, और जहाँ तक सम्भव हो 3–5° तक रखना चाहिये. भारतवर्ष में कृत्रिम वीर्य सेचन के लिये वीर्य, साधारणत: मुख्य केन्द्र से प्राय: 8–16 किमी. की दूरी पर स्थित उपकेन्द्रों पर भेजा जाता है. वायुयान, रेल अथवा सड़क द्वारा लम्बी दूरी पर वीर्य का परिवहन करने के लिये बर्फयुक्त, भारी रोधन के सुधरे हुये पात्रों (निर्वात जार, डेनिश पात्र) की आवश्यकता पड़ती है. भारतवर्ष में इस कार्य के लिये पालिस्टेरीन बक्सों का भी उपयोग किया जा रहा है.

वीर्य के परिवहन के लिये अब तक पाँच उपयुक्त पात्रों का अन्वेषण किया जा चुका है. इनके नाम हैं : पूना मॉडल, बंगलौर मॉडल, मथुरा मॉडल, भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान मॉडल तथा जापानी मॉडल (जिनका प्रयोग राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों में किया जाता है). पूना तथा बंगलौर मॉडल के पात्र अन्यों की अपेक्षा अच्छे माने जाते हैं क्योंकि यदि बाहर का ताप 35–45° भी रहे तो भी ये वीर्य को दो-तीन दिन तक 10° से भी कम ताप पर सुरक्षित रखते हैं.

वीर्यसेचन की विधियाँ – फार्म पर रखे जाने वाले विभिन्न जातियों के पशुओं के लिये वीर्यसेचन की विधियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं. इस कार्य में प्रयुक्त होने वाले सभी यन्त्र सूखे एवं निर्जर्मित तथा परिचालक के हाथ भी निर्जर्मित एवं स्वच्छ होने चाहिये. प्रति वीर्यसेचन में वीर्य की मात्रा विशेषत: शुक्राणुओं की सांद्रता पर निर्भर करती है.

गोपशुओं में प्राय: एक वीर्यवाहक नली के द्वारा योनिवीक्षण यन्त्र की सहायता से अथवा उसके बिना ही वीर्य स्थापित किया जाता है. प्रारम्भ में योनि के मार्ग द्वारा गर्भाशय-ग्रीवा का पता लगाकर उसमें वीर्य डाला जाता था. आजकल मलाशय में हाथ डालकर गर्भाशय-ग्रीवा को पकड़कर और दूसरे हाथ से योनि तल से वीर्य चालक नली को प्रविष्ट किया जाता है. मादा में वीर्य प्रविष्ट करने की यह 'रेक्टम योनि विधि' आजकल अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक अच्छी मानी जाती है, क्योंकि इसमें सही स्थान पर वीर्य पहुँच जाता है और मादा का गर्भिणी होना निश्चित रहता है. इससे योनिवीक्षण यन्त्र के प्रयोग से पशु की जननेन्द्रिय से रक्तस्राव होने की भी सम्भावना नहीं रहती.

कृत्रिम वीर्य सेचन प्रविधि से गाभिन करायी जाने वाली गायों और उनके लिये आवश्यक साँड़ों की संख्या के अनुपात में काफी सुधार हुआ है और कृत्रिम वीर्य सेचन सेवा के प्रसार से इसमें और भी अधिक वृद्धि की आशा की जानी चाहिये. ज्यों-ज्यों पशु प्रजनन की अन्य प्रायोजनायें प्रगति करेंगी त्यों-त्यों कृत्रिम वीर्यसेचन विधि की भी उन्नति होगी और 1981 तक देश की लगभग 50% गायें इस विधि द्वारा गाभिन की जा सकेंगी. इस आधार पर विभिन्न योजना काल में हमें जितने साँड़ों की आवश्यकता होगी और उनमें से जितनी उपलब्धि होगी, यह विवरण सारणी 12 में दिया गया है.

विभिन्न केन्द्रों पर कृत्रिम वीर्य सेचन के लिये समुचित संख्या में गायों के न पहुँचने, दूरस्थ केन्द्रों पर वीर्य के परिवहन के उपयुक्त साधन न होने तथा राज्यीय अथवा अन्तर्राज्यीय स्तर

सारणी 12 – 1951–81 तक भारतवर्ष में प्रजनक साँड़ों की उपलब्धि*

	1951	1956	1961	1966	1971	1976	1981
गायों के लिये साँड़ों का अनुपात	1:76	1:90	1:120	1:150	1:200	1:290	1:400
आवश्यक साँड़ों की संख्या (लाख)	9.3	7.4	6.4	4.4	3.3	2.2	1.5
वार्षिक क्षतिपूर्ति (लाख)	3.1	2.46	2.16	1.46	1.1	0.71	0.50
सुधरे साँड़ों का उत्पादन (लाख)	0.06	0.08	0.13	0.10	0.23	0.25	0.28

*Report of the Working Group on Fourth Five Year Plan for Animal Husbandry, Ministry of Food & Agriculture, New Delhi.

पर इस प्रविधि के किफायती उपयोग में समन्वय का अभाव होने के कारण साँड़ों के बहुमूल्य वीर्य को नष्ट होने से बचाने के लिये भारतवर्ष में अपनाये गये कृत्रिम वीर्य सेचन के उपायों में सुधार करने की आवश्यकता है. कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार हैं: (1) प्रत्येक केन्द्र पर कम-से-कम संख्या में अच्छे साँड़ रखे जायें तथा शेष साँड़ों को आवश्यकतानुसार अन्य स्थानों पर भेज दिया जाये, तथा (2) राज्यीय अथवा अन्तर्राज्यीय स्तर पर वीर्य के किफायती वितरण के लिये प्रत्येक राज्य में एक या दो वीर्य-बैंकों की स्थापना की जाय. कृत्रिम वीर्य सेचन क्षेत्र एवं उसके आस-पास के गाँवों के समस्त देशी साँड़ों को वधिया करना तथा आवारा पशुओं को हटाना भी आवश्यक है. देश के विभिन्न क्षेत्रों में, जहाँ विभिन्न जलवायु एवं वातावरण की परिस्थितियों में गोपशुओं की विभिन्न नस्लें पायी जाती है, कृत्रिम वीर्यसेचन के विभिन्न पहलुओं पर, फार्म के पशुओं की प्रजनन कार्यिकी के पूर्ण ज्ञान सहित आयोजित, एक समन्वित शोध योजना भारतवर्ष की कृत्रिम वीर्य-सेचन की विचित्र समस्याओं के समाधान में काफी सहायक होगी.

सन्तति परीक्षण – साँड़ का गुण ही उसके चुने जाने के लिये पर्याप्त नहीं होता वरन् वांछित गुणों वाली संतति पैदा करने की उसकी क्षमता एक आवश्यक कारक है. संतति-परीक्षित साँड़ों का अभाव ही हमारे देश में कृत्रिम वीर्यसेचन कार्य की प्रगति में बाधक बनता रहा है. भारतवर्ष में वैज्ञानिक ढंग से संतति-परीक्षण का समुचित विकास इसीलिये नहीं हो पाया है, क्योंकि यह अधिक खर्चीला एवं समय लेने वाला है. अभी हाल में भारत सरकार ने देश में तीन या चार केन्द्रों पर संतति परीक्षण योजना के कार्यान्वयन की स्वीकृति दी है. देश के कुछ राजकीय पशुधन फार्मों पर भी संतति परीक्षण का कार्य किया जा रहा है. हिसार (हरियाणा) में हरियाना तथा मुर्रा नस्ल के संतति परीक्षित साँड़ उत्पन्न करने की एक विशाल प्रायोजना चल रही है. कांकरेज तथा अंगोल नस्ल के साँड़ उत्पन्न करने का ऐसा ही कार्यक्रम अन्य फार्मों द्वारा चालू किये जाने की सम्भावना है. गोपशुओं के दुग्धोत्पादन का अनुमान लगाने और उनका वार्षिक उत्पादन आँकने के लिये तथा उनके पालन-पोषण, खान-पान एवं देखरेख संबंधी आँकड़े एकत्र करने के लिये देश के कुछ भागों में अग्रगामी अन्वेषण परियोजनायें भी चल रही हैं.

प्रमुख नस्लों की देखभाल तथा प्रवर्धन – गोपशुओं की प्रमुख नस्लों के लिये ठीक से देखरेख और उनके प्रवर्धन की आवश्यकता होती है. इस समय भारतवर्ष में लगभग 140 राजकीय पशुधन फार्म हैं, जहाँ बीस विभिन्न नस्लों की लगभग 22,000 गायें और उनके बच्चे तथा 13,000 भैंसें पाली जाती हैं. ग्रामीण क्षेत्रों में पशुधन विकास कार्यक्रमों के लिये अच्छे साँड़ उत्पन्न करने के उद्देश्य से इन फार्मों को खोला गया था. कुछ राजकीय फार्म एवं समस्त सैनिक फार्म, पशुपालन पद्धतियों के प्रदर्शन केन्द्रों के रूप में कार्य करते हैं. इन फार्मों ने पशुओं के विकास में आवश्यक योगदान दिया है. राजकीय फार्मों की स्थापना के साथ-साथ पशुओं की विभिन्न नस्लों के वर्तमान रूप के उद्भव का भी इससे पता लगाया जा सका है. सैनिक फार्मों को छोड़कर अधिकांश राजकीय फार्मों पर अब अच्छी नस्ल के साँड़ तैयार करने का ही कार्य विशेष रूप से किया जा रहा है. इनमें से बहुत से फार्म प्रदेश के पशुपालन विभाग के अधीन हैं किन्तु कुछ कृषि विभाग अथवा कृषि महाविद्यालयों या पशु चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालयों के तत्वावधान में विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देने का कार्य ' हैं. विभिन्न प्रदेशों में स्थित ऐसे राजकीय पशुधन फार्मों की संख्या सारणी 13 में दी गयी है.

इसके अतिरिक्त इस समय यहाँ 35 सैनिक फार्म, 3 सहसैनिक फार्म तथा 5 नवीन एवं सूखे पशुओं के फार्म हैं जिन पर लगभग 20,000 गोपशु पाले जाते हैं. इनमें से कुछ सैनिक फार्मों पर गायों की दुग्धोत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिये देशी पशुओं (**लाल सिंधी, साहीवाल**) को विदेशी नस्ल के साँड़ों (**जर्सी, आयरशायर, होल्स्टाइन-फ्रीजियन, शार्टहार्न** इत्यादि) से गाभिन करा कर बच्चे पैदा करने के प्रयास किये जा रहे हैं. अभी हाल में इन फार्मों पर मुर्रा तथा **नीली-रावी** भैंसों के यूथ भी रखे जाने लगे हैं. प्रजनन के लिये सैनिक फार्मों पर अधिकतर प्राकृतिक विधि ही अपनायी जाती है और कृत्रिम वीर्य सेचन प्रविधि का नाममात्र को प्रयोग होता है. केवल राजकीय फार्मों पर ही सभी प्रकार के आवश्यक साँड़ों के उत्पादन के लिये निर्भर रहने पर उनका पालन-पोषण आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं होगा, अतः कुछ चुनिंदा क्षेत्रों में भी ऐसे साँड़ों को पालने-पोसने का निश्चय किया गया है. ऐसा प्रायः उन क्षेत्रों के लिये अधिक उपयुक्त माना गया है जिनमें अच्छी पशु नस्लें मिलती हैं. इसी उद्देश्य से प्रमुख ग्राम योजना चलायी गयी जिसके अन्तर्गत राजकीय पशुधन फार्मों पर तैयार होने वाले शुद्ध नस्ल के वंशागत साँड़ों के प्रयोग से शीघ्रातिशीघ्र पशुधन का विकास किया जाता है. विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत प्रजनन कार्य के लिये उपलब्ध गोजातीय तथा भैंस जातीय साँड़ों की कुल संख्या सारणी 14 में अंकित है.

सारणी 13 – भारतवर्ष में राजकीय पशुधन फार्म*

प्रदेश	पशुधन फार्मों की संख्या	प्रदेश	पशुधन फार्मों की संख्या
असम	8	पश्चिमी बंगाल	3
आन्ध्र प्रदेश	12	बिहार	8
उड़ीसा	6	मध्य प्रदेश	22
उत्तर प्रदेश	27	महाराष्ट्र	15
केरल	4	मैसूर	9
गुजरात	6	राजस्थान	6
जम्मू एवं कश्मीर	2	केन्द्र शासित क्षेत्र एवं केन्द्रीय संस्थान	6
तमिलनाड	5		
पंजाब	4		
योग		143	

*Building from Below : Essays on India's Cattle Economy (सर्व सेवा संघ, कृषि गोसेवा समिति, नई दिल्ली), 1964.

सारणी 14 – भारतवर्ष में उपलब्ध प्रजनक साँड़ों की संख्या*

	गोपशु	भैंसें
केन्द्रित ग्राम योजना	2,042	1,128
वीर्य-बैंक	306	...
कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र	822	897
राष्ट्रीय प्रसार सेवा केन्द्र	3,570	1,266
योग	6,740	3,291

*Report of the Working Group on Fourth Five Year Plan for Animal Husbandry, Ministry of Food & Agriculture, New Delhi.

रोग

भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देश मे पशुधन कृषि की रीढ है अत. पशु रोगो पर नियन्त्रण रखना राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सुधार मे आवश्यक योगदान है. इस तथ्य को ध्यान मे रखकर भारत सरकार ने देश मे बुरी तरह फैलने वाले महामारी पशु रोगो पर अन्वेषण करने के लिये 1889 मे एक प्रयोगशाला स्थापित की जिसे आजकल भारतीय पशु चिकित्सा अनुसधान सस्थान के नाम से जाना जाता हे प्रारम्भ मे इस सस्थान के पशुओ मे इन रोगो के लिये प्रतिरक्षी उपाय ढूँढ निकालने के लिये घातक रोगो के जनक कीटाणुओ का विशेष रूप से अध्ययन होता रहा इस सस्थान की स्थापना के प्रथम दस वर्षो मे ही पशु-प्लेग विरोधी सीरम तैयार कर लिया गया जिसे गाँव-गाव मे प्रयुक्त किया जा सके. 1906 तक इस सस्थान द्वारा तैयार पशु सम्बन्धी जैविक उत्पादो की तालिका मे गलाघोटू, गिल्टी, टेटनस आदि बीमारियो के लिये अनेक ऐंटीसीरम, लगडिया रोग के लिये एक टीका, घोडो मे लैडर्स रोग का पता लगाने वाले पदार्थ मैलीन भी सम्मिलित कर लिये गये

रोगोत्पादक कारको के आधार पर प्रमुख पशु रोगो को वाइरस तथा बैक्टीरियाजन्य रोग, परजीवी रोग, किलनियो द्वारा वहन होने वाले रोग तथा अन्य विकृतिजन्य अवस्थाओ मे वर्गीकृत किया जा सकता हे इनमे से पोकनी (रिण्डरपेस्ट), खुरपका-मुहपका, गलाघोटू, लगडिया, विपहरी (ऐंथ्रैक्स), क्षय रोग, थनैली, सक्रामक गर्भपात, सुर्रा, काक्सीडियोसिस, वैबेसिओसिस, थीलेरियासिस, फैसिओलियासिस (कीडया रोग), नासा कणिका-गुल्म (नासिका ग्रैनुलोमा) तथा ऐम्फिस्टोमिआसिस आदि उपर्युक्त प्रकार के प्रमुख रोग है

वाइरस रोग – रिण्डरपेस्ट अथवा पशु-प्लेग (अन्य नाम – माता, वडा रोग, शीतला, मुर्री, मोक, गोटी, महामारी आदि) गायों-भैसो, भेडो-वकरियो तथा सुअरो का एक बहुत ही विनाशकारी वाइरस रोग है. *1936–44* तक इसका प्रकोप अधिक था किन्तु गहन टीका योजना के परिणामस्वरूप 1949–53 की अवधि मे इसका प्रकोप धीरे-धीरे कम हो गया है. ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारतवर्ष मे कम से कम 4,00,000 गोपशु इस बीमारी से प्रतिवर्ष मौत के घाट उतरते हैं तथा जो पशु इसके प्रकोप के बाद बच जाते है उनका उत्पादन गिर जाता हे. सदूषित पशुओ के द्वारा रोग फैलने के डर से उन देशो मे, जो इस बीमारी से मुक्त हैं, भारतीय पशुओ का निर्यात भी अत्यन्त सीमित है. भारत को प्रति वर्ष इस भयकर रोग से लगभग 30 करोड रुपये की क्षति पहुँचती है.

इस रोग को उत्पन्न करने वाले विपाणुओ को गोपशुओ तथा भैंसो के शरीर मे प्रवधित किया जा सकता है जहाँ यह अपनी पूर्ण उग्रता मे होता हे. अशुद्ध नस्ल के देशी पशुओं की अपेक्षा विशुद्ध नस्लीय अथवा सकर पशु और भैसे इस रोग के प्रति अधिक सुग्राह्य हैं. रोगग्रस्त पशुओ मे मृत्यु दर 8–100% होती है, मैदानी पशुओ मे यह दर 20 से 50% है. जुगाली करने वाले आवारा पशुओ को भी यह बीमारी लगती हैं और वे इसे स्थायी रूप मे फैलाते रहते है

लार, आँख तथा नाक मे गिरने वाले स्राव और मल-मूत्र मे इस रोग का विपाणु प्रमुख रूप से पाया जाता है. यह ज्वरावस्था मे शरीर के अन्दर चक्कर लगाने वाले रक्त मे पाया जाता है और वाद मे यह प्लीहा, लसीका ग्रन्थियो तथा यकृत जैसे अगो मे एकत्रित हो जाता है. सदूपित चारा एव पानी के माध्यम से ही यह बीमारी अधिकतर फैलती हे सदूपित वायु या पात्र तथा परिचारक भी रोग फैलाने मे सहायक होते है

रोगग्रस्त पशु सुस्त दिखायी पडता हे, उसकी आँखे लाल हो जाती ह, उनसे पानी बहता हे तथा थूथन सूख जाती है पशु को वज्ज हो जाता तथा वह खाना-पीना छोडकर पीठ टेढी करके खडा होता है और उसके शरीर मे कम्पन होता है. इन लक्षणो के प्रकट होने के वाद पशु को वदवूदार तथा खून मिले तेज दस्त आने लगते है. 7वे से 9वे दिन पशु के तालू, मसूडो तथा भीतर की ओर होठो पर छाले पड जाते हैं जो इस बीमारी के विशेष लक्षण है. ऐसे ही छाले अतडी की दीवाल पर भी पड जाते हैं. मुह मे पडे छालो के कारण पशु चारा-दाना नही खा पाता और तेज दस्तो के कारण वह निरन्तर कमजोर होता चला जाता है. इससे पशु का अस्थि-पजर मात्र रह जाता है और 7–10 दिनो मे उसकी मृत्यु हो जाती हे

रोगग्रस्त पशु को शीघ्रातिशीघ्र अन्य पशुओं से अलग करके उसे प्रति पशु-प्लेग सीरम का टीका लगाना चाहिये. स्वस्थ पशुओ को उपर्युक्त वैक्सीन का टीका लगाकर इस रोग से बचाया जा सकता है रोगी पशु के सम्पर्क मे आये हुये सभी पशुओ को सीरम का टीका लगाना चाहिये

प्रति पशु-प्लेग सीरम प्रभाववश्य पशुओं की 10 से 14 दिन तक अस्थायी प्रतिरक्षा करता है अत. सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिये उन्हे फिर से टीका लगाना चाहिये

वकरी-विषाणु वैक्सीन, जिसे 1926 मे गोपशुओ के वाइरस को वकरी के तन्तुओ मे सवधित करके तैयार किया गया था, भारतीय गाय-भैसो मे वहुत ही हल्के प्रकार की बीमारी उत्पन्न करने की क्षमता रखता है और इससे लगभग 12 वर्ष के लिये पशुओ की रोग-प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है.

खरगोशो से तैयार किया गया वैक्सीन अत्यधिक प्रभाववश्य गाय-भैसो मे बहुत ही हल्की प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है और पशुओ की कार्य-क्षमता एव दुग्धोत्पादन पर कोई कुप्रभाव नही डालता. इसका टीका लगाने से पशुओ मे चार वर्ष के लिये रोग-प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है. वकरी-विपाणु वैक्सीन की तुलना मे इसे कुछ कम समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है.

पक्षीय वाइरस वैक्सीन, जिसे रोगोत्पादक विपाणु को मुर्गी के अण्डे मे सवधित करके तैयार किया गया है, उन पशुओ पर प्रयुक्त किया गया जिनके लिये अकेला वकरी-विपाणु वैक्सीन अनुकूल नही था. इस वैक्सीन को वहुत ही कम ताप (–40°) पर भण्डारित करना पडता है और इसका परिवहन वहुत ही कठिन होता है.

भारतीय पशुओ के लिये वकरी-वैक्सीन अधिक उपयुक्त पाया गया है. यूरोपीय तथा सकर पशु और भैसो को जिनमे इसके प्रयोग से तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, खरगोशीय अथवा पक्षीय वैक्सीन का टीका दिया जा सकता है इन तीनों वैक्सीनो की प्रतिरक्षा उत्पन्न करने की क्षमता वनाये रखने तथा आसानी से लाने-ले जाने के उद्देश्य से इनका हिम-शुष्कन और टीका लगाने के लिये इनकी मात्रा का भी मानकीकरण कर दिया जाता है. अत्यधिक सवेदनशील पशुओ मे तथा अधिक काल की गर्भावस्था मे इस टीके का प्रयोग नही करना चाहिये.

प्रभाववश्य पशु पशु-प्लेग वाइरस को बनाये रखने में महत्व-पूर्ण कड़ी का काम करते हैं. भारत सरकार ने इस रोग को देश से समूल नष्ट करने के लिये एक योजना बनायी है जिसके अन्तर्गत 7.53 करोड़ पशुओं को पशु-प्लेग से बचाने के लिये टीके लगाने का लक्ष्य रखा गया है. इस कार्य के लिये मैदानी गोपशुओं तथा भैंसों में बकरी-विषाणु वैक्सीन तथा अत्यधिक प्रभाववश्य पशुओं में खरगोशीय अथवा खरगोशीय-पक्षीय वैक्सीन का प्रयोग किया जाता है.

खुरपका-मुंहपका रोग अथवा **ऐप्थस ज्वर** (अन्य नाम–मुँखुर, मुह की बीमारी, मुह-पान की बीमारी, खुरपका, खुरिया, रोरा, खोरा) बहुत ही सक्रामक रोग है जिसे मुह तथा खुरों पर और बहुधा दुधारू पशुओं के अयन एवं थनों पर पड़े हुये छालों द्वारा पहचाना जाता है. यह गोपशुओं की सामान्य बीमारी है और देश में अपेक्षाकृत हल्के रूप में फैलती है. यह प्राय: सभी आयु के पशुओं को प्रभावित करती है और अधिक घातक नहीं होती. छोटे बछड़ों में मृत्यु दर अधिक होती है किन्तु समस्त रोगग्रस्त बछड़ों में से आमतौर पर 2–5% से अधिक नहीं मरते. यह रोग वर्षपर्यन्त किसी भी मौसम में प्रकोप कर सकता है और इससे प्रतिवर्ष देश की लगभग 40 करोड़ रुपये की क्षति होती है. रोग के प्रकोप में पशु के उत्पादन तथा कार्यक्षमता पर कुप्रभाव पडता है और पशुपालक को आर्थिक क्षति पहुँचती है. गायें स्थायी अथवा अस्थायी रूप से कम दूध देने लगती हैं तथा उनकी प्रजनन शक्ति का ह्रास होता है. रोगग्रस्त नर पशुओं की कार्यक्षमता कम हो जाती है.

यह बीमारी प्राय: परोक्ष सम्पर्क द्वारा अथवा अपरोक्ष रूप में सदूषित पानी, खाद, चारा तथा चरागाहों द्वारा फैलती है. पशु-परिचारकों के गदे हाथ तथा कपड़े और चूहे तथा पक्षी भी इस रोग के फैलाने के सहायक बनते हैं. यह रोग एक विषाणु द्वारा फैलता है जो कई रूपों में पाया जाता है. इसके कम से कम चार प्ररूप 'ए', 'ओ', 'सी', तथा 'एशिया आई' तथा कई चर और उप-प्ररूप भी अलग किये गये हैं. इनमें से 'ओ' प्ररूप का प्राधान्य प्रतीत होता है. ज्वर तथा जीभ एव मुह में पड़े हुये दर्दयुक्त छालों द्वारा इस बीमारी का निदान किया जाता है. उसी समय खुरों के पास पैरों की त्वचा पर भी छाले पड जाते हैं. इस रोग का विषाणु आन्तरिक अगों को क्षति पहुँचाने की भी क्षमता रखता है जिससे शरीर-क्रियात्मक गडबडियां उत्पन्न हो सकती हैं. बहुत ही छोटे बछडों में यह बीमारी प्राणघातक सिद्ध होती है अन्य पशु समुचित देखभाल करने से 3 से 4 सप्ताह में अच्छे हो जाते हैं.

अभी तक 'ओ' प्ररूप के वाइरस के सदूषण के प्रति बचाव अथवा रोगहारी ओषधि की खोज नहीं हो पायी है. स्थानिक महामारी होने के कारण इसे टीके द्वारा वश में लाया जा सकता है. इस टीके का प्रभाव 6–12 माह तक रहता है. बाह्य क्षतों की चिकित्सा कोलतार तथा कापर-सल्फेट मिश्रण (5:1) द्वारा की जाती है.

रोगग्रस्त पशुओं का वध करने की प्रथा भारतवर्ष में नहीं है. रोग नियंत्रण हेतु सफाई तथा अन्य उपाय अपनाने के साथ-साथ 'एफ्थीकरण' की विधि अपनायी जाती है जिसमें रोगी पशु की लार लेकर एक रुई के फाहे द्वारा उसके सम्पर्क में आये हुये तथा निकटवर्ती समस्त स्वस्थ पशुओं के मसूड़ों पर मल दी जाती है. इस प्रकार बीमारी को शीघ्र ही फैलाकर सामूहिक रूप से उस पर काबू पा लिया जाता है.

इस बीमारी के लिये उपयुक्त बहुसयोजक वैक्सीन विकसित करने के लिये देश में पहले से शोधकार्य चल रहा है. भारतवर्ष में इस बीमारी के बचाव के प्रति अण्डे में उगाये गये वाइरस अथवा चूहे के मस्तिष्क में उगाये गये वाइरस का टीका देना काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है. प्रयोगशाला एव मैदानी परिस्थितियों में परीक्षित क्रिस्टल वायलेट वैक्सीन कम से कम पन्द्रह महीने की प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है. इस वैक्सीन को सरलतापूर्वक तैयार और सान्द्रित किया जा सकता है.

बैक्टीरियाजन्य रोग–हैमोरेजिक सेप्टीसीमिया अथवा पास्तु-रेला रुग्णता (अन्य नाम–गलघोंटू, घुर्रका, घोटू, गरगती, घैररिवा) भैंसों तथा गोपशुओं की अत्यन्त जानलेवा बीमारी है और भारतवर्ष में इसका अत्यन्त प्रकोप होता है. इस बीमारी से प्रतिवर्ष लगभग 40,000 गोपशुओं तथा भैंसों की मृत्यु होती है. जिससे राष्ट्र को एक करोड़ रुपये की हानि होती है. बरसात एव जाड़ों में होने वाली वर्षा के परिणामस्वरूप जिन तराई के भागों में समय-समय पर पानी भर जाता है वहा इसका प्रकोप अधिक होता है. यह गाय-भैंसों का विशिष्ट रोग है और अन्य पशुओं एवं मनुष्यों को इसकी छूत नहीं लगती. भैंसे बहुधा इसकी शिकार होती हैं.

भैंसों की यह बीमारी **पास्तुरेला सेप्टिका** द्वारा उत्पन्न होती है. पूर्णतया स्वस्थ दिखायी देने वाले कुछ पशु भी इन जीवाणुओं को अपनी ऊपरी श्वास नली में छिपाये रखते हैं और उपयुक्त मौसम होने पर इन्ही स्वस्थ वाहकों द्वारा रोग प्रारम्भ होता है, फिर एक पशु से दूसरे पशु में फैलता जाता है और इस प्रकार के अटूट गमनागमन से पशुओं के शरीर के जीवाणुओं में उग्रता आ जाती है. यह बीमारी तीन रूपों में फैलती है: उग्र, शोफ तथा फुफ्फुसशोथ. रोग की उग्र अवस्था में पशु को तेज बुखार चढ़ता है और लक्षण प्रकट होने के 24 घटे के अन्दर पशु मर जाता है. शोफ अवस्था में पशु के गले पर सूजन आ जाती है जिससे पशु को साँस लेने तथा निगलने में कठिनायी होती है. ऐसे पशुओं की मृत्यु दर 70–100% होती है. फुफ्फुसशोथ (न्युमोनिया) अवस्था प्राय: बछडों में देखने को मिलती है.

तेज बुखार तथा कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास के साथ शारीरिक क्लेश द्वारा इस बीमारी का निदान किया जाता है. गले तथा उसके निकटतम भागों पर सूजन आ जाना इस बीमारी का प्रमुख लक्षण है. जैसे-जैसे बीमारी बढ़ती जाती है पशु को साँस लेने में कठिनायी होती है, उसकी आँखें सूज जाती हैं और जीभ बड़ी होकर काली पड़ जाती है. बीमारी के प्रकोप के बाद एक या दो दिन तक जो पशु जीवित रह जाते हैं उनके पेट में दर्द होने लगता है और खून मिले हुये तेज दस्त आने लगते हैं. साथ ही उनमें कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास के साथ ब्राकोन्यूमोनिया के लक्षण भी दिखायी पडते हैं. कुछ क्षेत्रों में यह बीमारी अत्यधिक फैलती है और प्रतिवर्ष वर्षा प्रारम्भ होते ही इसका प्रकोप होता है. रोग की प्रारम्भिक अवस्था में सल्फा-ओषधियों के प्रयोग से पशु को बचाया जा सकता है. किन्तु अल्पकालिक तथा प्राणघातक होने के कारण हर एक पशु की चिकित्सा कर सकना सम्भव नहीं हो पाता. इस कारण प्रभाववश्य क्षेत्र के समस्त पशुओं को वर्षा प्रारम्भ होने से पूर्व बचाव का टीका देकर इस बीमारी पर नियंत्रण रखा जाता है.

गोपशुओं में इस बीमारी के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिये भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान में 1953 में एक तैलीय वैक्सीन तैयार किया गया. व्यावसायिक मांस निष्कर्ष

वैक्सीन की तुलना में यह वैक्सीन अधिक प्रतिरक्षा उत्पन्न करने की क्षमता रखता है. इस कारण भारतवर्ष में इसका बहुतायत से प्रयोग होता है और इससे परिणाम भी अच्छे मिले हैं. इससे पशु के शरीर मे लगभग 27 मास के लिये प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है. यह वैक्सीन अधिक काल तक रखा जा सकता है और भण्डारण की सामान्य परिस्थितियों में एक वर्ष तक खराब नहीं होता. रेल तथा सड़क द्वारा परिवहन की साधारण परिस्थितियों मे इसे सरलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजा जा सकता है और दस दिन के परिवहन काल में इसमें कोई खराबी नहीं आती.

रावर्टस प्ररूप 1 से मिलते-जुलते **पास्तुरेला सेप्टिका** (फलक I) के विलेय ऐण्टीजन के रासायनिक निष्कर्षण पर हाल ही में भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान द्वारा जो कार्य हुआ है उससे विशुद्ध संपुटिक प्रोटीन का पृथक्करण सम्भव हो गया है. इसकी 500 मिग्रा. मात्रा पहाड़ी साँड़ों में 1.5 वर्ष के लिये रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न करती है. पशु के कद के अनुसार इस वैक्सीन की मात्रा 2–4 मिली. है. बीमारी की अवस्था देखते हुये 15 मिली. अथवा अधिक मात्रा में सीरम दिया जा सकता है.

लँगड़िया अथवा लँगड़ी (अन्य नाम – सुजवा गरही, जहरवाद, इकटैकिया गोली) भारतीय गोपशुओं की प्रमुख महामारी है जो विशेषत: मैसूर, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र के पशुओं में अधिक (85%) प्रकोप करती है. नये गोपशु विशेष रूप से इसके शिकार बनते हैं. 6 माह से लेकर 3 वर्ष तक की आयु वाली भेड़ों में भी यह रोग खूब फैलता है. भैंसों में इसका बहुत हल्का प्रकोप होता है. वर्षा प्रारम्भ होने के साथ ही इस बीमारी का प्रकोप चालू होता है. भारतवर्ष में इस महामारी से प्रतिवर्ष लगभग 21,500 पशुओं की मृत्यु हो जाती है. जिन पशुओं को यह बीमारी एक बार हो जाती है उन्हें दुबारा इसकी छूत नहीं लगती.

अधिकांशत: यह बीमारी **क्लास्ट्रीडियम शोवोई** तथा कभी-कभी **क्लास्ट्रीडियम सेप्टिकम** नामक जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होती है. संदूषित चारा अथवा मिट्टी से इस बीमारी के जीवाणुओं के स्पोर मुंह से होकर पशु के शरीर में प्रविष्ट होकर इसकी छूत फैलाते हैं. शरीर पर लगे हुये घाव अथवा चोट से भी ये जीवाणु शरीर में पहुँच सकते हैं. इस बीमारी के जीवाणु स्पोर दीर्घकाल तक बिना लक्षण प्रकट किये पशु शरीर में छिपे रह सकते हैं.

यह बीमारी प्राय: उग्र अवस्था में प्रकोप करती है तथा रोगग्रस्त पशु बीमारी के लक्षण प्रदर्शित करने के बाद 48 घंटे के अन्दर मर जाता है. पशु को तेज बुखार चढ़ता है और उसके एक पुट्ठे (अधिकतर पिछले) पर सूजन आ जाती है. यह सूजन तनावपूर्ण, तीक्ष्ण, गर्म तथा दर्दयुक्त होती है. सूजन कुहनी के पास से प्रारम्भ होकर बाद में कंधे तथा गर्दन तक फैल जाती है. कुछ ही घंटों में सूजन काफी बढ़ी हुयी जान पड़ती है. मृत्यु से तुरन्त पहले सूजन ठंडी तथा वेदनारहित हो जाती है तथा उसमें गैस रहने के कारण दबाने पर चुर-चुर की आवाज होती है. रोगग्रस्त ऊतकों में सड़े मक्खन जैसी खट्टी गंध आती है. भीतरी अंग रक्त-संकुलित हो जाते हैं. रोगग्रस्त ऊतकों के मांस निष्कर्ष से काँच की स्लाइड पर बनाये गये लेप में रोग के जीवाणु और स्पोर देखने को मिलते हैं. निश्चित निदान के लिये हवा में सुखाये गये रोगग्रस्त मांस के टुकड़ों की जांच करनी चाहिये.

रोगोत्पादक जीवाणुओं के स्पोर से मिट्टी के संदूषित होने तथा बीमारी को फैलने से बचाने के लिये रोगग्रस्त पशु के शव को गहरे गड्ढे में दाबकर ऊपर से चूना डाल देना चाहिये या उसे जला देना चाहिये.

भारतवर्ष मे 1934 में दोनों जीवाणुओं के सम्वर्ध के फार्मेलीनयुक्त मिश्रण से एक बहुसंयोजक वैक्सीन तैयार किया गया. लँगड़िया के ऐंटीसीरम का टीका देने से लगभग दो सप्ताह की अर्जित प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है. वर्षा प्रारम्भ होने के 3–4 सप्ताह पूर्व ही पशुओं को इस बीमारी से बचाव के टीके लगाना चाहियें. भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान द्वारा तैयार तथा वितरित किया जाने वाला वैक्सीन **क्लास्ट्रीडियम शोवोई** एवं **क्लास्ट्रीडियम सेप्टिकम** के संदूषण के प्रति प्रभावकारी है.

ऐंथ्रैक्स अथवा प्लीहा ज्वर (अन्य नाम – गरही, गोली, गिल्टी) भारतीय गोपशुओं का सुविख्यात रोग है. इस बीमारी से प्रतिवर्ष लगभग 4,790 गोपशुओं तथा भैंसों की मृत्यु हो जाती है और यह पूरे देश में प्रकोप करती है लेकिन कुछ क्षेत्रों में इसका प्रकोप अधिक होता है. गोपशु विशेष रूप से इसके शिकार होते हैं जिनमें यह उग्र रक्तपूतिता उत्पन्न करती है. भेड़ तथा बकरी जैसे अन्य पशु भी अक्सर शिकार होते हैं. भैंसों मे यह बीमारी अधिक नहीं होती. ग्रस्त पशु अथवा खाल, बाल जैसे उनसे प्राप्त होने वाले पदार्थ अपने में ऐंथ्रैक्स के रोगोत्पादक जीवाणु स्पोर लिये रहते हैं जिनके सम्पर्क में आने पर मनुष्यों में रोग फैलता है.

यह रोग **बैसिलस ऐंथ्रैसिस** नामक जीवाणुओं द्वारा फैलता है जो शोथयुक्त तन्तुओं अथवा रक्त नलिकाओं में शीघ्र प्रवर्धित हो जाते हैं. ऐंथ्रैक्स स्पोर अत्यन्त प्रतिरोधी होते हैं तथा इन्हें ताप एवं जीवाणुनाशी पदार्थों द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता. बैसिलस के स्पोर से संदूषित चारे तथा पानी द्वारा इस रोग की छूत फैलती है. एक पशु से दूसरे पशु को प्रत्यक्ष रूप से यह रोग बहुत कम लगता है.

यह बीमारी अति उग्र, उग्र या कम उग्र अवस्थाओं में प्रकोप कर सकती है. रोग की अति उग्र अवस्था में पशु की एकाएक मृत्यु हो जाती है और उसके मुँह, नथुनों तथा गुदा मार्ग से रक्त मिश्रित झागदार स्राव निकलता है. बीमारी की अन्य दो अवस्थाओं में अत्यधिक पीड़ा के लक्षणों के साथ पशु को तेज बुखार रहता है. पशु एकाएक गिर कर मर जाता है.

ऐंथ्रैक्स के क्षत अत्यन्त लाक्षणिक होते हैं: पशु का शव शीघ्र ही सड़ने लगता है, पेट फूल जाता है तथा गुदा एवं योनि के भाग बाहर को निकले प्रतीत होते हैं; प्लीहा तथा लसीका पर्व बढ़ जाते हैं. मरे हुये पशु के शव की चीड़फाड़ नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसके रक्त एवं अन्य शारीरिक द्रव पशुओं तथा मनुष्यों में बीमारी फैलाने का माध्यम हैं. बिना जीवाणुरहित की गयी हड्डियों से बनाया गया अस्थि-चूर्ण तथा ऐसे पशुओं की खाल भी काफी हानिकर होती है.

रोग के उग्र प्रकार एवं उसके परिणामस्वरूप पशु की शीघ्र मृत्यु हो जाने के कारण प्राय: चिकित्सा संभव नहीं हो पाती. रोग की प्रारम्भिक अवस्था में सल्फा-ओषधियों द्वारा पशु की चिकित्सा की जा सकती है.

1941 में भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान में बैसिलस ऐंथ्रैसिस की एक अनुग्र प्रकारान्तर प्रजाति निकाली गयी. तब से इस प्रजाति से तैयार किया गया एक जीवित स्पोर वैक्सीन इस देश में पशुओं में ऐंथ्रैक्स के प्रति रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिये बहुतायत से प्रयुक्त होता रहा है और इससे काफी अच्छे परिणाम मिले हैं. स्पोर वैक्सीन लगभग 6 दिन में अच्छी प्रतिरक्षा

उत्पन्न करता है जो लगभग एक वर्ष तक बनी रहती है. टीका लगाने के बाद पशु का ताप बढ़ता है एवं स्थानीय प्रतिक्रिया होती है.

भारतवर्ष में प्रभाववश्य क्षेत्रों में वर्षा प्रारम्भ होने से एक या दो माह पूर्व प्रतिवर्ष समस्त पशुओं को ऐंथ्रैक्स स्पोर वैक्सीन का टीका तथा संदूषित यूथ के पशुओं को ऐंटी-ऐंथ्रैक्स सीरम का टीका लगाकर इस बीमारी के प्रकोप पर नियंत्रण रखा जाता है.

यक्ष्मा रोग (अन्य नाम—सूखा, क्षय) गोपशुओं का एक दीर्घकालिक एवं क्षयकारी रोग है. पशुओं में क्षय रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु का गो-जातीय प्ररूप भैंसों, भेड़-बकरियों तथा ऊँटों में भी रोग फैलाते देखा गया है. यह पुराना विचार कि पशुओं में क्षय रोग विरले ही होता है, अब गलत लगता है, क्योंकि पिछले दो दशकों के सर्वेक्षण से यह प्रदर्शित होता है कि देश के कुछ यूथों में यह बीमारी खूब व्याप्त है तथा पंजाब और महाराष्ट्र के प्रदेशों में इस रोग का प्रकोप काफी अधिक है. उत्तरी भारत के कुछ पशुधन फार्मों पर भी यह बीमारी काफी फैलती है. दक्षिणी भारत में इस रोग का प्रकोप काफी कम है. गोपशुओं की अपेक्षा भैंसों में यह बीमारी अधिक होती है तथा नये पशुओं की तुलना में प्रौढ़ गोपशु इसके अधिक शिकार होते हैं.

क्षय रोग का जीवाणु किसी भी मार्ग द्वारा शरीर में प्रवेश पा सकता है. दूध पीने वाले बछड़ों को इसकी छूत गाय के संदूषित अयन द्वारा लगती है. गायों में अयन का संदूषण काफी अधिक होता है और अयन के संदूषित न होने पर भी इस रोग का जीवाणु दूध के द्वारा संदूषण कर सकता है. भारतवर्ष में क्षय रोग से ग्रस्त अधिकांश गोपशुओं में क्षत प्रायः श्वसनी एवं मध्य-स्थानिका लसीका पर्वों में होते हैं. देखने में ये पर्व बड़े हुये प्रतीत होते हैं और उनमें कैल्सियम लवण निक्षेपयुत पनीर जैसा गाढ़ा-गाढ़ा पदार्थ भरा रहता है.

ग्रस्त अंग एवं उसमें हुयी क्षति के अनुसार रोग के लक्षणों में काफी विभिन्नता देखने को मिलती है. फेफड़े के क्षय में पशु को विरामी अथवा अल्प विरामी ज्वर तथा सूखी खांसी आती है और धीरे-धीरे उसका शरीर क्षीण होता चला जाता है. अँतड़ी के क्षय रोग में पशु को लगातार पतले दस्त आते हैं. अयन के क्षयग्रस्त होने पर वह बढ़ा हुआ प्रतीत होता है तथा उससे निकलने वाला दूध पानी जैसा पतला होता है. रोग की अवधि कुछ महीनों से लेकर वर्षों तक की हो सकती है.

इस रोग का निदान ट्युबर्क्युलिन-परीक्षण द्वारा किया जाता है. 3 मिली. साधारण ट्युबर्क्युलिन का त्वचा के नीचे टीका देकर अवत्वक-जाँच की जाती है. क्षय रोग से ग्रस्त पशु में ट्युबर्क्युलिन का टीका देने के 9–12 घंटे के अन्दर ताप कम से कम 1.1° से. बढ़ा हुआ मिलता है. असंदूषित पशु में ऐसी प्रतिक्रिया नहीं होती. इस परीक्षण को प्रायः रोग के सही निदान के लिये अपनाया जाता है. आजकल भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान में ट्युबर्क्युलिन का बड़े पैमाने पर निर्माण किया जाता है.

यदि किसी छोटे गोवृन्द में क्षय रोग की बीमारी फैल रही हो तो उसके समस्त पशुओं का ट्युबर्क्युलिन-परीक्षण करके प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशुओं को यूथ से निकाल देना चाहिये. बड़े यूथों में बैंग-विधि अधिक प्रयुक्त होती है जिसके अन्तर्गत क्षय रोग के लक्षण प्रदर्शित करने वाले सभी पशुओं को यूथ से निकाल दिया जाता है तथा प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग रखा जाता है. स्वस्थ पशुओं की समय-समय पर जाँच की जाती है और उनका एक अलग समूह बना लिया जाता है. क्षय रोग से ग्रस्त मादाओं के बछड़े जन्म के समय प्रायः इस बीमारी से मुक्त होते हैं अतः उनको जन्म लेने के तुरन्त बाद मां से विलग करके उनका पालन-पोषण करना चाहिये. 6 माह की आयु पर यदि ये बछड़े ट्युबर्क्युलिन-परीक्षण नहीं देते तो इन्हें स्वस्थ पशुओं के यूथ में मिला लिया जाता है. इस विधि द्वारा प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशु धीरे-धीरे यूथ से निकलते जाते हैं तथा निरोग पशुओं की संख्या में वृद्धि होकर स्वस्थ यूथ तैयार हो जाता है. फिनलैंड, अमेरिका आदि देशों में अपनायी जाने वाली जाँच तथा वध की नीति भारतवर्ष में नहीं लागू की जा सकती, क्योंकि कुछ क्षेत्रों में ट्युबर्क्युलिन-परीक्षण के प्रति धनात्मक परीक्षण देने वाले पशुओं की संख्या उच्च है और उनके विनाश से कार्यभारी बैलों और दूधवाली गायों की संख्या में विशेष कमी आ जावेगी. इसके अतिरिक्त अधिकांश धनात्मक पशुओं में वर्षों तक इस बीमारी की प्रगामी अवस्था का विकास भी नहीं हो पाता है.

क्षय रोग में चिकित्सा का बहुत ही कम महत्व है. अत्यधिक संदूषित यूथों में बीमारी पर नियंत्रण रखने के लिये बी. सी. जी. का टीका देना लाभप्रद है, किन्तु इसके प्रयोग की सामान्यतः स्वीकृति इसलिये नहीं दी जाती कि टीका लगे पशु ट्युबर्क्युलिन-परीक्षण के समय प्रतिक्रिया करते हैं जिससे वास्तविक रूप से रोग ग्रस्त पशुओं के साथ इनकी भ्रान्ति हो जाती है.

जोन रोग (अन्य नाम—पैरा ट्युबर्क्युलोसिस, असत क्षय रोगी आंत्रार्ति, बाह, दस्त)—भारतवर्ष में गोपशुओं की एक संक्रामक बीमारी है जिसे दीर्घकालिक प्रवाहिका एवं शारीरिक क्षीणता के लक्षणों द्वारा पहचाना जाता है. **माइकोबैक्टीरियम पैराट्युबर्क्युलोसिस** अथवा जोन बैसिलस के अंतड़ी पर आक्रमण करने से इस बीमारी का प्रकोप होता है. ऐसा कहा जाता है कि यह बीमारी भारतवर्ष में विदेशों से आयात किये गये पशुओं से आयी और अब देश के अनेक पशुधन फार्मों में प्रकोप करती है. ग्रामीण क्षेत्र के पशुओं में यह बीमारी बहुत ही कम देखने को मिलती है. सभी नस्लों के गोपशु, भैंसें, भेड़-बकरियाँ तथा जंगली पशु इसके प्रति प्रभाववश्य होते हैं.

जीवाणुओं से संदूषित चारा खाने अथवा तालाब का गंदा पानी पीने से पशुओं में इसकी छूत फैलती है. यद्यपि यह बीमारी सभी आयु वाले पशुओं को होती है किन्तु नयी गायें इसकी अधिक शिकार होती हैं. रोगग्रस्त पशु बिना लक्षण प्रदर्शित किये ही शरीर से जीवाणुओं को निकालते रहते हैं जो अन्य स्वस्थ पशुओं में संक्रमण फैलाते हैं.

हल्की अपच से प्रारम्भ होकर तेज तथा रुक-रुक कर दस्त आना, शारीरिक क्षीणता तथा जबड़े के नीचे सूजन आदि लक्षणों के साथ बीमारी का विकास होता है. बढ़ती हुयी शारीरिक क्षीणता के साथ पशु निरन्तर कमजोर होता चला जाता है और अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है. रोगग्रस्त पशु बाहर से पूर्णतया स्वस्थ दिखायी पड़ सकता है. ऐसे पशु में ब्याने के बाद इस बीमारी के लक्षण प्रकट होते हैं. जोन रोग से ग्रसित पशुओं की प्रायः मृत्यु होजाती है किन्तु कुछ पशु अच्छे भी होते देखे गये हैं.

जोनिन-परीक्षण द्वारा इस बीमारी का सही-सही निदान किया जाता है. इसमें पशु को जोनिन नामक नैदानिक ऐंटीजन का अंतःत्वचा टीका लगाया जाता है. रोगग्रस्त पशु में इसके प्रयोग से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है. स्लाइड पर लेप बनाकर तथा क्षत के पदार्थ को अनुवीक्षण यंत्र द्वारा देखकर इस रोग के जीवाणुओं को पहचाना जा सकता है.

यह रोग रोगी पशु के मल द्वारा तथा चारा तथा पानी के संदूषित होने से ही फैलता है, अतः रोगग्रस्त पशु को स्वस्थ पशुओं से तत्काल ही अलग कर देना चाहिये तथा उसके मल-मूत्र को हटाने का उचित प्रबन्ध करना चाहिये.

इस बीमारी में रोगहर चिकित्सा बिल्कुल प्रभावकारी नहीं है. 5-10 मिली. की मात्रा मे जोन बैसिलस के जीवित संवर्ध का पशु में अवत्वक टीका देकर इस बीमारी के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न की जा सकती है. जोन बैसिलस के जीवित संवर्ध को लैनोनिन जैसे उपयुक्त क्षारक में मिलाकर रखा जाता है जिससे टीका लगाने के बाद ये जीवाणु शरीर के अन्दर न पहुँचकर उसी स्थान पर एकत्रित रहते हैं जहाँ पर टीका लगाया जाता है. जब तक सूजन रहती है ऐसे पशु बीमारी के प्रति सहनशक्ति बनाये रखते हैं. इस टीके की एकमात्र त्रुटि यह है कि ऐसे पशु जोनिन के अतिरिक्त ट्यूबर्क्युलिन-परीक्षण के प्रति भी प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने लगते हैं जिससे क्षय रोग की सही जाँच करने में कठिनायी उत्पन्न होती है.

गोजातीय थनैली, अयन की सूजन, तथा उसके परिणामस्वरूप अयन के तन्तुओं एवं उससे निकलने वाले दूध में होने वाले परिवर्तनों द्वारा पहचानी जाती है. यह बीमारी अधिकतर एकाएक प्रकोप करती है और भारतवर्ष के अधिकांश गो-वृन्दों में पायी जाती है.

रोगोत्पादक जीवाणुओं के आधार पर इस बीमारी के तीन प्रकार हैं: उग्र, कुछ उग्र तथा दीर्घकालिक. दैहिक विकार, बढ़े हुये ताप तथा ज्वर के अन्य लक्षणों के साथ इसका प्रकोप हो सकता है किन्तु इसमें प्रायः अयन पर सूजन होने से अधिकतर उसके तन्तुओं की धीरे-धीरे क्षति होती है. दूध की मात्रा तथा गुण दोनों पर ही कुप्रभाव पड़ता है. स्थायी रूप से एक अथवा अधिक थन मारे जाने से पशु बिल्कुल ही दूध देना बंद कर देता है. गायें तथा भैंसें दोनों ही इस बीमारी से ग्रसित होती रहती है.

अधिकतर यह बीमारी **स्ट्रेप्टोकोकाइ** तथा **स्टैफिलोकोकाइ** जीवाणुओं द्वारा होती है, किन्तु, **कोराइनेबैक्टीरियम पायोजीन्स, बैक्टीरियम कोलाइ, स्यूडोमोनास एरुजिनोसा** तथा कुछ अन्य जीवाणु भी इसमें भाग लेते देखे गये हैं. लगभग 95% पशु रोगोत्पादक **स्ट्रेप्टोकोकाइ** एवं **स्टैफिलोकोकाइ** जीवाणुओं द्वारा ही रोगग्रस्त होते हैं.

संदूषण के काफी समय बाद ही इस बीमारी के विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं. अधिकांश पशुओं में इसका संदूषण छिपी हुयी अवस्था में बना रहता है. जैसे-जैसे बीमारी बढ़ती है, पशु का दूध खराब होता जाता है और उसमें शल्क, रेशे, रक्त एवं पीव की उपस्थिति हो सकती है. दूध प्रायः पानी जैसा पतला पड़ जाता है और उसमें बड़े-बड़े थक्के मिलते हैं. अयन के ऊतकों का धीरे-धीरे क्षय होने लगता है और वह काफी कड़ा हो जाता है. पशुओं में ऐसी दशा बहुधा ब्याने के तत्काल बाद देखने को मिलती है. **को. पायोजीन्स** द्वारा होने वाली ग्रीष्म थनैली में दूध के गुणों में एकदम परिवर्तन होकर थनों से दुर्गंधयुक्त पीवमय पदार्थ निकलता है.

अयन का भौतिक परीक्षण करके तथा अपरोक्ष रूप से दूध में शल्क, क्षारीयता, लवण एवं श्वेताणुओं की जाँच करके थनैली का पता लगाया जाता है. सबसे विश्वसनीय विधि दुग्ध का जीवाणुवीय परीक्षण होता है.

यदि किसी यूथ के एक पशु में थनैली की बीमारी का पता लगता है तो प्रत्येक पशु के दूध का जीवाणुक परीक्षण करना चाहिये. **स्टैफिलोकोकाइ** की अपेक्षा **स्ट्रेप्टोकोकस ऐगैलैक्टिए** से संदूषित पशु चिकित्सा से जल्दी ठीक हो जाते हैं. अयन से कुल दूध निकाल देने के बाद चार दिन तक नित्य प्रति उसमें 50 मिली. आसुत जल में विलयित 10,00,000 यूनिट प्रोकेन पेनिसिलिन-जी का अन्तःस्तनीय इंजेक्शन देना अधिक गुणकारी है.

स्टैफिलोकोकस ऑरियस, स्ट्रेप्टोकोकस डिस्गैलैक्टिए तथा **स्ट्रेप्टोकोकस यूबेरिस** नामक जीवाणुओं से होने वाली थनैली जो उपर्युक्त चिकित्सा से ठीक नहीं होती, 50 मिली. पानी में विलयित ओषधियों के निम्नलिखित मिश्रण का एक दिन के अन्तर पर दिन में तीन बार अंतःस्तनीय टीका लगाने पर ठीक हो जाती है. प्रोकेन पेनिसिलिन-जी 1,00,000 यूनिट; डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन, 100 मिग्रा.; सोडियम सल्फामेज़थीन (33.5%), 5 मिली.; कोबाल्ट सल्फेट, 5 मिग्रा. लगभग 75% पशुओं में यह चिकित्सा प्रभावकारी पायी गयी है.

कोराइनेबैक्टीरियम पायोजीन्स द्वारा होने वाली थनैली किसी जीव विषाभ के साथ संयोजित होकर उपर्युक्त मिश्रण द्वारा ठीक की जा सकती है.

संक्रामक गोजातीय गर्भपात अथवा **ब्रुसेलोसिस** देश के समस्त संगठित पशुधन फार्मों पर प्रकोप करने वाली प्रमुख बीमारी है. पशुओं की नस्ल, फार्म की सफाई तथा स्थानीय जलवायु के अनुसार इस बीमारी का आवेग भिन्न यूथों में भिन्न-भिन्न होता है. अर्ध-रेगिस्तानी क्षेत्रों में इस बीमारी का प्रकोप नहीं के बराबर तथा नमीयुक्त क्षेत्रों में काफी अधिक होता है.

सामान्यतः गाय-भैंसों में होने वाली यह बीमारी बैंग बैसिलस, **ब्रुसेला एबार्टस** द्वारा उत्पन्न होती है. बच्चों की मृत्यु, दुग्धोत्पादन में कमी तथा गर्भपात करने वाले पशुओं के स्थायी अथवा अस्थायी रूप से बाँझ हो जाने के कारण इस बीमारी से काफी आर्थिक क्षति पहुँचती है.

सामान्यतः गर्भपात के फलस्वरूप गाय की योनि से निकले स्राव तथा भ्रूण में इस रोग के जीवाणु काफी अधिक संख्या में रहते हैं. इनसे संदूषित चारे अथवा पानी द्वारा इस बीमारी की छूत स्वस्थ पशुओं को लगती है. कभी-कभी मैथुन के समय इस बीमारी की छूत गायों को साँड़ों के अंडकोशों में स्थित परजीवियों के कारण लग जाती है.

यद्यपि गोपशुओं के गर्भपात पर अभी तक कोई विधिवत् सर्वेक्षण नहीं किया गया है, किन्तु विभिन्न नस्ल के गोपशुओं में 20,000 गाभिन गायों के हाल के सर्वेक्षण के अनुसार 530 का गर्भपात हुआ. कुछ नस्लों में गर्भपात की दर 6% तक थी. अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों की तुलना में गर्म तथा शुष्क जलवायु वाले प्रदेशों में इस बीमारी का प्रकोप कम होता है. राजस्थान के मध्यवर्ती क्षेत्रों, उत्तर प्रदेश, तथा मध्य प्रदेश में इस बीमारी का प्रकोप कम होता है जबकि तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा और पंजाब में यह बीमारी अधिक है. रोगग्रस्त क्षेत्रों में इसका कुल अनुमानित प्रकोप लगभग 30% है. कुछ रोगग्रस्त क्षेत्रों में गर्भपात की दर 50% तक देखी गयी है. संदूषित गायों में से अधिकांश का एक बार गर्भपात होता है तथा कुछ में दो अथवा तीन बार गर्भपात हो सकता है. इसके बाद पैदा हुये बच्चे प्रायः ठीक से नहीं बढ़ पाते.

बीमारी की प्रारम्भिक अवस्था में नर तथा मादा पशुओं में इसके कोई विशिष्ट लक्षण नहीं दिखायी पड़ते. जैसे-जैसे संदूषण बढ़ता है, इस रोग के जीवाणु गाय के गर्भाशय, अयन तथा अधिस्तनीय

लसीका पर्व में और नर पशुओं की जनन ग्रन्थियों में एकत्रित होते जाते हैं. सगर्भा गाय का पांचवें से आठवें माह में अपरिपक्व गर्भपात होकर उसके गर्भाशय में असह्य पीड़ा होना इस बीमारी का प्रमुख लक्षण है.

ब्रू. एवार्टस द्वारा संदूषित गायें अपने रक्त-सीरम के साथ धनात्मक समूहन की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती हैं. समूहन परीक्षण के लिये एक कांच की स्लाइड अथवा प्लेट पर गाय के रक्त अथवा सीरम की एक बूंद लेकर अभिरंजित जीवाणु के गाढ़े घोल में मिलायी जाती है. धनात्मक पशुओं में इस परीक्षण के फलस्वरूप कुछ ही सेकण्डों में स्लाइड अथवा प्लेट पर जीवाणु-पुंज बन जाता है. 'दुग्ध वलय परीक्षण' अथवा 'एवार्टस बैंग रिंग प्रोब' (एबैरि) एक साधारण परीक्षण है जिसमें ऐंटीजन की कुछ बूंदें (एक बूंद प्रति मिली. दूध) एक परखनली में रखे हुये दूध में मिलायी जाती है और इस मिश्रण को एक घंटे के लिये 37° ताप पर एक इनक्यूबेटर में रख दिया जाता है. धनात्मक पशुओं में इस जांच के परिणामस्वरूप वसा के कण परखनली में ऊपर आ जाते हैं तथा नीचे एक नीलाभ बैंगनी वलय बन जाता है. इसके विपरीत ऋणात्मक पशुओं में पूरा दूध ही नीला पड़ जाता है किन्तु यह वलय परीक्षण समूहन परीक्षण के समान विश्वसनीय नहीं है.

यूथ में से इस बीमारी के उन्मूलन की दो पृथक्-पृथक् विधियाँ 'परीक्षण एवं अलगाव' तथा 'परीक्षण और संगरोध' हैं. पहली विधि में समय-समय पर सभी पशुओं की समूहन परीक्षा की जाती है और इस प्रकार जो पशु धनात्मक पाये जाते हैं उन्हें यूथ से निकाल दिया जाता है. परीक्षण एवं संगरोध विधि में समूहन-जाँच के प्रति धनात्मक तथा ऋणात्मक पशुओं के दो अलग-अलग यूथ रखे जाते हैं. समय-समय पर समूहन जाँच करने से जो पशु धनात्मक पाये जाते हैं उन्हें धनात्मक यूथ में मिला दिया जाता है. इस प्रकार बीमारी के फैलने पर नियंत्रण रखा जाता है.

शक्ति क्षीण रोगात्मक जीवाणुओं से तैयार किया गया **ब्रुसेला कॉटन स्ट्रेन-19** वैक्सीन का टीका देने से पशुओं में रोग के प्राकृतिक संदूषण के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है. इस वैक्सीन का 5 मिली. का अवत्वक टीका लगाया जाता है. इस वैक्सीन का पूंछ के नीचे अथवा अंतःत्वक टीका लगाना भी गुणकारी पाया गया है. प्रायः 6 माह से 1 वर्ष तक के बछड़ों को ही यह टीका लगाया जाता है जिसके परिणामस्वरूप होने वाली प्रतिरक्षा अधिक सक्षम एवं विश्वसनीय होती है. प्रौढ़ गायें इस टीके के प्रति अधिक अच्छी प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती हैं जिससे उनमें बीमारी के प्रकोप में शीघ्र कमी आ जाती है. कार्य करने वाले नर पशुओं को भी यह टीका दिया जा सकता है किन्तु प्रजनन के लिये रखे गये साँड़ों में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता. रोगग्रस्त साँड़ों को बधिया करके बैलों की तरह काम में लाना उत्तम होता है.

ब्रुसेला कॉटन स्ट्रेन-19 से बछड़ों को टीका देने का मुख्य उद्देश्य टीका लगे बछड़ों का एक ऐसा यूथ तैयार करना है जिसमें संक्रामक गर्भपात रोग के प्रति सहनशक्ति हो जिससे संदूषित पशुओं को निकाल देने के बाद रोगरहित यूथ तैयार हो सके. ब्रुसेला कॉटन स्ट्रेन-19 वैक्सीन मनुष्यों के लिये संक्रामक होती है अतः इसका सावधानी से प्रयोग किया जाना चाहिये.

गोपशुओं में संक्रामक गर्भपात तथा वंध्यता उत्पन्न करने वाले अन्य दो जीवाणु **विब्रिओ फीटस** एवं **ट्राइकोमोनास फीटस** हैं. गायों तथा बछियों में इनके संदूषण का पता लगाने के लिये योनि श्लेष्मा समूहन परीक्षण लाभप्रद है. संदूषण के मुख्य स्रोत का पता लगा कर उसके दोष संशोधन द्वारा इस बीमारी का उन्मूलन तथा नियंत्रण किया जा सकता है. संदूषण से बचाने के लिये प्राकृतिक अथवा कृत्रिम विधियों द्वारा गायों को गाभिन करने के लिये संदूषित साँड़ों का प्रयोग नहीं करना चाहिये.

संक्रामक गोजातीय प्लूरो न्यूमोनिया गोपशुओं की एक अति प्राणघातक बीमारी है जो अभी तक केवल असम तक ही सीमित रही है. यहाँ 1954–59 की अवधि में 3,645 पशु ग्रस्त हुये जिनमें से 2,220 की मृत्यु हो गयी. यह बीमारी एक जीवाणु **बोवीमाइसीज प्लूरो न्यूमोनिए** द्वारा उत्पन्न होती है जो अपनी रोग-जनकता में बहुत ही विशिष्ट होकर केवल गोपशुओं पर ही आक्रमण करता है. रोगग्रस्त पशु द्वारा छोड़ी गयी साँस में ये जीवाणु तैरते रहते हैं तथा स्वस्थ पशु जब ऐसे वातावरण में साँस लेते हैं तो नासिका द्वारा ये परजीवी उनके शरीर में प्रवेश पाकर रोग उत्पन्न करते हैं. कभी-कभी इस बीमारी से अच्छे हुये पशु जीवाणु-वाहक का कार्य करते हैं और इनके थूक तथा नासा स्राव से जीवाणु निकलते हैं. तेज बुखार तथा न्यूमोनिया के लक्षणों के साथ दम घुटकर पशु की मृत्यु हो जाती है. बहुत से पशुओं में यह बीमारी चिरकालिक अवस्था प्राप्त कर लेती है. पशु खाना-पीना छोड़ देता है तथा न्यूमोनिया के लक्षणों के साथ उसे सूखी तथा दर्दयुक्त खाँसी आती है. धीरे-धीरे रोगी पशु का शरीर जर्जर हो जाता है और दो माह के अन्दर उसकी मृत्यु हो जाती है.

रोगग्रस्त पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग करके चिकित्सा करनी चाहिये. नवीन पशु तथा रोगी के सम्पर्क में आने वाले समस्त पशुओं को रोगोत्पादक जीवाणुओं के शक्ति क्षीण किये गये संवर्ध का पशु की पूंछ के सिरे पर टीका लगाना चाहिये. टीका लगाने से एक वर्ष के लिये प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है. असम प्रदेश के गोलपारा जिले में सामूहिक रूप से पशुओं को टीका लगाकर इस बीमारी पर नियंत्रण पा लिया गया है. किसी समय यह बीमारी इस क्षेत्र में भयंकर रूप धारण करती थी.

परजीवी रोग – वाइरस तथा बैक्टीरियाजन्य रोगों के अतिरिक्त गो तथा भैंस वंशज पशु, परजीवी प्रोटोजोआ, कृमि तथा कीटों द्वारा उत्पन्न होने वाले विभिन्न रोगों के प्रति भी संवेदनशील होते हैं. इन बीमारियों से होने वाली क्षति का अनुमान लगाने के लिये भारतवर्ष में अभी कोई भी विधिवत् सर्वेक्षण नहीं हुआ है. केवल कीटों तथा किलनियों के आक्रमण से पालतू पशुओं में प्रतिवर्ष लगभग 4 करोड़ रुपये की क्षति का अनुमान लगाया गया है.

प्रोटोजोआ सम्बन्धी रोग – भारतवर्ष में पालतू पशुओं के प्रमुख परजीवी कीट **ट्रिपेनोसोमा, पाइरोप्लाज्म, कावसीडिआ, थीलेरिया** आदि प्रोटोजोआ हैं.

सुर्रा अथवा **ट्रिपैनोसोमियासिस** (अन्य नाम – सुर्रा, तिसाला, जहरबाद) गाय-भैंसों में **ट्रिपैनोसोमा इवांसाइ** द्वारा उत्पन्न होने वाली बीमारी है. यह घोड़ों तथा कुछ-कुछ ऊँटों में भी प्रवेश पाकर बहुधा प्राणघातक सिद्ध होती है. हल्के रूप में प्रकोप करने पर इसकी अवधि कई दिन से लेकर कई सप्ताह तक की हो सकती है. 1954–59 की अवधि में इससे लगभग 1953 प्रकोप हुये जिनमें 7,831 गोपशु बीमार हुये तथा 4,467 (57.2%) पशुओं की मृत्यु हो गयी. रोगग्रस्त पशुओं के रक्त प्रवाह में ट्रिपैनोसोम पाये जाते हैं और प्राकृतिक परिस्थितियों में रक्त चूसने वाली मक्खियों, विशेषकर अश्व-मक्खी (**टैबेनिडी**) तथा घुड़साल

की मक्खी (**स्टोमाक्सिस**) द्वारा दूसरे पशुग्रो के शरीर मे ले जाये जाते हैं. भारतवर्ष में यह बीमारी काफी होती है ग्रौर सामान्यतः यहाँ बरसात मे तथा उसके बाद फैलती है.

उग्र ग्रवस्था में सुर्रा का प्रकोप यूथ के ग्रनेक पशुग्रो को बीमार बना देता है. तेज बुखार तथा बेहोशी के लक्षणों के साथ-साथ एक ग्रथवा दो दिन में रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है. बीमारी के सही निदान के लिये तेज बुखार के समय पशु का रक्त लेकर उसकी जाँच करनी चाहिये.

सुरामिन द्वारा सुर्रा रोग की सफलतापूर्वक चिकित्सा की जा सकती है. यह ग्रोपधि नैगानोल, ऐंट्रीपाल तथा ऐंट्रीसाइड (क्विनापाइरैमिन सल्फेट) से मिलती-जुलती है. सुर्रा के प्रकोप के मौसम में इन ग्रोपधियों के ग्रावर्ती प्रयोग से पशुग्रो को इसके संदूषण से बचाया जा सकता है. निर्जमित ग्रासुत जल मे 10% घोल के रूप में ऐंट्रीपाल का ग्रंत:शिरा इंजेक्शन दिया जाता है. इंजेक्शन देने के पूर्व सदैव ताजा घोल तैयार किया जाता है. गोपशुग्रो के लिये इसकी मात्रा 0.5 ग्रा. प्रति 454 ग्रा. शरीर-भार ग्रौर यदि ग्रावश्यक हो तो 15 दिन बाद इसकी ग्राधी मात्रा पुनः दी जा सकती है. 3 मिग्रा. प्रति किग्रा. शरीर-भार की दर पर ऐंट्रीसाइड का निर्जमित ग्रासुत जल में बना 10% घोल ग्रवत्वक इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है. 20–30 मिली. ग्रासुत जल मे विलयित 1.0–1.5 ग्रा. टार्टार इमेटिक (ऐंटिमनी पोटैसियम टार्टरेट) का ग्रंत:शिरा इंजेक्शन यदि चार दिन तक गोपशु को दिया जाता है तो उसे सुर्रा रोग से छुटकारा मिल जाता है.

इस देश में गोपशुग्रो मे सुर्रा के उन्मूलन हेतु निम्नलिखित उपाय किये जाते हैं: (1) रोग के गुप्त वाहको का पता लगाना, (2) रोगवाहको तथा रोगग्रस्त पशुग्रों की चिकित्सा करना, तथा (3) काटने वाली मक्खियो पर नियंत्रण रखना. गुप्त वाहको का पता लगाने के लिये 'स्टिलबैमिडीन ग्रथवा एम एण्ड बी 744 परीक्षण' सर्वोत्तम है.

गोजातीय काक्सीडियोसिस ग्रथवा गोपशुग्रों का रक्त प्रवाहिका रोग (ग्रन्य नाम – खूनी दस्त, खूनी-इशाल) भारत के गोपशुग्रों में ग्रामतौर से होने वाली बीमारी है जो **ईमेरिया** की विभिन्न जातियों द्वारा उत्पन्न होती है. 1945 तक भारतीय गोपशुग्रों में **ईमेरिया** की केवल तीन प्रजातियाँ: **ईमेरिया जुरनाइ, ईमेरिया स्मियाइ** तथा **ईमेरिया सिलिण्ड्रिका**, रोग फैलाते देखी जाती थी. इनमें से **ईमेरिया जुरनाइ** सबसे प्रमुख एव व्यापक रूप से पायी जाने वाली है. गोपशुग्रो मे रोग फैलाने के लिये उत्तरदायी ईमेरिया की कुछ ग्रन्य जातियाँ भी खोज निकाली गयी है. इनमे से कुछ प्रमुख जातियो के नाम इस प्रकार हैं: **ईमेरिया सवस्फेरिका, ईमेरिया बोविस, ईमेरिया बुकिडनोनेंसिस, ईमेरिया वायोमिजेंसिस, ईमेरिया कैनाडेंसिस, ईमेरिया एलाबामेंसिस, ईमेरिया ब्राजीलिएंसिस, ईमेरिया थियानेथाइ, ईमेरिया इलिपस्वाइडेलिस, ईमेरिया ग्राबरनेंसिस**, ग्रादि.

बछडों मे उग्र काक्सीडियोसिस 'रक्त-प्रवाहिका' का रूप धारण कर लेता है. रोगग्रस्त पशु चारा-दाना छोड देता है तथा एक सप्ताह के ग्रन्दर उसकी मृत्यु हो सकती है. इस संदूषण से पशु की बडी ग्रंतडी की श्लेष्मल झिल्ली कट कर नष्ट होने लगती है जिससे उसमें मे रक्त बहने लगता है. सुस्ती, निराशा, खान-पान मे ग्ररुचि, रक्त मिश्रित दस्त. बढती हुयी शारीरिक क्षीणता तथा कुछ दिनों में पशु की मृत्यु, ये इस बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं.

नाइट्रोफ्यूरैजोन, निकार्बाजीन तथा सल्फा ग्रोपधियो का प्रयोग काक्सीडियोसिस की चिकित्सा मे गुणकारी सिद्ध हुग्रा है. चारे के साथ 1–2% सांद्रता मे सल्फाडिमिडिन ग्रथवा सल्फाक्विनाक्सेलिन का इस रोग की चिकित्सा मे सामान्य प्रयोग होता है. काक्सीडिया के हल्के संदूषण हानिकर नही होते किन्तु विस्तृत सक्रमण बहुत ही हानिकारक होते हैं. पशुशाला को साफ-सुथरा रखने तथा उसमें पशुग्रो की ग्रधिक भीड़ न होने देने से इस संक्रमण से छुटकारा मिलने मे सहायता मिलती है.

बैबेसिग्रोसिस ग्रथवा रक्त-मूत्र रोग, भारतीय गोपशुग्रो मे काफी होता है. इसका रोगोत्पादक कारक **बैबेसिया बाइजेमिना** है जो शरीर के लाल रक्त कणों को नष्ट करके मूत्र के साथ हीमोग्लोबिन बाहर निकालता है. तेज बुखार, रक्ताल्पता, पीलिया, दस्त होना, तथा मूत्र में खून ग्राना इस बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं. **बैबेसिया ग्रर्जेण्टाइना, बै. बेरबेरा, बै. बोविस** तथा **बै. मेजर** नामक इस समूह की चार ग्रन्य जातियाँ भी गोपशुग्रों मे बीमारी उत्पन्न कर सकती है.

बैबेसिग्रोसिस की चिकित्सा के लिये ट्रिपनब्ल्यू तथा क्विन्यूरोनियम सल्फेट (बैबेसान, एकैप्रिन) दो विशिष्ट ग्रोपधियाँ हैं. रोगी पशु को 1–4 ग्रा. की मात्रा मे नार्मल सैलाइन ग्रथवा पानी मे तैयार किया गया ट्रिपनब्ल्यू का 1 या 2% ताजा घोल ग्रंत:शिरा इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है. 0.5–1 मिली. प्रति 454 ग्रा. शरीर-भार की दर पर एकैप्रिन ग्रथवा बैबेसान का ग्रवत्वक टीका लगाया जाता है. रोग से छुटकारा पाने के लिये एक या दो इंजेक्शन ही पर्याप्त होते हैं.

थीलेरियेसिस भारतवर्ष मे गोपशुग्रों मे प्रकोप करने वाली एक ग्रति कष्टप्रद बीमारी है जिससे काफी बड़ी संख्या में पशुग्रों की मृत्यु हो जाती है. यह बीमारी **थीलेरिया ऐनुलेटा** द्वारा उत्पन्न होती है जिसके दो विभेद ग्रब तक खोजे जा चुके हैं : इनमें से एक मुक्तेश्वर विभेद है जो बच्चे एवं प्रौढ़ दोनों प्रकार के पशुग्रों पर ग्राक्रमण करके लगभग 65% पशुग्रों को मौत के घाट उतारती है. इसका एक ग्रन्य 'जे' विभेद है जो दो सप्ताह से लेकर तीन माह तक के बछड़ो को रोगग्रस्त करके 10–35% पशुग्रो की मृत्यु का कारण बनता है. **हायलोमा सैविग्नाई** नामक किलनी द्वारा यह बीमारी एक पशु से दूसरे पशु को लगती है.

रोगग्रस्त पशुग्रो मे तेज बुखार, खान-पान मे ग्ररुचि, रक्ताल्पता, पीलिया के साथ लसिकाग्रंथि, प्लीहा एवं यकृत में सूजन ग्रादि लक्षणो का विकास होता है. रोगी के मसूड़ों, मुंह तथा ग्राँतो पर सूजन ग्रा जाती है, उसे दस्त ग्राने लगते हैं तथा बछड़ा माँ के थन से दूध नही पी पाता.

थीलेरिग्रासिस की चिकित्सा के लिये ग्रभी तक किसी विशिष्ट ग्रोपधि की खोज नही हो पायी है. इसके संदूषण मे बचने के लिये बछड़ो की रक्षा किलनियो के काटने से करनी चाहिये.

थीलेरिया म्यूटांस जो भारतीय गोपशुग्रो के रक्त में ग्रामतौर पर पाया जाता है, हानिकारक नही है.

कृमि रोग – कृमिरुग्णता भारतवर्ष मे गोपशुग्रों के स्वास्थ्य के लिये एक बहुत बड़ा ग्रभिशाप है ग्रौर इसमे पशुग्रो की शक्ति क्षीण हो जाती है, स्वास्थ्य खराब हो जाता है तथा बैक्टीरियाजन्य एवं वाइरसजन्य रोगों के प्रति सहनशक्ति कम होकर पशुधन की बहुत बडी क्षति होती है. परजीवी कीटों की लगभग 100 जातियाँ गोपशुग्रों मे रोग उत्पन्न करती बतायी जाती हैं. इन्हें

अधिकतर फ्लूक, फीता कृमि, गोल कृमि तथा सूत्र कृमि आदि समूहों में वर्गीकृत किया गया है.

यकृत-फ्लूक अथवा कीड़िया रोग, भारतवर्ष के अनेक तराई वाले क्षेत्रों में पशुधन-उद्योग के समुचित विकास में अवरोध उत्पन्न करता रहा है और भविष्य में लागू होने वाली सिंचाई की वृहत् प्रायोजनाओं के परिणामस्वरूप इस बीमारी से होने वाली आर्थिक क्षति के और भी बढ़ने की सम्भावना है.

आमतौर पर पाया जाने वाला यकृत-फ्लूक **फेसियोला जाइगैंटिका** कोबोल्ड (पर्याय **फै. इंडिका** वर्मा) भारतवर्ष के गोपशुओं तथा भैंसों में कीड़िया रोग उत्पन्न करने के लिये उत्तरदायी है. कहा जाता है कि **फै. हिपैटिका** लिनिअस नामक एक दूसरा यकृत-फ्लूक पर्वतीय क्षेत्रों में पाया जाता है. ये फ्लूक पित्त नली में क्षोभ उत्पन्न करके उसे मोटा कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप उसमें आंशिक अवरोध उत्पन्न होकर यकृत का सिरोसिस तथा शोथ हो जाता है. शारीरिक क्षीणता, अपच और बाद में पशु को पतले दस्त आना, इस बीमारी के लक्षण हैं. ऐसे रोगियों में जबड़े के नीचे सूजन आ जाती है और उन्हें पीलिया हो जाता है. यकृत की क्षति से रोगग्रस्त पशु की एकाएक मृत्यु हो जाती है. यकृत-फ्लूकों को नष्ट करने के लिये कार्बन टेट्राक्लोराइड सर्वोत्तम औषधि है. 3–8 मिली. द्रव, पैरेफिन, मखनिया दूध अथवा मैग्नीशियम सल्फेट के गाढ़े घोल के साथ मिलाकर इसे गोपशुओं तथा भैंसों को पिलाया जाता है. इससे कुछ कम विषैला हेक्साक्लोरोएथेन यकृत-फ्लूक संदूषण के लिये एक दूसरी महौषधि है. इसकी 15–45 ग्रा. की खुराक गोपशुओं को दी जाती है. फ्लूक लारवा के वाहक घोंघों को कापर सल्फेट द्वारा नष्ट करके, गीले तथा दलदली स्थानों को मिट्टी से पाटकर तथा घोंघों की संख्या कम करने के लिये तालाबों में बतखों को छोड़कर इस बीमारी के संदूषण को कम किया जा सकता है.

गोजातीय नासा शिस्टोसोमिओसिस अथवा नासिका कणिका-गुल्म नामक रोग पशुओं में एक रक्त-फ्लूक **शिस्टोसोमा नेसैलिस** दत्ता द्वारा उत्पन्न होता है. यह बीमारी हिमाचल प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग को छोड़कर शेष भारतवर्ष में अत्यधिक पायी जाती है. पूर्वी तथा दक्षिणी भारत में यह रोग खूब होता है. यह बीमारी गोपशुओं मुख्यतः बैलों की उत्पादन क्षमता कम करके तथा उन्हें निर्बल बनाकर बहुत बड़ी आर्थिक हानि पहुँचाती है. नथुनों से लगातार स्राव बहना, शोर के साथ साँस लेना तथा कभी-कभी छींकना वे लक्षण हैं जिनसे इस बीमारी का निदान किया जाता है. भैंसों में इस बीमारी के कोई विशिष्ट लक्षण देखने को नहीं मिलते. 25 मिली. प्रति 454 ग्रा. शरीर-भार की मात्रा में ऐंटिमोसान (बेयर) का अवत्वक अथवा अंतःमांसपेशी इंजेक्शन इस रोग की चिकित्सा में बहुत ही गुणकारी सिद्ध हुआ है. कहा जाता है कि इसी प्रकार 1.5 ग्रा. अथवा 2.5 ग्रा. की खुराक में टारटार इमेटिक का 1 या 2% विलयन 5% ग्लूकोस विलयन के साथ, एकदिन के अन्तर पर 6 बार देने से बीमारी अच्छी हो जाती है. घोंघों की संख्या कम करने के लिये यकृत-फ्लूक वाले उपाय अपनाने चाहिये. रोग फैलने वाले क्षेत्रों में इस बीमारी पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिये भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के संरक्षण में कुछ विशिष्ट परियोजनायें भी चल रही हैं.

आमाशय-फ्लूक अथवा **ऐम्फिस्टोम्स** जो सामान्यतः अग्र-आमाशय तथा कुछ जुगाली करने वाले पशुओं के यकृत में निवास करते हैं, गोपशुओं तथा भैंसों में ऐम्फिस्टोम रुग्णता उत्पन्न करते हैं. प्रौढ़ अवस्था में ये फ्लूक कोई हानि नहीं पहुँचाते किन्तु इनकी कुछ अपरिपक्व अवस्थायें भीषण श्लेष्मल आंत्रार्ति उत्पन्न करके पशुओं को मौत के घाट उतारती हैं. अंतःअधोहनु क्षेत्र में अवत्वक शोथ का अंतःसंचरण तथा उग्र प्रवाहिका इस बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं. भारतवर्ष में गाय-भैंसों में परजीवी रोग उत्पन्न करने वाले प्रमुख आमाशय-फ्लूक **पैराऐम्फिस्टोमम एक्सप्लेनेटम, गैस्ट्रोथाइलेक्स क्रूमेनीफर** तथा **कोटाइलोफोरान कोटाइलोफोरम** हैं. इनकी प्रौढ़ अवस्थायें अधिक रोगजनक नहीं होती किन्तु बहुत बड़ी संख्या में इनकी उपस्थिति पशुओं के लिये प्राणघातक सिद्ध होती है. अपरिपक्व परजीवी कीटों द्वारा उत्पन्न ऐम्फिस्टोम रुग्णता को ठीक करना बहुत कठिन होता है. पहले कॉपर सल्फेट की एक खुराक देकर तीन से चार बार कार्बन टेट्राक्लोराइड तथा हेक्साक्लोरोएथेन आवश्यक मात्रा में देना काफी गुणकारी है. यूथ में एक बार भी किसी पशु में बीमारी का पता लगने पर सभी पशुओं का इलाज करना अधिक अच्छा है. रोग के बचाव एवं नियंत्रण के लिये बीमारी के मध्यस्थ पोषी घोंघों की संख्या पर नियंत्रण रखना चाहिये.

अग्न्याशय-फ्लूक, यूरीट्रेमा पैंक्रियाटिकम (जैनसन) पर्वतीय क्षेत्रों के गोपशुओं तथा भैंसों के अग्न्याशय में पाया जाने वाला प्रमुख परजीवी कीट है जो पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग जिले में विशेष रूप से पाया जाता है. गोपशुओं तथा अन्य शाकाहारी पशुओं की अग्न्याशय वाहिनी में यह कीट मोटापा उत्पन्न करता है और इससे गोजातीय रक्तमेह भी उत्पन्न हो सकता है.

फीता कृमि परजीवी प्रायः गोपशुओं में रोगजनक नहीं होते किन्तु बछड़ों के शरीर में इनकी अधिक संख्या में उपस्थिति उनकी बढ़ोतरी को कम करती है, निर्बलता लाती है और प्रवाहिका उत्पन्न करती है. रोगग्रस्त पशुओं का पेट निकल आता है और उनके शरीर के विभिन्न भागों पर चमकती हुयी सूजन दिखायी पड़ सकती है. **मोनीजिया एक्सपेंसा** (रुडोल्फी), **एविटेलिना सेंट्रीपंक्टेटा** और **स्टाइलेसिया ग्लोबीपंक्टेटा** भारतीय गोपशुओं में पायी जाने वाली फीता कृमि की प्रमुख जातियां हैं. गुबरैला माइट (आरिबैटिड) **मोनीजिया एक्सपेंसा** का मध्यस्थ पोषक है. फीता कृमि से छुटकारा पाने के लिये निकोटीन-युक्त कॉपर सल्फेट तथा लेड आर्सेनेट का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है. बछड़ों के लिये इसकी खुराक 1–2 ग्रा. है. इसे जिलेटिन की कैपसूल में रखकर पशु को खिलाया जाता है और इसके बाद उसे एक खुराक रेंडी का तेल पिलाया जाता है.

गोल कृमि—ये गोपशुओं तथा अन्य पशुधन में अनेक बीमारियां उत्पन्न करते हैं. इनके अन्तर्गत आमाशय कीट अथवा ट्राइकोस्ट्रांजिल कीट, अंकुशकृमि, बड़े गोल कृमि, कोड़ा कृमि, फेफड़ा कृमि या मेटास्टांजिल कीट, स्पाइरूरिड कीट तथा फाइलेरियाजनक कीट आते हैं. ये कीट अधिकतर परजीवी कीटों के रूप में आमाशय तथा अंतड़ी में और कुछ अन्य लसीका ग्रन्थियों, अवत्वक् तन्तुओं अथवा मांसपेशियों में पाये जाते हैं. रोगग्रस्त पशु शारीरिक क्षीणता, चेतनता ह्रास तथा अन्य जटिलताओं के शिकार होते हैं.

आमाशय कीट, हीमांकस कंटार्टस (रुडोल्फी) एवं **मेसिस्टोसिरस डिजिटैटस** (लिस्टो) जुगाली करने वाले पशुओं के आमाशय में पाये जाने वाले प्रमुख परजीवी कीट है. ये पशुओं का रक्त चूसने के अतिरिक्त आमाशय की दीवाल पर क्षोभ उत्पन्न करते हैं तथा चारे के पाचन एवं शोषण में बाधा उत्पन्न करते हैं. रोगग्रस्त पशुओं में रक्ताल्पता उत्पन्न हो जाती है, उनके जबड़े के नीचे

तथा तलपेट में सूजन आ जाती है और कभी-कभी इनमें अपच तथा प्रवाहिका के लक्षण भी देखने को मिलते हैं. एकाएक इनका भारी संक्रमण होने पर शीघ्र ही लक्षण प्रकट होकर पशु बीमारी से मर जाते हैं. 1.0 मिली. प्रति 454 ग्रा. शरीर-भार की दर पर ·1% कापर सल्फेट का घोल पिलाने पर रोगी पशु शीघ्र ठीक हो जाते हैं. 0.2–3 ग्रा. (अधिकतम) प्रति 454 ग्रा. शरीर-भार की दर पर फीनोथायजीन का प्रयोग भी गुणकारी है. रोग नियंत्रण के लिये समुचित सफाई की व्यवस्था रखना तथा चरागाहों को बदल-बदल कर चराना काफी लाभदायक है.

ईसोफैगोस्टोमम (बासिकोला) रेडिएटम (रुडोल्फी) गोपशुओं की बड़ी अंतड़ी में आमतौर पर पाया जाने वाला परजीवी कीट है. अंतड़ी में यह कीट पर्विल गुल्म उत्पन्न करके सपूय पर्युदर्याशोथ, प्रवाहिका अथवा अतिसार के लक्षण प्रकट करता है. 0.2–3 ग्रा. (अधिकतम) प्रति 454 ग्रा. शरीर-भार की मात्रा में फीनोथायजीन के प्रयोग से ये कीट दूर किये जा सकते हैं.

अंकुश कृमि, रक्त चूसने वाले छोटे परजीवी कीट हैं जो गोपशुओं की छोटी अंतड़ी में पाये जाते हैं. इनकी **मोनोडोंटस** मोलिन तथा **बनोस्टोमम** रेलीट नामक जातियाँ गोपशुओं में आमतौर पर परजीवी रूप में देखी जाती हैं. शारीरिक ऊतकों से अपनी खुराक लेने के कारण ये कीट पशु की अंतड़ी की दीवाल को काफी क्षतिग्रस्त कर देते हैं. ये संदूषित चारे से स्वस्थ पशु के शरीर में प्रवेश करते हैं. गोपशुओं में बढ़ती हुयी रक्ताल्पता, जबड़े की सूजन, खान-पान में अरुचि, निर्बलता तथा शारीरिक क्षीणता अंकुश कृमि संदूषण के सामान्य लक्षण हैं. नये पशुओं की वृद्धि मारी जाती है. श्लेष्मल झिल्ली से कीटों को छुड़ाने के लिये पहले 300 मिली. सोडियम बाइकार्बोनेट (5% विलयन) देकर 20–30 मिली. प्रति 100 किग्रा. शरीर-भार फीनोथायजीन देकर अंकुश कृमि को नष्ट किया जा सकता है. कार्बन टेट्राक्लोराइड का प्रयोग भी गुणकारी है. अन्य स्ट्रांजिल कीटों की भाँति इसका संदूषण रोकने के लिये नियंत्रण के कुछ अन्य उपायों को भी अपनाया जा सकता है.

गोल कृमि आकार में बड़े होते हैं तथा गोपशुओं की अंतड़ी में निवास करते हैं. गोपशुओं में सामान्य रूप से पाया जाने वाला **ऐस्केरिस विटुलोरम** शारीरिक क्षीणता, खान-पान में अरुचि, उदर शूल, प्रवाहिका तथा अन्य आंत्रिक गड़बड़ी उत्पन्न करता है. रोगग्रस्त बछड़ों का शरीर भद्दा दिखायी देता है और वे सुस्त, कुपोषित एवं निर्बल लगते हैं. कभी-कभी उनमें तन्त्रिका जटिलतायें भी विकसित हो सकती हैं. यदि समय पर चिकित्सा न की गयी तो इनके संदूषण से काफी अधिक संख्या में बछड़ों की मृत्यु हो जाती है.

56.8–113.6 मिली. रेंडी अथवा अलसी के तेल में मिलाकर 0.1 मिली. प्रति किग्रा. शरीर-भार की दर से कीनोपोडियम तेल पिलाकर इसके बाद सैलाइन रेचक देने से ये कीट नष्ट हो जाते हैं. इसी प्रकार 56.8–113.6 मिली. रेंडी अथवा अलसी के तेल में 7–14 मिली. तारपीन या देवदार का तेल मिलाकर पशु को पिलाने और बाद में उसे सैलाइन रेचक देने से भी लाभ होते देखा गया है. पशु को 40 घण्टे तक भूखा रखने के बाद 0.4 ग्रा. प्रति किग्रा. शरीर भार पर हेक्साक्लोरोएथेन अथवा रात-भर भूखा रखने के बाद जिलेटिन कैप्सूल में रखकर 5–30 मिली. टेट्राक्लोरोएथेन देकर बाद में सैलाइन रेचक देना भी गुणकारी है. 50 ग्रा. प्रति किग्रा. शरीर-भार के अनुसार डाइएथिलकार्बामैजीन अम्ल सिट्रेट (हेट्राजान) अथवा 0.1–0.2 ग्रा. प्रति 4.54 किग्रा. शरीर-भार पर पिपराजीन ऐडिपेट देना भी लाभप्रद है. इनके प्रयोग में पशु को भूखा रखने अथवा बाद में सैलाइन रेचक देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती. पशुशाला की सफाई पर विशेष ध्यान देने तथा नये पशुओं की उचित देखभाल करने से इस बीमारी पर नियंत्रण रखा जा सकता है.

कमची कृमि जुगाली करने वाले पशुओं की बड़ी आँत में निवास किया करते हैं. भारतवर्ष में **ट्राइचूरिस ओविस, ट्रा. ग्लोब्यूलोसा** तथा **ट्रा. डिस्कलर** प्रमुख जातियाँ पायी जाती हैं. ये कीट पशु की बड़ी अंतड़ी में अनुतीव्र अथवा दीर्घकालिक शोथ उत्पन्न करते हैं. प्रति किग्रा. शरीर-भार पर 1 मिली. *n*-ब्यूटिल क्लोराइड देने अथवा 2.0–2.5 ग्रा. प्रति 4.54 किग्रा. शरीर-भार पर डाइफेनिलऐमीन पिलाने से कमची-कृमि नष्ट होकर शरीर के बाहर निकल आते हैं.

फेफड़ा कृमि गोपशु तथा अन्य स्तनियों की श्वास-नाल में पाये जाते हैं. **डिक्टियोकालस विविपैरस** गोपशुओं में श्वसनी शोथ अथवा ब्रांकोन्युमोनिया, नासा स्राव एवं श्वास कष्ट उत्पन्न करते हैं. बीमारी के बढ़ने के साथ पशु लगातार अरक्तक एवं क्षीण होता जाता है और उसके जबड़े पर सूजन आ जाती है. अधिकतर यह बीमारी बछड़ों तक ही सीमित रहती है किन्तु, कभी-कभी प्रौढ़ पशु भी शिकार होते देखे गये हैं. फेफड़ा कृमि की चिकित्सा के लिये डिक्टीसाइड (इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज) प्रभावी होती है. ट्राइकोस्ट्रांजिल कीटों के नियंत्रण के लिये जो उपाय संस्तुत किये गये हैं वे ही फेफड़ा कृमि के संदूषण से सुरक्षा के लिये उपयोगी हैं. रोगग्रस्त पशुओं को पशुशाला में बांधकर ही चारा-दाना देना चाहिये और उन्हें चरागाहों पर चरने नहीं भेजना चाहिये. रोगी पशुओं के गोबर को बिना उपचारित किये खेतों में नहीं डालना चाहिये.

पशुओं पर जीवन व्यतीत करने वाले गोल कृमियों का एक बहुत बड़ा समूह **स्पाइरूरिड** कीटों का है. घरेलू मक्खी तथा घुड़साल की मक्खी जैसी कुछ कीट जातियां इनके मध्यस्थ पोषक हैं. **हैब्रोनेमा** जातियां गोपशुओं के आमाशय में पायी जाती हैं जहां ये आमाशय की दीवाल पर अर्बुद उत्पन्न करके क्षोभ अथवा आमाशय शोथ का कारण बनती हैं. फेफड़ों के क्षतिग्रस्त होने पर फुफ्फुस हैब्रोनेमारुग्णता के लक्षण देखने को मिलते हैं. आमाशय की श्लेष्मल झिल्ली से कीटों को छुड़ाने के लिये प्रारम्भ में पशुओं को सोडाबाइकार्ब की एक खुराक देकर रात-भर भूखा रखने के बाद प्रति 100 किग्रा. शरीर भार पर 5 मिली. कार्बन डाइसल्फाइड का प्रयोग इस बीमारी में लाभप्रद है. बीमारी की रोकथाम के लिये गोबर को मिट्टी के नीचे दबाना तथा मक्खियों को नष्ट करना आवश्यक है.

फाइलेरिया कीट आकार में लम्बे तथा पतले होते हैं तथा पालतू पशुओं की कुछ प्रजातियों में रक्त, लसीका नलिकाओं, संयोजी ऊतकों अथवा शारीरिक गुहाओं में निवास करते हैं. **स्टीफेनोफाइलेरिया असमेंसिस** (पांडे), **ओंकोसर्का** जातियां तथा **पैराफाइलेरिया बोवीकोला** भारतवर्ष के पालतू पशुओं में प्रकोप करने वाले प्रमुख फाइलेरिया कीट हैं.

स्टीफेनोफाइलेरिया असमेंसिस (पांडे) गोपशुओं के अवत्वक तन्तुओं में पाया जाता है और उनमें 'हम्प सोर' अथवा 'ककुद व्रण' उत्पन्न करता है. ये कीट ककुद तथा वक्ष की दीवाल के चारों ओर तथा पादांगुलियों के निकट पाये जाते हैं. इन कीटों से लगातार

वहने वाले घाव उत्पन्न होते हैं जिससे मक्खियाँ बड़ी संख्या में आकर्षित होकर रोगी पशु को बेचैन बना देती हैं. उत्तरी भारत की भैंसों में कर्ण-व्रण भी सम्भवत: इन्हीं कीटों द्वारा उत्पन्न होता है. असम, बंगाल, उड़ीसा, विहार एवं आन्ध्र प्रदेश के कुछ भागों में ककुद-व्रण रोग अधिक व्याप्त है. यह मैदानी गोपशुओं का विशिष्ट रोग है. पर्वतीय पशुओं में यह बीमारी नहीं होती. भारवाही पशुओं की काम करने की क्षमता कम करके, दुधारू गायों के दुग्धोत्पादन में कमी करके, पशुओं की वृद्धि एवं विकास में अवरोध उत्पन्न करके तथा खाल का मूल्य कम करके ये कीट पशुपालक को आर्थिक हानि पहुँचाते हैं. कुछ क्षेत्रों में कुल गोपशु संख्या के लगभग 1/3 पशु इस बीमारी से ग्रस्त होते हैं. ग्रस्त तन्तु को काटकर निकाल देना, उपयुक्त पूतिरोधी ओषधियों तथा 4% टारटार इमेटिक मलहम जैसी प्रति-फाइलेरिया पट्टी का प्रयोग करके इसकी चिकित्सा की जाती है.

ओंकोसर्का जातियां गाय-भैंसों की महाधमनी की दीवाल में गांठें उत्पन्न करती देखी जाती हैं. **कोलीकायडीस** जाति के रक्त-चूपक कीट इस परजीवी के रोगवाहक के रूप में कार्य करते हैं.

पैराफाइलेरिया बोवीकोला गर्मी तथा बरसात की ऋतु में भारतवर्ष के अनेक भागों में पशुओं की त्वचा के नीचे रक्तस्रावी गाँठें उत्पन्न करते हैं. टारटार इमेटिक के 1% घोल की 100 मिली. मात्रा अंत:शिरा इंजेक्शन द्वारा देने से रोगी पशु ठीक हो जाते हैं.

बाह्य परजीवी कीट – जोंकें पशुओं को कष्ट पहुँचाती हैं, वे उनके शरीर के मुलायम अंगों पर चिपक कर रक्त चूसती हैं. **हिरूडिनेरिया** तथा **डिनोब्डेला** जातियों की ताजे पानी में पायी जाने वाली जोंकें पशुओं के लिये हानिकारक होती हैं क्योंकि ये पानी पीते समय पशुओं के मुंह, नाक तथा ग्रसिनी में प्रवेश करके सप्ताहों तक इन्हीं भागों पर चिपकी रहती हैं. **हीमैंडिप्सा** जातियों की पृथ्वी पर पायी जाने वाली जोंकें नमीयुक्त घने पर्वतीय जंगलों में मिलती हैं और वहाँ से निकलने वाले पशुओं के शरीर पर चिपक जाती हैं. वे अच्छी तरह रक्त चूसकर तृप्त हो जाने के बाद पशु के शरीर से छूटकर नीचे गिर जाती है. शरीर के उन स्थानों से खून निकलता है और वहां घाव बन जाते हैं तथा इन घावों की चिकित्सा करनी पड़ती है. नमक अथवा सिरका छिड़क कर पशुओं के शरीर से जोंकें छुटायी जा सकती हैं. 50,000 से 5,00,000 भाग पानी में एक भाग कॉपर सल्फेट मिलाकर पानी की जोंकों को मारा जा सकता है.

कुछ कीड़े तथा किलनियां काम करते समय तथा आराम के क्षणों में पशुओं को लगातार कष्ट पहुँचाते हैं. इनमें से कुछ कीट पशु की त्वचा को काटकर खराब कर देते हैं तथा उन्हें परोक्ष रूप से क्षति पहुँचाते हैं. इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कीट वाइरस, बैक्टीरिया, प्रोटोजोआ तथा अन्य परजीवी रोगों के वाहक के रूप में कार्य करते हैं और इस प्रकार इन बीमारियों को एक पशु से दूसरे पशु तक फैलाते हैं.

इन परजीवी कीटों से पशुधन का ह्रास होता है और देश को काफी आर्थिक हानि होती है. **हाइपोडर्मा** जातियों की वार्बल मक्खियों तथा **आर्नियोडोरास** एवं **हायलोमा** जातियों की किलनियों से पशु की खाल के खराब हो जाने से ही भारतवर्ष को करोड़ों रुपये की क्षति पहुँचती है. इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के परजीवी कीटों के आक्रमण से पशु की वृद्धि एवं विकास में बाधा पड़ती है, ओज में कमी आती है तथा उनकी उत्पादन-क्षमता घट जाती है.

नियंत्रण के उपयुक्त उपाय ढूंढ निकालने के लिये भारतवर्ष में **हाइपोडर्मा लिनिएटम** के जीवन-इतिहास तथा जीव परिस्थितियों पर विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है. बैलों की वार्बल मक्खी पैरों के बालों तथा गलकम्बल पर अपने अण्डे देती हैं. इन अण्डों से निकले हुये लारवा पशु की त्वचा में छेद करके पीठ तक पहुँच जाते हैं. यहाँ पहुँचने पर प्रत्येक लारवा के चारों ओर एक गांठ-सी बन जाती है. इस गांठ में ऊपर की ओर एक छिद्र होता है जिससे लारवा साँस लेते हैं. पूर्ण वृद्धि प्राप्त करने के बाद लारवे छेद से बाहर निकल कर अपना विकास करते रहते हैं. वार्बल से संदूषित पशु की खाल में ऐसे अनेक छेद होते जाते हैं जिससे खाल का मूल्य काफी कम हो जाता है. अकेले वार्बल मक्खी से पशुओं की खाल से होने वाली क्षति भारतवर्ष में उत्पादित समस्त खालों के मूल्य का 1/10 है. इसके अतिरिक्त वार्बल मक्खी के आक्रमण से पशु के स्वास्थ्य तथा दूध उत्पादन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है.

भारतवर्ष में वार्बल मक्खी पर नियंत्रण रखने के लिये दो उपाय किये जाते हैं: एक तो अण्डे देने के मौसम में (आधे मार्च से आधे जून तक) गोपशुओं के पैरों के बालों को समय-समय पर जलाते रहना, और दूसरे वार्बल मक्खी के लारवा से युक्त गांठों की मरहम-पट्टी करना. लारवा को मारने के लिये प्राय: तम्बाकू एवं चूना और डेरिस चूर्ण का उपयोग किया जाता है. उपयुक्त सांद्रता में पहली ओषधि के प्रयोग से लगभग 82% लारवे और दूसरी से 100% लारवे नष्ट हो जाते हैं. गोपशुओं में वार्बल मक्खी के संदूषण पर विजय पाने के लिये बेयर एवं लिवरकुसन द्वारा निर्मित नेगुवान नामक उत्पाद का उपयोग भी गुणकारी बताया जाता है.

किलनियाँ गोपशुओं तथा भैंसों के शरीर में लग कर उनका रक्त चूसती हैं, चिपके हुये स्थान पर सूजन उत्पन्न करती हैं तथा अनेक विशिष्ट बीमारियों के रोगोत्पादक जीवाणुओं को एक पोषी से दूसरे पोषी पर पहुँचाने का कार्य करती हैं. इस प्रकार की किलनियाँ **आर्नियोडोरास** काख, **हायलोमा** काख तथा **हीमैफाइसेलिस** काख वंशों के अन्तर्गत आती हैं. प्रौढ़ किलनियाँ गोपशुओं तथा अन्य पालतू पशुओं पर परजीवी हैं किन्तु इनके लारवा एवं निम्फ कभी-कभी मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं. किलनियों से पशुओं में रक्ताल्पता, बेचैनी, स्वास्थ्य की गिरावट तथा गायों में दुग्धोत्पादन की कमी जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं. इनके काटने से निशान पड़ जाते हैं जिससे पशुओं की खालें खराब हो जाती हैं और उनका मूल्य कम हो जाता है.

किलनियों का गहन एवं बार-बार संदूषण होने पर पशुओं के शरीर से किलनियों को हटाने के अतिरिक्त पशुशालाओं तथा चरागाहों पर भी किलनियों को नष्ट करने वाली ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये. क्लोरीन युक्त कीटनाशी पदार्थों का प्रयोग इस कार्य के लिये अच्छा है. 5% डी-डी-टी अथवा आवश्यक अनुपात में 1% गामा बी-एच-सी चूर्ण के प्रकीर्णन से भी किलनियाँ दूर हो जाती हैं. 0.5% बी-एच-सी अथवा 1–5% डी-डी-टी घोल का छिड़काव भी गुणकारी है. 0.5% डी-डी-टी तथा 0.025% लिंडेन (विशुद्ध गामा बी-एच-सी) घोल का नियतकालिक छिड़काव करते रहने से किलनियों के संदूषण पर नियंत्रण रखा जा सकता है. 2 ली. हल्के गर्म पानी में 56 ग्रा. डेरिस चूर्ण तथा 28 ग्रा. उदासीन साबुन मिलाकर बनाये हुये घोल में पशु को नहलाने से भी लाभ होता है.

माइट, किलनियों की भाँति ही हानिकारक होते हैं. ये

गोपशुओं तथा अन्य पालतू पशुओं के शरीरों पर पाये जाने वाले अत्यन्त छोटे परजीवी हैं. ये पशु की त्वचा में घुसकर गलियारे बना लेते हैं और वहीं अपने अण्डे देते हैं. **सोराप्टीस कम्युनिस** द्वारा सोराप्टिक खुजली उत्पन्न होती है. इस माइट के काटने से त्वचा पर छोटी-छोटी पिटिकायें-सी बनती दिखायी देती हैं, जिनमें अत्यधिक खुजली उठती है और बाद में बड़े, गीले तथा मोटे खुरंट बन जाते हैं. **कोरिअाप्टीस सिम्बायोटीस** कोरिअाप्टिक खुजली उत्पन्न करता है. इसके क्षत पिछले पैरों के टखनों तथा पूंछ की जड़ तक ही सीमित रहते हैं. **सार्कोप्टीस स्कैबिग्राइ** (द गियर) द्वारा सारकोप्टिक खुजली गोपशुओं में कम देखी जाती है किन्तु एक बार हो जाने पर इसका प्रकोप ऊपर कथित अन्य दो खुजलियों से अधिक तीव्र होता है. यह माइट त्वचा में काफी अन्दर तक घुसकर टेढ़ी-मेढ़ी नालियाँ-सी बनाकर उनमें अपने अण्डे देता है. सिर, ग्रीवा के दोनों ओर, अयन, तलपेट, पिछले पुट्ठों में अन्दर की ओर और कभी-कभी पीठ पर ये परजीवी कीट आक्रमण करते देखे गये हैं. ग्रस्त अंग की त्वचा मोटी पड़कर झुर्रीदार हो जाती है और उस पर सूखी पपड़ी पड़कर बहुधा वह कटी-फटी-सी दिखायी देती है. **डेमोडेक्स फालिकुलोरम** (सिमॉन) द्वारा उत्पन्न होने वाली **डेमोडेक्सी** अथवा पुटिकीय खुजली कभी-कभी नये पशुओं मे प्रकोप करते देखी जाती है. ये पशु इससे अधिक प्रभावित होते हैं. क्षत पहले ग्रन्थियों के रूप में रहते हैं और वे कंधों तथा ग्रीवा के दोनों ओर प्रकट होते हैं जहाँ से वे कभी-कभी धीरे-धीरे शरीर के निकटवर्ती भागों पर भी फैल जाते हैं.

यदि ये क्षत थोड़े भाग तक ही सीमित रहते हैं तो हाथ से मरहम-पट्टी करके इनकी चिकित्सा की जा सकती है, किन्तु यदि ये बहुत बड़े क्षेत्र मे फैले होते हैं तो पशु को ओषधियुक्त पानी से नहलाकर अथवा उस पर ओषधियुक्त घोल छिड़ककर उपचार किया जाता है. यह चिकित्सा नियमित अन्तरालों पर दो या तीन माह तक करनी पड़ती है. सारकोप्टिक तथा सोराप्टिक खुजली में गंधक के मलहम (गंधक 2 भाग, पोटैसियम कार्बोनेट 1 भाग, वैसलीन 8 भाग) तथा गंधक (1.13 किग्रा.) एवं अलसी के तेल (4.5 ली.) के मिश्रण का उपयोग किया जाता है. चूना-गंधक घोल में (चूना, 5.4 किग्रा.; पिसा गंधक, 10.89 किग्रा. तथा पानी, 4.54 ली.) पशु को नहलाना भी लाभप्रद है. मिट्टी के तेल एवं अलसी के तेल की सम मात्राओं का मिश्रण भी कोरिअाप्टिक खुजली में लगाया जाता है. क्लोरीनयुक्त हाइड्रोकार्बन इसकी चिकित्सा मे अधिक प्रभावकारी है. सोराप्टिक तथा कोरिअाप्टिक खुजली की चिकित्सा के लिये 0.04–0.08% गामा-समस्थानिक युक्त बी-एच-सी अथवा लिंडेन घोल से 6–10 दिन के अन्तर पर तीन-चार बार पशु को नहलाने से काफी लाभ पहुँचता है. जैतून के तेल अथवा बिनौले के तेल में मिश्रित 1–2% रोटेनोन निलम्बन, 25–33% बेञ्जिल बेंजोएट पायस, 5% टेटमासोल, 0.15% जलीय लिंडेन अथवा 0.25% क्लोरडेन पायस का प्रयोग डेमोडेक्सी खुजली में लाभप्रद बताया जाता है.

विविध रोग – गोपशुओं को होने वाले विविध रोगों में से सीग का कैंसर, गोजातीय रक्तमेह तथा फ्लोरीन-विपाक्तता प्रमुख हैं.

पशुओं में **सींग का कैंसर** सम्भवतः पूरे देश में प्रकोप करता है, किन्तु उत्तर प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु तथा गुजरात जैसे कुछ प्रदेशों में इस पर विशेष ध्यान दिया गया है. छोटे सींग वाले पशुओं की अपेक्षा लम्बे सींगों वाले पशुओं में यह रोग अधिक फैलता है. गुजरात एवं उत्तर प्रदेश में किये गये अध्ययन से यह विदित हो चुका है कि गायों की अपेक्षा बैलों में यह रोग अधिक होता है और 5–10 वर्ष की आयु वाले पशु ही अधिकतर इसके शिकार होते हैं. इनसे तथा अन्य प्रेक्षणों से ऐसा विश्वास होने लगा है कि बैलों में यह रोग उन्हें बधिया करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न कुछ हारमोन सम्बन्धी असंतुलन से हो सकता है या कुछ पशुओं के सींगों में चोट लगने के कारण भी हो सकता है. सींग की जड़ के पास विशेष प्रकार की वृद्धि तथा कुछ अन्य लक्षणों के आधार पर सींग के कैंसर का निदान सरलता से किया जा सकता है. कैंसर के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में शल्य चिकित्सा लाभदायक सिद्ध हो सकती है.

आंखों में पड़ी हुयी धूल, कीड़े-मकोड़े अथवा अन्य पदार्थों द्वारा उत्पन्न क्षोभ के परिणामस्वरूप नेत्र कैंसर उत्पन्न होता है. इसमें भीतरी नेत्र कोण पर अर्बुद का विकास होता है जिसमें पहले नेत्र श्लेष्मला शोथ एवं स्रवण लक्षण प्रकट होते हैं. रोग की गम्भीर अवस्था में कैंसर-कोशिकायें लसीका-तंत्र में प्रविष्ट हो जाती हैं और कुछ पशुओं में रोग के क्षत यकृत तथा फेफड़ों तक में फैल जाते हैं. रोग की प्रारम्भिक अवस्था में कैंसर वाले अंग को पूरी तरह निकाल देने तथा गम्भीर अवस्था में सम्पूर्ण नेत्र-गोलक को काटकर अलग कर देने से संतोषजनक परिणाम प्राप्त हुये हैं.

गोजातीय रक्तमेह गोपशुओं के गुर्दे का एक रोग है जिसमें मूत्र के साथ प्रारम्भ में रुक-रुक कर तथा बाद में लगातार रक्त बाहर निकलता रहता है. दो वर्ष से ऊपर की आयु वाले पशुओं को यह बीमारी लगती है और भारतवर्ष में दार्जिलिंग, कुमायूँ, नीलगिरि तथा कुल्लू घाटी जैसे पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले पशुओं तक ही इसका प्रकोप सीमित है. इस रोग के कारण हैं: अधिक मात्रा में आक्सैलेट, फीनोलेट, सिलिकेट से युक्त वनस्पतियों का चरा जाना, शरीर में खनिज लवणों का अभाव, सिस्टोसोम परजीवी कीटों का आक्रमण और **ऐस्पर्जिलस** फफूँदी, तथा **कोराइनेबैक्टीरियम रीनेल** से मिलते-जुलते जीवाणु जो गुर्दे तथा मूत्राशय में क्षोभ उत्पन्न करते हैं आदि. यदि रक्त मिश्रित मूत्र को थोड़ी देर रख दिया जाय तो लाल रक्त कण नीचे बैठ जाते हैं और इतने परीक्षण से बीमारी का निदान हो जाता है. इससे मिलती-जुलती एक प्रोटोजोआ की बीमारी, **पाइरोप्लाज्म रुग्णता** है जिसमें मूत्र में रक्त कण निलम्बित दिखायी पड़ते हैं और इसी आधार पर रक्तमेह से इसका विभेद किया जाता है. यह बीमारी प्रायः दीर्घकालिक होती है और अभी तक इसकी कोई भी विशिष्ट चिकित्सा ज्ञात नहीं हो पायी. रोग की प्रारम्भिक अवस्था में 8–12 दिन तक नित्य एक लाख यूनिट तैलीय पैनिसिलिन का इंजेक्शन देना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है. पशुओं को समुचित मात्रा में खनिज लवण, खाने वाला नमक तथा विटामिनयुक्त संतुलित आहार देना चाहियें. उनके दैनिक आहार में 56–84 ग्रा. कैल्सियम कार्बोनेट अथवा अस्थि-चूर्ण तथा 56 ग्रा. खाने वाला नमक होना चाहिये.

मूत्रनाल में कैल्सियम तथा मैग्नीशियम कार्बोनेट एवं फॉस्फेट लवणों के संचित होने से भारतीय गोपशुओं में आमतौर से मूत्र अश्मरी बनती देखी जाती है. अश्मरी बन जाने से मूत्र मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है जिससे पशु का मूत्र बंद हो जाता है और उसकी मृत्यु तक हो सकती है. अश्मरी को शल्य चिकित्सा द्वारा निकाला जा सकता है. रोगी पशु को पीने के लिये काफी जल तथा विटामिन ए युक्त रसदार हरा चारा देना

चाहिये. पशु आहार में कैल्सियम, फॉस्फोरस तथा मैग्नीशियम का अनुपात भारतीय मानक संस्थान द्वारा निर्धारित माता के अनुरूप होना चाहिये और दाने की मात्रा कम करके खूब व्यायाम कराना चाहिये.

फ्लोरीन रुग्णता अथवा फ्लोरीन विषाक्तता गोपशुओं की एक दीर्घकालिक एवं अनजाने में होने वाली बीमारी है जो लगातार फ्लोरीन लवण लेते रहने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है. इसके लक्षण हैं: वृद्धि का रुकना, लंगड़ाहट, धब्बेदार एवं टेढ़े-मेढ़े दाँत तथा जबड़े एवं पसली तथा पैरों की हड्डियों पर मोटापा. भारतवर्ष में आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश तथा गुजरात में इस बीमारी के होने की सूचना प्राप्त है. दैनिक पशु आहार में यदि फॉस्फोरस की मात्रा कम हो तथा फ्लोरीन उपस्थित हो तो फ्लोरीन विषाक्तता विशेष रूप से देखी जा सकती है. पशु को, विशेष रूप से बरसात के मौसम में, प्रतिदिन 56 ग्रा. अस्थि-चूर्ण खिलाकर इस बीमारी के प्रकोप को रोका जा सकता है. इस बीमारी से बचाव के अन्य आवश्यक उपाय पानी में चूना मिलाकर पिलाना, नित्य 28 ग्रा. ऐलुमिनियम सल्फेट देना तथा राशन में लोह, ताम्र तथा मैंगनीज लवणों को मिलाकर पशु को खिलाना है.

गोपशुओं तथा भैंसों से प्राप्त होने वाले उत्पाद

हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था विशेषतः कृषि पर आधारित है. इसमें गोपशु तथा भैंसों का अपना विशिष्ट स्थान है. मादा पशुओं से हमें दूध प्राप्त होता है तथा नर पशु ग्रामीण यातायात और कृषि कार्यों के लिये आवश्यक चलशक्ति प्रदान करते हैं. दूध का या तो ऐसे ही उपभोग कर लिया जाता है अथवा इससे मक्खन, घी तथा पनीर आदि पदार्थ बनाये जाते हैं. मांस, खाल, हड्डी, सींग, खुर तथा आँत, ग्रन्थियाँ और रक्त जैसे मांस-उद्योग के उपजात इससे प्राप्त होने वाले अन्य पदार्थ हैं.

दूध

देश में काफी बड़ी पशु संख्या होते हुये भी प्रति व्यक्ति दूध की प्राप्ति बहुत कम है, और उपभोक्ताओं की बढ़ती हुयी मांग की अपेक्षा हमारे पशुओं का उत्पादन कम है. भारतवर्ष में दुग्ध-उत्पादन करने वाली इकाइयां काफी छोटी तथा बिखरी हुयी हैं. विभिन्न क्षेत्रों में दुग्ध उत्पादन मे काफी विभिन्नता देखी जाती है और किसी क्षेत्र में पशुओं की संख्या से दुग्ध उत्पादन का अनुमान नहीं लगाया जा सकता.

देश मे गाय-भैंसों तथा बकरियो से प्राप्त होने वाली दूध की कुल मात्रा 1951 में 1.740, 1956 में 1.972 तथा 1961 में 1.984 करोड़ टन थी. 1965–66 के लिये दुग्धोत्पादन का लक्ष्य 2.54 करोड़ टन था. हमारे देश मे प्रति व्यक्ति प्रतिदिन औसतन 130 ग्रा. दूध आता है जो पोषण सलाहकार समिति द्वारा दैनिक उपभोग के लिये स्वीकृत 283 ग्रा. की तुलना में बहुत कम है. औद्योगीकरण तथा घनी आबादी के कारण शहरों मे दूध की माँग अधिक है. नियोजित डेरी योजनाओं वाले क्षेत्रों को छोड़कर कही भी सुसंगठित ढंग से दूध का वितरण नहीं किया जाता. बहुत से क्षेत्रों में दुग्ध सहकारी समितियों का अभी तक गठन नही हो पाया है. दुग्ध-चूर्ण, शिशु दुग्ध आहार, पनीर, मक्खन, आइस-क्रीम जैसे दूध से बने पदार्थों की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है.

भारतवर्ष में दुग्ध-उत्पादन, तथा दूध एवं दूध से बने पदार्थों के उपभोग एवं उपयोग का कोई सही अनुमान अभी तक नहीं लगाया जा सका. फिर भी भारत सरकार के केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन ने देश में दूध तथा दुग्धजन्य पदार्थों के उत्पादन का अनुमान लगाने के लिये एक मान्य सूत्र तैयार किया है. केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा 1961 में तैयार किया गया भारतवर्ष में (प्रादेशिक स्तर पर) गाय-भैंसों से प्राप्त दूध का वार्षिक विवरण सारणी 15 में अंकित है.

देश मे उत्पादित कुल दूध (1.984 करोड़ टन) की मात्रा का 45% दूध 5.10 करोड़ गायों से तथा 55% दूध 2.423 करोड़ भैंसों से प्राप्त होता है. इसमे शहरी क्षेत्रों का योगदान बहुत कम (11.6 लाख टन) है. देश की 3.70% दुधारू गायें शहरों में रहती हैं जिनसे दूध का 6% प्राप्त होता है. शहरी क्षेत्रों में भैंसों की संख्या, देश में पायी जाने वाली दुधारू भैंसों की कुल संख्या की 5.1% है. किन्तु ये कुल दुग्धोत्पादन का 7% दूध देती है. प्रति गाय तथा भैंस के दुग्धोत्पादन का वार्षिक औसत क्रमशः 173 और 491 किग्रा. है.

बढ़ती हुयी जनसंख्या तथा दुधारू गाय-भैंसों की संख्या के आधार पर वर्तमान उत्पादन स्तर के अनुसार भविष्य में प्रति व्यक्ति कितना दूध उपलब्ध हो सकेगा, इसका विवरण सारणी 16 मे दिया गया है. इस सारणी मे दिये गये आंकड़े यह प्रदर्शित करते है कि 1975–76 तक प्रति व्यक्ति प्रतिदिन प्राप्त होने वाले दूध की मात्रा 116 ग्रा. से घटकर 113 ग्रा. रह जायेगी. पोषण सलाहकार समिति द्वारा निर्धारित प्रति व्यक्ति के लिये 283 ग्रा. दूध की आवश्यकता की तुलना में ये आँकड़े दूध की प्राप्ति

सारणी 15 – 1961 में भारतवर्ष में गाय-भैंसों से प्राप्त दूध का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

(हजार टन)

प्रदेश	गाय	भैंस
असम	124	35
आन्ध्र प्रदेश	676	1,092
उड़ीसा	299	60
उत्तर प्रदेश	1,153	2,984
केरल	177	44
गुजरात	560	1,032
जम्मू एवं कश्मीर	51	60
तमिलनाडु	608	419
पंजाब	704	1,758
पश्चिमी बंगाल	359	137
बिहार	1,043	789
मध्य प्रदेश	480	580
महाराष्ट्र	702	631
मैसूर	238	344
राजस्थान	1478	935
केन्द्रीय शासित क्षेत्र	101	187
योग	8,753	11,087

**Indian Statis. Abstr.*, 1967, 62.

तथा आवश्यकता के बीच काफी अन्तर प्रदर्शित करते हैं. इन आँकड़ों से यह भी स्पष्ट है कि देश में दुग्धोत्पादन की बढ़ोत्तरी के लिये आवश्यक कदम उठाने की तत्काल आवश्यकता है.

देश में दुग्धोत्पादन को बढ़ावा देने के लिये दुधारू गाय-भैंसों को अधिक मात्रा में पोषक तत्व तथा हरा चारा दिये जाने तथा छिलका, तैलीय खली और भूसा जैसे समस्त उपलब्ध उपजातों का सदुपयोग करने के विशिष्ट प्रयास होने चाहिये. अतिरिक्त दुग्धोत्पादन के लिये चारे की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति के लिये बरसीम जैसे अधिक पोषक चारे उगाने होंगे.

हमारे देश में जितना दूध पैदा होता है उसका 39% इसी रूप में प्रयुक्त हो जाता है. शेष दूध, दही, क्रीम, मक्खन, घी, खोवा, आइसक्रीम जैसे विभिन्न दुग्ध-पदार्थ बनाने के काम आता है. भारतवर्ष में (राज्यीय स्तर पर) 1961 में दूध के उपयोग का विवरण सारणी 17 में दिया गया है.

विभिन्न प्रदेशों मे दूध के उत्पादन तथा उपभोग में काफी भिन्नता पायी जाती है (सारणी 18). पश्चिमी तथा उत्तरी प्रदेशों की तुलना में पूर्वी तथा दक्षिणी प्रदेशों में प्रति व्यक्ति दूध की खपत काफी कम है. दूध के उपभोग में इतनी अधिक भिन्नता का प्रमुख कारण विभिन्न प्रदेशों में दूध उत्पादन में प्रचुर विभिन्नता का होना ही है.

शहरी क्षेत्रों में दुग्ध-आपूर्ति संतोषजनक नहीं है लेकिन इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों में दूध लाने-लेजाने के लिये समुचित साधनों का अभाव है जिसके कारण देहाती क्षेत्र में उत्पादित दूध की बिक्री के लिये अच्छे बाजारों की भी कमी है. यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों से 80% पेयदूध प्राप्त होता है किन्तु इसकी माँग अधिकतर शहरों मे ही है. शहरी क्षेत्रों में अधिक सख्या में दुधारू पशु होने से मनुष्यों तथा पशुओं में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने का भय रहता है.

दुग्ध आपूर्ति योजनायें – शहरी क्षेत्रों में दुग्ध आपूर्ति के सुधार के लिये भारत सरकार ने एक लाख से अधिक आबादी वाले शहरों तथा कस्बों में अनेक दुग्ध आपूर्ति योजनाएँ चालू करने की रूप-रेखा तैयार की है.

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत राज्यों में डेरी के विकास का कार्यक्रम सम्मिलित था जिसमें कस्बों में दुग्ध आपूर्ति योजनाओं के चलाने की बात थी. प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि मे बम्बई दुग्ध आयोजना के अन्तर्गत 'ऐरे दुग्ध कालोनी' की स्थापना हुयी. ऐसी ही योजनाएँ पूना, हुबली तथा धारवाड़ में भी चलायी गयीं. दूध का संसाधन करने एवं दुग्ध पदार्थों के निर्माण हेतु आनन्द में एक सहकारी दुग्ध संघ की स्थापना की गयी. मध्य प्रदेश, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और बिहार में भी अनेक छोटी-छोटी डेरी योजनायें चालू की गयीं. द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में दिल्ली दुग्ध योजना तथा अहमदाबाद दुग्ध योजना का कार्यक्रम निर्धारित हुआ. 36 दुग्ध आपूर्ति योजनाओं के निर्धारित लक्ष्य में से 15 इसी अवधि में पूरी हो गयीं. अमृतसर और राजकोट में दुग्ध सम्बन्धी पदार्थों के बनाने का एक-एक कारखाना खोला गया तथा बरौनी, अलीगढ़ और जूनागढ़ फार्म पर तीन ग्रामीण क्रीमरियाँ स्थापित की गयीं. वीरनपदी, अविशेखापट्टी, विरुधुनगर और थुवाकुडी (तमिलनाडु) में साल्वेज फार्म स्थापित किये गये. इसी बीच कुछ सहकारी दुग्ध संघ तथा समितियों का भी गठन किया गया जिसके फलस्वरूप 1958–59 तक देश में 2,257 सहकारी दुग्ध आपूर्ति समितियाँ तथा 77 दुग्ध आपूर्ति संघ स्थापित हो चुके थे. तृतीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में ग्रामीण क्षेत्रों में दुग्ध-उत्पादन सम्बन्धी परियोजनाओं तथा बचे हुये दूध एवं दुग्ध पदार्थों को शहरों में बेचने की सुविधायें उपलब्ध कराने पर अधिक ध्यान दिया गया. 55 योजनाओं के निर्धारित लक्ष्य में से दो पूरी हो गयीं और 25 पूरी होने की विभिन्न अवस्थाओं में थीं. इसके अतिरिक्त द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल की बची हुयी 21 योजनायें भी इसी अवधि में पूरी हुयीं. विभिन्न शहरों में 16 डेरी तथा 15 अग्रगामी दुग्ध योजनायें प्रारम्भ की गयीं. छः सुखावक संयंत्रों में से तीन कैरा, मेहसाना और दिल्ली में स्थापित किये गये. आनन्द मे एक पनीर बनाने वाला कारखाना खोला गया और दिल्ली दुग्ध प्रायोजना के अन्तर्गत एक ऐसा अन्य कारखाना खोलने का निश्चय किया गया. आनन्द में पशु आहार बनाने का भी एक कारखाना खोला गया.

तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी सहकारी दुग्ध संघ खोलने का लक्ष्य रखा गया. इन सहकारी परियोजनाओं में निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किये गये : (1) ग्रामीण दुग्ध उत्पादन के विकास एवं उत्पादक सहकारी समितियों के उत्थान हेतु ग्रामीण प्रसार सेवाओं को संगठित करना; (2) दूध के एकत्रीकरण एवं वितरण हेतु सहकारी समितियों/दुग्ध संघों का गठन; (3) पशुओं को खरीदने के लिये कर्ज की व्यवस्था; (4) बचे हुये क्षेत्रों से प्राप्त होने वाले दूध की खपत तथा उपयोग के लिये देहातों में क्रीमरियों की स्थापना करना; और (5) सहकारी साल्वेज फार्मों की स्थापना. राज्यों को दी जाने वाली 31 योजनाओं में से 8 कार्यान्वित हुयीं, और 13 इस अवधि में चलती रहीं. दुग्ध पदार्थ बनाने वाले दो कारखानों की सहकारी संघों द्वारा स्थापना भी होनी थी.

1968–69 में डेरी संयंत्रों की कुल संख्या बढ़कर 91 हो गयी, जिसमें 47 तरल दुग्ध संयंत्र, 4 दुग्ध-उत्पादक बनाने वाले कारखाने, 3 ग्रामीण क्रीमरियाँ तथा 37 अग्रगामी दुग्ध परियोजनायें सम्मिलित थीं. इसके अतिरिक्त 34 अन्य दुग्ध परियोजनायें हैं जिनमें अग्रगामी दुग्ध परियोजनाओं तथा 6 दुग्ध-उत्पाद बनाने वाले कारखानों का विस्तार भी सम्मिलित है. सभी संयंत्रों से कुल मिलाकर औसतन 17 लाख ली. दूध प्रतिदिन प्राप्त होता है. भारतवर्ष में (राज्यीय स्तर पर) चलने वाले डेरी संयंत्रों की कुल उत्पादन क्षमता और उनसे प्रतिदिन प्राप्त मात्रा का 1968 का विवरण सारणी 19 मे प्रस्तुत है.

देश में दुग्ध-चूर्ण तैयार करने का कार्य द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया. तीसरी पंचवर्षीय योजना के अंत तक सार्वजनिक तथा निजी डेरी उद्योगों की अधिकृत उत्पादन-क्षमता इस प्रकार थी: क्रीम उतरा दुग्ध-चूर्ण, 16,256 टन; पूर्णदुग्ध-चूर्ण, 10,160 टन; शिशु दुग्ध आहार, 6,096 टन; संघनित दूध, 8,432 टन; पनीर, 2,438 टन; माल्ट मिश्रित दुग्ध-खाद्य, 3,352 टन; निर्जमित क्रीम, 61 टन; और बटर मिल्क चूर्ण 406 टन. इन दुग्ध उत्पादों के लिये भारतीय मानक निर्धारित किये जा चुके हैं (IS : 1165-1967; 1547-1960; 1166-1957; 2785-1964; 1806-1961; 4421-1967; 4238-1967).

दुग्ध आपूर्ति योजनाओं को दुग्ध-चूर्ण, क्रीम उतरा दुग्ध-चूर्ण, शिशु दुग्ध आहार, पनीर और कभी-कभी घी, मक्खन तथा कैसीन जैसे दुग्ध-उपजात तैयार करने थे. यह अनुमान लगाया गया था

सारणी 16—वर्तमान उत्पादन स्तर पर आधारित गाय तथा भैस के दूध की उपलब्धि में वृद्धि*

वर्ष	बढ़ी हुयी जनसंख्या† (करोड़)	दुधारू पशुओ की बढ़ायी गयी संख्या (करोड़)		बढ़ा हुआ वार्षिक दुग्ध उत्पादन (करोड़ टन)		प्रति व्यक्ति प्रतिदिन दूध की उपलब्धि (ग्रा.)		
		गाय	भैंस	गाय	भैंस	गाय	भैंस	योग
1960–61	43.8	4.55	2.19	0.787	1.075	49	67	116
1965–66	49.2	4.99	2.48	0.859	1.213	48	68	116
1970–71	55.5	5.48	2.80	0.930	1.371	46	68	114
1971–76	62.5	6.01	3.17	1.029	1.550	45	68	113

*Amble *et al.*, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, 35, 229. †योजना आयोग द्वारा अनुमानित.

सारणी 17—भारतवर्ष में 1961 में दूध का उपयोग*

(हजार टन)

प्रदेश	कुल दुग्धोत्पादन	दूध के रूप में प्रयुक्त	दुग्ध-पदार्थों में परिवर्तित दूध						
			दही	क्रीम	मक्खन	घी	खोवा	आइसक्रीम	अन्य
असम	168	95	9	...	8	42	14	...	...
आन्ध्र प्रदेश	1,782	713	210	...	210	631	18	...	...
उड़ीसा	370	222	37	...	...	37	18	...	56
उत्तर प्रदेश	4,212	2,106	211	211	295	842	421	84	42
केरल	233	110	26	†	1	95	1	...	...
गुजरात	1,629	523	127	5	89	852	23	10	...
जम्मू एवं कश्मीर	115	59	16	...	†	39	1	...	...
तमिलनाडु	1,038	693	101	31	73	121	16	3	...
पंजाब	2,485	870	124	75	248	969	149	25	25
पश्चिमी बंगाल	517	269	52	5	26	47	10	5	103
बिहार	1,915	986	230	...	69	607	23	...	...
मध्य प्रदेश	1,093	366	80	2	33	586	25	1	...
महाराष्ट्र	1,407	940	107	23	112	155	46	11	13
मैसूर	591	207	47	3	77	237	17	3	...
राजस्थान	2,524	883	252	25	51	1,136	177	...	...
केन्द्रीय शासित राज्य	296	174	13	†	5	93	7	1	3

**Indian Statis. Abstr.*, 1967, 63. †500 टन से कम.

कि 1971 तक हमे लगभग 30,480 टन दुग्ध-चूर्ण (पूर्ण तथा क्रीम उतरा), 9,144 टन शिशु आहार, 10,160 टन सघनित अथवा वाष्पीकृत दूध, तथा 2,540 टन पनीर की आवश्यकता होगी. यदि तृतीय पंचवर्षीय योजना मे प्रस्तावित सभी कारखाने खोल दिये जाते तो इन उत्पादो मे हमारा देश आत्मनिर्भर हो सकता था. सारणी 20 मे भारतवर्ष मे 1968 मे कार्य कर रहे कारखानों के स्थान उनकी अधिकृत क्षमता तथा उनके द्वारा दुग्ध उत्पादों का निर्माण प्रदर्शित किया गया है.

देश में विभिन्न प्रकार के दुग्ध उत्पादों के निर्माण एवं वितरण के समेकन एवं नियंत्रण के लिये दुग्ध उत्पाद वोर्ड की स्थापना की गयी.

विभिन्न दुग्ध परियोजनाओं के संचालन हेतु स्थानीय दुग्ध-समितियों का गठन किया गया है. दिल्ली, मद्रास, बंगलौर तथा हैदराबाद में अधिनियमित सलाहकार समितियों का भी गठन किया गया है. ऐसा प्रस्तावित किया गया है कि प्रत्येक शहरी दुग्ध-आपूर्ति योजना अधिनियमित सलाहकार समिति के नियंत्रण में कार्य करे. शहर की कुल दूध की आवश्यकता को पूरा करने के लिये योजना तैयार करने तथा दूध के उत्पादन, वितरण एवं उसके गुणों पर नियंत्रण रखने का कार्य भी इसी को सौंपा गया है. प्रत्येक राज्य मे उच्च दुग्ध वोर्ड होगा जो स्थानीय दुग्ध समितियों द्वारा किये गये काम में तालमेल करेगा.

सारणी 18 – भारत में 1961 में प्रति व्यक्ति दूध का दैनिक उपभोग*

प्रदेश	दैनिक उपभोग (ग्रा.)
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	65.25
असम	35.44
आन्ध्र प्रदेश	133.28
उड़ीसा	65.80
उत्तर प्रदेश	224.56
केरल	35.00
गुजरात	104.16
जम्मू एवं कश्मीर	135.80
तमिलनाडु	70.00
त्रिपुरा	61.88
दिल्ली	64.12
पंजाब	365.96
पश्चिमी बंगाल	84.28
बिहार	119.56
मध्य प्रदेश	105.00
मणिपुर	22.96
महाराष्ट्र	66.36
मैसूर	85.40
राजस्थान	182.56
लक्षदीवी द्वीप समूह	7.28
हिमाचल प्रदेश	165.48

*विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

सारणी 19 – भारतवर्ष में 1968 में स्वचालित डेरी संयंत्रों से प्रतिदिन प्राप्त होने वाले दूध का लक्ष्य एवं प्रगति*

प्रदेश	चालू योजनाओं की संख्या	प्रतिदिन के लिए निर्धारित क्षमता	प्रतिदिन का औसत उत्पादन
		(लीटर)	
आन्ध्र प्रदेश	3	55,500	49,467
उड़ीसा	1	6,000	4,621
उत्तर प्रदेश†	8	89,200	25,137
केरल	4	28,000	18,857
गुजरात	8	8,32,000	5,68,041
चंडीगढ़	1	20,000	अनु.
जम्मू एवं कश्मीर	1	10,000	2,256
तमिलनाडु	7	1,67,000	73,146
त्रिपुरा	1	5,600	3,874
दिल्ली	1	2,55,000	2,20,865
पंजाब	1	65,000	35,578
पश्चिमी बंगाल	1	2,00,000	1,37,412
बिहार†	3	17,000	12,623
मध्य प्रदेश	1	10,000	9,402
महाराष्ट्र	5	7,76,000	5,03,492
मैसूर	3	64,500	49,370
राजस्थान	1	20,000	4,824
हरियाणा	1	4,000	3,207
योग	51	26,24,800	17,22,172

*डेरी विकास सलाहकार, भारत सरकार, खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली.

†इन प्रदेशों में क्रीमरी चल रही है. अनु.—अनुपलब्ध.

दिल्ली राज्य (1953–55), मद्रास (1957–59), और कलकत्ता (1960–62) के शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में दूध के उत्पादन मूल्य का अनुमान लगाने के लिये कृषि सांख्यिकी अनुसंधान संस्थान (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्) द्वारा बड़े पैमाने पर यादृच्छिक प्रतिदर्श सर्वेक्षण किये गये. इस कार्यकाल में दूध और उसके अवयवों के उत्पादन का मूल्य जानने तथा दुग्ध उत्पादन की अर्थ व्यवस्था अध्ययन करने की एक तकनीक विकसित की गयी. दुग्ध उत्पादन का अनुमान लगाने के उद्देश्य से इस संस्थान ने कुछ प्रदेशों में 1956–57 से 1961–62 तक यादृच्छिक प्रतिदर्श सर्वेक्षण भी किये हैं.

डेरी उद्योग

भारतवर्ष में डेरी उद्योग का तेजी से विकास हो रहा है. देश में डेरी उद्योग की अब तक हुयी प्रगति की जानकारी के लिये सार्वजनिक तथा सहकारी क्षेत्रों के तत्वावधान में चल रहे कुछ प्रमुख फार्मों की कार्य प्रणाली का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है (Wlth India—Industrial Products, pt III, 1-38).

सैनिक फार्म – सैनिक अस्पतालों तथा अंग्रेजी फौजी टुकड़ियों को दूध तथा दुग्ध उत्पादों की पूर्ति हेतु 1890 में इलाहाबाद में राजकीय डेरी की स्थापना के साथ-साथ सैनिक फार्मों का श्रीगणेश हुआ. अपने आय-व्यय के वार्षिक लेखे में संतुलन रखने के लिये फार्म अर्ध-व्यावसायिक ढंग से कार्य करते रहे हैं और भारतवर्ष में सुसंगठित डेरी उद्योग के विकास में इनका बहुत प्रभाव पड़ा है. ये सैनिक डेरी फार्म फौज तथा अस्पताल एवं जेल जैसे राजकीय संस्थानों के उपभोग के लिये दूध, मक्खन, क्रीम तथा घी आदि पदार्थ तैयार करते है.

इस समय हमारे देश में 35 फार्म, 3 छोटे फार्म, 5 पशु बच्चों तथा दूध न देने वाले पशुओं के फार्म, 32 फार्म भण्डार-घर तथा 11 सूखी घास जमा करने वाले गोदाम हैं. सैनिक फार्मों पर गोपशुओं की कुल संख्या लगभग 20,000 है. इन फार्मों से औसतन 52,737 टन दूध, 292 टन मक्खन, 28 टन क्रीम, 32 टन घी तथा

सारणी 20—भारतवर्ष में 1968 में दुग्ध-उत्पाद बनाने वाले कारखानों की स्थिति, अधिकृत क्षमता तथा उत्पादन* (टनों में)

कारखाने का नाम तथा स्थिति	उत्पाद	अधिकृत क्षमता	वार्षिक उत्पादन
मेसर्स कैरा डिस्ट्रिक्ट कोआपरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर्स यूनियन लिमिटेड, आनन्द	मीठा संघनित दूध	3,000	...
	शिशु दुग्ध आहार	5,000	5,405
	दुग्ध-चूर्ण	4,800	4,137
	पनीर	500	अनु.
मेसर्स मेहसाना कोआपरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर्स यूनियन लिमिटेड, मेहसाना	सम्पूर्ण दुग्ध-चूर्ण	2,400	2,373
	शिशु दुग्ध आहार	1,500	...
मेसर्स सी. एण्ड ई. मार्टन लिमिटेड, मरहौरा (विहार)	मीठा संघनित दूध	720	397
मेसर्स ग्लैक्सो लैबोरेटरीज, अलीगढ़	शिशु दुग्ध आहार	2,500	3,740
मेसर्स हिन्दुस्तान मिल्क फूड मैन्युफैक्चरिंग कं. (प्रा.) (हॉर्लिक्स), नवाह	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	6,000	5,596
	शिशु दुग्ध आहार	228	...
	दुग्ध चूर्ण	228	...
मेसर्स फूड स्पेशियैलिटी लिमिटेड (नेसेल्स), मोगा (पंजाब)	मीठा संघनित दूध	4,000	6,882
	शिशु दुग्ध आहार	670	829
	सम्पूर्ण दुग्ध-चूर्ण	450	...
मेसर्स कैडवरी फ्राई इण्डिया लिमिटेड, वम्वई	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	1,003	1,985
मेसर्स इण्डोहान लिमिटेड, मुजफ्फरनगर	मीठा संघनित दूध	1,080	885
मेसर्स हिन्दुस्तान लीवर लिमिटेड, एटा (उ. प्र.)	मीठा संघनित दूध	1,580	745
	शिशु दुग्ध आहार	1,000	772
मेसर्स साउथ इण्डिया रिसर्च ईस्टीट्यूट, विजयवाड़ा	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	144	16
मेसर्स वाइटालोन रिसर्च ईस्टीट्यूट, मद्रास	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	315	69
मेसर्स आलवीटोन लैबोरेटरीज, मद्रास	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	248	384
मेसर्स फूड, फैट्स एण्ड फर्टिलाइजर्स, वेस्ट-गोदावरी	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	600	151
मेसर्स जगजीत डिस्ट्रीब्यूटिंग एण्ड एलाइड इण्डस्ट्रीज, हमीरा	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	1,800	663
मेसर्स डायर मीकिन ब्रूअरीज मोहन नगर (उ. प्र.)	माल्टयुक्त दुग्ध आहार	60	अनु.
अमृतसर कम्पोजिट मिल्क प्लांट, वर्का, अमृतसर (पंजाब)	दुग्ध-चूर्ण	1,500	460 (67-68के लिये)
राजकोट कंजर्वेशन प्रोजेक्ट, राजकोट (गुजरात)	दुग्ध-चूर्ण	600	372
योग		41,926	35,861

*डेरी विकास सलाहकार, भारत सरकार, खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली.

टिप्पणी—लगभग 18,772 टन दुग्ध-उत्पाद तैयार करने के लिये 9 अन्य कारखानों को लाइसेंस दिया गया है. अनु.—अनुपलब्ध

65,481 टन चारा प्राप्त होता है. ये सैनिक फार्म फौजी हेडक्वार्टर्स से संलग्न, सैनिक फार्म के निदेशक के प्रशासनिक नियंत्रण में कार्य कर रहे हैं.

अधिकांश फार्मों पर पशुओं की हाथ से दुहाई की जाती है. कई फार्मों पर एक दिन में 2,273 किग्रा. से अधिक दूध का पास्तुरीकरण करने वाले संयंत्र लगाये गये हैं. सभी फार्मों पर द्रुतशीतन (चिलिंग) संयंत्र लगाने की भी व्यवस्था की जा रही है.

सैनिक फार्मों में नये भर्ती किये गये रंगरूटों को डेरी के विभिन्न पहलुओं पर प्रशिक्षण भी दिया जाता है. वाहरी लोगों को भी डेरी व्यवसाय सम्वन्धी विधियों की तकनीकी जानकारी करायी जाती है. ये फार्म देश के पशुधन का सुधार करने तथा सैनिकों को डेरी-उत्पाद प्रदान करने के अतिरिक्त सामुदायिक विकास योजनाओं को उन्नत नस्ल के साँड़, तथा निजी पशु-प्रजनकों को एक माह की आयु के वछड़े निःशुल्क प्रदान करते हैं. 4–6 माह की आयु वाले जितने भी वछड़े वच रहते हैं उन्हें विभिन्न राज्यों में उपयोग करने के लिये कृषि मन्त्रालय को सौंप दिया जाता है.

ऐरे मिल्क कालोनी—शहरी क्षेत्रों में दूध के वितरण के लिये ऐरे नामक स्थान पर (अव महाराष्ट्र प्रदेश में सम्मिलित) पशुओं के वसाने का कार्य वम्वई दुग्ध परियोजना का एक सफल प्रयोग रहा है. शहर से 15,000 प्रौढ़ पशुओं को हटाकर तथा उनसे प्राप्त दूध का सदुपयोग करने के लिये ऐरे मिल्क कालोनी की योजना तैयार की गयी थी. 1948 में इस योजना पर कार्य आरम्भ हुआ और केवल अधिकृत पशुओं को ही इसमें लिया गया. इस प्रकार पशुपालकों को अपने वचे हुये पशुओं से छुटकारा लेना पड़ा. पशुपालकों तथा परिचारकों को कालोनी में रहने के लिये स्थान दिया गया. इस वस्ती के वसाने में एक शर्त यह रखी गयी कि यहाँ उत्पादित सारा दूध केवल सरकार के हाथ वेचा जाय तथा यह दूध कालोनी की दुग्धशाला में सरकारी वाल्टियों में भर कर दिन में दो वार पहुँचाया जाय. हिमांक परीक्षण के आधार पर यदि दूध में पानी की मिलावट का पता चल जाता है तो दूधिया पर काफी भारी जुर्माना लगाया जाता है. इस प्रकार दिये गये भैंस के दूध में औसतन 7.6% वसा और 9.3% वसा-विहीन ठोस पदार्थ होते हैं. दूध की लागत पर लगभग 10% लाभ की छूट दी जाती है जिसमें से उन्हें ऋण लिये हुये धन पर व्याज तथा आयकर देना पड़ता है. हर छः महीने वाद लागत के ढाँचे की समीक्षा की जाती है. ऐसा अनुमान है कि एक अच्छा उत्पादक प्रति मास एक भैंस से पर्याप्त लाभ कमा सकता है.

कालोनी से क्रय किया गया तथा आनन्द (गुजरात) से प्राप्त दूध केन्द्रीय दुग्धशाला में संसाधित करके वोतलों में भरा जाता है. 3% वसा तथा 9% वसा-विहीन ठोस पदार्थ युक्त दूध भी ऐरे मिल्क कालोनी की दुग्धशाला में तैयार किया जाता है. वड़े वम्वई क्षेत्र में स्थित लगभग 1,000 वितरण केन्द्रों द्वारा वम्वई के लगभग 15 लाख उपभोक्ताओं को यह दूध वितरित किया जाता है. यहाँ नित्यप्रति लगभग 85,846 किग्रा. भैंस का दूध तथा 85,846 किग्रा. टोण्ड दूध वेचा जाता है.

ऐरे दुग्ध वस्ती में एक पशुपालन अनुभाग है जिसमें पशु चिकित्सा, कृत्रिम वीर्यसेचन, दूध न देने वाली भैंसों को रखने, पशु वच्चों के पालन-पोषण एवं संतति-परीक्षण कार्य की सुविधायें उपलब्ध हैं.

आमूल—कैरा जिला सहकारी दुग्ध उत्पादक संघ लिमिटेड, आनन्द (गुजरात) को आमूल (आनन्द मिल्क यूनियन लिमिटेड) नाम से भी जाना जाता है. आमूल अनेक उत्पादों का व्यापारिक नाम है जो किसी तरह के मध्यस्थों के विना सामूहिक कार्य का अत्युत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है. 1948 में इस संघ का शुभारम्भ हुआ जिसमें दो गाँव दुग्ध-उत्पादन समितियों के कुछ सदस्य थे और इसके अन्तर्गत वम्वई शहर की दुग्ध योजना के लिये नित्य 227 ली. दूध का पास्तुरीकरण किया जाता था. धीरे-धीरे इस संघ ने वर्तमान स्थान वना लिया जिसमें अव 421 समितियाँ तथा 85,000 सदस्य हैं. 1964–65 में इस संघ ने 60,640 टन दूध एकत्रित किया और इसके कुछ अंश का मक्खन, क्रीम, घी, दुग्ध-चूर्ण, शिशु आहार, कैसीन तथा पनीर वना. इन पदार्थों की विक्री से 6.3 करोड़ रुपये की आय हुयी.

यह समिति एक गाँव के 300 से 400 किसानों से दूध लेती है. अलग-अलग कृपकों से प्राप्त दूध का नमूना लेकर उसमें वसा की प्रतिशतता ज्ञात की जाती है और उसी के अनुसार इन कृषकों को दूध के दाम दिये जाते हैं. सभी गाँवों के दुग्ध उत्पादकों को एक जैसा भुगतान किया जाता है. प्रत्येक केन्द्र से प्राप्त दूध का डेरी पर अच्छे तथा खट्टे दूध में वर्गीकरण किया जाता है. अच्छे दूध को अलग तोलकर वसा तथा वसाविहीन ठोस पदार्थ की प्रतिशत मात्रा जानने के लिये उसकी जाँच की जाती है. खट्टे दूध को अलग संसाधित करके उससे कैसीन तथा घी बनाया जाता है. दूध में चिकनाई तथा वसाविहीन ठोस पदार्थों की न्यूनतम मात्रा क्रमशः 6.5% तथा 9% होनी चाहिये. किसानों को अपने दूध की विक्री से नित्य ही लगभग 2–3 रु. प्राप्त हो जाते हैं. इसके अतिरिक्त वर्ष-भर में वे जितना दूध संघ के हाथ वेचते हैं उसी के अनुसार उन्हें भत्ता भी दिया जाता है. प्रत्येक सहकारी समिति अपने लाभांश में से पशुओं को आराम पहुँचाने तथा भवन आदि वनवाने के लिये कृपकों को पैसा भी देती है. कैरा दुग्ध संघ से प्राप्त धन से दुग्ध एकत्रीकरण केन्द्रों की स्थापना की जाती है. दुग्ध-संयंत्रों की स्थापना के लिये यूनाइटेड नेशंस इण्टर-नेशनल चिल्ड्रंस इमर्जेन्सी फंड (यूनीसेफ) की भी सहायता ली गयी है, और इसके वदले यह दुग्ध संघ वच्चों को निःशुल्क दूध प्रदान करता है जिसमें प्रति वर्ष लगभग 12 लाख रुपये का खर्च वैठता है.

1955 में कैरा दुग्ध संघ ने एक नया कारखाना खोलकर प्रति वर्ष और अधिक दूध की खपत करने के लिये अनेक अन्य ग्राम्य दुग्ध उत्पादक समितियाँ वनायी हैं. 1958 में मीठा संघनित दूध वनाने के लिये एक डेरी कारखाना खोला गया. 1960 में 2,540 टन शिशु-आहार तथा पनीर वनाने के लिये इस कारखाने का विकास किया गया और केन्द्रीय खाद्य औद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर की तकनीकी सहायता से शिशु-आहार प्रायोजना चालू की गयी. भारतवर्ष में पहली वार कैरा दुग्ध संघ ने दुग्ध चूर्ण, संघनित दूध तथा शिशु-आहार तैयार किया है.

1963–64 की अवधि में कुल 6.03 करोड़ रुपये की आय हुयी जिसमें से 2.7 करोड़ रुपये का दूध वेचा गया तथा 3.3 करोड़ रुपये दुग्ध उत्पादों (मक्खन, दुग्ध-चूर्ण, संघनित दूध, कैसीन, शिशु-आहार) की विक्री से प्राप्त हुये. 1967–68 में दूध तथा दुग्ध उत्पादों की विक्री से 13.38 करोड़ रुपये की आय हुयी.

डेरी के कार्य में रुचि रखने वाली संस्थाओं तथा अन्य दुग्ध परियोजनाओं को तकनीकी राय देने के अतिरिक्त यह संघ देश की विभिन्न दुग्ध परियोजनाओं के लिये लोगों को प्रशिक्षण देने का भी कार्य करता है. भारत सरकार, गुजरात तथा अन्य राज्य सरकारों के तकनीकी सलाहकार के रूप में भी यह संघ कार्य करता है.

आमूल का कार्यक्षेत्र अव और भी अधिक वढ़ गया है. भुखमरी से छुटकारा दिलाने के कार्यक्रम के अन्तर्गत 'आक्सफोर्ड अकाल मुक्ति योजना' की सहायता से आनन्द से 7.5 किमी. दूर कंजारी नामक गाँव में एक पशु-आहार संयंत्र स्थापित किया गया है. इस नवीन खाद्य-मिश्रण संयंत्र से तैयार किया गया पशु-आहार 'आमूलदान' के नाम से वाजार में वेचा जाता है.

दूध उत्पादकों के वीच आमूल ने कृत्रिम वीर्यसेचन कार्य को काफी लोकप्रिय वनाया है. पतला किया हुआ संरक्षित वीर्य आनन्द की दुग्धशाला से दुग्ध एकत्रित करने वाले ट्रकों के द्वारा सभी ग्राम्य कृत्रिम वीर्यसेचन उपकेन्द्रों पर भेजा जाता है. यह विधि काफी सस्ती, प्रभावी एवं लोकप्रिय सिद्ध हुयी है. इसमें पूरी-पूरी सेवा निःशुल्क की जाती है. सहकारी समितियों के पशुओं की निःशुल्क चिकित्सा के लिये 6 चल-चिकित्सालय भी कार्य कर रहे हैं.

1949–50 में वंगाल में हेरिंघाटा पशु अनुसंधान केन्द्र अथवा केन्द्रीय पशुधन अनुसंधान एवं प्रजनन केन्द्र की स्थापना हुयी. इसका उद्देश्य उन्नत नस्ल की गायों, भैंसों, वकरियों, सुअरों तथा मुर्गियों के वच्चों का वैज्ञानिक ढंग से पालन-पोषण करके उनके गुण निश्चित होने तथा संतति के वातावरण के अनुकूल वनाने के वाद वैज्ञानिक ढंग से प्रजनन करा कर पशुओं को वितरित करना है. इस केन्द्र में पशुओं की देखभाल तथा अन्य संवन्धित विषयों पर अनुसंधान करने की भी व्यवस्था है. हेरिंघाटा दुग्ध कालोनी न होकर पशु उपनिवेश माना जा सकता है. इस केन्द्र पर वर्ष-भर हरा तथा संरक्षित चारा काफी मात्रा में उपलब्ध रहता है. यहां कलकत्ता से वहुत वड़ी संख्या में गोजातीय पशु भेजे गये हैं. यहाँ पर रखे गये पशुओं को चरागाहों पर चरने के लिये नहीं भेजा जाता वरन् उन्हें पशुशाला में वाँधकर ही खिलाया जाता है.

प्रारम्भ में जिस यूथ में 200 हरियाना गायें, 40 मुर्रा भैंसें और 3 साँड़ थे, उसमें अव 1,800 गायें, 250 भैंसें तथा काफी संख्या में प्रजनक साँड़ हो गये हैं. गहन चुनिंदा प्रजनन द्वारा हरियाना नस्ल का एक यूथ तैयार किया गया है जिससे प्रति गाय दैनिक दूध का औसत 3.25 किग्रा. से वढ़कर 4.54 किग्रा. हो गया है. ग्रामीण क्षेत्रों के स्थानीय पशुओं के सुधार के लिये युवा साँड़ों का उपयोग किया जाता है. इस फार्म पर **जर्सी** नस्ल के साँड़ों के वीर्य से **हरियाना** नस्ल की वर्णसंकर वछियाँ तैयार की गयी हैं. **गिर, लाल सिन्धी, साहीवाल, थारपारकर** तथा **हरियाना** जैसी लोकप्रिय नस्लों की शरीरक्रियात्मक आनुवंशिकी का अध्ययन भी यहाँ किया जा चुका है. इस फार्म पर कुक्कुटों, वकरियों तथा सुअरों और चारा एवं घास अनुसंधान की अलग-अलग इकाइयाँ हैं. यहाँ हरा चारा देने वाली पछेती ज्वार की किस्म तैयार की गयी है जिससे नवम्बर तथा दिसम्बर के वीच भी जव हरे चारे का काफी अभाव रहता है, चारे की पूर्ति की जा सकती है.

1949–50 में प्रायोगिक डेरी पर छोटी-सी पास्तुरीकरण इकाई की स्थापना से कलकत्ता शहर की अर्ध-व्यावसायिक दुग्ध आपूर्ति योजना की नींव पड़ी. यहाँ हेरिंघाटा के निकटवर्ती ग्रामीण

दुग्ध उत्पादकों से दूध एकत्रित किया जाता है. प्रारम्भ में इस डेरी में 2,041 ली. दूध की नित्य खपत होती थी जो अब बढ़कर 15,000 ली. हो गयी है. अब भी कलकत्ता की दूध की माँग अधिकतर शहर में स्थित अनेक खटालों द्वारा उत्पादित दूध से ही पूरी होती है.

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत में बृहत् कलकत्ता दुग्ध-आपूर्ति योजना को तीन चरणों में चलाने का निश्चय किया गया. पहले चरण में 1,272 दुधारू पशु, उनके बच्चों तथा पशु-पालकों को रहने के लिये भवन आदि की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया. दूसरे चरण में कल्याणी पर ऐसी ही तीन इकाइयाँ स्थापित करने तथा 283.3 हेक्टर का एक चरागाह बनाने की योजना तैयार की गयी. तीसरे चरण मे 12 अन्य दुग्ध-वस्तियाँ बसाने, कल्याणी पर 929 हेक्टर का एक चरागाह खोलने, सूखे पशुओं के लिये दो पशुशाला बनाने तथा कलकत्ता मे नित्य 2,00,000 ली. दूध का पास्तुरीकरण करके बोतलों में भरने के लिये एक केन्द्रीय दुग्ध-शाला खोलने और दुग्ध वितरण हेतु गुमटियाँ स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया.

हेरिघाटा केन्द्र मे पहले लगभग 607.5 हेक्टर कृष्य भूमि थी जो अब बढ़ाकर 1,212 हेक्टर कर दी गयी है. 1,85,000 किग्रा. हरे चारे की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति अब हेरिघाटा तथा कल्याणी स्थित दोनों फार्मो से होगी.

दिल्ली दुग्ध योजना – नवम्बर 1, 1959 को भारत सरकार के खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग) ने इस प्रायोजना का श्रीगणेश किया. इसके दो प्रमुख उद्देश्य थे: एक तो यह कि राजधानी मे रहने वाले लोगों को उचित मूल्य पर अच्छा दूध मिले, और दूसरे कि ग्रामीण क्षेत्रों के दुग्ध उत्पादकों को लगातार धनोपार्जक बाजार मिल जाने से अधिकतम दूध का उत्पादन हो सके. यह योजना बिना लाभ-हानि के आधार पर चलायी जा रही है और आजकल इसमे 1,94,000 ली. दूध का नित्य आदान-प्रदान होता है. इसकी दैनिक क्षमता 2,61,300 ली. है.

दिल्ली की यह दुग्ध योजना, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता मे चलायी गयी ऐसी ही योजनाओं से इस बात में भिन्न है कि इसमें पशु बस्तियों से दूध इकट्ठा न करके ग्रामीण क्षेत्रों से किया जाता है. दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा तथा पंजाब के चारों ओर ग्रामीण क्षेत्रों मे स्थित दुग्ध एकत्रीकरण एवं द्रुतशीतन केन्द्रों के माध्यम से यह अपनी दूध की मांग की पूर्ति करती है. ऐसे प्रस्तावित 20 केन्द्रों में से केवल 17 को खोलने की मान्यता मिली है, जिनका कार्य पूरा होने की विभिन्न अवस्थाओं मे है. प्रत्येक केन्द्र मे दूध की जाँच करने, तौलने, द्रुतशीतन करने तथा भण्डारण हेतु आधुनिकतम डेरी उपकरण उपलब्ध है और ये इस प्रकार बनाये गये है कि इनमे नित्य 15,000 ली. दूध सभाला जा सकता है. रासायनिक, जीवाणु सम्बन्धी तथा अन्य परीक्षणों द्वारा दूध की विशुद्धता तथा ताजगी की जाँच की जाती है. जाड़ों में दूध की आवश्यक मात्रा प्राप्त करने मे कोई कठिनायी नही पड़ती, किन्तु गर्मियों में दूध की इतनी मात्रा प्राप्त करना सरल नहीं होता. जितना भी दूध स्वीकृत कर लिया जाता है उसे तौल कर शीघ्रता से 3° तक द्रुतशीतन करके 36 घंटे तक अच्छी अवस्था में भण्डारित रखा जा सकता है. क्रय किया गया दूध अधिकतर भैंसों का ही होता है किन्तु बीकानेर से गाय का दूध भी प्राप्त होता है.

बाजार भाव पर ही दूध क्रय किया जाता है. यह विशेषतया उसमें उपस्थित वसा तथा वसा-विहीन ठोस पदार्थो की प्रतिशतता पर निर्भर करता है. फिर इसे दुग्ध एकत्रीकरण केन्द्रों तथा द्रुत-शीतन केन्द्रों पर द्रुतशीतित किया जाता है. तत्पश्चात् 7,500 ली. धारिता वाली रोधक चल-टंकियों में भरकर इसे दिल्ली स्थित केन्द्रीय डेरी पर ले जाया जाता है. जब तक बीकानेर में द्रुत-शीतन केन्द्र की स्थापना नही होती तब तक यहाँ की गाय का दूध हिमीकृत अवस्था में रेल द्वारा यहाँ लाया जाता है. दूध की कमी को पूरा करने के लिये दिसम्बर 1968 से मेहसाना सहकारी संघ ने नित्य 12,000 ली. दूध देना प्रारम्भ कर दिया है.

दिल्ली की केन्द्रीय दुग्धशाला में दूध के संसाधन एवं भण्डारण तथा मक्खन, घी, आइसक्रीम, सुरस एवं जीवाणुरहित दूध, क्रीम, मखनिया दुग्ध-चूर्ण और संघनित दूध जैसे दुग्ध-उत्पाद बनाने के लिये आधुनिकतम उपकरण प्राप्त हैं. इस प्रकार यहाँ आवश्यकता से अधिक दूध का वर्ष-भर उपयोग होता रहता है. केन्द्रीय दुग्ध-शाला में नित्य लगभग 5 लाख बोतल दूध तथा दुग्ध-उत्पाद तैयार किये जाते हैं जिन्हें 900 से अधिक विभागीय दुग्ध भण्डारों एवं 10 दुग्ध स्टालों तथा अन्य निजी व्यावसायिक केन्द्रों द्वारा जनता को बेच दिया जाता है. प्रारम्भ मे 1959–60 में 36 लाख ली. भैंस का दूध तथा 44.8 हजार ली. गाय का दूध आता था. 1967–68 में इसकी अपेक्षा अधिक दूध प्राप्त हुआ. आजकल 5.452 करोड़ ली. भैंस का दूध तथा 33 लाख ली. गाय का दूध प्राप्त होता है. इससे इस योजना द्वारा नित्य 2,60,000 ली. दूध का वितरण होता है और इस प्रकार राजधानी की लगभग 35% जनता को दूध मिलता है.

दुग्ध-उत्पाद

देश मे बनने वाले दुग्ध-उत्पाद विभिन्न प्रकार के होते है और ये विभिन्न प्रदेशों के लोगों की रुचि एवं स्वाद के अनुसार तैयार किये जाते हैं. पनीर, संघनित दूध तथा दुग्ध-चूर्ण जैसे डेरी उत्पाद भारतवर्ष में बहुत ही सीमित मात्रा में बनाये जाते है और उनके उत्पादन आँकड़े उपलब्ध नही हैं. इसके विपरीत दही, मक्खन, घी, खोवा, आइसक्रीम आदि व्यावसायिक स्तर पर तैयार किये जाते हैं (इनके रासायनिक संघटन एवं मानक स्तर के लिये देखे Dairy Industry—Wlth India–Industrial Products, pt III, 24-38). 1961 की पशु गणना पर आधारित भारतवर्ष में (प्रादेशिक स्तर पर) कुछ दुग्ध-जन्य पदार्थो का अनुमानित वार्षिक उत्पादन सारणी 21 में दिया गया है.

लैक्टिक अम्ल का जामन डालकर दूध को खट्टा करके दही तैयार किया जाता है. इसे या तो ऐसे ही खाया जाता है या फिर मक्खन बनाने में उपयोग किया जाता है. खाने के लिये गाय तथा भैंस के दूध से दही तैयार किया जाता है. भारतवर्ष में उत्पादित कुल दूध (15,68,000 टन) का 8% दही में परिवर्तित कर लिया जाता है.

भारतवर्ष मे क्रीम का उत्पादन कुछ उन्हीं शहरी केन्द्रों तक सीमित है जहाँ मक्खन की अधिक माँग है. इसे अपकेन्द्रण द्वारा दूध से अलग किया जाता है. भारतवर्ष में अलीगढ़, आनन्द तथा पटना क्रीम व्यवसाय के प्रमुख केन्द्र हैं. भारतवर्ष में उत्पादित

सारणी 21 – भारतवर्ष में दुग्ध-उत्पादों का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

(टनों में)

प्रदेश	दही†	क्रीम	मक्खन	घी	खोवा‡	आइसक्रीम	छेना§
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	7	...	...	1	...	...	...
असम	24,173	...	284	1,422	1,422	1,185	4,266
आन्ध्र प्रदेश	2,41,485	416	8,655	22,095	4,806	2,600	...
उड़ीसा	52,458	...	...	3,279	3,93'	...	14,754
उत्तर प्रदेश	1,40,655	26,373	17,230	35,164	87,910	49,230	8,791
केरल	4,666	...	1,704	2,113	..	...	...
गुजरात	73,693	546	3,824	31,915	3,945	7,588	...
जम्मू एवं कश्मीर	15,111	...	15	2,642	189	..	...
तमिलनाडु	1,23,102	9,854	8,884	9,084	5,151	5,509	...
त्रिपुरा	1,516	...	...	81	...	...	1,010
दिल्ली	3,590	36	87	905	453	785	...
पंजाब	1,60,282	12,148	23,620	80,984	50,615	42,180	...
पश्चिमी बंगाल	67,122	755	4,195	4,531	3,356	6,712	38,595
बिहार	2,73,244	2,574	7,920	11,880	14,256	20,790	7,128
मणिपुर	356	...	23	98	155	...	...
मध्य प्रदेश	74,335	246	2,507	32,709	6,873	1,309	...
महाराष्ट्र	96,796	3,611	7,610	9,576	18,778	8,642	1,204
मैसूर	35,327	257	4,673	10,269	3,851	3,145	...
राजस्थान	1,78,324	1,981	3,170	53,457	34,674	...	...
लक्षदीवी, मिनिकोय एवं अमीनदीवी द्वीप समूह	6	...	...	1	...	...	...
हिमाचल प्रदेश	1,779	...	65	4,340	393	...	...

*1961 की पशु गणना पर आधारित, विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.
†लैक्टिक एसिड के जामन द्वारा दूध को खट्टा करके तैयार किया गया. ‡गर्म करके वाष्पीकरण द्वारा तैयार किया गया दुग्ध पदार्थ.
§अम्ल स्कंदित देशी दुग्ध-उत्पाद

कुल दूध में से 58,000 टन दूध क्रीम बनाने के काम आ जाता है. इससे निकला हुआ दूध, सघनित दूध, दुग्ध-चूर्ण, बटर मिल्क तथा पनीर बनाने में प्रयुक्त होता है. भैंस के दूध से 10%, गाय के दूध से 6% तथा मिश्रित दूध से 7.5% क्रीम प्राप्त होती है.

मक्खन, दुग्ध-वसा, बटर मिल्क तथा पानी का मिश्रण होता है इसमें विशेष गंध तथा फैलने का गुण होता है. 1961 की पशु गणना के आधार पर भारतवर्ष में प्रतिवर्ष 94,400 टन मक्खन के उत्पादन का अनुमान लगाया गया है इसमें से 90% से अधिक देशी मक्खन होता है जो दही से तैयार किया जाता है तथा शेष क्रीमरी बटर कहलाता है. पंजाब, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, बिहार तथा गुजरात मक्खन बनाने वाले प्रमुख राज्य हैं. आनन्द, अलीगढ़ तथा अन्य शहरी केन्द्रों पर स्थित कुछ डेरियों द्वारा क्रीमरीबटर तैयार किया जाता है. देशी मक्खन ऐसे ही खाने अथवा घी बनाने तथा रसोईघरों के काम आता है जबकि क्रीमरी बटर का मेज पर ही अधिक उपयोग होता है.

घी स्वच्छ किया हुआ मक्खन होता है जो मक्खन में से पानी निकालने के बाद प्राप्त होता है. डेरी उत्पाद के रूप में दूध के बाद इसी का अधिक महत्व है और इसे काफी दिनों तक रखा जा सकता है. गर्म जलवायु वाले समस्त देशों में इसे मक्खन से अधिक पसंद किया जाता है. भारतवर्ष में दूध का दही जमाकर, उससे मक्खन निकालकर तथा उसमें से पानी को अलग करने के लिये उसे गर्म करके घी बनाने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है. घी बनाने के लिये क्रीमरी बटर की अपेक्षा देशी मक्खन अधिक पसन्द किया जाता है क्योंकि इससे प्राप्त घी में अच्छी गंध आती है और यह देखने में भी अच्छा लगता है. 1961 की पशु गणना के आधार पर यह अनुमान है कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष 3,16,500 टन घी तैयार होता होगा, जिसका मूल्य लगभग 402 करोड़ रुपये है. उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार, घी बनाने वाले प्रमुख राज्य हैं. भारतवर्ष में उत्पादित कुल घी का लगभग 79% रसोई घरों में, 19% मिठाइयाँ बनाने तथा 2% अन्य कार्यों में प्रयुक्त होता है.

खोवा – यह दूध के पानी को उड़ा करके तैयार किया जाता है. इस कार्य के लिये प्राय: भैंस का दूध अधिक पसन्द किया जाता है. खोवा या तो ऐसे ही उपभोग में लाया जाता है अथवा मिठाइयाँ

बनाने के काम आता है. उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, वरेली, आगरा, मथुरा, सहारनपुर तथा वाराणसी; विहार में पटना तथा गया; पंजाव में अम्वाला तथा फीरोजपुर और हरियाणा में रोहतक, खोवा बनाने के प्रमुख केन्द्र हैं. भारतवर्ष में 2,40,700 टन दूध खोवा वनाने में प्रयुक्त होता है जो कुल दूध का 0.6% है.

आइसक्रीम–यह हिमीकृत एवं सुगंधयुक्त उत्पाद है जिसमें दूध प्रमुख अवयव के रूप में रहता है. कुल्फी तथा मलाई की वरफ आइसक्रीम के देशी उत्पाद हैं. देश में उत्पादित कुल दूध का 0.5% अथवा 1,49,700 टन दूध आइसक्रीम उत्पाद वनाने में प्रयुक्त होता है. मानक विधियों द्वारा वड़े पैमाने पर आइसक्रीम का उत्पाद वड़े शहरों में होता है (IS : 2802–1964).

सारणी 22 – 1960–61 में भारतवर्ष में दूध तथा दुग्धोत्पादों की मात्रा एवं मूल्य*

	उत्पाद (हजार टन)	औसत मूल्य (रु./टन)	उत्पाद का मूल्य (करोड़ रु.)
दूध के रूप में**	11,792	514.57	606.78
घी	374	5,774.92	215.87
मक्खन	85	4,883.53	41.51
लस्सी	7,907	157.05	124.18

*Revised and conventional estimates of net products from agriculture, 1960-61—Brochure on Revised Series of National Product for 1960-61 to 1964-65 (Central Statistical Organisation, Department of Statistics, Govt. of India), 1967.

**घी, मक्खन तथा लस्सी के अतिरिक्त अन्य दुग्धजन्य पदार्थों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाला दूध इसमें सम्मिलित है.

सारणी 23 –1960–61 से 1975–76 तक की अवधि में प्रति व्यक्ति दूध की अनुमानित उपलब्धि*

	1960–61	1965–66	1970–71	1975–76
जनसंख्या (करोड़)	43.8	49.2	55.5	62.6
दूध का उपभोग करने वाले लोगों की संख्या (करोड़)	37.6	42.3	47.7	53.7
283 ग्रा. प्रतिदिन के हिसाव से दूध की आवश्यकता (करोड़ टन)	3.8	4.3	4.8	5.4
गाय तथा भैंसों की संख्या पर आधारित दूध की उपलब्धि (करोड़ टन)	2.2	2.5	3.2	4.1
योजना के अंत में उपलब्धता (ग्रा.)	144	164	198	215

*Report of the Working Group on Fourth Five Year Plan for Animal Husbandry, Ministry of Food & Agriculture (Department of Agriculture), New Delhi.

भारतवर्ष में उत्पादित कुल दूध का लगभग 0.4% अथवा 75,750 टन दूध छेना (दूध को फाड़कर वनाया जाने वाला पदार्थ), लस्सी (वसा-रहित वटर मिल्क) आदि जैसे अन्य दुग्ध उत्पाद वनाने के काम आता है. 1960–61 के अनुमान के अनुसार दूध तथा दुग्ध उत्पादों की मात्रा तथा उनके मूल्य सारणी 22 में दिये हुये हैं.

1960–61 से 1975–76 तक जितनी जनसंख्या होगी तथा दूध की जो अनुमानित उपलब्धि होगी उसके आधार पर प्रति व्यक्ति दूध की उपलब्धि सारणी 23 में दी हुयी है.

मांस

मांस की प्राप्ति अधिकतर स्तनियों, विशेषतया शाकाहारी तथा कुछ सर्वाहारी पशुओं से होती है. मांसाहारी पशुओं का मांस कभी-कभी ही मनुष्य के उपभोग में आता है. गाय-भैंस जाति के पशु, भेड़-वकरियाँ तथा सुअर मांस उत्पादक पशु हैं.

यद्यपि भारतवर्ष में मांस की खपत दिन-प्रति-दिन वढ़ती जा रही है, फिर भी यह यहाँ के लोगों का मुख्य भोजन नहीं है. 1961 की जनगणना के अनुसार देश की 67% जनसंख्या मांसाहारी थी. इसमें से अधिकांश लोग धार्मिक विरोध के कारण गाय का मांस खाना पसंद नहीं करते तथा कुछ लोग सुअर का मांस नहीं खाते. शहर के रहने वाले लोग ही मांस अधिक खाते हैं. भारतवर्ष में भेड़ों तथा वकरियों से ही अधिकांश मांस प्राप्त होता है. 1958–59 में देश मे 1,58,854 टन भेड़ के मांस का तथा 3,19,496 टन वकरी के मांस का उत्पादन हुआ. 1960–61 में भारतवर्ष में कुल 1,56,000 टन गोमांस तथा भैंस का मांस उत्पादित हुआ जिसका मूल्य 13.73 करोड़ रुपये था. कुछ प्रदेशों में आंशिक तथा कुछ में पूर्णतया गोवध पर रोक लग जाने से देश में गोमांस तथा भैंस के मांस के उत्पादन में लगातार कमी हुयी है. भेड़-वकरियों के मांस में से वकरी के मांस की माँग अधिक है.

मांसोत्पादन का सम्बन्ध पशुधन की कुल संख्या, वध्य पशुओं की संख्या तथा विभिन्न पशुओं से प्राप्त होने वाली मांस की संसाधित मात्रा से है. वध किये जाने वाले पशुओं की संख्या के वारे में उपयुक्त आँकड़े प्राप्त न होने से भारतवर्ष में वार्षिक मांसोत्पादन का सही-सही अनुमान लगाना कठिन है.

1958–59 में विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, नागपुर द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार भारतवर्ष में वार्षिक अनुमानित मांसोत्पादन 5,11,996 टन था. देश में उत्पादित मांस की कुल मात्रा में से वकरी का मांस 44.4, भेड़ आदि का (मटन) 21.5, भैंस का 17.8, गोमांस 11.7 तथा सुअर का मांस (पोर्क) 4.6% था. 1958–59 की अवधि मे भारतवर्ष में (राज्यस्तर पर) गाय तथा भैंस के मांस का अनुमानित उत्पादन सारणी 24 में अंकित है.

विशेषकर वड़े शहरों में मांस की पूर्ति केन्द्रीय स्थानों से प्राप्त मांस से की जाती है जहाँ काफी अधिक मात्रा में तैयार मांस विकता है. ऐसे केन्द्रीय स्थान सार्वजनिक कसाईखाने अथवा पशुवध-गृह हैं जहाँ पशुओं को काटने के पहले उनका निरीक्षण करके वाद में शव परीक्षण भी किया जाता है. फिर मांस को साफ करके वाजार के लिये तैयार किया जाता है. मांस-उच्छिष्ट निकाल कर अलग फेंक दिया जाता है अथवा किसी अन्य काम में उपयोग कर लिया जाता है. पशुवध-गृहों से निकलने वाले अखाद्य

पदार्थों में पैर, सिर, फेंफड़े, श्वासनली, प्लीहा, कतरन, अयन तथा आँत सम्मिलित हैं, जिनका मूल्य 35 लाख रुपये है किन्तु ये बेकार चले जाते हैं. इसमें से जितना पदार्थ पुन: प्राप्त कर लिया जाता है उसका लगभग 40% पशु-आहार के रूप में कुत्तों तथा बिल्लियों के उपभोग में आता है.

भारतवर्ष में सार्वजनिक तथा निजी दो प्रकार के पशुवध-गृह हैं. पहले प्रकार के पशुवध-गृह सार्वजनिक संस्थाओं तथा नगर-पालिकाओं के नियंत्रण में कार्य करते हैं. देश में लगभग 1,278 पशुवध-गृह हैं और इनमें प्रतिवर्ष लगभग 3.94 करोड़ पशु वध किये जाते हैं. केवल कुछ पशुवध-गृह ही ऐसे हैं जिनमें नित्य 5,000 से अधिक पशु वध किये जाते हैं तथा अधिकांश पशुवध-गृहों में 20 से भी कम पशु नित्य वध किये जाते हैं. विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय द्वारा लगाये गये अनुमान के अनुसार प्रति वर्ष वध किये जाने वाले पशुओं की संख्या इस प्रकार है: गोपशु, 7,45,348; भैंसें, 6,94,384; भेड़ तथा बकरियाँ, 3,73,31,470 तथा सुअर 7,01,490.

भारतवर्ष में पशुओं का वध धार्मिक नियमों के अनुसार ही किया जाता है. उदाहरणार्थ, मुसलमान तथा यहूदी जाति के लोग हलाल विधि से (गला काटकर) तथा सिक्ख और हिन्दू झटका विधि (एक ही वार में पशु को मारकर) द्वारा पशुओं का वध करते हैं. मारने के पहले पशुओं को भूखा रखकर खूब आराम करने दिया जाता है. अच्छी किस्म का मांस प्राप्त करने के लिये शव से पूरा रक्त निकाल देना चाहिये जिससे रखने पर वह तुरन्त बिगड़े नहीं. हलाल विधि से मारे गये पशुओं से प्राय: ऐसा ही मांस प्राप्त होता है. इसके विपरीत झटका विधि से वध किये गये पशुओं के शरीर से पूरा रक्त न निकल पाने के कारण उनसे प्राप्त मांस शीघ्र ही खराब होने लगता है तथा पकाने पर काला पड़ जाता है.

पशु को मारने तथा रक्त निकालने के बाद शव (लोथ) का संसाधन होता है. ढोर, भेड़ तथा बकरियों में पहले खाल उतारी जाती है, लेकिन सुअरों में खाल न उतार कर उसे झुलसा कर तथा जलाकर त्वचा पर से बाल नष्ट कर दिये जाते हैं. शव को साफ करने तथा मांस के टुकड़े तैयार करने के ढंग विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होते हैं. भारतवर्ष में इसके लिये कोई एक विधि नहीं अपनायी जाती. मांस के टुकड़े बेढंगे तरीके से तैयार किये जाते हैं. भेड़-बकरियों का वध करने तथा ड्रेसिंग करने में सोलो-विधि अपनायी जाती है जिसमें पशु पर किया जाने वाला कुल कार्य केवल एक ही मनुष्य द्वारा किया जाता है.

तत्काल वध किये गये पशु का मांस प्राय: कुछ-कुछ चीमड़-सा होता है. मृत्युज काठिन्य अथवा मांसपेशियों का कड़ापन मांस की गुणता सुरक्षित रखता है और इसे अधिक मुलायम तथा स्वादिष्ट बनाता है. मृत्युज काठिन्य प्रारम्भ होने से पूर्व पकाया गया मांस कड़ा, अस्वादिष्ट तथा खाने में खराब होता है. मांस में उत्पन्न अम्ल तन्तु के संयोजी ऊतकों को मुलायम तथा चिकना बनाता है और पेशी तन्तुओं को शिथिल करके उसे अधिक लचीला तथा स्वादिष्ट बनाता है. मांस को मुलायम बनाने की घरेलू विधि इसकी तह पर दही अथवा सिरका (ऐसीटिक अम्ल) लगाने की है.

अच्छे तथा स्वस्थ मांस में निम्न प्रकार के गुण होने चाहिये: इसका रंग न तो पीताभ-गुलाबी हो और न गहरा नीललोहित हो (पहले रंग से पशु के रोगी होने की तथा दूसरे से पशु के वध न किये जाने की सूचना मिलती है); देखने में संगमरमर के समान हो, छूने

सारणी 24 – 1958–59 में भारतवर्ष में गोमांस तथा भैंस के मांस का अनुमानित उत्पादन*

(टनों में)

प्रदेश**	गोमांस	भैंस का मांस
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	0.6	2.8
असम	1,390.7	...
आंध्र प्रदेश	3,997.3	2,784.9
उड़ीसा	1,088.7	39.7
उत्तर प्रदेश	...	65,154.2
केरल	4,742.4	400.6
तमिलनाडु	6,328.8	679.2
दिल्ली	...	3,074.6
पश्चिमी बंगाल	14,924.6	2,301.3
बिहार	2,706.6	1,857.4
मणिपुर	790.6	665.7
मध्य प्रदेश	4,556.5	2,058.1
महाराष्ट्र†	16,923.1	9,185.0
मैसूर	2,301.6	852.1
राजस्थान	...	1,890.8
योग	59,751.5	90,946.4

*विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर

**हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, लक्षदीवी, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप समूह, पंजाब और त्रिपुरा के आँकड़े अप्राप्य हैं.

†आँकड़े पूर्ववर्ती बम्बई राज्य के हैं.

सारणी 25 – बाजार में उपलब्ध विभिन्न प्रकार के मांस की विशेषतायें*

मांस	रंग	वसा	
		प्रगाढ़ता	सामान्य रंग
गोमांस	लाल	कुछ-कुछ कड़ा	हल्का रंग लिये हुये सफेद
ऊँट का मांस	लाल	कुछ-कुछ कड़ा	हल्का पीला
भैंस का मांस	गहरा लाल	कड़ा	बिल्कुल सफेद
भेड़ तथा बकरी का मांस	हल्का लाल	काफी कड़ा	बिल्कुल सफेद
सुअर का मांस (पोर्क)	हल्का लाल	बहुत मुलायम	धूसर सफेद
घोड़े का मांस	गहरा लाल	मुलायम	सफेद या पीला

*Agarwala, *Farm Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.* (*NS*), No. 15, *1964*, 55.

मे मजबूत तथा लचीला हो, अच्छी गंध का हो तथा पकाने पर न तो इसमें सकुचन हो और न छीजे तथा 100° पर सुखाने पर भार मे 70 से 75% से अधिक कमी न हो, हल्की गुलाबी-लाल अस्थि मज्जा से युक्त हड्डियाँ भी रहे, इनका भार मास के भार का 20% हो तथा समुचित अनुपात मे वसा भी रहे. जब मास सडने लगता है तो वह पीला, गीला, मुलायम तथा लसदार हो जाता है. उसमे से बुरी गध आने लगती है और धीरे-धीरे वह लाल पड़ जाता है. हड्डियो से अलग किये गये विभिन्न पशुओ से प्राप्त मास की विशेषतायें सारणी 25 मे दी गयी है.

मांस के निरीक्षण और प्रमाणित करने मे वध के पूर्व और शव-परीक्षण के परिणाम; वध-गृहों, मास बाजारो, मास की दुकानो तथा अन्य मास उद्योगों जैसे तांत निर्माण और उसकी सफाई आदि परिवीक्षण तथा उनके प्रबन्ध पर नियंत्रण, पशुओं के वध करने की विधि; मास का सग्रहण, भंडारण तथा संरक्षण, स्वास्थ्यकर वध-गृहो का निर्माण, मांस का परिवहन तथा विपणन आदि भी सम्मिलित है. पशु के स्वस्थ तथा खाद्य भागो पर न मिटने वाली स्याही से खाने के लिये स्वीकृत अथवा अस्वीकृत की मुहर भी होनी चाहिये (IS: 1982–1962; 2537–1963).

अनुमान है कि भारतवर्ष मे प्रति व्यक्ति मास की वार्षिक खपत 1.6 किग्रा. है. मास के उत्पादन तथा जनसंख्या के अनुसार यह मात्रा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे बदलती रहती है. मास का निर्यात करने वाले समस्त यूरोपीय देशों मे मांस की खपत अधिक है. पश्चिमी तथा केन्द्रीय यूरोप मे भी सामान्यत: मास का अधिक उपभोग होता है. यूरुगुए, अर्जेण्टाइना, न्यूजीलैंड तथा ऑस्ट्रेलिया जैसे अधिक मास उत्पादित करने वाले देशो मे प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति औसतन 100 किग्रा. से अधिक मात्रा मे मांस की खपत होती है. अमेरिका, इंगलैंड, कनाडा तथा पश्चिमी यूरोप के अनेक अन्य देशो मे यह औसत 50–75 किग्रा. है. दक्षिणी-पूर्वी यूरोपीय देशो मे, कम मात्रा मे मास उत्पन्न होने के कारण मास की खपत काफी कम है. यूनान मे प्रति व्यक्ति मास की वार्षिक खपत का औसत 14 किग्रा. है तथा चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया के लिये यह औसत 25–30 किग्रा. है. एशिया के देशों मे मास की खपत कम बतायी जाती है किन्तु, इसके लिये कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं है.

भारतवर्ष मे मास का आयात महत्वपूर्ण नहीं है तथा इसका निर्यात तो न के बराबर है. देश मे जितना भी मास उत्पन्न होता है उसका उपभोग यहीं हो जाता है. ससाधन, सरक्षण, भण्डारण तथा परिवहन के समुचित साधनों का अभाव होने के कारण भारतवर्ष मे मास उद्योग का यथेष्ट विकास नहीं हो पाया है.

1960–61 मे भारतवर्ष मे मास तथा मास उत्पादो का उत्पादन तथा मूल्य सारणी 26 मे अकित है.

मास की माँग तथा पूर्ति मे काफी बडा अन्तर है जिसे पूरा करने के लिये भेड और बकरी के मास का उत्पादन बढाना होगा. खाद्य एव कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली के पशु-पालन विभाग के हेतु चतुर्थ पचवर्षीय योजना के कार्यकारी समूह ने अनुमान लगाया है कि देश मे मांस की आवश्यकता 453.4 करोड़ टन है किन्तु इसकी अनुमानित उपलब्धि केवल 45.27 करोड़ टन है.

पशु-उपोत्पाद

पशुओं के वध किये जाने का मूल उद्देश्य है मनुष्य के लिये मास उपलब्ध कराना. मास प्रदान करने के अतिरिक्त पशु के कई अन्य अग भी काफी उपयोगी सिद्ध हो सकते है यदि उन्हे सावधानीपूर्वक एकत्र किया जाय और उनका संरक्षण हो. पशुवध-गृहो से प्राप्त उपजातों को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता

सारणी 26 – 1960–61 की अवधि में भारतवर्ष में मांस तथा मांस-उत्पादों की मात्रा एवं मूल्य*

	उत्पाद (हजार टन)	मूल्य (करोड़ रु.)
गोमांस	62	6.99
भैंस का मांस	94	6.64
बकरी का मांस	234	51.80
भेड का मांस	114	28.13
सुअर का मांस	31	5.74
ग्रन्थियाँ	37	8.37
सिर तथा पैर	87	2.62
वसा (चर्बी)	...	7.00
अन्य मांस-उत्पाद	...	2.72
योग	659	120.01

*Revised estimates of net products from agriculture 1960-61—Brochure on Revised Series of National Product for 1960-61 to 1964-65 (Central Statistical Organisation, Department of Statistics, Govt. of India), 1967.

सारणी 27 – पशुवध-गृहों से प्राप्त अपशिष्ट पदार्थों तथा उपोत्पादों का विवरण*

पशुवध-गृह का अपशिष्ट अथवा उपजात		उपलब्ध मात्रा (टनो में)	नष्ट होने वाली प्रतिशत मात्रा	कुल मूल्य (लाख रु.)
अंतडी		44,698	90–100	35.0
आसनली		3,965	60–70	1.6
मूत्राशय		1,148.7	10	...
रक्त		45,825	64	78.61
ग्रन्थियाँ				
गोपशु	2,489	35,875	...	...
भैंस	3,644			
भेड-बकरी	28,693			
सुअर	1,049			
मांस अपशेष		27,705	60	35.0
सींग		4,180		...
खुर		6,792	66	3.30

*Survey and Utilization of Agricultural and Industrial By-products and Wastes (Planning Commission, New Delhi), 1963.

है : खाद्य और अखाद्य. खाद्य पदार्थों के अन्तर्गत चर्बी, सुअर की चर्बी, आँतें, ग्रन्थियाँ, पूंछ के टुकड़े तथा रक्त आते हैं. खाल, ऊन, बाल, हड्डियाँ, मांस अपशिष्ट, सींग तथा खुर अखाद्य पदार्थ हैं. ये पशु-उपजात मोमबत्ती, ओलियोमार्गरीन (कृत्रिम वसा), खोल, ताँत, भेषजीय उत्पाद, पशु एवं कुक्कुट आहार तथा खाद जैसे विभिन्न पदार्थों के बनाने के काम आते हैं.

देश में पशुवध-गृहों से इन पशु-उपजातों की वार्षिक उपलब्धि, अपशिष्ट पदार्थों की प्रतिशत मात्रा तथा इन उपजातों एवं अपशिष्ट पदार्थों का कुल मूल्य सारणी 27 में दिया गया है. विभिन्न उपोत्पादों में खाल, बाल, शूक, अस्थि, सींग, खुर और रक्त महत्वपूर्ण हैं.

चर्म तथा खाल – गाय, भैंस, ऊँट, घोड़े जैसे बड़े पशुओं के शरीर का बाह्य आवरण चर्म कहलाता है तथा भेड़-बकरी और बछड़े जैसे छोटे पशुओं की त्वचा को खाल कहते हैं. कच्चे रूप में चर्म तथा खाल का बहुत ही सीमित उपयोग है. ये पदार्थ विशेषकर चमड़ा बनाने के काम आते हैं (खाल तथा चमड़े आदि के औद्योगिक उपयोग के लिये देखें, Wlth India—Industrial Products, pt IV, 225 & pt V, 207).

भारतवर्ष में गोपशुओं तथा भैंसों से ही मुख्य रूप से चर्म प्राप्त होता है. गाय, बैल तथा बछड़ों का चर्म भैंस के चर्म से भिन्न होता है और उनके अलग-अलग व्यापारिक नाम होते हैं. ये गोचर्म, वृषभ चर्म, ढोर चर्म, बछड़ा चर्म तथा ईस्ट इण्डिया चर्म आदि नामों से जाने जाते हैं. भैंस की खाल को प्रायः भैंस चर्म कहते हैं. विदेशी व्यापार में बड़े तथा परिपक्व पशुओं की खाल चर्म कहलाती है तथा अविकसित अथवा अर्ध-परिपक्व पशुओं की खाल को शिशु-पशु-चर्म के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है. यूरोपीय तथा अमेरिकी चर्म की तुलना में कम भार होने के कारण भारतीय बैलों की खाल मुख्यतः शिशु-पशु-चर्म कहलाती है. अन्य देशों में खाल पशुवध-गृहों से उपजात के रूप में प्राप्त होती है किन्तु भारतवर्ष में अपनी मृत्यु से मरने वाले पशुओं की ही खाल उतारी जाती है.

अनुमान है कि पशुओं की औसत मृत्यु दर 8–10% अथवा प्रतिवर्ष लगभग 20 लाख पशु है. समय से मरने की सूचना न मिल सकने तथा खाल का समुचित उपचार न हो सकने के कारण इनमें से अधिकांश पशुओं का शव नष्ट हो जाता है. गोपशुओं, भैंसों तथा अन्य बड़े पशुओं की खालें तथा लगभग 60% हड्डियाँ तो एकत्रित कर ली जाती हैं किन्तु मांस, चर्बी, सींग, खुर जैसे शेष पशु-उपजात नष्ट हो जाते हैं. उनके शवों को गीध तथा कुत्ते खा जाते हैं अथवा मरने के स्थान पर ही शव नष्ट हो जाते हैं. यदि शवों का समुचित उपयोग किया जाय तो उनसे प्रतिवर्ष देश को 40 करोड़ रुपये की आय हो सकती है. मृत पशुओं के शरीर से प्राप्त होने वाले बहुमूल्य पशु उपजातों का समुचित उपयोग न हो सकने के कारण देश को प्रतिवर्ष लगभग 23.19 करोड़ रुपये की हानि होती है, जिनमें से केवल काम में न लायी गयी खालों से ही 4.25 करोड़ रुपये की हानि होती है. गिरे हुये पशुओं की खाल बहुधा इतनी अधिक खराब हो जाती है कि उसे अच्छे चमड़े में बदला ही नहीं जा सकता. अनुमान है कि इससे लगभग 3.4 करोड़ रुपये की वार्षिक हानि होती होगी.

बहुत से देशों में कुल पशु संख्या की तुलना में मांस उत्पादन के लिये वध किये जाने वाले पशुओं की संख्या या उत्पादित खालों का अनुपात काफी अच्छा है. इटली तथा अमेरिका में यह अनुपात क्रमशः 44.6 तथा 44.4 है. अफ्रीका में यह अनुपात कुल पशु संख्या का 9.2% ही है. भारतवर्ष में वध किये गये पशुओं से सबसे कम उत्पादन होता है और यह कुल संख्या का केवल 5.7% है.

संसार के चर्म उत्पादन में भारत का योगदान 15.5% है. अधिकांश भारतीय खालें कम भार वाली होती हैं, अतः विदेशी बाजारों में इनकी बहुत माँग है. भारतवर्ष का 1960–61 में खाल तथा चर्म के उत्पादन एवं मूल्य का विवरण सारणी 28 में प्रस्तुत है.

1956 की पशु-गणना पर आधारित भारतवर्ष में शिशु-पशु-चर्म तथा भैंसों की खालों का वार्षिक उत्पादन क्रमशः 1.57 करोड़ तथा 52.8 लाख नग था जिनका मूल्य 13 करोड़ रुपये से अधिक आँका गया था. कुल मृत गाय-भैंसों में से लगभग एक-चौथाई पशुओं की खालें एकत्रित की जाती हैं. इस तथ्य के अनुसार 1961 में अनुमानतः 2.32 करोड़ खालें एकत्रित की गयीं जिनका मूल्य 27.3 करोड़ रुपये था. 1961 में भारतवर्ष में (राज्य स्तर पर) गाय-भैंसों से प्राप्त होने वाली खालों का अनुमानित उत्पादन सारणी 29 में अंकित है.

देश में 50% से अधिक शिशु-खालों का उत्पादन उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, बिहार, पश्चिमी बंगाल और आन्ध्र प्रदेश में होता है. उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक पशु होने के नाते भारतवर्ष के कुल खाल उत्पादन का 1/8 यहीं से प्राप्त होता है. इसके पश्चात् मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, बिहार तथा पश्चिमी बंगाल का स्थान है. भैंसों की खालें भी सबसे अधिक संख्या में उत्तर प्रदेश से ही मिलती हैं.

सामान्यतः पशु-बच्चों तथा भैंसों से प्राप्त कच्चे चमड़े के निर्यात की मनाही है किन्तु इन्हें पका कर तथा रँग कर विदेशों को भेजा जाता है और व्यावसायिक रूप से इन्हें 'पूर्वी भारत के रँगे हुये चमड़े' के नाम से जाना जाता है. 1964–65 की अवधि में लगभग 8 करोड़ रुपये के मूल्य के रंगे हुये चमड़ों तथा खालों का निर्यात किया गया.

कच्चे चमड़े का मूल्य उसकी माँग तथा पूर्ति की दशा के अतिरिक्त उसकी गुणता, आकार, प्रकार, भार, तैयारी, उत्पादन का मौसम, उत्पादन क्षेत्र तथा विदेशी बाजार भाव आदि कारकों पर निर्भर करता है.

वर्तमान समय में देहातों में मरे हुये पशुओं की खाल उतारने का अधिकार प्राचीन पद्धति के अनुसार स्थानीय चमारों को ही प्राप्त है. ये लोग मरे हुये पशुओं को प्रायः काफी देर से उठाते हैं और देशी औजारों से खाल उतारते हैं. इस प्रकार उतारी गयी खाल प्रायः घटिया किस्म की होती है.

कुछ राज्य सरकारों तथा खादी एवं ग्राम उद्योग आयोग जैसे गैर सरकारी संगठनों द्वारा मृत पशुओं के समुचित उपयोग को बढ़ावा देने के कदम उठाये जा रहे हैं. खादी एवं ग्राम उद्योग आयोग, कोरा, ग्राम उद्योग केन्द्र, बोरिवली, बम्बई में एक प्रशिक्षण केन्द्र भी चल रहा है तथा इसने देश के विभिन्न भागों में खाल उतारने के अनेक केन्द्र भी स्थापित किये हैं. 1961–62 की अवधि में भारतवर्ष में 5 खाल उतारने की गहन इकाइयाँ, 226 खाल उतारने के केन्द्र तथा 12 हड्डी पीसने की इकाइयाँ थीं जिनमें लगभग 15 लाख रुपये का माल तैयार हुआ. अस्थि-चूर्ण तथा मांस-चूर्ण बनाने और खाल उतारने और संसाधित करने के उन्नत तरीकों को अपनाने के लिये खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय की गोसदन योजना में सुसज्जित चमड़ालयों की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है. अब तक ग्यारह गोसदनों में से ऐसे चमड़ालयों की स्थापना की जा चुकी है. अधिकांश अन्य गोसदनों में केवल खाल उतारने की ही सुविधायें उपलब्ध हैं. खाद्य एवं कृषि संगठन तथा नीदरलैंड सरकार की तकनीकी

एवं आर्थिक सहायता से वरूणी-का-तालाब, लखनऊ में एक आदर्श प्रशिक्षण एवं उत्पादन केन्द्र खोला गया है.

समुचित ढग से खाल उतारने में पहले अगले एक पैर के घुटने पर चीरा लगाकर सीधे अधरवक्ष की ओर बढ़कर दूसरे पैर के घुटने तक सीधी रेखा में खाल काटते जाते हैं और घुटनों से नीचे खुरों तक खाल अलग कर लेते हैं. इसी प्रकार घुटनों तथा पिछले पैरों की खाल भी अलग कर लेते हैं. तीसरा चीरा मलाशय अथवा पूछ के पास से प्रारम्भ करके तल पेट पर होता हुआ गर्दन तक लगाते हैं. तत्पश्चात् शव के किनारों की खाल निकालते हैं. आधी खाल उतारा हुआ पशु का शव ऊपर उठाया जाता है और पूछ तथा सींगों के पास की खाल उतारते हैं. अंत में पीठ की खाल उतारी जाती है. खाल उतारने के तत्काल बाद उसे खोलकर फैला देते हैं तथा ठंडा करके सफाई की जाती है.

ताजी उतारी गयी खाल को यदि ठीक से संरक्षित नहीं किया जाता तो उसमें सड़न लगने का भय रहता है. हमारे यहाँ गीला नमक लगाना, सूखा नमक रगड़ना तथा खाल को हवा में सुखाना, चमड़ा पकाने की ये तीन प्रमुख विधियाँ अपनायी जाती हैं. भारतवर्ष में उत्पादित लगभग 75% खालें धूप में सुखायी जाती हैं. वध किये गये पशुओं से प्राप्त खालों में से 80% गीले नमक द्वारा तथा शेष 20% हवा में सुखाकर तैयार की जाती हैं. मृत पशुओं की खालें, जिसके अन्तर्गत देश में उत्पादित 75% से अधिक खालें आती हैं, प्रायः जमीन पर फैलाकर ही सुखायी जाती हैं. खालों को तैयार करने की यह विधि त्रुटिपूर्ण है. खालों को इस प्रकार न सुखाकर चौखटे पर तानकर रखना चाहिये. खाल को हवा में सुखाने से नमी 60 से घटकर 20–30% रह जाती है. नमक लगाकर तैयार की गयी खाल में नमी 60% से कम होकर 40% रह जाती है और साथ ही जीवाणुओं की क्रिया भी काफी हद तक कम हो जाती है. शुष्क नमक से तैयार की जाने वाली खालों में पहले गीला नमक लगाया जाता है, उनके ढेर लगाये जाते हैं और फिर धीरे-धीरे इनकी नमी कम करते हुये उन्हें सुखाया जाता है. जैसा कि उत्तर प्रदेश के गोसदनों में प्रचलित है, नमक, सोडा तथा नैफ्थैलीन के प्रयोग से तैयार की गयी खालें काफी अच्छी होती हैं.

चमड़े तथा खालों में पाये जाने वाले सामान्य दोष यान्त्रिक तथा विकृतिजन्य हैं. यान्त्रिक दोष अधिकांशतः पशुओं के शरीर पर नम्बर डालने, तथा गोदने, चिकित्सा न किये गये घावों पर दाग पड़ जाने, कन्धे की त्वचा पर लगातार जुये की रगड़ लगने, कटने अथवा खरोंच लग जाने और कुपोषण अथवा वृद्धावस्था के कारण आ जाते हैं. विकृतिजन्य दोष बीमारी तथा परजीवी कीटों द्वारा उत्पन्न होते हैं. पशु-प्लेग की बीमारी से मरे पशुओं की खाल से तैयार किया गया चमड़ा कमजोर होता है. इसी प्रकार बीमार पशु की खाल से अच्छा चमड़ा प्राप्त नहीं होता. ऐंथ्रैक्स अथवा विषहरी से मरे पशु की खाल नहीं उतरवानी चाहिये दाद, खाज तथा उकौता प्रमुख चर्मरोग हैं वार्बल मक्खी (हाइपोडर्मा लिनिएटम) त्वचा के अधिकांश भाग को नष्ट कर देती है. यह मक्खी पशु के घुटनों के नीचे अण्डे देती है जिनसे छोटे-छोटे कीट निकलकर त्वचा में छेद करके शारीरिक तन्तुओं में घूमते हुये पीठ की त्वचा में पहुँच जाते हैं. अपने विकास काल में ये लारवा पशु की त्वचा में छेद करके सांस लेते हैं, जिससे खाल से अच्छा चमड़ा नहीं बन पाता. अधिक चिकने चमड़े को लारडार भृंग (गुबरैला), किलचट्टे आदि कीट क्षति पहुँचाते हैं.

पिछले तीन अथवा चार दशकों में शव-उपयोग की ओर ध्यान गया है और अपनी मौत मरे तथा वध किये हुये, दोनों प्रकार के पशुओं से प्राप्त उपजातों से अधिकतम लाभ उठाने का यत्न हो रहा है. एक औसत कद के भारतीय गोपशु के शव से निम्नलिखित विविध पशु-उपोत्पाद प्राप्त होते हैं: खाल, 11.3 किग्रा.; मांस, 90.7 किग्रा.; हड्डी, 18.1 किग्रा.; चर्बी, 2.3 किग्रा.;

सारणी 28 – 1960–61 में भारतवर्ष में खालों तथा चर्म का उत्पादन एवं मूल्य*

प्रकार	उत्पादन (करोड़ खालें)	औसत मूल्य (रु./खाल)	उत्पाद का मूल्य (करोड़ रुपये)
गोपशुओं की खालें	1.72	11.81	20.31
भैंसों की खालें	0.59	11.86	7.00
योग	2.31	...	27.31

*Revised estimates of net products from agriculture, 1960-61—Brochure on Revised Series of National Product for 1960-61 to 1964-65 (Central Statistical Organisation, Department of Statistics, Govt. of India), 1967.

सारणी 29 – 1961 में भारतवर्ष में गोपशुओं तथा भैंसों से प्राप्त खालों का अनुमानित उत्पादन*

(हजार खालें)

प्रदेश	गोपशु	भैंसें
अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह	1	1
असम	680	57
आंध्र प्रदेश	1,287	890
उड़ीसा	1,110	135
उत्तर प्रदेश	2,190	1,427
केरल	335	43
गुजरात एवं महाराष्ट्र	1,421	294
जम्मू एवं कश्मीर	153	34
तमिलनाडु	1,159	327
त्रिपुरा	48	5
दिल्ली	7	29
पश्चिमी बंगाल	1,326	133
पंजाब	757	553
पांडिचेरी	8	1
बिहार	1,656	551
मणिपुर	32	13
मध्य प्रदेश	2,135	482
मैसूर	993	257
राजस्थान	1,314	417
लक्षद्वीपी, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप समूह	अत्यल्प	अत्यल्प
हिमाचल प्रदेश	152	26
योग	17,364	5,932

*विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

सींग, खुर तथा आँतें आदि, 59.0 किग्रा. मांस, हड्डियाँ, चर्बी, सींग, खुर तथा पूछ के बालो से प्रति शव औसतन 10–40 रु. मिल जाते है.

पश्चिमी देशो मे शव का उपयोग सरकार की देखभाल मे किया जाता है और इससे बहुत ही उपयोगी उत्पाद तैयार किये जाते है. भारतवर्ष मे अभी थोड़े ही दिनों से शव उपयोग की वैज्ञानिक विधियों की ओर ध्यान दिया जाने लगा है. देश की परिस्थितियो मे इन्हे लागू करने के लिये निम्नलिखित तरीके अपनाये जाने के प्रयास हो चुके है: बड़े-बड़े कड़ाहों मे उबालना, बन्द बर्तन मे उबालकर भाप को उसके सम्पर्क मे लाना तथा एक हत्थे द्वारा (जो बर्तन मे लगा रहता है) उसे खूब चलाना और अत में इस बर्तन को भाप से गर्म करके उसमें रखे पदार्थ को नमी-रहित करना. उत्तर प्रदेश मे प्रचलित शव को सुखाने की आधुनिकतम विधि मे भाप बर्तन मे रखे पदार्थ के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे नही आती. यह विधि बहुत ही प्रभावशाली सिद्ध हुयी है क्योंकि इससे पदार्थ की नमी इतनी कम हो जाती है कि उसे अनिश्चित काल तक अच्छी अवस्था मे संचित रखा जा सकता है.

हमारे देश मे पिछले दस वर्षो से अस्थि-पाचक यन्त्रो का उपयोग बढता जा रहा है. हड्डी का चूरा बनाने के लिये ईंधन से चलने वाले, परोक्ष रूप से भाप की ऊष्मा से चलने वाले और अपरोक्ष रूप से भाप की ऊष्मा से चलने वाले विभिन्न प्रकार के अस्थि-पाचक यन्त्रो का उपयोग होता है. गर्म करने पर हड्डियों की चर्बी पिघलती है और बर्तन की तली की ओर बह जाती है. इससे जिलेटिन भी पिघलने लगती है तथा संघनित जल मे विलयित हो जाती है. एक पृथक्कारी यन्त्र की सहायता से चर्बी को अलग कर लेते हैं तथा सरेस को गाढा होकर नीचे बैठने दिया जाता है. चर्बी तथा जिलेटिन से विहीन हड्डियाँ अब अस्थिपाचक यन्त्र में बच रहती है. इन उत्पादो की किस्म प्रयुक्त हड्डियों के गुणो पर निर्भर करती है. केवल ताजी हड्डियो से ही उत्तम वसा तथा सरेस प्राप्त होता है. सरेस-जल चिपकाने के काम मे लाया जा सकता है तथा इसे सुखाने एव चूर्ण बनाने के बाद 30% अस्थि-चूर्ण मे मिलाकर पशुओ को खिलाया भी जा सकता है. निस्सारित हड्डियों को हवा मे सुखाकर पीस लिया जाता है और इस प्रकार इन्हे पशु-आहार, मुर्गी-आहार अथवा उर्वरक के रूप मे प्रयुक्त होने लायक बना लेते है.

चर्बी (वसा) – वध किये गये पशुओ की चर्बी खाने तथा मरे हुये पशुओं की चर्बी, साबुन, मोमबत्ती, ग्रीज आदि पदार्थ बनाने के काम आती है. 1958–59 मे भारतवर्ष (राज्य स्तर पर) गाय-भैंसो से प्राप्त होने वाली चर्बी का अनुमानित उत्पादन सारणी 30 मे दिया गया है. इस पदार्थ को निर्धारित नही किया गया.

हड्डियाँ – पशुओ से प्राप्त होने वाली हड्डियाँ प्रमुख पशु-उत्पाद है. भारतवर्ष मे अधिकांश हड्डियाँ अपनी मौत से मरे हुये पशुओं से प्राप्त होती है. हड्डियों का वार्षिक उत्पादन लगभग 3.7 लाख टन है (सारणी 31). 1959–60 मे एकत्रित की गयी हड्डियों का अनुमानित मूल्य 14 लाख रुपये था.

1961 मे भारतवर्ष मे (राज्य-स्तर पर) गोपशुओ तथा भैंसों से प्राप्त होने वाली हड्डियो का अनुमानित वार्षिक उत्पादन सारणी 32 में अंकित है (देखिये, अस्थियाँ, भारत की सम्पदा, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 52–55).

हड्डियों का सर्वाधिक उत्पादन (15.7%) उत्तर प्रदेश मे होता है. इसके बाद मध्य प्रदेश, 11.8%; आन्ध्र प्रदेश, 10.3%; राजस्थान, 9%; बिहार, 8.9%; पंजाब, 7.9% तथा शेष हड्डियाँ अन्य प्रदेशों से प्राप्त होती हैं. अनुमान किया जाता है कि उपलब्ध हड्डियों की 1/3 से कुछ ही अधिक मात्रा एकत्र हो पाती है.

भारतवर्ष मे लगभग 100 हड्डी पीसने वाली चक्कियाँ तथा कई अस्थि-पाचक इकाइयाँ है. इनमे से कुछ निर्यात करने हेतु अस्थि-चूर्ण, अस्थि-कण तथा अस्थि-स्नायु तैयार करने के लिये हड्डियो को पीसती हैं और अन्य, विशेषकर दक्षिण भारत की चक्कियाँ, अन्तर्देशीय माँग की पूर्ति हेतु अस्थि-चूर्ण तैयार करती है. देश के अनेक भागों मे वहीं मिलने वाली हड्डियों को अस्थि-चूर्ण

सारणी 30 – 1958–59 में भारतवर्ष में गोपशुओं तथा भैंसों से प्राप्त होने वाली चर्बी का अनुमानित उत्पादन*

(टनों में)

प्रदेश	गोपशु	भैंसें
असम	184.2	23.6
आन्ध्र प्रदेश	475.8	558.2
उड़ीसा	274.0	68.1
उत्तर प्रदेश	609.1	2,305.7
केरल	82.2	7.1
जम्मू एवं कश्मीर	39.9	14.1
तमिलनाडु	667.5	207.9
दिल्ली	4.1	116.8
पश्चिमी बंगाल	260.3	119.3
पंजाब	337.3	388.8
बिहार	4,75.1	230.7
मध्य प्रदेश	726.2	281.2
महाराष्ट्र†	1,339.5	993.1
मैसूर	410.0	184.1
राजस्थान	383.3	317.7
हिमाचल प्रदेश	39.8	12.8
अन्य‡	32.5	20.8
योग	6,850.8	5,850.0

* विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

† भूतपूर्व बम्बई प्रदेश से सम्बंधित आँकड़े.

‡ इसमें अण्डमान एवं निकोबार द्वीप समूह, लक्षदीवी, मिनिकोय, अमीनदीवी द्वीप समूह, मणिपुर, तथा त्रिपुरा सम्मिलित हैं.

सारणी 31 – भारतवर्ष में कच्ची हड्डियों की वार्षिक उपलब्धि*

(टनों में)

	मृत पशु	वधित पशु	योग
गोपशु	2,53,538	9,830	2,63,368
भैंसें	95,730	7,000	1,02,730
घोड़े तथा टट्टू	1,363	...	1,363
ऊँट	1,767	...	1,767
योग	3,52,398	16,830	3,69,228

**Building from Below*: Essays on India's Cattle Economy. (सर्व सेवा संघ, कृषि गोसेवा समिति, नई दिल्ली), 1964.

में परिवर्तित करके या तो उर्वरक के रूप में प्रयुक्त करते हैं अथवा पशु तथा कुक्कुट आहार में खनिज पूर्ति के लिये इसे मिलाते हैं. चक्कियों के मालिक अथवा अस्थि व्यवसायी हड्डियों को अपने आदमियों से एकत्र कराते हैं. अक्तूबर से जून तक (वर्षा ऋतु समाप्त होने के बाद) हड्डियाँ इकट्ठा करने का काम बहुत तेजी से किया जाता है. अस्थि चक्कियों, अस्थि-पाचक इकाइयों तथा ग्राम्य उद्योगों में क्रमश: 1,37,518, 132 तथा 356 टन हड्डियों का उपयोग होता है.

कच्ची हड्डियों तथा अस्थि-चूर्ण के निर्यात की अनुमति नहीं है. सरेस तथा जिलेटिन बनाने के लिये केवल पिसी हुयी हड्डियों,

सारणी 32 – 1961 में भारतवर्ष में गाय-भैंसों से प्राप्त हड्डियों का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

(टनों में)

प्रदेश	गोपशु	भैंस
असम	9,156	970
आन्ध्र प्रदेश	22,973	19,223
उड़ीसा	15,077	2,192
उत्तर प्रदेश	40,660	23,631
केरल	4,153	738
गुजरात	9,262	5,030
जम्मू एवं कश्मीर	2,762	729
तमिलनाडु	18,003	6,435
दिल्ली	169	618
पंजाब	17,176	15,048
पश्चिमी बंगाल	18,251	2,393
बिहार	26,089	10,455
मध्य प्रदेश	38,058	10,437
महाराष्ट्र	21,944	5,408
मैसूर	15,819	4,958
राजस्थान	26,898	9,877
हिमाचल प्रदेश	3,092	638
अन्य†	1,034	212
योग	2,90,576	1,18,992

*विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर. †इसमें अण्डमान एवं निकोबार, लक्षदीवी, मिनिकोय एवं अमीनदीवी द्वीप समूह, मणिपुर तथा त्रिपुरा प्रदेश सम्मिलित हैं.

सारणी 33 – विभिन्न प्रकार के अस्थि-उत्पादों के गुण*

गुण	ताजी अस्थियाँ	जलायी हुयी अस्थियाँ	तैयार किया गया अस्थि-चूर्ण	सुपरफास्फेट (रासायनिक उर्वरक)
N	3	शून्य	2.4	शून्य
P_2O_5	20	36	27.4	17 (16 जल में विलेय)
सिट्रिक अम्ल में विलेयता	...	...	23.8	1

*Building from Below : Essays on India's Cattle Economy. (सर्व सेवा संघ, कृषि गोसेवा समिति, नई दिल्ली), 1964.

अस्थि-कणों तथा अस्थि-स्नायु का ही निर्यात किया जाता है. 1964–65 में लगभग 3 करोड़ रुपये का उपर्युक्त माल निर्यात किया गया था. देश में हड्डियों का उपयोग अस्थि-चूर्ण के रूप में खाद के लिये तथा पशुओं और कुक्कुटों को खिलाने के निमित्त होता है.

व्यावसायिक दृष्टि से हड्डियों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है: ताजी तथा धूप में सुखायी गयी. ताजी हड्डियों में पिघली हुयी चर्बी, सरेस तथा जिलेटिन जैसे कार्बनिक पदार्थ अधिक रहते हैं. धूप में सुखायी गयी हड्डियों में कैल्सियम तथा फास्फेट जैसे अकार्बनिक पदार्थ अधिक मात्रा में होते हैं, जो फास्फेटयुक्त खाद के प्रमुख स्रोत हैं.

ताजी कटी हुयी हड्डियों को ऑक्सलेट निष्कर्षक में उपचारित करके अशुद्ध अवस्था में पिघली हुयी पशु-चर्बी प्राप्त की जाती है. साबुन तथा कपड़ा उद्योग में काम में लाने के निमित्त इसे और परिष्कृत करके उत्तम चर्बी बना ली जाती है.

सरेस तथा जिलेटिन – सरेस, जिलेटिन की अशुद्ध अवस्था है जिसे गर्म पानी तथा भाप द्वारा ग्रीज-रहित हड्डियों से प्राप्त किया जाता है. कागज, वस्त्र तथा काष्ठ उद्योगों में तथा रंगमाल बनाने में इसका बहुतायत से उपयोग होता है. अपनी विशुद्ध अवस्था में जिलेटिन का उपयोग अधिकतर भोजन में होता है. ग्रीज-रहित सफेद हड्डियों को अम्ल द्वारा उपचारित करके खनिज पदार्थों को विलयित करके जिलेटिन निकाला जाता है. ऐसा करने से ओसीन नामक पदार्थ शेष रह जाता है. सरेस निकालने के बाद बचा हुआ पदार्थ अस्थि-चूर्ण अथवा सुपरफॉस्फेट बनाने के काम आता है.

हड्डियों से सरेस तथा जिलेटिन बनाने की प्रक्रिया में डाइ-कैल्सियम फॉस्फेट प्राप्त होता है. उर्वरक के रूप में तथा दंत-मंजन एवं पेस्ट बनाने में इसका उपयोग होता है, जो उत्तम कोटि का होता है और भेषजीय स्तर के अनुकूल होता है उससे कैल्सियम की टिकियाँ बनायी जाती हैं.

वर्तमान काल में देश में उत्तम श्रेणी की जिलेटिन की जितनी भी आवश्यकता पड़ती है उसका आयात करना पड़ता है. राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पूना द्वारा हड्डियों तथा कच्ची खालों से बड़े स्तर पर सरेस एवं जिलेटिन तैयार करने की एक सफल योजना बनायी गयी जिससे सूखी खालों के भार के अनुसार सरेस तथा जिलेटिन का औसत उत्पादन क्रमश: 25 तथा 28% रहा. इस प्रकार आयातित गुणता की जिलेटिन प्राप्त होती है. जिलेटिन बनाने के इस प्रक्रम का पेटेण्ट लिया जा चुका है (Indian Pat., No. 45583; 1951; 49033, 1953).

सरेस मुख्यत: मांस की डिब्बाबन्दी तथा टैनिंग उद्योग के वृथा उत्पादों जैसे कि मांस के टुकड़े, हड्डी, खाल की कतरन, कान, थूथन, ओंठ तथा पूंछ से तैयार किया जाता है. जो सरेस जिलेटिन तैयार करने के उपयुक्त नहीं होता उसे दियासलाई, मोटरगाड़ी, कागज तथा कम्बल बनाने के कारखानों में, अलमारी बनाने, लकड़ी के काम, गलीचा निर्माण तथा बनावटी चमड़ा बनाने के काम में लाया जाता है. खालों की कतरनें चमड़े के बोर्ड बनाने के काम आती हैं.

हमारे देश में सरेस बनाने के नौ बड़े-बड़े कारखाने हैं जिनकी प्रतिवर्ष 2,880 टन सरेस तैयार करने की क्षमता है. 1961 में इन कारखानों द्वारा कुल मिलाकर 1,854 टन सरेस तैयार हुआ. कुछ कारखानों को उच्च श्रेणी के जिलेटिन तथा ओसीन बनाने की अनुमति भी प्रदान की जा चुकी है. देश में

खाने योग्य भेषजीय तथा फोटोग्राफिक जिलेटिन की बहुत ही सीमित मात्रा में आवश्यकता है, अत: इनके निर्यात बढ़ाने के अधिकाधिक प्रयास किये जा रहे हैं (Glue and Gelatin—With India—Industrial Products, pt IV, 141-49).

अस्थि-चूर्ण – हड्डियों का चूरा बनाने वाली अधिकांश चक्कियाँ निर्यात के लिये अस्थि-चूरा तथा ग्रीज तैयार करती हैं. किन्तु हड्डियों का चूरा बनाते समय उपजात के रूप में थोड़ा-सा अस्थि-चूर्ण भी प्राप्त हो जाता है जिसे उर्वरक के रूप में काम में लाया जाता है. उर्वरक के रूप में अस्थि-चूर्ण का महत्व इस तथ्य पर निर्भर करता है कि वह कितना अधिक महीन पिसा हुआ है.

अस्थि-पाचक यन्त्र मे भाप के दाब से हड्डियों को पकाने के परिणामस्वरूप फॉस्फेटयुक्त अस्थि-चूर्ण प्राप्त होता है. पाचन की प्रक्रिया में सरेस तथा पिघली हुयी चर्बी अलग कर ली जाती है. इस पाचन से फॉस्फेट के सांद्रण में तथा अन्तिम उत्पाद की सिट्रिक अम्ल विलेयता बढ़ाने में सहायता मिलती है.

भाप दाब के अन्तर्गत कार्य करने वाले अस्थि-पाचक यन्त्रों से परोक्ष रूप से प्राप्त अस्थि-चूर्ण पशुओं को खिलाने के योग्य नहीं होता क्योंकि इसमें कुछ अशुद्धियाँ रहती हैं.

पशुओं को दिये जाने वाले पौष्टिक मिश्रण के रूप में भी अस्थि-चूर्ण का उपयोग होता है. इसका संघटन इस प्रकार होता है: प्रोटीन, 22.6; अपरिष्कृत रेशा, 1.98; कैल्सियम, 25, तथा फॉस्फोरस, 22.6%.

केरल, तमिलनाडु, मैसूर, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल तथा असम में उर्वरक के रूप में तथा मुर्गियों एवं सुअरों को खिलाने में अस्थि-चूर्ण का उपयोग बढ़ रहा है. दक्षिण भारत में बने-बनाये उर्वरक मिश्रणों में अस्थि-चूर्ण का प्रयोग अत्यन्त प्रचलित है जिससे दक्षिण भारत के अनेक कारखाने सभी हड्डियों का अस्थि-चूर्ण ही तैयार करते हैं. कृषि कार्यो में इसके प्रयोग को प्रोत्साहन देने के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें इन कारखानों को आर्थिक सहायता भी प्रदान करती हैं.

अस्थि कोयला – वायु की अनुपस्थिति में विशेष प्रकार के रिटॉर्ट में हड्डियों के शुष्क आसवन से अस्थि कोयला तैयार किया जाता है. इस प्रकार बचे हुये कोयले को तोड़कर उसका श्रेणीकरण किया जाता है. चीनी साफ करने वाले कारखानों में अस्थि-चूर्ण उपयोगी पदार्थ है. आसवन करते समय 3–5% अस्थि तेल अथवा डिपिल तेल तथा 8% अमोनिया भी प्राप्त होते हैं. प्रथम पदार्थ नाखून पर पालिश करने के काम आता है और बचा हुआ कोयला जूतों पर पालिश करने के काम में लाया जाता है.

विभिन्न प्रकार के अस्थि-उत्पादों की विशेषतायें सारणी 33 में दी गयी है.

सारणी 34 – 1958–59 में भारतवर्ष में गोपशुओं तथा भैंसों से प्राप्त होने वाले सींगों तथा खुरों का अनुमानित उत्पादन*

प्रदेश	सींग		खुर	
	गोपशु	भैंसें	गोपशु	भैंसें
असम	501.5	70.9	376.1	59.1
आन्ध्र प्रदेश	1,605.1	1,391.0	1,070.0	1,043.3
उड़ीसा	810.6	141.7	608.0	118.0
उत्तर प्रदेश	2,610.6	2,412.1	1,740.4	1,809.1
केरल	282.5	59.6	211.9	49.7
जम्मू और कश्मीर	132.9	42.4	99.7	35.3
तमिलनाडु	1,425.3	471.9	950.2	353.9
दिल्ली	13.7	61.4	9.1	46.0
पंजाब	1,011.7	864.0	674.5	648.0
पश्चिमी बंगाल	1,756.1	204.1	1,170.7	153.1
बिहार	1,347.8	697.9	1,010.9	581.6
मध्य प्रदेश	1,775.1	591.1	1,331.4	492.6
महाराष्ट्र†	2,539.0	893.2	1,269.5	669.9
मैसूर	1,256.3	412.6	837.6	309.4
राजस्थान	1,642.8	651.2	1,095.2	488.5
हिमाचल प्रदेश	132.8	35.0	99.6	29.2
अन्य‡	57.2	24.9	42.8	20.7
योग	18,931.0	9,025.0	12,597.6	6,907.4

*विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर. †ये आँकड़े भूतपूर्व बम्बई प्रदेश से सम्बन्धित हैं.

‡इसमें अण्डमान एवं निकोबार, लक्षदीवी, मिनिकोय एवं अमीनदीवी द्वीप समूह, मणिपुर तथा त्रिपुरा प्रदेश सम्मिलित हैं.

सारणी 35 – 1958–59 में भारतवर्ष में गोपशुओं तथा भैंसों से प्राप्त ग्रन्थियों का अनुमानित उत्पादन*

(टनों में)

प्रदेश	गोपशु	भैंसें
असम	62.5	...
आन्ध्र प्रदेश	179.2	102.1
उड़ीसा	57.0	2.1
उत्तर प्रदेश	...	2,473.2
केरल	177.8	11.8
तमिलनाडु	268.1	29.3
दिल्ली	...	142.1
पश्चिमी बंगाल	608.0	61.0
बिहार	126.8	89.5
मध्य प्रदेश	206.4	77.8
महाराष्ट्र†	681.6	357.2
मैसूर	92.1	29.2
राजस्थान	...	88.1
अन्य‡	28.6	25.3
योग	2,488.1	3,488.7

*विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

†ये आँकड़े भूतपूर्व बम्बई प्रदेश से सम्बन्धित हैं.

‡इसमें अण्डमान एवं निकोबार, लक्षदीवी, मिनिकोय एवं अमीनदीवी द्वीप समूह, मणिपुर तथा त्रिपुरा प्रदेश सम्मिलित हैं.

सींग तथा खुर – मृत पशुओं से प्राप्त पशु-उत्पादों में सींग तथा खुरों का तीसरा स्थान है. गोपशुओं, भैंसों तथा भेड़ों के लगभग 63.5% सींग जिनका मूल्य 65 लाख रुपये है तथा गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़े तथा सुअरों के 66% खुर जिनका मूल्य 33 लाख रुपये है प्रति वर्ष नष्ट हो जाते हैं. 1958–59 में गोपशुओं तथा भैंसों से क्रमशः 28,000 तथा 20,000 टन सींगों तथा खुरों का उत्पादन बताया जाता है (सारणी 34). 1960–61 में 4.15 करोड़ रुपये की हड्डियाँ, सींग तथा खुर एकत्र किये गये. 1964–65 में उर्वरक के रूप में प्रयुक्त होने के लिये 16 लाख रुपये के सींगों तथा खुरों का निर्यात किया गया. इंगलैंड इन पदार्थों का प्रमुख ग्राहक है जहाँ कुल भारतीय निर्यात का 46% माल खरीदा जाता है. इसके बाद पश्चिमी जर्मनी तथा अमेरिका का स्थान है.

नाइट्रोजन की मात्रा (14%) अधिक होने के कारण भारतवर्ष में सींगों तथा खुरों के चूर्ण की चाय तथा कॉफी के बागानों में खाद के रूप में प्रयुक्त करने के लिये बड़ी मांग है. भैंस के सींगों की कुछ मात्रा कंघे, चाकू के बेंट, सुंघनी के डिब्बे, बटन, खिलौने तथा शृंगार की वस्तुयें बनाने के काम आती है.

गोपशुओं के खुरों से प्राप्त ढोर-पद तेल का और अधिक संसाधन करने पर स्टीऐरिक तथा पामिटिक अम्ल प्राप्त होते हैं जो साबुन बनाने के काम आते हैं तथा ओलीक अम्ल सूक्ष्म यन्त्रों को चिकनाने के काम में लाया जाता है. अशुद्ध तेल चर्म परिसज्जा तथा सूत उद्योग मे प्रयुक्त होता है.

अँतड़ी – गोपशुओं तथा भैंसों से प्राप्त अंतड़ी से सासेज (गुलमा) की थैलियाँ बनायी जाती हैं. वध किये गये पशुओं से प्राप्त आँतों को सावधानी पूर्वक निकालकर उसमें से छेद, चकत्ते तथा दागयुक्त भाग को काटकर निकाल देते है. तत्पश्चात् उन्हें खूब साफ करके उसका संसाधन करते हैं. फिर व्यास के अनुसार इनको अलग-अलग छाँटकर रखते हैं. गोपशुओं की आँतों के अतिरिक्त सूखे मूत्राशय तथा ग्रासनली की भी विदेशों में गुलमा तैयार करने के लिये बड़ी माँग है. लगभग 90–100% गोपशुओं तथा भैंसों की बड़ी आँतें, 80% भैंसों की छोटी आँतें तथा 10–15% भेड़-बकरियों की आँतों का कोई उपयोग न हो सकने के कारण देश को लगभग 35 लाख रुपये की क्षति होती है.

1958–59 मे देश में गोपशुओं तथा भैंसो से प्राप्त होने वाली आँतों का अनुमानित उत्पादन 5,398.6 टन था. 1964–65 में भारतवर्ष से लगभग 26 लाख रुपये के मूल्य की आँतों का निर्यात किया गया था. यद्यपि पशु की आँतों की विदेशों मे काफी माँग है फिर भी अनेक राज्यों मे आँतों, ग्रासनली तथा मूत्राशय जैसे पदार्थों को एकत्रित न कर सकने के कारण 50 लाख रुपये तक की हानि होती है. भारतवर्ष से विदेशों को भेजे जाने वाले गुलमा की थैलियों के सम्बन्ध में शिकायतें होने के कारण भारत सरकार ने 1 फरवरी 1965 से इसका श्रेणीकरण तथा पूर्व-निरीक्षण करना प्रारम्भ कर दिया है. इसके अन्तर्गत विदेशों को भेजे जाने वाले माल का श्रेणीकरण करके उस पर कृषि-उत्पाद अधिनियम 1937 एवं उसके अन्तर्गत निर्धारित नियमों के अनुसार ऐगमार्क चिह्न लगाया जाता है. भारतवर्ष मे आँतों से थैलियाँ बनाने का अधिकांश कार्य हाथ से किया जाता है (IS: 1981–1962).

मृत पशुओं के आमाशय तथा आँतों को अस्थि-पाचक यन्त्र में रात-भर उबलते हुये पानी मे रखकर तथा बाद में उसे भाप द्वारा सुखाने से जो पदार्थ प्राप्त होता है वह सुअरों को खिलाने का उपयोगी खाद्य पदार्थ है (देखें, Guts, Wlth India–Industrial Products, pt IV, 202–06).

ग्रन्थियाँ – 1958–59 में भारतवर्ष में लगभग एक करोड़ रुपये से कुछ अधिक मूल्य की 5,977 टन ग्रन्थियों का उत्पादन हुआ (सारणी 35). ग्रन्थिल उत्पाद दो प्रकार के होते हैं : एक तो थायराइड, पिट्युटरी (पीयूषिका), ऐड्रीनल तथा लिंग-ग्रन्थि जैसी नलिकाविहीन ग्रन्थियों से प्राप्त पदार्थ जो हार्मोन कहलाते हैं और दूसरे यकृत जैसी बाह्य स्रावक ग्रन्थियों से प्राप्त होने वाले पदार्थ. इन्सुलिन तथा पीयूषिका हार्मोनों के अतिरिक्त ऐड्रिनैलिन, थायराक्सिन, मेथिल टेस्टास्टेरोन, टेस्टास्टेरोन प्रोपियोनेट आदि जैसे अन्य हार्मोनों का अब संश्लेषण किया जाने लगा है. इन ग्रन्थियों का समुचित उपयोग केवल कुछ बड़े-बड़े शहरों में ही हो पाता है जहाँ ओषधि बनाने वाले कारखाने तत्काल ही इन ग्रन्थियों को पशुवध-गृहों से एकत्रित करके ओषधि निर्माण हेतु प्रयुक्त कर लेते है. छोटे-छोटे पशुवध-गृहों में जहाँ इनके एकत्रीकरण की सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं वहाँ केवल यकृत ही मनुष्य के उपभोग में आता है. बैलों तथा भेड़ों के यकृत से यकृतसार तैयार किया जाता है जिसमें रक्तोत्पादक गुण होता है. 1963 में भारतवर्ष में 456 किग्रा. हार्मोन तथा 45,172 ली. यकृतसार टीके तैयार किये गये. 1962–63 में लगभग 20 लाख रुपये के हार्मोन तथा 1,300 रु. के यकृतसार, पित्त तथा पित्त-विरचनों का निर्यात किया गया (देखें, Glandular Products–Wlth India–Industrial Products, pt IV, 95–108; Pharmaceutical Industry, ibid., pt VI, 263–302).

पूंछ के बाल – मृत तथा वध किये गये पशुओं के पूंछ के गुच्छों के बाल विभिन्न प्रकार के ब्रुश बनाने के काम आते हैं. 1961 में देश में गोपशुओं से प्राप्त पूंछ के बालों का अनुमानित उत्पादन 288 टन था जिसमें से 30 टन बालों का निर्यात पश्चिमी जर्मनी, इंगलैंड, अमेरिका तथा फ्रांस को किया गया. इसमें से सबसे अधिक बाल, 55 टन उत्तर प्रदेश, 40 टन मध्य प्रदेश, 28 टन महाराष्ट्र, 26 टन राजस्थान, 22 टन आन्ध्र प्रदेश, 19 टन बिहार तथा 15 टन पश्चिमी बंगाल तथा शेष अन्य प्रदेशों से प्राप्त हुये.

रक्त – रक्त पशुवध-गृह से प्राप्त होने वाला एक बहुमूल्य पशु-उपजात है. यह काफी महत्वपूर्ण पदार्थ है और इसका उपयोग खेतों के लिये खाद, पशुओं के लिये रक्त-चूर्ण तथा मनुष्यों के लिये मांस में मिलाकर गुलमा तैयार करने मे होता है. रक्त से कारखानों तथा ओषधियों मे प्रयुक्त होने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनायी जाती हैं. ऐल्बुमिन के नुस्खे प्लाईवुड चिपकाने, सूत तथा कागज रंगने तथा रँगायी से पहले चमड़े को परिसज्जित करने के लिये प्रयुक्त होते हैं.

1958–59 की अवधि में देश के पशुवध-गृहों में वधित पशुओं तथा भैंसों से प्राप्त रक्त का अनुमानित उत्पादन 9,800 टन था. इसमें से लगभग आधी मात्रा (4,564 टन) केवल उत्तर प्रदेश से प्राप्त हुयी. जितना रक्त इकट्ठा किया जाता है उससे अधिक मात्रा में रक्त नष्ट हो जाता है और जो कुछ एकत्र किया जाता है उसे रक्त-चूर्ण मे परिवर्तित करके उर्वरक के रूप में अथवा मुर्गियों के आहार के रूप में प्रयुक्त कर लिया जाता है. भारतवर्ष में रक्त एकत्रीकरण की समुचित सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं. ऐसा अनुमान किया जाता है कि पशुवध-गृहों में उत्पादित कुल

रक्त का लगभग दो-तिहाई भाग प्रतिवर्ष नष्ट हो जाता है जिसका मूल्य 78.6 लाख रुपये है. केवल कुछ ही स्थान ऐसे हैं जहाँ मनुष्य के उपभोग के लिये पशुओं का रक्त एकत्र किया जाता है.

रक्त में 13% से भी अधिक नाइट्रोजन रहता है जिसके कारण इसे नीबू, सब्जियों अथवा तम्बाकू जैसी विशिष्ट फसलों के लिये उर्वरक के रूप में प्रयुक्त करते हैं. अपने असली रूप में रक्त का उपयोग मैसूर राज्य में कॉफी की खेती में किया जाता है तथा रक्त-चूर्ण का असम के चाय के बगीचों में. कुछ सुअर तथा कुक्कुट फार्मों में रक्त-चूर्ण का उपयोग पशु-आहार के रूप में भी किया जाता है.

खुले हुये कड़ाहों में 4 या 5 घंटे तक रक्त को गरम करने के बाद जमे हुये रक्त को दो दिन तक ठंडा होने देते हैं तब रक्त-चूर्ण तैयार किया जाता है. कभी-कभी रक्त में भाप प्रवाहित करके उसे सुखा लिया जाता है. इस प्रकार तैयार किया गया काला रक्त-चूर्ण सूखी जगह में रखने पर लगभग एक माह तक नहीं बिगड़ता. हमारे देश से कुछ रक्त-चूर्ण प्रतिवर्ष इंगलैंड तथा जर्मनी को भेजा जाता है.

काले चमड़े को सिझाने के लिये बैल का ताजा रक्त लाभप्रद होता है. चर्मकार प्रायः शुष्क रक्त ऐल्बुमिन का अधिक प्रयोग करते हैं क्योंकि इसे अधिक समय तक भण्डारित किया जा सकता है.

राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, पूना में किये गये अन्वेषणों से यह प्रदर्शित हो चुका है कि पशुवध-गृहों से प्राप्त होने वाला गोपशुओं का रक्त, ल्यूसीन, हिस्टिडीन, तथा लाइसीन का प्रमुख स्रोत है और इन ऐमीनो अम्लों को तैयार करने का यह सस्ता कच्चा माल है. इस प्रयोगशाला ने गोपशुओं के रक्त से इन ऐमीनो अम्लों के तैयार करने की विधि भी खोज निकाली है. भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलौर ने विभिन्न प्रकार के पेप्टोन तैयार करने की विधियाँ ढूढ़ निकाली हैं.

गोबर तथा मूत्र ~ गोपशुओं का मल-मूत्र खाद का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है. गोबर की कम्पोस्ट से मिट्टी में ह्यूमस बना रहता है और इसकी उर्वराशक्ति स्थिर रहती है. यह मिट्टी में बिना विश्लेषण किये ही डाली जा सकती है. मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिये आजकल गोबर की कम्पोस्ट खाद की बहुत माँग है. फिर भी हमारे यहाँ काफी मात्रा में गोबर रसोई घरों में जलाने के काम आता है. 1956 में हमारे देश के 20.4 करोड़ गोपशुओं से लगभग 119.7 करोड़ टन गोबर प्राप्त होने का अनुमान है जिसमें से दो-तिहाई जलाने तथा एक-तिहाई खाद के काम में लाया गया.

गोबर तथा मूत्र में नाइट्रोजन और कार्बनिक पदार्थ की अधिकता होती है. रासायनिक विश्लेषण करने पर गोबर तथा मूत्र से (शुष्क पदार्थ के आधार पर) निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : कार्बनिक पदार्थ, 80, 78.4; नाइट्रोजन, 1.23, 10.6; फॉस्फोरिक अम्ल, 0.5, 0.2; तथा पोटैश, 0.73, 7.2%.

अवायुजीवी परिस्थितियों में गोबर का किण्वन करने से ज्वलनशील गैसें प्राप्त होती हैं जिनमें 60% मीथेन, 10% हाइड्रोजन तथा 30% कार्बन-डाइऑक्साइड होती हैं. भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली में 1941 में यह प्रक्रम बड़े पैमाने पर कार्यान्वित किया गया और बाद में पूना में भी इसके साथ प्रयोग हुये. यह देखा गया कि एक किलोग्राम गाय के ताजे गोबर से 1,520 ब्रिटिश थर्मल इकाई कैलोरी मान की लगभग 62.4 ली. गैस प्राप्त होती है. इसे **गोबर गैस** के नाम से जाना जाता है. इस गैस को खाना बनाने, बत्ती जलाने तथा किसी हद तक घरेलू उद्योगधन्धों में प्रयुक्त किया जाता है. लगभग 350 किग्रा. प्रति वर्गसेंमी. के दाब पर इस गैस को सिलिण्डर में भरने पर गैस इंजिन, मोटर ट्रक तथा ट्रैक्टर चलाये जा सकते हैं. स्कूल तथा कालेज की प्रयोगशालाओं तथा अन्य ऊष्मा प्रदायक एवं प्रकाशदाता उपकरणों के लिये भी यह गैस उपयोगी है. अपेक्षाकृत एक बड़े गोबर गैस जैसे संयंत्र से उद्योग-धन्धा चलाने-भर के लिये गैस प्राप्त हो सकती है. गोबर के अवायुजीवी किण्वन के बाद बचा हुआ पदार्थ उर्वरक के रूप में प्रयुक्त हो सकता है.

गुजरात का खादी ग्राम पंचायत बोर्ड, गोबर गैस उपकरण लगाने वाले कृषक को कुल खर्चे का 50% अनुदान के रूप में प्रदान करता है. गुजरात के विभिन्न भागों में ऐसे लगभग 100 उपकरण कार्य कर रहे हैं. घरेलू उपभोग के लिये गैस प्रदान करने के लिये ऐसे अनेक उपकरण पश्चिमी बंगाल में लगाये जा चुके हैं. कुछ उपकरण बिहार तथा उड़ीसा में भी संस्थापित हुये हैं. ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में गैस संयंत्र का विशेष योगदान हो सकता है.

उर्वरक तथा ईंधन के रूप में गोपशुओं के गोबर से राष्ट्र को लगभग 270 करोड़ रुपये की आय होती है. 1960–61 में गोपशुओं के गोबर का अनुमानित उत्पादन लगभग 34.145 करोड़ टन था.

पशु चिकित्सा सम्बन्धी जैविक उत्पाद

भारत में पशुओं को होने वाले प्रायः समस्त प्रमुख रोगों के लिये वैक्सीन तथा सीरम तैयार किये जाते हैं. सबसे अधिक मात्रा में इनका निर्माण भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर में होता है. विभिन्न राज्यों में भी इनके निर्माण की छोटी-छोटी इकाइयाँ हैं. केन्द्रीय इकाई में प्रतिवर्ष 50 लाख खुराक से अधिक जैविक उत्पाद तैयार किये जाते हैं. *1959–60* में तैयार की गयी तथा वितरित विभिन्न जैविक उत्पादों की मात्रा सारणी 36 में दी गयी है.

पशु जैविक ओषध उत्पादन का शुभारम्भ सर्वप्रथम 1898 में भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर में हुआ और प्रयोग क्षेत्र में उपयोग के लिये सीमित मात्रा में प्रति-पशुप्लेग सीरम का वितरण किया गया. सर्व प्रथम 1899 में प्रति-पशुप्लेग सीरम बनाया गया, तत्पश्चात् 1902 में ऐंथ्रैक्स ऐंटीसीरम तैयार किया गया. धीरे-धीरे यहाँ अन्य उत्पाद बनने लगे और आजकल यह संस्थान 40 से अधिक विभिन्न जैविक ओषधियों का निर्माण करता है जिसमें विभिन्न प्रकार के वैक्सीन, सीरम तथा नैदानिक पदार्थ सम्मिलित हैं. इन जैविक ओषधियों की बढ़ती हुयी माँग को पूरा करने के लिये भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में 9 उत्पादन इकाइयाँ तथा 7 छोटे केन्द्र खोले गये. 1932 में मद्रास में रानीपेट नामक स्थान में इनका उत्पादन प्रारम्भ हुआ और उसके बाद बम्बई, कलकत्ता, कटक, गोहाटी, बंगलौर, हिसार, हैदराबाद, जयपुर, लखनऊ, मऊ, नागपुर, पटियाला, पटना, पूना और श्रीनगर में इन्हें तैयार किया जाने लगा. भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान को छोड़कर जहाँ कि भारतवर्ष में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के समस्त जैविक ओषध-उत्पाद तैयार किये जाते हैं, राज्यीय उत्पादन केन्द्रों द्वारा राज्य में खर्च होने-भर के कुछ ही जैविक ओषध-उत्पाद तैयार होते हैं. कुछ केन्द्र अपने निकटवर्ती प्रदेशों के लिये भी ये पदार्थ तैयार करते हैं. प्रथम पंचवर्षीय योजना

(1951–56) के लागू होने के साथ-साथ इन इकाइयों को पर्याप्त कार्यकर्ता तथा उपकरण देकर आधुनिकतम बनाने के प्रयास किये गये. प्रादेशिक केन्द्रों की पूर्ति करने के लिये भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान का जैविक ओषधि उत्पादन विभाग अधिक जैविक उत्पाद तैयार करने के लिये अपनी उत्पादन-क्षमता बढ़ा रहा है. भारतवर्ष में जैविक ओषधियों का उत्पादन पूर्णतया राज्य सरकारों के नियन्त्रण में है और केवल टेटनस ऐंटीटाक्सिन तथा टायफाइड एवं हैजा वैक्सीन जैसे कुछ उत्पाद ही निजी संस्थाओं द्वारा तैयार किये जाते हैं.

मोटे तौर पर जैविक ओषधि उत्पादों को तीन विभिन्न प्रकारों में विभाजित किया गया : (1) टीका तथा जीव विषाभ जैसे सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न करने वाले पदार्थ; (2) ऐंटीटाक्सिन, ऐंटीबैक्टीरियल तथा ऐंटीवाइरल सीरम जैसे निष्क्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न करने वाले पदार्थ, और (3) नैदानिक उत्पाद.

सारणी 36 – 1959–60 में जैविक उत्पादों का उत्पादन तथा वितरण*

(खुराकों में)

उत्पाद	कुल उत्पादन	कुल वितरण
पशुप्लेग सीरम (साधारण)	13,45,950	6,10,950
ऐंथ्रैक्स सीरम	3,64,260	2,58,960
गलाघोंटू सीरम	5,74,940	4,82,020
लँगड़िया सीरम	4,08,080	3,71,040
गलाघोंटू वैक्सीन	22,28,600	21,85,900
लँगड़िया वैक्सीन	17,65,250	14,97,750
कुक्कुट शीतला वैक्सीन	6,47,100	6,46,500
कुक्कुट विशूचिका वैक्सीन	48,100	42,620
गलाघोंटू सहौषध वैक्सीन	4,13,610	2,30,880
ऐंथ्रैक्स स्पोर वैक्सीन	4,78,400	4,62,780
भेड़ तथा बकरी का शीतला वैक्सीन	64,000	48,400
रानीखेत रोग वैक्सीन (हिमशुष्कित)	37,44,600	33,82,400
ट्यूबर्कुलिन सान्द्र	23,940	19,900
मैलीन आई-डी-पी	14,555	7,940
जोनिन	16,725	15,870
पशुप्लेग अजा-ऊतक वैक्सीन (हिमशुष्कित)	1,94,91,300	1,80,82,500
शश-वैक्सीन (हिमशुष्कित)	2,39,280	40,560
रानीखेत रोग वाइरस (वैक्सीन स्ट्रेन)	18,000	18,000
शश-कुक्कुट वैक्सीन (हिमशुष्कित)	1,21,200	83,000
अंड अनुयोजित कुक्कुट शीतला वैक्सीन	1,23,200	1,12,300
सालमोनेला पुलोरम प्लेन ऐंटिजन (मिली.)	500	250
ब्रुसेला एबार्टस प्लेन ऐंटिजन (मिली.)	99,980	95,730
सालमोनेला एबार्टस इक्वाइन अश्व (मिली.)	900	900
दुग्ध-वलय परीक्षण के लिये ए-बी-आर ऐंटिजन (मिली.)	265	110
ब्रुसेला एबार्टस वैक्सीन (मिली.)	26,655	26,655
खुरपका-मुंहपका रोग वैक्सीन (मिली.)	6,850	6,850
आंत्रजीव विष वैक्सीन (मिली.)	43,000	43,000
कुक्कुट विशूचिका तैल सहौषध वैक्सीन (मिली.)	4,000	4,000

*वार्षिक विवरण, भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर, 1959-60, 71-3.

टीके – ये पदार्थ शक्तिक्षीण किये हुये वध किये गये या तनुकृत किये गये जीवाणुओं या विषाणुओं से तैयार विरचनों के निलम्बन हैं. इनसे शरीर में जीवाणुओं या विषाणुओं के प्रतिजन उत्पन्न करने की क्रिया का उत्प्रेरण होता है जिससे उसी प्रकार के जीवाणुओं के संक्रमण के प्रति सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है.

रानीखेत (न्यू-कैसल रोग) तथा पशुप्लेग जैसे कुछ रोगों के लिये ऐसा टीका तैयार होना सम्भव हो गया है जिसके केवल एक बार प्रयोग करने से जीवन-भर के लिये रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है. गलाघोंटू, लँगड़िया तथा विषहरी जैसी बहुत-सी अन्य बीमारियों से प्रतिरक्षा पाने में अभी तक सीमित सफलता मिली है. इसके लिये तैयार किये गये तथा प्रयोग में आने वाले वैक्सीन अपेक्षाकृत थोड़े समय के लिये रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न करते हैं तथा वांछनीय रोधकता के लिये समय-समय पर इनका टीका लगाना पड़ता है.

भारत में तैयार होने वाले तथा उपयोग में आने वाले टीकों का नाम तथा संक्षिप्त विवरण सारणी 37 में दिया गया है. पशुओं को टीका लगाने के लिये वितरित करने से पूर्व इनकी शुद्धता, सुरक्षा तथा शक्ति के लिये जाँच की जाती है. विभिन्न टीकों के उत्पादन में खरगोशों, चूहों, गिनीपिग, भेड़-बकरियों, घोड़ों तथा भैंसों का प्रयोग किया जाता है. कुछ बीमारियों के प्रतिरोग प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिये विशिष्ट टीके तैयार करने के लिये दस दिन की आयु के कुक्कुट भ्रूणों तथा पक्षियों का भी उपयोग किया जाता है. इन टीकों की शक्ति क्षीण न हो जाय इसलिये इन्हें 4° तथा हिमीकरण ताप के बीच भण्डारित किया जाता है. अभी हाल में ही कोशिका संवर्ध वैक्सीन के प्रभाव तथा गोपशुओं में सामूहिक टीका देने की उपयोगिता पर किये गये अध्ययन से यह प्रदर्शित हो चुका है कि अत्यधिक प्रभाववश्य एवं विदेशी नस्ल के पशुओं में इनके प्रयोग से खरगोशीय तथा खरगोशीय एवं पक्षीय वैक्सीन जैसे प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले टीकों का प्रयोग धीरे-धीरे कम होता चला जायेगा. खुरपका-मुहपका रोग के वाइरस का कोशिका संवर्ध तैयार करने के शोध कार्य के परिणामस्वरूप बकरी के गुर्दे के कोशिका संवर्ध पर ओ, ए, सी तथा एशिया टाइप I प्रजाति युक्त बहुसंयोजक वैक्सीन बनाना सम्भव हो सका है. BHK_{21} अविराम कोशिका संवर्ध लाइन्स में खुरपका-मुंहपका रोग का वैक्सीन तैयार करने के अब निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं.

प्रतिसीरम – इन में प्रति पिण्ड होते हैं. इन्हें उन पशुओं से प्राप्त किया जाता है जिनके ऊतकों या रक्त में अंतःक्षेपण या संक्रमण द्वारा प्रतिजनों की क्रिया होने लगती है. संक्रामक रोगों की रोकथाम तथा चिकित्सा के लिये विशिष्ट प्रतिसीरम प्रयुक्त होते हैं. इन प्रतिसीरमों से तुरन्त ही प्रतिरक्षा प्राप्त हो जाती है इसलिये इनका उपयोग संक्रमित पशुओं की चिकित्सा में तथा संक्रमित पशुओं के सम्पर्क में आने वालों को संक्रामक रोगों से प्रतिरक्षा दिलाने के लिये किया जाता है जिससे संक्रमण अधिक न फैले. इस प्रकार की प्रतिरक्षा की अवधि 7–10 दिन होती है अतः यूथीय रोगों में इस प्रतिरक्षा का महत्व नहीं है. अधिक से अधिक ये सहौषधि वैक्सीन कही जा सकती है. सीरम उत्पादन के लिये भैंसे प्रयुक्त हैं क्योंकि उनसे अधिक रक्त प्राप्त किया जा सकता है.

वैक्सीन की भाँति प्रयोग मे लाने से पूर्व प्रतिसीरम की भी शुद्धता, सुरक्षा एवं शक्ति के लिये परीक्षण किये जाते हैं. प्रयोग में लाने के लिये वितरित होने से पूर्व इसे 0–4° के ताप पर भण्डारित रखा जाता है.

पशुप्लेग रोग पर काबू पाने के लिये प्रतिपशुप्लेग सीरम का बहुतायत से प्रयोग किया जाता है. आजकल पशुओं को संक्रामक रोगों से बचाने के लिये प्रायः सभी बीमारियों के प्रतिसीरम तैयार किये जा चुके हैं.

सारणी 37 – भारतवर्ष में पशुओं को संक्रामक रोगों से बचाने के लिये प्रयुक्त होने वाले प्रमुख टीके*

रोग	टीका	विवरण एवं उपयोग
	विषाणुज टीके	
पशुप्लेग	हिमीकृत-शुष्क बकरी तन्तु पशु-प्लेग वैक्सीन (फ्रीज-ड्राइड कैप्रीनाइज्ड रिण्डरपेस्ट वैक्सीन)	गाय-भैंसों की स्थानीय नस्लों के लिये यह एक उपयुक्त जीवित विषाणु वैक्सीन है. इसने गीले बकरी विषाणु वैक्सीन के चलन को बिल्कुल उठा दिया है. इसका एक टीका जीवनपर्यन्त रोग से प्रतिरक्षा प्रदान करता है. विदेशी तथा संकर नस्ल के पशुओं में इसका प्रयोग प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है.
	हिमीकृत-शुष्क खरगोशीय पशु-प्लेग वैक्सीन (फ्रीज-ड्राइड लेपीनाइज्ड रिण्डरपेस्ट वैक्सीन)	यह कम शक्ति वाला जीवित विषाणु वैक्सीन है जिसका विदेशी तथा संकर नस्ल के पशुओं में सुरक्षापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है.
	हिमीकृत-शुष्क पक्षी जातीय पशु-प्लेग वैक्सीन (फ्रीज-ड्राइड एवियनाइज्ड रिण्डरपेस्ट वैक्सीन)	कैप्रीनाइज्ड वैक्सीन के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले अत्यधिक प्रभाववश्य पशुओं में इसका प्रयोग होता है.
पागलपन	ऐंटीरैबिक वैक्सीन	पागलपन विषाणु से संदूषित भेड़ की चिकित्सा के लिये यह वैक्सीन खरगोश के मस्तिष्क पर संवर्धित कार्बोलीकृत निलम्बन (5-40%) का बना होता है. आमतौर पर बचाव के रूप में ही इस टीके का प्रयोग होता है.
भेड-बकरियों का शीतला रोग	भेड़-बकरियों का शीतला वैक्सीन (शीप एण्ड गोट पाक्स वैक्सीन)	कृत्रिम रूप से भेड़ को संदूषित करके उसकी खाल से खुरंट लेकर तैयार किया जाने वाला या सुखाया हुआ भेड़ शीतला वाइरस वैक्सीन है.
रानीखेत रोग (न्यू-कैसल रोग)	हिमीकृत-शुष्क रानीखेत रोग वैक्सीन (फ्रीज-ड्राइड रानीखेत डिजीज वैक्सीन)	मुर्गी के अन्डे पर उगाया गया यह तनुकृत जीवित विषाणु वैक्सीन है इसके टीके से 3-4 वर्ष के लिये पशु के शरीर में रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है.
मुर्गियों का शीतला रोग	कुक्कुट शीतला वैक्सीन (फाउल-पाक्स वैक्सीन)	शीतला रोग से पीड़ित मुर्गियों तथा कबूतरों के छालों के खुरंट को शोषित्र में सुखाकर तथा पीसकर यह वैक्सीन तैयार किया जाता है
	मुर्गी के भ्रूण से निर्मित कुक्कुट के शीतला वैक्सीन (चिक एम्ब्रियो फाउल-पाक्स वैक्सीन)	यह कुक्कुट शीतला जीवित विषाणु वैक्सीन है जिसे रोग के विषाणुओं को मुर्गी के भ्रूण में संवर्धित करके तैयार किया जाता है. रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिये लगभग 6 सप्ताह की आयु पर मुर्गियों को इसका टीका दिया जाता है.
	मुर्गी के अण्डे से निर्मित कुक्कुट शीतला वैक्सीन अथवा कपोत शीतला विषाणु वैक्सीन (चिक एम्ब्रियो फाउल-पाक्स वैक्सीन अथवा पिजन-पाक्स वैक्सीन)	मुर्गी के भ्रूण पर संवर्धित यह कपोत शीतला विषाणु वैक्सीन 6 सप्ताह से कम आयु वाले मुर्गी के बच्चों में रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न करने में प्रयुक्त होता है.
खुरपका-मुंहपका रोग	बहुसंयोजक खुरपका-मुंहपका रोग वैक्सीन	यह एक निष्क्रिय रक्त वैक्सीन है जिसमें खुरपका-मुंहपका रोग के विषाणुओं का प्रतिजन होता है.

(क्रमशः)

सारणी 37—क्रमश:

रोग	टीका	विवरण एवं उपयोग
	जीवाणुज वैक्सीन	
गलाघोंटू रोग (गोजातीय पास्तुरेला रुग्णता)	गलाघोंटू मांस रस वैक्सीन (हैमोरेजिक सेप्टीसीमिया ब्राथ वैक्सीन)	यह टीका **पास्तुरेला सेप्टिका** की एक देशी अति प्रतिजनी प्रजातियों के फार्मोल से वध किये गये यूप संवर्ध से बना होता है. इसका एक बार टीका देने से दो माह के लिये अल्पकालीन प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है. जब तक सामूहिक रूप से टीका देने के लिये गलाघोंटू ऐड्जूवेंट वैक्सीन उपलब्ध नहीं होता तब तक वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने के थोड़े पहले इस टीके के प्रयोग से पशुओं को गलाघोंटू रोग के प्रकोप से मुक्त रखा जा सकता है.
	फिटकरी अवक्षेपित गलाघोंटू ब्राथ वैक्सीन (हैमोरेजिक सेप्टीसीमिया ऐलम प्रेसीपिटेटिड ब्राथ वैक्सीन)	1% फिटकरी डाला हुआ गलाघोंटू ब्राथ वैक्सीन का यह विकसित रूप है. इसका एक बार टीका देने से 4-6 माह तक की रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है.
	गलाघोंटू सहौषध वैक्सीन (हैमोरेजिक सेप्टीसीमिया ऐड्जूवेंट वैक्सीन)	भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान द्वारा अभी कुछ समय पूर्व तैयार किया गया यह तैलीय सहौषध वैक्सीन बड़े उत्साहवर्धक परिणाम दे चुका है. इसके एक बार के टीके से लगभग एक वर्ष के लिये प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है.
लँगड़िया रोग	बहुसंयोजक लँगड़िया वैक्सीन (पालिवैलेंट ब्लैक क्वार्टर वैक्सीन)	यह फार्मोल से वध किये गये यूथ संवर्ध की वैक्सीन है जो **क्लास्ट्रीडियम चौवाई** तथा **क्लास्ट्रीडियम सेप्टिकम** संदूषण के प्रति रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न करती है. इसके एक टीके से लगभग एक वर्ष के लिये प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है.
ऐंथ्रैक्स (विषहरी)	ऐंथ्रैक्स स्पोर वैक्सीन	यह वैक्सीन **बैसिलस ऐंथ्रैसिस** की तनुकृत प्रजाति के जीवित बीजाणुओं का ग्लीसरीनयुक्त निलम्बन होता है. इसके प्रयोग से उत्पन्न प्रतिरक्षा एक वर्ष तक बनी रहती है.
	सैपोनिनयुक्त ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन	सैपोनिनयुक्त यह बीजाणु वैक्सीन भारत के कुछ भागों में प्रयुक्त होती है.
गोपशुओं का संक्रामक गर्भपात ब्रुसेलोसिस)	**ब्रुसेला एबार्टस** (कॉटन स्ट्रेन-19) वैक्सीन	**ब्रुसेला एबार्टस** की शक्ति क्षीण प्रजाति से तैयार की गयी, यह एक जीवित वैक्सीन है. जिन यूथों तथा क्षेत्रों में ब्रुसेला संदूषण का अधिक प्रकोप होता है वहाँ बीमारी पर नियंत्रण रखने के लिये इसका टीका लगाना उपयोगी सिद्ध होता है.
अश्वजातीय संक्रामक गर्भपात (पैराटायफायड)	अश्वजातीय गर्भपात वैक्सीन (इक्वाइन एबार्शन वैक्सीन)	यह वैक्सीन अश्वजातीय **साल्मोनेला एबार्टस एक्वी** के ऐगर धावित फार्मोल से वध किये संवर्ध से बनी होती है. इसके एक टीके से निम्न श्रेणी की अल्पकालीन प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है, अतः थोड़े-थोड़े अवकाश पर इसके तीन या अधिक टीके लगाने चाहिये.
घोड़ों का गलग्रन्थिल रोग (स्ट्रैंगिल्स)	बहुसंयोजक स्ट्रेप्टोकोकाइ वैक्सीन (पालिवैलेंट स्ट्रेप्टोकोकाइ वैक्सीन)	यह वैक्सीन देश के विभिन्न भागों के गलग्रंथिल रोग अथवा मिलते-जुलते रोगों से ग्रसित घोड़ों से प्राप्त स्ट्रेप्टोकोकाइ की 9 विभिन्न प्रजाति के मृत संवर्ध की बनी होती है. रोग के बचाव तथा चिकित्सा दोनों के लिये ही यह वैक्सीन उपयोगी है.
कुक्कुट विशूचिका रोग (पक्षीय-पास्तुरेलोसिस)	कुक्कुट कालरा वैक्सीन (फाउल-कालरा वैक्सीन)	यह फार्मोल से वध किया यूथ संवर्ध वैक्सीन है. कुक्कुट कालरा सीरम का इंजेक्शन देने के साथ ही इसका टीका लगाया जाता है.

*Seetharaman & Sinha, *Indian Coun. agric. Res., Anim. Husb. Ser.*, No. 2, 1963.

भारतवर्ष में निम्नलिखित प्रतिसीरम सामान्यतया प्रयुक्त होते हैं: पशुप्लेग प्रतिसीरम, गलाघोंटू प्रतिसीरम, लंगड़िया प्रतिसीरम, ऐंथ्रैक्स प्रतिसीरम, कुक्कुट विशूचिका प्रतिसीरम, तथा टेटनस प्रतिसीरम.

नैदानिक उत्पाद—आसानी से ज्ञात न हो पाने वाले छिपे हुये संक्रमण अथवा दीर्घकालिक रोगों का निदान करने के लिये अनेक जैविक औषध उत्पादों की आवश्यकता पड़ती है. ये ट्यूबर्क्युलिन, जोनिन, मैलीन तथा अन्य प्रतिजन पदार्थ हैं. गोवृन्द में रहने वाले संक्रमण का पता लगाने के लिये इनका बहुतायत से उपयोग किया जाता है. भारतवर्ष में पशुओं के संक्रामक रोगों का निदान करने के लिये प्रयुक्त होने वाले जैविक उत्पादों की सूची सारणी 38 में दी जा रही है.

सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डों एवं प्रायोजनाओं से सम्बन्धित राज्यों में पशु-पालन कार्यक्रम के विस्तार होने के साथ ही जैविक औषध उत्पादों की माँग भी बढ़ी है. इस कारण भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान का जैविक औषध उत्पादन विभाग राज्यों तथा कुछ पड़ोसी देशों को इन उत्पादों के प्रदान करने का प्रमुख स्रोत बन गया है.

1959–60 की अवधि में विभिन्न जैविक औषध उत्पादों की लगभग 1,60,000 खुराकें पड़ोसी देशों को भेजी गयीं. प्रदेशों में विभिन्न जैविक औषध उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये, व्यक्तिगत उत्पादों के तैयार करने का प्रशिक्षण देने के अतिरिक्त, भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान जैविक औषध उत्पादों के निर्माण की प्रविधि सिखाने के लिये नौ माह के शिक्षण की भी व्यवस्था करता है.

सारणी 38—भारतवर्ष में पशुओं के संक्रामक रोगों के निदान हेतु प्रयुक्त होने वाले जैविक उत्पाद*

रोग	उत्पाद	विवरण तथा उपयोग
क्षय रोग	ट्युबर्क्युलिन (सान्द्रित)	क्षय रोग के जीवाणु के विशिष्ट प्रोटीन-युक्त उत्पाद का पशुओं की त्वचा में टीका देने पर रोगी पशुओं में टीका लगे स्थान पर सूजन तथा दर्द के रूप में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है. गोजातीय तथा अन्य स्तनियों में क्षय रोग का संदूषण ज्ञान करने के लिये इस उत्पाद का प्रयोग किया जाता है.
	पक्षी जातीय ट्युबर्क्युलिन	क्षय रोग जीवाणु की पक्षी जातीय प्रजाति से इसे तैयार किया जाता है और मुर्गियों में क्षय रोग के निदान के लिये प्रयुक्त होता है.
जोन रोग	जोनिन	ट्युबर्क्युलिन की भाँति ही जोनिन भी तैयार होता है. गोपशुओं तथा भेड़ों में जोन रोग के निदान के लिये इसे प्रयुक्त करते हैं.
ग्लांडर्स	मैलीन (अधस्त्वक्)	**फोफेरेल्लाई मैलिआई** से इसे ट्युबर्क्युलिन की भाँति ही तैयार किया जाता है. अंतःत्वचा-नेत्रच्छद जाँच में जो उत्पाद प्रयुक्त होता है उसका 1 : 10 अनुपात का घोल यहाँ प्रयोग किया जाता है. अधस्त्वक् जाँच में ग्लाँडर्स से पीड़ित पशु टीका लगे हुये स्थान पर प्रतिक्रिया सूजन एवं ताप में वृद्धि से होती है.
	मैलीन (अंतस्त्वचा-नेत्रच्छद)	यह सान्द्रित मैलीन का बना होता है तथा आँख की पलक की त्वचा में टीका लगाकर इसे प्रयुक्त करते हैं. नेत्र श्लेष्मला रक्ताधिक्य (नेत्रों का लाल हो जाना), आँखों से श्लेष्मा का बहाव तथा पलकों का बन्द हो जाना आदि लक्षण इसकी निश्चित प्रतिक्रिया को प्रदर्शित करते हैं.
गोजातीय संक्रामक गर्भपात (ब्रुसेला रुग्णता)	**ब्रुसेला एबार्टस** दुग्ध वलय परीक्षण प्रतिजन	यह हीमेटाक्सिलिन अभिरंजक से रंजित **ब्रुसेला एबार्टस** प्रतिजन है जिसे प्रायः पूर्ण गोवृन्द पर प्रयुक्त करना अच्छा रहता है. अतः केवल एक पशु का दूध न लेकर कई पशुओं का मिश्रित दूध लेकर उसको जाँच करनी चाहिये.
	मानक **ब्रुसेला एबार्टस** सादा प्रतिजन	छेने के पानी तथा सीरम के नमूनों का परखनली समूहीकरण परीक्षण करने के लिये इस प्रतिजन को प्रयुक्त करते हैं.
	ब्रुसेला एबार्टस रंजित प्लेट परीक्षण प्रतिजन	यह सांद्रित क्रिस्टल वायलेट अभिरंजित प्रतिजन है जिसे दूध-छेने के पानी तथा सीरम के नमूनों की शीघ्र-प्लेट-जाँच के उपयोग में लाया जाता है.
अश्वजातीय संक्रामक गर्भपात (पैराटायफायड)	अश्वजातीय गर्भपात प्रतिजन (एक्वाइन एबार्शन ऐंटिजन)	अश्वजातीय **साल्मोनेला एबार्टस एक्वी** से यह प्रतिजन तैयार होता है. रोग के जीवाणुओं से संदूषित पशु के सीरम में मिलाने पर यह विशेष प्रकार का समूहीकरण प्रदर्शित करता है.

*Seetharaman & Sinha, *Indian Coun. agric. Res., Anim. Husb. Ser.*, No. 2, 1963.

अनुसंधान एवं विकास

प्रजनन – देश के विभिन्न भागों में कुछ पशुधन फार्मों की स्थापना करके प्रजनन द्वारा पशुओं के सुधार का प्रथम सुसंगठित प्रयास किया गया. राष्ट्रीय स्तर पर पशुधन सुधारने की दृष्टि से विशिष्ट नस्लों की विशेषताओं की व्याख्या की गयी तथा प्रजनन एवं उत्पादन अभिलेख रखने का मानकीकरण किया गया. देश के गोपशुओं की कुछ प्रमुख नस्लों के लिये यूथ पुस्तिकायें भी प्रयुक्त की गयी.

क्षेत्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये समन्वित राष्ट्रीय गोपशु प्रजनन नीति निर्धारित की गयी. देश में अच्छे साँड़ों के अभाव के कारण इस नीति के परिचालन में अवरोध उत्पन्न हुआ और इस पर विजय पाने के लिये बड़े पैमाने पर कृत्रिम वीर्यसेचन तथा मुख्य ग्राम योजना का शुभारम्भ किया गया. साथ ही विभिन्न राज्यों द्वारा भी पशुधन सुधार हेतु कार्य किये गये और निम्न-कोटि के देशी साँड़ों से गायों को गाभिन न होने देने के लिये उन्हें सामूहिक रूप से वधिया करने की योजना चलायी गयी.

चुनिंदा प्रजनन द्वारा पशुधन की प्रगति को बढ़ावा देने के लिये कुछ चुने हुये पशुधन फार्मों पर संतति परीक्षण का कार्य भी किया गया. कुछ चुने हुये क्षेत्रों में क्षेत्रीय परिस्थितियों में भी इस कार्य को प्रारम्भ किया गया. बहुसंख्यक देशी नस्ल के पशुओं के सुधार हेतु कुछ समय से देश में श्रेणी-उन्नयन कार्य भी किया जा रहा है और इससे उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हो रहे हैं.

किसी भी क्षेत्र में श्रेणी-उन्नयन कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि जिस नस्ल के पशु इसमें सम्मिलित किये जाने हैं उनमें तथा उनकी संतति में स्थानीय वातावरण एवं जलवायु में बढ़ने की क्षमता है. इस दृष्टिकोण से पशुओं के जलवायु-विज्ञान का अध्ययन भी किया गया. अधिक दुधारू नस्लें तैयार करने के लिये विदेशी नस्ल के साँड़ों द्वारा संकरण करने का कार्य भी प्रारम्भ किया गया.

पशु-प्रजनन समस्याओं पर अनेक अनुसंधान संस्थान भी कार्य कर रहे हैं. पशु-प्रजनन कार्यो को बढ़ावा देने के लिये व्यक्तियों को तकनीकी प्रशिक्षण देने का कार्य भी इन संस्थानों द्वारा किया जाता है.

1944 में पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान में पशु आनुवंशिकी एवं प्रजनन विभाग की स्थापना के साथ इस विषय पर विधिवत अन्वेषण कार्य प्रारम्भ हुआ. इस विभाग का प्रमुख कार्य पशु आनुवंशिकी और उससे सम्बन्धित विषयों पर आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अन्वेषण है. उष्णकटिबंधीय परिस्थितियों में वीर्य उत्पादन, पशुओं की विभिन्न प्रजातियों के वीर्य की विशेषतायें, वीर्य का संरक्षण एवं परिवहन, तथा भारतीय गोपशुओं एवं भैंसों का रक्त समूहन आदि विषयों पर देश में उल्लेखनीय अन्वेषण कार्य किया गया.

कुछ निजी अनुसंधान एवं शिक्षण संस्थाओं द्वारा भी पशु आनुवंशिकी एवं प्रजनन पर अन्वेषण कार्य किया गया है. इलाहाबाद कृषि संस्थान में लाल सिंधी नस्ल की गायों को जर्सी नस्ल के साँड़ों से गाभिन करा कर एक अधिक दूध देने वाली जरसिन्ध नस्ल तैयार की गयी. इस कार्य से भारतीय परिस्थितियों में संकरण की सम्भावनाओं तथा दुग्धोत्पादन एवं स्थानीय वातावरण में बढ़ने की क्षमता की दृष्टि से विभिन्न वर्ग के संकर पशुओं की प्रवृत्ति पर महत्वपूर्ण आँकड़े प्रस्तुत हो सके. कृषि संस्थान, आनन्द (गुजरात) में भी पशु-पालन पर आधारभूत एवं व्यावहारिक अन्वेषण कार्य किया जा रहा है. यह कार्य विशेषतः काँकरेज नस्ल के पशुओं के विकास से सम्बन्धित है.

पोषण

भारतवर्ष में गोपशुओं तथा अन्य पशुधन की पोषण सम्बन्धी समस्याओं की जाँच करने के लिये 1925 में नियुक्त 'रॉयल कमीशन ऑन ऐग्रीकल्चर' की सिफारिश पर पहले-पहल बंगलौर में एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय प्रयोगशाला की स्थापना की गयी. तत्पश्चात् भारतवर्ष में पशु-पोषण पर अनुसंधान कार्य करने के लिये भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर में ऐसी ही एक प्रयोगशाला खोली गयी. 1929 में अपनी स्थापना के पश्चात् से ही भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, पशु-पोषण पर अनुसंधान प्रायोजनायें चला रही है. आनन्द (गुजरात), बंगलौर (मैसूर), हेरिंघाटा (पश्चिमी बंगाल) तथा पालमपुर (पंजाब) में चार प्रक्षेत्रीय पशु-पोषण अनुसंधान केन्द्र खोले गये. इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न प्रदेशों, पशु चिकित्सा विज्ञान तथा डेरी विज्ञान महाविद्यालयों एवं संस्थानों में अनेक अन्वेषण केन्द्रों की स्थापना हुयी.

देश के विभिन्न भागों मे उपलब्ध होने वाले अधिकांश चारे-दाने के पोषण मानों का अध्ययन किया गया. भारतीय पशुओं के लिये आवश्यक विभिन्न पोषकों के आँकड़े प्राप्त किये गये. इन आँकड़ों से पता लगा कि गोपशुओं के लिये आवश्यक ऊर्जा-प्रदायक आहार मे 62% तथा पाच्य प्रोटीन में 77% का अभाव है.

अभी हाल में लगाये गये अनुमान के अनुसार पशु-आहार में 70% पौष्टिक मिश्रण तथा 30% मोटे चारे की कमी है. इस कमी को पूरा करने के लिये कुछ उच्च पोषण मान वाले तथा अधिक उपज देने वाले चारों की नयी फसलों का विकास किया गया (सारणी 39). अनेक कृषि-उपजातों का जो आजकल बेकार समझ कर नष्ट कर दिये जाते हैं, पशुओं को खिलाने के लिये उपयोग किया जा सकता है. बहुत से पेड़ों की पत्तियों में भी समुचित मात्रा में पोषक तत्व पाये जाते हैं और वे खाने में भी स्वादिष्ट होते हैं. चारे के उत्पादन में बढ़ावा देने के लिये मिश्रित खेती प्रारम्भ करने के भी प्रयास किये जा रहे है.

गन्ने की पत्तियों (अगोले), आम तथा जामुन की गुठलियों, महुये के फूलों, वर्षा वृक्ष की फलियों, इमली के बीजों तथा पँवार के बीज जैसे बेकार पदार्थों में भी काफी पोषक तत्व होते हैं. पिसी हुयी खोई, शीरा तथा मूंगफली की खली का मिश्रण भी बैलों को खिलाने के लिये उपयुक्त पाया गया है. बंगलौर में घृत-अवशेष भी दूध देने वाली गायों तथा बढ़ने वाली बछियों को सफलतापूर्वक खिलाया गया है. सामान्यतः प्रयुक्त होने वाले पौष्टिक मिश्रण के 227 ग्रा. की अपेक्षा लगभग 454 ग्रा. घृत-अवशेष में अधिक ऊर्जा होती है.

पशु खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने के लिये मिश्रित खेती की सम्भावनायें सीमित हैं. कृषि संस्थान, आनन्द (गुजरात) में किया गया कार्य यह प्रदर्शित करता है कि 2 हेक्टर सिंचित भूमि अथवा 10 हेक्टर असिंचित भूमि एक छोटे परिवार तथा थोड़े पशुओं के लिये पर्याप्त खाद्यान्न एवं चारा प्रदान कर सकते हैं. हमारे यहां

सारणी 39 – चारे-दाने के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले कुछ खाद्य पदार्थों का पोषण मान*
(%)

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन	वसा	रेशा	नाइट्रोजन-रहित निष्कर्ष	राख	कैल्सियम	फॉस्फोरस	कच्चा प्रोटीन	कुल पचनीय पोषक तत्व	स्टार्च तुल्यांक
मोटे चारे										
मूंज (सैकेरम मुंजा)	...	...	...	...	...	...	...	2.72	56.6	16.80
खाई-शीरा मिश्रण	2.64	0.41	13.60	67.02	16.63	1.25	0.13	...	47.0	...
पँवार का पौधा (कैसिया टोरा)	4.68	...	...	...	...	0.97	0.47	1.83	38.1	10.45
कांस (पकी हुयी) (सैकेरम स्पोंटेनियम)	...	...	...	...	...	...	...	0.30	...	20.00
कंटियारा (हरा) (कार्यमस आक्सीएकंथा)	11.03	1.23	22.31	51.53	13.90	1.30	0.13	6.30	34.1	20.78
अगोले (सैकेरम आफिसिनेरम)	5.47	1.48	...	...	...	0.58	0.46	2.55	46.2	29.15
बाजरे की भूसी (पेनिसेटम टायफायडियम)	5.11	0.82	30.98	50.87	12.22	0.38	0.23	1.12	46.82	28.62
मूंगफली का छिल्का	6.56	...	66.31	22.16	...	0.27	0.20	0.91	23.82	14.76
कॉफी का छिल्का (काफिया अरेबिका)	10.02	0.89	40.57	41.10	7.36	0.56	0.36	3.38	42.24	18.27
मेंग्रोव वृक्ष की पत्तियाँ (ऐविसेनिया आफिसिनैलिस)	12.26	0.93	11.94	56.70	...	0.79	0.39	6.25	38.85	32.90
धान की भूसी	6.07	..	28.00	49.98	...	0.32	0.83	2.31	29.2	13.00
ज्वार की भूसी	5.33	0.45	29.32	46.80	...	0.35	0.31	1.01	43.63	26.57
तोरिया का भूसा (ब्रैसिका नैपस)	5.94	0.98	50.57	34.77	...	1.93	0.49	2.54	45.54	15.95
दाने (सान्द्र)										
आम की गुठली (मैंजीफेरा इंडिका)	8.50	8.85	2.81	74.49	5.35	0.19	0.298	6.10	7.00	67.50
महुआ की खली (बैसिया लैटिफोलिया)	19.38	12.00	...	...	...	0.28	1.20	7.95	60.03	51.26
महुआ के फूल	8.00	1.38	...	...	...	0.31	0.37	3.68	73.70	55.10
बबूल की फली	14.00	...	...	...	...	1.00	0.17	16.50	75.50	64.30
जामुन की गुठली (सिजीजियम जाति)	8.50	1.18	16.90	51.70	21.72	0.41	0.17	5.82	45.53	45.10
इमली के बीज (टैमेरिंडस जाति)	15.40	3.89	...	...	...	0.43	0.53	4.32	53.96	50.10
वर्षा वृक्ष की फली (एंटेरोलोबियम सामन)	15.91	1.51	11.80	67.02	3.76	0.41	0.34	8.90	63.50	58.70
टैपिओका की जड़ें (मैनिहाट यूटिलिसिमा)	1.94	0.16	2.27	94.43	1.99	0.005	0.16	...	51.94	...
सनई के बीज (क्रोटालेरिया जंशिया)	35.00	3.70	10.00	46.00	5.30	0.36	1.60	31.15	71.37	67.00
पँवार के बीज (कैसिया टोरा)	21.12	7.73	...	...	5.56	1.22	1.62	16.64	59.40	54.30
रामतिल की खली (ग्विजोटिया अबिसिनिका)	32.74	4.42	17.64	31.45	3.75	0.84	2.55	32.74	49.40	43.30
खजूर की गुठली	5.99	6.89	10.48	74.08	2.65	...	...	0.80	62.00	56.00
मक्का का कुटका	25.62	1.86	6.59	50.28	15.75	...	...	20.63	66.96	...
मकई का लासा	24.92	3.36	1.76	65.13	...	...	...	23.92	68.51	66.78
वर्जीनियाँ तम्बाकू के बीजों की खली	29.95	10.37	22.33	24.66	12.69	...	...	26.33	69.37	56.50
आंते	76.13	13.78	1.03	1.49	7.57	0.162	0.396	60.40	90.20	88.70

*Research in Animal Husbandry : A Review (1929-54), ICAR, 1952.

60% किसानों के पास 0.4 हेक्टर से भी कम भूमि है, अतः मिश्रित खेती केवल तटीय आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, पंजाब के मैदानी भाग तथा दिल्ली प्रशासित क्षेत्र, पश्चिमी एवं मध्य उत्तर प्रदेश, दक्षिण तमिलनाडु और मैसूर में ही की जा सकती है, जहाँ कि चारे की फसलें उगाने के लिये पर्याप्त भूमि उपलब्ध है तथा पानी की भी समुचित व्यवस्था है. अन्य स्थानों में फलीदार चारे की अन्तर्वर्ती फसलें उगाने की राय दी जाती है. अन्तर्वर्ती फसलों के रूप में हरिघाटा (पश्चिमी बंगाल) में लोबिया, और माण्ड्या (मैसूर) में ज्वार, सोयाबीन और काला तथा हरा चना उगाना उपयोगी सिद्ध हुआ है.

विशिष्ट डेरी फार्म उद्योग, मिश्रित खेती और कृषि योग्य भूमि में गाय, भैंसों सहित खेती करने की अर्थव्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये राष्ट्रीय डेरी अनुसंधानशाला, करनाल तथा कुछ अन्य केन्द्रों पर एक समन्वित प्रायोजना चलायी जा रही है.

मध्यम वर्ग के कृषकों द्वारा चारे का संरक्षण बहुत ही कम किया जाता है. वर्षा ऋतु में अच्छे पोषण मान वाली हरी घास अपनी अनुपरिपक्व अवस्था में काफी मात्रा में उपलब्ध होती है, किन्तु मौसम की खराबी के कारण इसे सुखाकर रखना असम्भव-सा हो जाता है. परिपक्व घास से बनायी गयी सूखी घास में पोषक तत्वों की मात्रा कम हो जाती है. खाद्य-संरक्षण के अन्य ढंगों

की अपेक्षा भारतवर्ष में साइलेज बनाना अधिक उपयुक्त होने के बाद भी सम्भवतः अच्छा साइलेज बनाने में होने वाली तकनीकी कठिनाइयों के कारण सरकारी तथा कुछ निजी फार्मों पर ही साइलेज बनाकर चारे को संरक्षित रखा जाता है. बरसीम जैसे फलीदार चारे के साथ भूसा अथवा पेड़ों की गिरी हुयी पत्तियाँ मिलाकर साइलेज बनाने से अधिक पौष्टिक एवं स्वादिष्ट चारा प्राप्त होता है. साइलेज बनाने से भूसे में पाये जाने वाले रेशों की पाचकता बढ़ जाती है.

बिना कटे मोटे चारे की अपेक्षा जब इसे कुट्टी के रूप में काटकर पशुओं को खिलाया जाता है तो पशु 25% अधिक शुष्क पदार्थ खा सकते हैं. भूसा के क्षारीय उपचार करने पर उसका स्टार्च तुल्यांक 21 से बढ़कर 36% हो जाता है तथा जिन पशुओं को क्षार से उपचारित भूसा खाने को दिया जाता है वे अधिक नाइट्रोजन अभिग्रहण कर सकते हैं. धान का पुआल एक सामान्य मोटा चारा है जिसमें ऑक्सलेट की अधिक मात्रा होने से कैल्सियम और फॉस्फोरस लवणों के उपापचयन पर बाधा पड़ती है. तनु कास्टिक सोडा विलयन से उपचारित करने से भूसे का पोषण मान बढ़ जाता है.

पशुओं के लिये अनेक पौधे विषैले सिद्ध होते हैं. इनमें से ज्वार (**सोर्घम वल्गेयर**), मक्का, स्टार घास (**साइनोडान प्लेक्टोस्टैकियम**) तथा अलसी के सामान्य चारे कुछ परिस्थितियों में तथा अपनी विकासकालीन कुछ अवस्थाओं में पशुओं में हाइड्रोसायनिक अम्ल विषाक्तता उत्पन्न करते पाये गये हैं. साइलेज बनाने पर विषाक्तता उत्पन्न करने वाला कारक भी नष्ट हो जाता है.

चारे को पर्याप्त मात्रा में भण्डारित रखने तथा मौसमी वर्षा के कारण भारतवर्ष में पशुओं को चराना अपेक्षाकृत कम महत्व रखता है. फिर भी, कुछ स्थानों पर पशुओं के चारे के लिये चरागाहों पर अच्छी घासें उगायी जाने लगी हैं. तमिलनाडु के कांगायाम क्षेत्र में कोलुकत्तय घास (**सेंक्रस सिलिएरिस**) का उगाना इसका एक प्रमुख उदाहरण है.

सारणी 40 – कुछ देशी घासों का औसत संघटन*
(शुष्क पदार्थ के आधार पर % मान)

	भूसा				
	मसूर	अरहर	मौठ	चर्द	मूंगफली
अपरिष्कृत प्रोटीन	8.13	10.74	11.31	11.42	15.01
ईथर निष्कर्ष	0.93	1.97	1.14	1.88	2.88
अपरिष्कृत रेशे	40.35	28.71	34.69	36.16	27.59
नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष	45.69	48.08	42.30	42.21	43.77
राख	4.90	10.57	10.56	8.33	10.75
कैल्सियम	0.84	1.23	2.13	1.49	1.68
फॉस्फोरस	0.09	0.14	0.12	0.14	0.19
कुल पचनीय पोषक	44.18	49.60	54.17	44.20	52.95

*Research in Animal Husbandry: A Review (1929-54), ICAR, 1962.

देशी घासों के लिये किये गये सर्वेक्षण के अनुसार कुछ घासों में अच्छे पोषक तत्व पाये जाते हैं (सारणी 40).

ऐरे दुग्ध-कालोनी, बम्बई में उगायी गयी पैरा घास से प्रति हेक्टर 370 टन हरा चारा मिलता है जिसमें शुष्क पदार्थ के आधार पर 15% प्रोटीन होता है. राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल में उगायी गयी नेपियर घास (**पेनीसिटम परप्यूरियम**) की संकर प्रजाति **गजराज** से प्रति हेक्टर भूमि से प्रति वर्ष 250–300 टन हरा चारा मिलता है जिसमें शुष्क आधार पर 12% प्रोटीन होता है. संकर नेपियर घास बरसीम से भी अधिक उपज देती है.

नवम्बर 1962 में झाँसी (उत्तर प्रदेश) में भारतीय चरागाह एवं चारा अनुसंधान संस्थान की स्थापना हुयी. हिसार (हरियाणा), कल्याणी (पश्चिमी बंगाल), अहमदाबाद (गुजरात), हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) तथा मधावरम (तमिलनाडु) में इसके क्षेत्रीय केन्द्र खोले गये और इनके साथ कई छोटे-छोटे उपकेन्द्र भी संलग्न कर दिये गये. इस संस्थान का प्रमुख कार्य उगाये जाने वाले चारे पर अनुसंधान करना तथा गोपशुओं के लिये प्राकृतिक चरागाहों का विकास एवं प्रबन्ध करना है. इस संस्थान की निम्नलिखित प्रमुख उपलब्धियाँ हैं: नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों के प्रयोग से (200 किग्रा. अमोनियम सल्फेट प्रति हेक्टर) चरागाहों की प्राप्य आय में (160 रु. प्रति हेक्टर) वृद्धि करना, **फैसिओलस ऐट्रोपरप्यूरिअस** तथा **एटिलोसिया स्कैरैबेओइडीज** के प्रवेश से अविकसित घासों के प्रोटीन में (2.1%) वृद्धि करना, **सेनक्रस सिलिएरिस, से. सेटिगेरस** तथा **क्राइसोपोगान फल्वस** (मऊ प्रजाति) के प्रवेश द्वारा निम्न-कोटि के चरागाहों का विकास, लगातार हरा चारा उपलब्ध कराने के लिये अक्तूबर में बोयी जाने वाली बरसीम तथा जापानी सरसों जैसी फसलें उगाकर मिश्रित खेती करना, मार्च के प्रथम सप्ताह में पूसा जाइंट नेपियर घास बोकर (यह घास बिना अतिरिक्त सिंचाई के एक वर्ष में प्रति हेक्टर 1,63,200 किग्रा. चारा देती है). अप्रैल के अंतिम सप्ताह अथवा मई के प्रारम्भ में नेपियर की पंक्तियों के बीच लोबिया की बुआयी करना, शीघ्र बढ़ोतरी के लिये संकर नेपियर के कटे हुये ठूंठों को जलाना, बरसीम से 50% अधिक बीज लेने के लिये उस पर वृद्धिरोधक दवाएँ (सी.सी.सी. का 2% सक्रिय अवयव) छिड़कना और फसल में दाने और भूसा की बढ़ोतरी के लिये तथा भूसा में कैल्सियम, फॉस्फोरस एवं प्रोटीन की बढ़ोतरी के लिये गेहूँ में सामान्य वेच (**विसिया सैटाइवा**) का प्रवेश करना. इसके अतिरिक्त ज्वार, जई, ग्वार जैसे चारे तथा घासों के जनन-द्रव्य के अधिक उपज देने वाले संवर्ध और कई बार कटायी की क्षमता वाले लोबिया के अधिक उपज देने वाले 15 संवर्धों का यहाँ की भूमि में उगाने के लिये चयन किया गया.

दुग्ध विज्ञान – सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित ढंग से देश में डेरी अनुसंधान कार्य अधिकतर राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल (हरियाणा) (स्थापित 1955), और इसके दक्षिणी प्रक्षेत्रीय केन्द्र (जिसे पहले 1923 से भारतीय डेरी अनुसंधान संस्थान के नाम से जाना जाता था), बंगलौर में किया जाता है. पश्चिमी प्रक्षेत्रीय केन्द्र, ऐरे दुग्ध-कालोनी, बम्बई (स्थापित 1961) तथा कलकत्ता में कल्याणी विश्वविद्यालय के निकट स्थित पूर्वी प्रक्षेत्रीय केन्द्र (स्थापित 1964) नामक दो अन्य केन्द्रों की स्थापना की गयी. इनमें इन क्षेत्रों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण डेरी समस्याओं पर अनुसंधान कार्य किया जाता है.

राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल में चारा उत्पादन,

प्रजनन, पशु-पोषाहार एवं प्रबन्ध, दुग्धोत्पादन एवं उसका संसाधन, दुग्धजन्य पदार्थों के निर्माण एवं उनकी डिब्बाबन्दी तथा प्रसार प्रविधि आदि विषयों पर अन्वेषण कार्य किया जाता है.

दक्षिणी प्रक्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र, बंगलौर में भारतीय गायों का दुग्धोत्पादन बढ़ाने के लिये गोपशुओं के संकरण पर तथा दक्षिण भारत में डेरी विकास की अन्य समस्याओं पर अन्वेषण कार्य किया जाता है.

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के बंगलौर में स्थित केन्द्रीय कृत्रिम वीर्यसेचन केन्द्र पर **जर्सी, थारपारकर, साहीवाल** तथा **मुर्रा** नस्ल के साँड़ पाले गये हैं. इनसे एकत्रित वीर्य को कृत्रिम वीर्यसेचन के लिये देश के विभिन्न केन्द्रों पर भेजा जाता है. पश्चिमी प्रक्षेत्रीय केन्द्र, बम्बई में प्रजनन कार्य हेतु **लाल सिंधी** नस्ल की गायों का एक यूथ रखा गया है. पूर्वी प्रक्षेत्रीय केन्द्र, कल्याणी पर विभिन्न आयु वाले पशुओं के लिये आहार निर्धारित करने तथा पशु-पोषण सम्बन्धी अन्य समस्याओं पर कार्य हो रहा है.

भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर (उत्तर प्रदेश); भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली; इलाहाबाद कृषि संस्थान, इलाहाबाद; कृषि संस्थान, आनन्द (गुजरात) तथा कुछ राज्यीय कृषि और पशु चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालयों में भी गोपशुओं तथा भैंसों के शरीरक्रिया विज्ञान, प्रजनन, आनुवंशिकी, पोषण आदि विषयों पर अन्वेषण कार्य सम्पन्न हो रहा है.

दूध तथा घी के रासायनिक विश्लेषण की कुछ मानक विधियों की उपयुक्तता की जाँच करने के लिये भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की सिफारिश के अनुसार विभिन्न प्रक्षेत्रीय प्रयोगशालाओं में एक समन्वित अनुसंधान प्रायोजना चलायी गयी है. इनमें से 'त्वरित वसा परीक्षण', 'हंसा परीक्षण', 'जीवाणु वलय परीक्षण' तथा 'त्वरित रेसाजूरिन अपचयन परीक्षण' उल्लेखनीय हैं.

'त्वरित वसा परीक्षण' दूध तथा दुग्धजन्य पदार्थों में चिकनाई का पता लगाने की साधारण विधि है. इसमें सामान्य क्षारों से बने एक अभिकर्मक, उभय प्रतिरोधी पदार्थों तथा ऐल्कोहल के एक मिश्रण का प्रयोग होता है. यह परीक्षण परम्परागत 'गर्बर' परीक्षण से तुलनीय है.

गाय के दूध में भैंस अथवा बकरी के दूध की मिलावट का पता लगाने के लिये 'हंसा दुग्ध परीक्षण' नामक एक सीरम-मूलक परीक्षण की खोज की गयी है. इस परीक्षण हेतु प्रयोग, क्षेत्रीय परिस्थितियों में दूध की जाँच करने के लिये कार्यकर्ताओं को विशेष प्रकार का उपकरण दिया जाता है. क्रीम उतरे भैंस के दूध का खरगोश के शरीर में टीका देने से प्रतिपिण्ड उत्पन्न होता है. विशिष्ट सीरम मूलक जाँच-द्रव बनाने के लिये इन्हें एकत्र करके शुद्ध कर लिया जाता है. जाँच करने वाले दूध की एक बूंद में इस सीरम की एक बूंद मिलायी जाती है. यदि इसमें भैंस के दूध की मिलावट की गयी है तो एक मिनट के अन्दर दूध में उपस्थित कैसीन के कण घनीभूत हो जाते हैं. यदि गाय का दूध शुद्ध है तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता. यह परीक्षण इतना प्रभावशाली है कि यदि 99 भाग गाय के दूध में 1 भाग भैंस के दूध की मिलावट हो तो भी पता लग जाता है.

गाय के दूध में 30% या अधिक मात्रा में भैंस के दूध की मिलावट का पता लगाने की दूसरी विधि 'जीवाणु वलय परीक्षण' है. इसमें **स्ट्रेप्टोकोकस लैक्टिस** नामक प्रतिजन की एक प्रजाति की अभिरंजित कोशिकायें प्रयुक्त होती हैं. इस परीक्षण के करने पर गाय के दूध के पृष्ठ पर गहरे लाल रंग का वलय अथवा धारी पड़ जाती है और माध्यम में किसी प्रकार का रंग उत्पन्न नहीं होता. गाय के दूध में भैंस का दूध मिला होने पर सतह पर संकीर्ण वलय का विकास होकर दूध का रंग लाल पड़ जाता है और बर्तन की तली पर लाल रंग का तलछट बैठ जाता है.

क्षीण-जीवाणुयुक्त दूध के परीक्षण हेतु उच्च ताप (45°) पर रेसाजूरिन के अपचयन पर आधारित परीक्षण किया जाता है. व्यावसायिक पेप्टोन, यीस्ट निष्कर्ष तथा थोड़ी मात्रा में गोमांस निष्कर्ष डालने से अधिक संख्या में वृद्धि करने वाले जीवाणुयुक्त दूध में रेसाजूरिन का अपचयन तेजी से होने लगता है. इस सिद्धांत पर आधारित दो मिनट में सम्पन्न होने वाली 'रेसाजूरिन अपचयन परीक्षण' विधि विकसित की गयी जिससे दुग्धशालाओं में प्राप्त दूध की तत्काल जाँच हो जाती है.

अन्य आवश्यक अध्ययन इस प्रकार हैं : दूध में उपस्थित कुल ठोस पदार्थ तथा वसाविहीन ठोस पदार्थों के अनुमापन की विधियों का मानकीकरण, प्रोटीन की मात्रा का पता लगाने के लिये रंजक-बंधन विधि का प्रयोग; दूध में मिलावट का पता लगाने के लिये विद्युतचालकता विधि का उपयोग; दूध में उपस्थित वसाविहीन ठोस पदार्थों का परोक्ष रूप से पता लगाने के लिये तीव्र विद्युतमापी विधि का प्रयोग, तथा एथिलीन डाइक्लोरोट्राइफेनिल ऐसीटिक अम्ल (ई-डी-टी-ए) को प्रयुक्त करके दूध में मैग्नीशियम, कैल्सियम, क्लोराइड, लैक्टोस तथा प्रोटीन की मात्रा का पता लगाने वाली विधियों का अध्ययन.

देशी घी में डालडा की मिलावट का पता लगाने के उद्देश्य से डालडा में तिल का तेल मिलाने की सिफारिश की गयी है. डालडा को रतनजोत (**ओनोस्मा हिस्पिडम**) से रँगने का भी सुझाव दिया गया. देशी घी में वनस्पति की मिलावट का पता लगाने के लिये एक पेपर क्रोमैटोग्राफिक विधि भी विकसित की गयी है.

घी की सफाई करने वाले विशेष प्रकार के बर्तनों में मक्खन को गर्म करके घी बनाने की सुधरी विधि निकाली गयी है. दही, खोवा, छेना तथा घरेलू पनीर बनाने की विधियों का भी मानकीकरण किया जा चुका है.

दही, मक्खन, पनीर तथा किण्वित दूध में उपस्थित लैक्टिक जीवाणुओं की उपापचयी क्रियाओं का अध्ययन किया जा चुका है तथा राष्ट्रीय डेरी अनुसन्धान संस्थान, करनाल और इसके बंगलौर स्थित दक्षिणी प्रक्षेत्रीय अन्वेषण केन्द्र द्वारा इन जीवाणुओं के उपयुक्त संवर्ध जनता को वितरित किये जाते हैं. गाय के दूध से 'चेड्डर पनीर' बनाने तथा 'गौड़ पनीर' तैयार करने की विधियाँ भी सफलतापूर्वक विकसित की जा चुकी हैं.

पनीर बनाने में प्रयुक्त होने वाले पशुजन्य रेनेट के स्थान पर दूध को जमाने के लिये वानस्पतिक एंजाइम खोजने के प्रयास में ***विथैनिया क्वागुलेंस*** की छोटी-छोटी रसदार फलियों से प्राप्त एक एंजाइमयुक्त पदार्थ (वानस्पतिक रेनेट) घरेलू पनीर बनाने में संतोषजनक पाया गया है. कुछ जीवाणुज विभेदों (जीवाणुज रेनेट) से प्राप्त ऐसे ही एंजाइमयुक्त पदार्थ घरेलू तथा चेडुर पनीर बनाने में उपयोगी देखे गये हैं.

उपभोक्ताओं के आकर्षण हेतु मक्खन में रंग मिलाना आवश्यक है. मैसूर, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा महाराष्ट्र में पाये जाने वाले **अनाटो** (**बिक्सा ओरेलाना**) नामक पौधे के बीज के छिलके से उपयुक्त रंजक पदार्थ प्राप्त होता है.

क्रीम उतरे दूध, घृत अवशेष तथा छेने के पानी जैसे उपजातों के समुचित उपयोग के लिये औद्योगिक कैसीन, लैक्टोस तथा विभिन्न खाद्य उत्पाद तैयार करने की विधियों का विकास किया गया है. खुले कड़ाहों में दूध उबालकर उससे संघनित दूध तथा ग्रामीण परिस्थितियों में शुष्क मखनिया दूध तथा बटर मिल्क तैयार करने की विधियों का भी विकास किया गया है.

रोग नियंत्रण – भारतीय प्लेग आयोग की सिफारिश के परिणामस्वरूप पशु रोग नियन्त्रण के साधन जुटाने की दृष्टि से पशुओं को होने वाली बीमारियों का पता लगाने के लिये 1889 में भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान की स्थापना की गयी. इसकी दो शाखायें इज्जतनगर तथा मुक्तेश्वर में हैं जिनको मिलाकर संस्थान धीरे-धीरे उच्च अध्ययन हेतु अन्वेषण एवं प्रशिक्षण केन्द्र बन गया है. इसमें पशु जैविक उत्पाद बनाने की सुविधायें भी सुलभ हो गयी हैं. पशुधन की बीमारियों से सम्बन्धित समस्याओं पर कार्य करने के लिये कुछ राज्यों में भी पशुधन अनुसंधान केन्द्र खोले गये हैं. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् प्रमुख पशु रोगों के नियन्त्रण हेतु प्रायोजनाओं को आर्थिक सहायता देने के अतिरिक्त देश में चल रहे अन्वेषण कार्यों में समन्वय स्थापित करती तथा आवश्यक तकनीकी सलाह भी देती है.

पशु-प्लेग से प्रतिवर्ष हजारों पशुओं की मृत्यु हो जाती थी. 1954 से राष्ट्रीय पशु-प्लेग उन्मूलन योजना चलाकर उस पर विजय प्राप्त कर ली गयी है. इस बीमारी के नियन्त्रण के लिये एक राज्य से दूसरे राज्य को जाने वाले पशु मार्गों पर यत्र-तत्र जाँच करने की चौकियाँ स्थापित की गयी तथा देश के सीमावर्ती भागों में 32.1 किमी. प्रतिरक्षित क्षेत्र के साथ 17 संगरोध केन्द्र स्थापित किये गये.

1953 में भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान द्वारा उत्पादित 'ऑयल एड्ज्वेंट वैक्सीन' के प्रयोग से पशुओं में प्रतिरक्षा उत्पन्न करके गलाघोंटू रोग पर विजय पा ली गयी है. बीमारी फैलने वाले क्षेत्रों में सुसंगठित फार्मों के पशुओं में प्रयुक्त होने के लिये उच्च शक्ति के गलाघोंटू प्रतिसीरम का उत्पादन भी इसी संस्थान द्वारा किया गया है.

रोगी पशु की लार लेकर स्वस्थ पशुओं के मुह पर लगाकर खुरपका-मुहपका रोग पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा चुका है. प्रयोगात्मक रूप से सदूषित पर्वतीय गोपशु की जीभ से ऐपिथेलियम लेकर तैयार किया गया क्रिस्टल वायोलेट वैक्सीन मूल्यवान पशुओं में इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त होता है अधिक मात्रा में वैक्सीन तैयार करने के लिये भारतीय पशु चिकित्सा अनुसधान संस्थान में अलग किये गये वाइरस को एक दिन की आयु वाले खरगोशों तथा गिनी-पिगों में प्रवर्धित करने का कार्य किया जा चुका है

विकास कार्य – केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा चलायी गयी अनेक योजनाओं द्वारा पशुधन का सुधार किया जा चुका है और इस संदर्भ में कुछ योजनायें अब भी कार्य कर रही हैं.

कृषि उत्पाद के निरूपण प्रोग्राम के आधार पर शहरी क्षेत्रों में दुग्धोत्पादन को बढावा देने के लिये चतुर्थ पचवर्षीय योजना की अवधि में एक गहन पशु विकास योजना चलाने की सिफारिश की गयी है. गाय-भैंसों के प्रजनन क्षेत्रों में विकास खण्डों की स्थापना की जा रही है. देश में गोपशुओं तथा भैसों के विकास में मुख्य ग्राम योजना का भी काफी योगदान रहा है. 1962–63 में देश में कुल मिलाकर 420 मुख्य ग्राम खण्ड थे जिनके अन्तर्गत 20.25 लाख प्रजनक गायें तथा 10.49 लाख प्रजनक भैंसे थीं. इन मुख्य ग्राम खण्डों में 7,770 गो-साँड़ तथा 1,533 भैंसा-साँड़ तैयार हुये जिन्हे गाय-भैंसो को गाभिन करने के लिये प्रयुक्त किया गया. पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, बिहार तथा दण्डकारण्य में **थारपारकर** तथा **मुर्रा** नस्ल के पशु रखने के लिये फार्म खोलने का भी निश्चय किया गया.

देश में स्थापित 150 पशुधन फार्मों में से 100 फार्म राज्यों के पशु-पालन विभाग के निदेशकों के प्रशासनिक नियन्त्रण में कार्य कर रहे हैं. इन फार्मों पर 22 नस्ल के गोपशु तथा 2 नस्ल की भैंसे पाली जाती हैं. कुल मिलाकर 16,660 गाये तथा 4,700 भैंसे इन फार्मों पर रखी गयी हैं.

देश में साँड़ रखने वाले 13 फार्म हैं. इनमें से सबसे छोटा फार्म 8 हेक्टर का है जो उड़ीसा में है. इस समय इन फार्मों पर 921 बछड़ों तथा 52 कटड़ों का पालन-पोषण किया जाता है.

पहाड़ी तथा अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में संकरण कार्य करने के लिये **जर्सी** साँड़ प्रदान करने के उद्देश्य से हिमाचल प्रदेश में कतौला तथा मैसूर प्रदेश में हेमरघट्टा नामक स्थानों पर **जर्सी** पशु प्रजनन फार्मों की स्थापना की गयी है.

देश में पशुधन उत्थान हेतु राजकीय प्रयासों को बढावा देने के लिये द्वितीय पंचवर्षीय योजना में गोशालाओं के विकास के लिये एक कार्यक्रम निर्धारित किया गया था. भारतवर्ष में ऐसी मान्यता-प्राप्त 691 गोशालायें हैं जिनमें 14 सुविख्यात नस्लों की 14,053 गायें तथा 1,427 साँड रखे जाते हैं. इनमें से 262 गोशालाओं को सरकार की ओर से तकनीकी तथा आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है.

देशी साँडों के उन्मूलन हेतु महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पजाब, हरियाणा, आन्ध्र प्रदेश, केरल, मैसूर, मध्य प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बगाल, उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, मणिपुर तथा अण्डमान द्वीप समूह में पशुधन विकास अधिनियम लागू किया गया है. अन्य प्रदेशों में भी ऐसा ही कानून लागू करने पर विचार किया जा रहा है.

पशु-ग्रामों में पैदा चुनिंदा बछड़ों के पालन-पोषण हेतु सहायता प्रदान करने के लिये द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उत्तरार्द्ध में एक बछड़ा अनुदान योजना चालू की गयी. इस योजना के अन्तर्गत लगभग 3,000 बछड़ों के पालन-पोषण हेतु आर्थिक सहायता प्रदान की गयी.

तृतीय पचवर्षीय योजना में **हरियाना** तथा **मुर्रा** नस्ल के पशुओं के पंजीकरण हेतु एक कार्यक्रम तैयार किया गया. आगामी योजनाओं में इस पंजीकरण में गिर तथा **लाल सिन्धी** नस्ल के पशुओं को भी सम्मिलित किया जायेगा.

पाँच प्रदेशों के सघन पशु सख्या वाले 60 गाँवों में पशुओं का बीमा करने की एक अग्रगामी योजना तैयार की जा रही है. बानगी के तौर पर सर्वेक्षण द्वारा पशु-स्वास्थ्य, उनकी कार्य क्षमता तथा विभिन्न कार्यों के व्यय पर आँकड़े उपलब्ध करने के लिये दो वर्ष की अवधि में इस योजना को दो प्रावस्थाओं में कार्यान्वित किया जावेगा.

भेड़ें

भेड़ (सं.–ऊर्णवती; त. और मल.–सेमेरी अड्) का संसार की कृषि-अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है. यह बिना जुती, परती भूमियों पर उगी वनस्पतियों और अपतृणों को चर कर मनुष्यों को वस्त्र और आहार प्रदान करने में सहायक होती है. विनम्र होने के कारण इसे अन्य पशुधन के साथ सहज ही पाला जा सकता है. भेड़ से प्राप्त मांस और ऊन किसान की नकद आमदनी बढ़ाने में सहायक है और मेंगनी की खाद से उनकी भूमि भी उर्वर होती है.

पालतू भेड़ के मूल स्थान के विषय में बहुत ही कम ज्ञात है. केवल इतना ही विदित है कि ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और तिब्बत की उरियल (**ओविस ओरियण्टेलिस** मेलिन), दक्षिणी पूर्वी यूरोप की मूफ़लों (**ओ. म्यूसीमोन** पल्लास) तथा भारतवर्ष में हिमालयी प्रदेशों की अर्गाली (**ओ. एमोन** लिनिअस) जंगली भेड़ों से इसका निकट सम्बन्ध है.

अनुमानतः संसार में भेड़ों की लगभग 200 नस्लें होंगी. ये नस्लें दूध, मांस और ऊन को ध्यान में रखते हुये विकसित की गयी हैं. इस प्रकार की 30 नस्लें भारतवर्ष में आमतौर से पायी जाती हैं जिनमें मूल-निवासी, अज्ञात-कुल और संकरित प्ररूप भी सम्मिलित हैं. संसार की 95.80 करोड़ भेड़ों में से भारतवर्ष में लगभग 4 करोड़ भेड़ें पायी जाती हैं, भेड़ों में भारतवर्ष का विश्व में पांचवां स्थान है. सारणी 41 में संसार के ऊन उत्पादन और भेड़ों की संख्या में भारतवर्ष का अंशदान दिखाया गया है.

भारतवर्ष में ऊन उत्पादन करने वाली भेड़ें भारत के मैदानों और जोरिया क्षेत्र के अन्तर्गत राजस्थान, कच्छ, सौराष्ट्र और उत्तर गुजरात के शुष्क क्षेत्रों में संकेन्द्रित हैं. कश्मीर और उसके निकटवर्ती हिमाचल प्रदेश के जिले तथा गढ़वाल की पहाड़ियों में उत्तम ऊन देने वाली किस्मों को पालने के लिये परिस्थितियाँ अत्यन्त अनुकूल हैं. विन्ध्य पर्वत श्रेणियों से नीलगिरि की पहाड़ियों तक विस्तृत दक्षिणी पठार में, विशेषतः पूर्वी आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में भेड़ों की सर्वाधिक संख्या पायी जाती है. इस क्षेत्र की अधिकांश भेड़ें बालदार होती हैं और इनसे या तो बिल्कुल ही नहीं या फिर बहुत कम ऊन मिलता है. इस क्षेत्र की भेड़ें अपनी उत्पादकता के लिये प्रसिद्ध हैं और बांदूर किस्म का पालन मिश्रित-कृषि-अर्थव्यवस्था में अति उपयोगी है.

1966 में भारत में भेड़ें 4.44 करोड़ आँकी गयी थीं (सारणी 42) और इसी वर्ष इन भेड़ों से 35,300 टन ऊन प्राप्त हुआ. 1961 में इनसे 1,58,854 टन मांस और 1.55 करोड़ खालों के अतिरिक्त खाद की बड़ी मात्रा (औसतन 0.5 से 0.7 टन प्रति भेड़ प्रतिवर्ष) भी प्राप्त हुयी. केवल भेड़ और ऊन उत्पादों से 1960–61 में 44.17 करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय हुयी और 1963 में इनसे 18 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की गयी.

ऊन का वार्षिक उत्पादन प्रति भेड़ 340 से 1,800 ग्रा. तक (औसतन 700 ग्रा.) होता है. भारत के उत्तरी मैदानों में उत्पादित श्वेत ऊन की विदेशों में कालीन बनाने के लिये विशेष मांग है. भारत 50% से अधिक ऊन-कतरन का निर्यात करता है जिसका मूल्य लगभग 8 करोड़ रुपये है. 1963 में भारत में ही लगभग 18,870 टन ऊन की खपत, कुटीर उद्योग, कालीन उद्योग और मिलों में हुयी. देश में जितना ऊनी कपड़ा बनता है उससे देश के एक-तिहाई से कुछ ही अधिक लोगों की मांग पूरी होती है. ऊनी कपड़े की बढ़ती हुयी मांग की पूर्ति के लिये, भारत ने 1969–70 में 17 करोड़ रुपये का 18,400 टन ऊन विदेशों से आयात किया था.

भारत में एक जाति विशेष के ही लोग भेड़ पालते हैं. ये ऋतुओं और चरागाहों की उपलब्धता के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहते हैं. रेवड़ों के स्वामियों ने इस उद्योग का ताल-मेल कृषि धन्धों के साथ बैठा रखा है. वर्षा ऋतु में जब खेतों में अन्न की फ़सलें बोयी रहती हैं तो गड़रिये अपनी भेड़ों सहित पहाड़ी क्षेत्रों की ओर चले जाते हैं. इस प्रकार भेड़ों द्वारा फ़सलों के चरे जाने का भय नहीं रहता और भेड़ें भी ऐसे ही स्थानों में पहुँच जाती हैं जहाँ के शुष्क चरागाह भेड़-पालन के लिये उपयुक्त होते हैं. खरीफ़ की फ़सल कट जाने के बाद भेड़ें उन खेतों में बचे खरपतवार और घास चरती हैं और खेतों को अपनी मेंगनी से उर्वर बनाती हैं. कृष्य भूमि के छोटी-छोटी जोतों में बँट जाने के कारण देश-भर में मिश्रित-कृषि और अन्योन्याश्रित अर्थ-व्यवस्था का उदय हुआ है जिसमें भेड़ पालकों को कृषि और चरागाह दोनों से ही जीविका मिल जाती है.

सामान्यतः कोई भी भेड़ पालक, जीविका निर्वाह के लिये अपने रेवड़ में कम से कम 50–60 तक भेड़ें रखता है. वे किसान, जो खेती के सहायक धन्धे के रूप में भेड़ें पालते हैं, 20–30 मादा भेड़ों का छोटा रेवड़ रखते हैं. उत्तर भारत के विस्तृत शुष्क मैदानी इलाकों के कुछ रेवड़ों के स्वामी और हिमालयी क्षेत्रों में चले जाने वाले बहुत से धनी गड़रियों के रेवड़ों में 500–1,000 तक भेड़ें रहती हैं. राजस्थान के कुछ भू-स्वामियों के रेवड़ 5,000 भेड़ों तक के होते हैं. इन भेड़ों का पालन-पोषण उनके आश्रित रहने वाले गड़रिये परिवार करते हैं. इस देश में औसतन 50–60 भेड़ों के रेवड़ पर निर्भर रहने वाले एक गड़रिया-परिवार का जीवन-स्तर सामान्यतः एक साधारण खेतिहर मजदूर की तुलना में ऊँचा होता है.

भेड़ें साधारणतया अधिक वर्षा नहीं सह सकतीं. कम वर्षा और शुष्क ठण्डी जलवायु में भेड़ें स्वस्थ रहती हैं. 76 सेंमी. से कम वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में भेड़ें सर्वाधिक संख्या में पायी जाती हैं. जहाँ इससे अधिक वर्षा होती है वहाँ गड़रिये बरसात के दिनों में सूखे भागों की ओर प्रवास कर जाते हैं और वर्षा बीत जाने पर उन चरागाहों में फिर से लौट आते हैं. निचले जलाक्रान्त स्थानों में भेड़ पालने से भेड़ों को कई रोग हो जाते हैं. किसी भी नस्ल की भेड़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से उनके पोषण तथा उस स्थान के परजीवियों और रोगों के प्रति असंक्राम्यता का भय रहता है. यद्यपि भेड़ों को नरम हरी घास प्रिय है किन्तु इसे शुष्क भूमि पर ही उपलब्ध होना चाहिये.

कृषि अनुसंधान सांख्यिकी संस्थान (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्) ने भारतीय भेड़ों से ऊन की प्राप्ति और भारत में प्रचलित भेड़-पालन की विधियों की जानकारी के विश्वसनीय आँकड़े एकत्रित करने के लिये उपयुक्त प्रतिचयन की तकनीकों का विकास किया है.

सारणी 41 – विश्व के ऊन उत्पादन में भारत का योगदान*

	विश्व			भारत		
	1966-67	1967-68	1968-69	1966-67	1967-68	1968-69
भेड़ें (करोड़ों में)	94.50	94.60	95.80	4.13	3.94	3.94
कच्चा ऊन (हजार टनों में)	2,697	2,748	2,789	32.40	32.40	32.40

* Wool & Woollens of India, Indian Woollen Mills Federation, Bombay, 1971, pp. 29-30.

सारणी 42 – 1966 में भारत में भेड़ों का वितरण*

(हजारों में)

प्रदेश	संख्या
असम	73
आन्ध्र प्रदेश	8,004
उड़ीसा	1,182
उत्तर प्रदेश	2,623
केरल	12
गुजरात	1,652
जम्मू एवं कश्मीर	1,152
तमिलनाडु	6,621
दिल्ली	10
पंजाब	444
पश्चिमी बंगाल	640
बिहार	1,247
मध्य प्रदेश	1,915
मणिपुर, त्रिपुरा, अंडमान और निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप, चंडीगढ़ तथा पाण्डिचेरी	19
महाराष्ट्र	2,205
मैसूर	4,748
राजस्थान	10,323
हरियाणा	517
हिमाचल प्रदेश	1,049
योग	44,436

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Food & Agriculture, Govt. of India, 1972.

देश में भेड़ पालने वाले विभिन्न भू-भागों में चार अग्रगामी नमूना-सर्वेक्षण किये गये थे. ये सर्वेक्षण 1959–60 में गुजरात प्रदेश के जोरिया क्षेत्र में, 1960–61 में राजस्थान में (कोटा मंडल को छोड़कर), 1962–63 में हिमाचल प्रदेश और पंजाब के कांगड़ा जिले में, भेड़ों की संख्या और उनके उत्पादन का अनुमान लगाने के लिये किये गये थे. मैसूर प्रदेश में 1961–62 में, तटवर्ती जिलों (उत्तरी कनारा, दक्षिणी कनारा और कुर्ग को छोड़कर) में मांस की प्राप्ति को ध्यान में रखते हुये सर्वेक्षण किये गये. भारत की लगभग 40% भेड़ें इन नमूना-सर्वेक्षणों के अन्तर्गत आ गयीं. इन आँकड़ों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भेड़ों के रेवड़ों की सबसे बड़ी संख्या राजस्थान में और उसके बाद मैसूर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और पंजाब के कांगड़ा जिले में है. जोरिया क्षेत्र और राजस्थान प्रदेश में घुमन्तू रेवड़ों का प्रतिशत सबसे अधिक है. साथ ही इन क्षेत्रों में स्थिर और घुमन्तू दोनों ही प्रकार के रेवड़ों में भेड़ों की संख्या सबसे अधिक है. हिमाचल प्रदेश के रेवड़ सबसे छोटे होते हैं.

भारत में भेड़ पालना अभी भी जीवन प्रणाली ही है और इस उद्योग का ठोस आधार पर संघटन करना शेष है. अन्य भेड़-पालक प्रमुख देशों की भेड़ों की तुलना में भारत की औसत भेड़ निम्नकोटि की है. ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड में उन्नत किस्म की भेड़ों से 3.6–5.4 किग्रा. ऊन प्राप्त होता है जबकि औसत भारतीय भेड़ से केवल 700 ग्रा. ऊन प्राप्त होता है. भारत में 100 मादा भेड़ें 60 या 70 ही मेमनों को जन्म देती हैं जबकि इतनी ही उन्नत भेड़ें 120–140 मेमने पैदा कर सकती हैं.

ब्रिटेन की अत्यन्त उन्नत और महत्वपूर्ण नस्लें **साउथडाउन,** लीसेस्टर और लिंकन हैं. इन नस्लों के विशुद्ध मेढ़ों का भार 68–113 किग्रा. और भेड़ों (मादा) का 54.4–79.4 किग्रा. होता है, किन्तु भारतीय मेढ़ों और भेड़ों के लिये ये ही मान क्रमशः 27.2–36.3 और 18.1–27.2 किग्रा. हैं. यूरोप में भी पाली जाने वाली भेड़ें मिश्रित कृषि अर्थव्यवस्था के लिये उपयुक्त हैं. इनसे मांस, ऊन और दूध, तीनों ही प्राप्त होते हैं. दूध देने वाली भेड़ों की दो महत्वपूर्ण नस्लें बालकन की **जैकेल** और मध्य यूरोप की **लैंडशीप** हैं. सुनहरे पैरों वाली **मेरिनो,** स्पेन की मूलवासी है. इसके उत्तम ऊन की तुलना किसी भी अन्य ऊन से नहीं की जा सकती, फलतः संसार के ऊन उद्योग में इसने एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है. अब यह नस्ल ऑस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़ी संख्या में पाली जाती है. जम्मू और कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों और महाराष्ट्र के दक्षिणी पठारों में उत्तम ऊन वाली नस्लों के विकास के अध्ययन के लिये अमेरिका से लायी गयी उत्तम ऊन वाली मेरिनो किस्म की **रैम्ब्युलेट** और स्थानीय किस्मों से संकरण किये गये हैं. 12–15 वर्ष की अवधि में संकरित संतति से प्राप्त ऊन की मात्रा और उसके गुण दोनों में ही यथेष्ट सुधार हुआ है. उष्णकटिबन्धीय देशों की मांसदायी भेड़ों में ईरान और अफ़ग़ानिस्तान का मोटी पूंछ वाला **दुम्बा** और सोमालिया की मोटी पुट्ठों वाली भेड़ प्रमुख हैं. मध्य एशिया की **कराकुल** नस्ल की भेड़ अपनी खाल के लिये प्रसिद्ध है. चुनी हुयी भारतीय किस्मों के मांस के गुणों पर जो अध्ययन हुये हैं उनसे विदित होता है कि इस देश में मांसदायी नस्लें नहीं हैं. इसीलिये तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और हरियाणा की स्थानीय नस्लों और प्रमुख मांसदायी नस्लों के संकरण द्वारा मांसदायी नस्लों के विकास के लिये एक योजना प्रस्तावित की गयी है.

भारतीय नस्लें

भारत में **ओविस** लिनिअस वंश (कुल–बोविडी, उपकुल–कैप्रिनी) की 14 या उससे कुछ अधिक सुपरिचित नस्लें पायी

जाती हैं. इन नस्लों के नाम मुख्यतः पाले जाने वाले क्षेत्रों के नामों पर ही हैं. इन नस्लों को दो प्ररूपों में विभाजित करते हैं : बालों वाले और ऊन वाले. बालों वाले प्ररूप अपने मांस और दूध के लिये और ऊन वाले अपने ऊन के लिये अधिक उपयोगी हैं. सारणी 43 में कुछ महत्वपूर्ण नस्लों के शारीरिक माप, भार और औसत ऊन उत्पादन दिये हुये हैं.

भारत में भेड़ पालने वाले भूखण्डों को मोटे तौर पर चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया है : शीतोष्ण हिमालयी, शुष्क उत्तरी, दक्षिणी, और पूर्वी क्षेत्र जिनमें से प्रत्येक में पृथक्-पृथक् प्रकार की नस्लें पायी जाती हैं.

शीतोष्ण हिमालयी क्षेत्र के अन्तर्गत जम्मू और कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, पंजाब और उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाके हैं जिनमें पूरे वर्ष विभिन्न ऊँचाइयों पर उपयुक्त चरागाहों की सुविधायें प्राप्त हैं. इस क्षेत्र में लगभग 52 लाख भेड़े हैं जिनसे प्रतिवर्ष लगभग 4,720 टन ऊन प्राप्त होता है. यह ऊन लम्बे रेशे वाला, मुलायम और महीन होता है और इसकी खपत शाल, लोई, पश्मीना और पट्टू आदि बनाने में हो जाती है. अधिकांश रेवड़ श्वेत ऊन वाली भेड़ों के होते हैं किन्तु भूरे और धूसर रंग की भेड़ें भी बड़ी संख्या में पाली जाती हैं. उत्कृष्ट रोम वाली और महीन ऊन वाली भेड़ें 2,400–3,600 मी. ऊँची पर्वत श्रेणियों पर निवास करती हैं जहाँ पर्याप्त वर्षा होती है और प्रचुर चरागाह हैं. गढ़वाल जिले के पूर्वी भाग तथा कम ऊँचाइयों पर निवास करने वाली भेड़ों का ऊन मोटा होता है. कांगड़ा, चम्बा, कुल्लू और कश्मीर की घाटी की भेड़ों के रेवड़ नियत समय पर ऊँचे स्थानों पर चले जाते है. उनका ऊन अच्छे किस्म का होता है.

पुंछ, कारनाह और कश्मीरी घाटी नामक विशिष्ट नस्लें जम्मू एवं कश्मीर में पायी जाती हैं. पुंछ और **कारनाह** नस्ल की भेड़ों से अपेक्षाकृत मुलायम और अधिक ऊन प्राप्त होता है. **कश्मीरी घाटी** नस्ल की भेड़ें छोटी और अधिकतर रंगीन ऊन देने वाली हैं. इनसे मोटे और महीन ऊन का मिश्रण प्राप्त होता है. इन नस्लों के अतिरिक्त, **भाकरवाल** और **भादरवाह (गद्दी)** दो महत्वपूर्ण नस्लें हैं जिनका उद्भव हिमालय की घाटियों में हुआ और ये बाद में अधिक ऊँचाइयों की ओर चली गयी है. **रामपुर-बुशायर** एक अन्य महत्वपूर्ण नस्ल है जिसका जन्म हिमाचल प्रदेश के मासो जिले में हुआ. इन भेड़ों का ऊन रंगीन और नीचे का ऊन मुलायम होता है.

ऊँचाई पर स्थित पुंछ में पायी जाने वाली पुंछ नस्ल की भेड़ें कश्मीर की सबसे बड़ी भेड़ें हैं. अधिकांश भेड़ें सींग-रहित होती हैं. पूंछ छोटी और आधार पर मोटी और कान प्रायः लम्बाई में छोटे होते हैं. इनका रंग अधिकतर श्वेत होता है. ये भेड़ें ऊन उत्पादन के लिये सर्वोत्तम हैं. इनसे दो या तीन कतरनों में प्रति वर्ष, प्रति भेड़, औसतन 1.6 किग्रा. ऊन उतरता है. इन भेड़ों का पालन गर्मियों में उर्वर चरागाहों में और जाड़ों में बांधकर एकत्रित घास और चारा खिलाकर किया जाता है.

कारनाह तहसील में 1,200–4,600 मी. की ऊँचाई पर पायी जाने वाली **कारनाह** नस्ल की भेड़ें हृष्ट-पुष्ट होती हैं. इस नस्ल की सर्वोत्तम भेड़ें कैल के समीप पायी जाती हैं. भेड़ों के

सारणी 43 – विभिन्न नस्लों के शारीरिक नाप, भार और औसत ऊन उत्पादन*

नस्ल		स्कन्ध प्रदेश तक ऊँचाई (सेंमी.)	स्कन्ध से जघनास्थि तक लम्बाई (सेंमी.)	वक्ष परिधि (सेंमी.)	शारीरिक भार (किग्रा.)	ऊन की प्राप्ति प्रति भेड़ प्रति वर्ष (किग्रा.)
गुरेज		69.6	72.0	91.4	58.97	1.36–1.81
कारनाह		64.0	68.6	91.4	...	0.91–1.36
भाकरवाल		50.8	...	101.6	38.56	1.36–1.81
भादरवाह (गद्दी)		66.0	68.6	91.4	31.75	1.36–1.81
रामपुर-बुशायर		64.0–68.6	63.5–71.0	76.2–78.7	31.75	1.36–1.81
लोही	नर :	78.7	76.2	106.6	69.40	2.27
	मादा:	67.0	62.0	86.4	36.74	1.36
बीकानेरी	नर :	72.0	73.7	101.1	63.50	2.20†
	मादा:	62.0	61.0	78.7	36.29	1.50
काठियावाड़	नर :	73.7	76.2	86.4	45.36	1.36
	मादा:	63.5	61.0	73.7	27.22	...
दक्कनी		53.3	25.4	71.1–78.7	नर : 31.75–36.29	0.349
					मादा: 20.4 –24.95	0.24–0.91
मांड्या		53.3–68.6	91.4–99.0	86.4–99.0	29.48	...
नेल्लोरी	नर :	76.2	71.1	86.4	40.82	...
	मादा:	73.7	68.6	81.3	37.19	...

*Lall, *Misc Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 75, 1956, 34.

†हिसार फार्म में बीकानेरी भेड़ों में दो कतरनों से अधिकतम उत्पादन 5.44 किग्रा. रहा.

कारनाह् मेढ़ा

रामपुर-बुशायर मेढ़ा

बीकानेरी मेढ़ा

मगरा मेढ़ा

दक्कनी मेढ़ा

नेल्लौरी मेढ़ा

मेढ़े : भारतीय नस्लें

लोही मेढ़ा

मारवाड़ी भेड़

हिसारडेल मेढ़ा

चोकला मेढ़ा

नाली भेड़ के साथ मेमना

वन्नूर मेढ़े
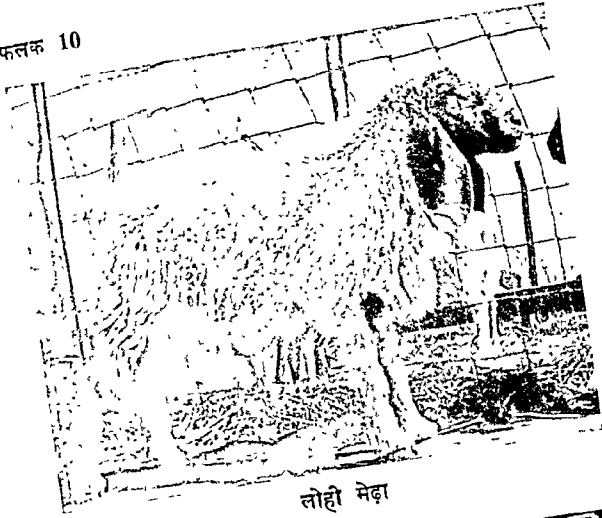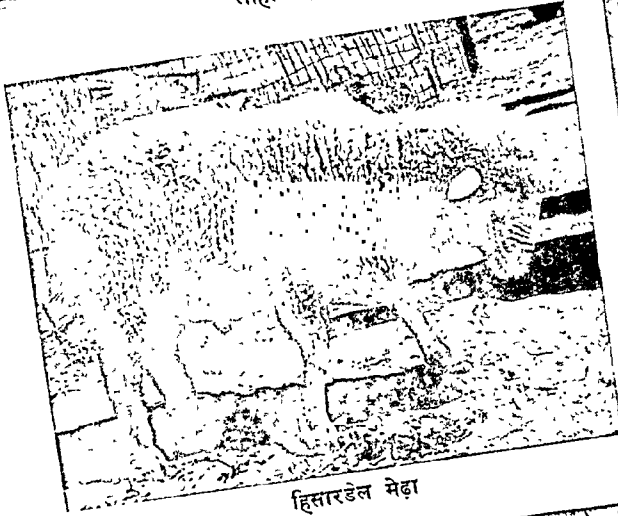
भेड़ : भारतीय नस्लें

सींग बड़े और मुड़े तथा नाक बड़ी होती है. ऊन महीन, मध्यम और छोटे प्रकार की, बालों से रहित और अधिकतर श्वेत होती है. दो बार कतरने से प्रति भेड़, प्रतिवर्ष 0.90–1.36 किग्रा. ऊन मिलता है.

भाकरवाल भेड़ें सहिष्णु और हृष्ट-पुष्ट होती हैं. ये घुमन्तू स्वभाव की भेड़ें कश्मीर की घाटियों और पीर-पंजाल पर्वत में अपेक्षाकृत ऊँचे क्षेत्रों पर पायी जाती हैं. इन भेड़ों के अनेक रेवड़ ग्रीष्म ऋतु में कश्मीर की घाटी, लिद्दर और पहलगांव में चले जाते हैं. कुछ भेड़ों की पूंछ मोटी होती है; कान प्राय: लम्बे, चौड़े और नीचे को लटके हुये, आँखों और थूथन के चारों ओर का भाग भूरे या ताम्र-भूरे रंग का होता है. इन भेड़ों का ऊन रंगीन और मोटा होता है. प्रति भेड़ से वर्ष में औसतन 1.6 किग्रा. ऊन तीन कतरनों में प्राप्त होता है. इस ऊन का उपयोग स्थानीय रूप में लोई बनाने में किया जाता है.

भादरवाह (गद्दी) नस्ल की भेड़ें आकार में छोटी होती हैं और किश्तवार और जम्मू की भादरवाह तहसील में पायी जाती हैं. जाड़ों में इनकी बहुत बड़ी संख्या कुल्लू और कांगड़ा की घाटियों में आ जाती है और ये ग्रीष्म ऋतु में पीर-पंजाल की सर्वोच्च ऊँचाइयों में विशेषकर पद्दर श्रेणियों में चरने पहुँच जाती हैं. मेढ़े सींगदार होते हैं और भेड़ें बिना सींग की होती हैं. इनके सारे शरीर पर श्वेत ऊन और मुख पर भूरे रंग के बाल होते हैं. ऊन चमकदार और महीन होता है. एक भेड़ से वर्ष में औसतन 1.13 किग्रा. ऊन मिलता है जो तीन कतरनों में उतारा जाता है. इस ऊन का कुछ अंश अमृतसर के बाजारों और धारीवाल मिलों को भेजा जाता है. चमड़ी के पास के ऊन का प्रयोग कुल्लू के उत्कृष्ट शालों और कम्बलों के बनाने में किया जाता है.

रामपुर-बुशायर हिमालयी क्षेत्रों की एक विशिष्ट नस्ल है. इसका शरीर सुगठित, आकार मध्यम और सींग पीछे तथा नीचे की ओर मुड़े हुये, आँखें छोटी, कान लम्बे और पूंछ छोटी और पतली होती है. गर्मी में बुशायर भेड़ों के रेवड़ तिब्बत की सीमा तक पहुँच जाते हैं और जाड़ों में शिवालिक की निचली श्रेणियों में यमुना, टोंस और सतलज की घाटियो में वापस चले आते है. इस नस्ल की कई किस्में पायी जाती हैं क्योंकि गर्मी और जाड़ों में स्थान बदलते समय अन्य अज्ञात कुल की पहाड़ी नस्लों से यह संकरित हो जाती है. यही नस्ल कुछ कम शुद्ध रूप में देहरादून जिले की चकराता तहसील में पहाड़ी भेड़ों के साथ पायी जाती हैं. प्रतिवर्ष प्रति भेड़ से लगभग 1.36–1.81 किग्रा. उत्तम ऊन प्राप्त होता है जिसमें से अधिकांश ऊन की खपत वहीं हो जाती है. भूरे रंग की भेड़ों के ऊन से दो-सूती ऊनी कपड़ा (ट्वीड) बनाया जाता है. तिब्बत के सीमावर्ती क्षेत्रों में बकरियों की भांति इन भेड़ों से भी बोझा ढोने का काम लिया जाता है. उत्तर प्रदेश में पहाड़ी भेड़ों के ऊन गुणों को सुधारने के लिये उन्हें इस नस्ल से संकरित किया जाता है.

भारत के शुष्क उत्तरी क्षेत्रों में जिनके अन्तर्गत राजस्थान, गुजरात, पंजाब और उत्तर प्रदेश के मैदान और मध्य प्रदेश के कुछ भाग भी सम्मिलित हैं लगभग 1.238 करोड़ भेड़ें पायी जाती हैं जिनसे प्रतिवर्ष 20,210 टन ऊन मिलता है, जो भारत के ऊन उत्पादन का 63% है. इसमें से 11,000–12,000 टन ऊन कालीन-ऊन के रूप में वर्गीकृत करके निर्यात कर दिया जाता है.

राजस्थान, उत्तर गुजरात और मध्य प्रदेश के कुछ भागों की भेड़ें उन क्षेत्रों के सूखे, गर्मी और जाड़े के मौसमों को सहने की अभ्यस्त हैं. ये अपना जीवन-निर्वाह बहुत ही कम चारे पर कर लेती हैं और लम्बी यात्रा और बारम्बार सूखे की कठिनाइयों को सहने में समर्थ हैं. इस क्षेत्र में चार ऐसी विशेष नस्लें हैं जो मरुभूमि की परिस्थितियों में जीवन-निर्वाह करने में पूरी तरह अनुकूलित हो चुकी हैं. ये हैं लम्बे कानों वाली **लोही**, भूरे सिर वाली **बीकानेरी**, काले मुख वाली **मारवाड़ी** और गहरे चाकलेटी रंग की मुख वाली **कच्छी**.

लोही नस्ल पर भारत को किसी समय गर्व था किन्तु अब यह पाकिस्तान के लायलपुर, झंग और मांटगोमरी जिलों में पायी जाती है. यह लम्बे कानों वाली, तनकर चलने वाली अनोखी नस्ल है जिससे लम्बे रेशे वाला बहुत ही मोटा ऊन, लगभग 1.81 किग्रा. प्रति भेड़, प्राप्त होता है. साथ ही इससे उत्तम मांस और काफी मात्रा में (कभी-कभी 3.63 किग्रा. प्रतिदिन तक) दूध भी मिलता है. इस प्रकार यह मिश्रित कृषि के लिये अत्यन्त अनुकूल है. भूरा सिर, रोमन नाक और लम्बे चर्मिल कान इस नस्ल के विशेष लक्षण हैं. इसके मुख पर ऊन बिल्कुल नहीं होता. पूंछ छोटी, मोटी और ड्डंडी होती है. भेड़ें नियमित रूप से ब्याती हैं और सामान्यतया जुड़वा मेमनों को जन्म देती हैं. इस नस्ल की कुछ किस्में राजस्थान में विभिन्न नामों से पाली जाती है, जैसे जोधपुर और जैसलमेर जिलों में **जैसलमेरी**, जयपुर, टोंक और सवाई माधोपुर जिलों में **मालपुरी** और उदयपुर जिले में **सोनाड़ी**. यह नस्ल बड़ौदा जिले और गुजरात प्रदेश में **चरोथरी** कहलाती है. बीकानेर और जैसलमेर जिलों की एक विशुद्ध नस्ल **पुगल** है जिसका कुछ कम शुद्ध रूप नागौर और जोधपुर जिलों में भी पाया जाता है.

बीकानेरी नस्ल की भेड़ें मध्य प्रदेश के कुछ भागों में, जो पहले बीकानेर रियासत के अन्तर्गत थे, पायी जाती हैं. मध्य प्रदेश के इन भागों से लगे हुये राजस्थान, पंजाब और उत्तर प्रदेश में भी ये भेड़ें खूब मिलती हैं. इन हृष्ट-पुष्ट और मध्यम आकार की भेड़ों का सिर छोटा और कान छोटे नलाकार होते हैं. प्रति भेड़ से प्रतिवर्ष 1.81–4.08 किग्रा. तक ऊन प्राप्त होता है. भारतवर्ष में दूसरी नस्लों की भेड़ों की तुलना में इनसे सबसे अधिक ऊन मिलता है. इसके अतिरिक्त **मगरा, चोकला या शेखावाटी** और **नाली** तीन और ऐसी नस्लें हैं जिन्होंने इस क्षेत्र की तरह-तरह की भूमि और जलवायु की परिस्थितियों में अपने को ढाल लिया है. मगरा भेड़ें जैसलमेर, नागौर और बीकानेर जिलों के बजरीले मरुस्थली क्षेत्रों में पायी जाती हैं. राजस्थान की भूरे सिर वाली **चोकला** या **शेखावाटी** नस्ल की छोटी भेड़ से कालीन बनाने लायक उत्तम ऊन प्राप्त होता है. इससे प्रतिवर्ष प्रति भेड़ लगभग 0.90–1.81 किग्रा. ऊन प्राप्त होता है. ये भेड़ें चूरू, झुनझुनू और सीकर जिलों में पायी जाती हैं. नाली भेड़ें निचले क्षेत्रों में पायी जाती हैं और इनका ऊन मोटा होता है. इन भेड़ों में **लोही** नस्ल का मिश्रण होता है और ये बीकानेर जिले की उत्तरी सीमा पर और उससे लगे पंजाब के भागों में पायी जाती हैं.

मारवाड़ी भेड़ें, सहिष्णु होती हैं और इनके बालों से मिला हुआ कालीन बनाने योग्य मोटा सफ़ेद ऊन मिलता है. लम्बी टांगें, काला मुख और सुस्पष्ट नासिका इनके विशेष लक्षण हैं. प्राय: इनके गले के नीचे गलचर्म होता है. पूछ छोटी और नुकीली होती है. ये भेड़ें सारे जोधपुर जिले और जयपुर जिले के कुछ भागों में पायी जाती हैं. पाली और बाड़मेर जिलों में ये पाली जाती हैं. ये भेड़ें स्थान बदलती हुयी उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश

के दूरस्थ क्षेत्रों और कभी-कभी महाराष्ट्र के उत्तरी भागों में पहुँच जाती हैं. इनमें रोग और कृमि के प्रति उच्च प्रतिरोध क्षमता होती है. इनसे एक वर्ष में प्रति भेड़ 0.90–1.81 किग्रा. ऊन मिलता है.

कच्छी (देशी) नस्ल, सौराष्ट्र के मरुस्थली भागों और उत्तर गुजरात के रेतीले जिलों में पायी जाती है. इसके विशेष लक्षण हैं: गहरे चाकलेटी रंग का मुख और नाटा मजबूत शरीर. इस नस्ल से मिश्रित ऊन मिलता है जो सैनिकों के लिये होजरी और ट्वीड बनाने के लिये उपयुक्त होता है. गठीली बनावट के कारण इन भेड़ों का मांस उत्तम होता है और अच्छे चरागाह मिलने पर ये दूध भी देती हैं. अतः इस नस्ल से भविष्य में आशा की जा सकती है.

काठियावाड़ी नस्ल, काठियावाड़ और उसके आसपास के कच्छ के भागों, दक्षिणी राजस्थान और उत्तरी गुजरात में पाली जाती है. इससे मोटा किन्तु लम्बे रेशेवाला ऊन प्राप्त होता है. यह नस्ल मध्यम आकार की किन्तु सुगठित होती है. इसका रंग प्रायः श्वेत होता है, केवल टाँगों और मुख पर गहरे भूरे और काले बाल होते हैं. इसके ऊन का वार्षिक उत्पादन अनुमानतः 1.5 किग्रा. है.

दक्षिणी क्षेत्र में, जिसमें महाराष्ट्र, मैसूर, तमिलनाडु, केरल और आन्ध्र प्रदेश सम्मिलित हैं, भेड़ों की संख्या शुष्क उत्तरी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक है. इस क्षेत्र में लगभग 2.265 करोड़ भेड़ें हैं जिनमें से पूर्वी भागों में पायी जाने वाली 1.2 करोड़ भेड़ों से ऊन प्राप्त नहीं होता है. ये भेड़ें मांस के लिये ही पाली जाती हैं. शेष 1 करोड़ भेड़ों से 10,700 टन मोटा, रंगीन, मुख्यतः धूसर रंग का ऊन प्राप्त होता है.

भेड़े दो सुस्पष्ट नस्लों की होती हैं : **दक्कनी और नेल्लोरी.**

दक्कनी नस्ल, राजस्थान की ऊन वाली और आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु की बालदार भेड़ों का मिश्रण है. यह नस्ल बम्बई, दक्कन क्षेत्र और मैसूर प्रदेश के कुछ भागों में पायी जाती है. ये छोटी और तगड़ी होती हैं और अपना जीवन-निर्वाह अपर्याप्त चरागाहों पर भी कर लेती हैं. ऊन रंगीन, अधिकतर काले या धूसर रंग का होता है. यह ऊन निम्नकोटि का होता है और इसमें रेशे तथा बाल मिले-जुले रहते हैं. ऊन का औसत वार्षिक उत्पादन प्रति भेड़ 454 ग्रा. है. इस नस्ल से अपेक्षाकृत उत्तम ऊन प्राप्त करने की संभावना है. इस ऊन की खपत मुख्यतः मोटे खुरदुरे कम्बल बनाने में हो जाती है. इसके रेवड मांस के लिये पाले जाते हैं.

नेल्लोरी भेड़ बकरियों से मिलती-जुलती भारत की सबसे ऊँचे कद की भेड़ है. इसके मुख और कान लम्बे होते हैं और इसका शरीर छोटे घने बालों से ढका रहता है. अधिकतर रेवड बादामी या गहरे लाल-बादामी रंग के होते हैं. इसकी बहुत छोटी पूंछ के सिरे पर बालों का एक गुच्छा रहता है. मेढ़ों के सींग मुड़े होते हैं और भेड़ें शृंगहीन होती हैं. तमिलनाडु में पायी जाने वाली समस्त भेड़ों में से 68% इसी नस्ल की हैं. ये भेड़ें जंगलों, पहाड़ी ढलानों, नदी तटों और फ़सल कट जाने के बाद खेतों में चरती हैं. इस नस्ल से उत्तम मांस प्राप्त होता है. कृष्य भूमि को उपजाऊ करने के लिये खेतों में रात में भेड़ें बैठायी जाती हैं. इस किस्म की अन्य उल्लेखनीय नस्लें **मांड्या, यालग या तेनगुरी** हैं. ये भेड़ें प्रायः लम्बी टाँगों और कृश शरीर वाली तथा बालदार होती हैं. इनसे नहीं के बराबर ऊन प्राप्त होता है. मैसूर में मांड्या भेड़ का मांस उत्तम माना जाता है. जब कि छोटी बान्दूर नस्ल मिश्रित कृषि के लिये उपयुक्त है.

पूर्वी क्षेत्र में बिहार, बंगाल और उड़ीसा सम्मिलित हैं जिसमें आर्द्र तथा उष्ण जलवायु के कारण भेड़-पालन कोई महत्वपूर्ण व्यवसाय नहीं है. इस क्षेत्र की 30 लाख भेड़ों में से अधिकांश मांस के लिये ही पाली जाती हैं. इन भेड़ों से प्रति वर्ष प्रति भेड़ औसतन 113–224 ग्रा. मोटा ऊन भी मिल जाता है. इस क्षेत्र का कुल ऊन उत्पादन 90,600 किग्रा. है. इस ऊन का प्रयोग मोटे कम्बल और दरियाँ बनाने में किया जाता है.

विदेशी नस्लें

भारत में पिछले कुछ वर्षों से देशी नस्ल की मादा भेड़ों का संकरण विदेशी भेड़ों से किया जा रहा है. इससे देशी नस्लों के गुणों को सुधारने में बड़ी सहायता मिली है. मुख्य विदेशी नस्लें **मेरिनो, रैम्ब्युलेट, शेवियट, साउथडाउन, लीसेस्टर** और **लिंकन** हैं.

मेरिनो संसार की सर्वप्रिय और उत्तम ऊन देने वाली नस्ल है जिसका मूलस्थान स्पेन है. इसके मुख और पैर श्वेत होते हैं. मेढ़े सींगदार और मादाएँ सींगरहित होती हैं. इसके सिर और टाँगों का अधिकांश भाग ऊन से ढका रहता है. ये भेड़ें अपर्याप्त चरागाहों में प्रतिकूल मौसम को सहकर भी जीवित रह सकती हैं. मादा भेड़ें अन्य किसी भी नस्ल की भेड़ों से दीर्घजीवी होती हैं और अधिक लम्बी अवधि तक ऊन देती हैं.

रैम्ब्युलेट स्पेन की पुरानी मेरिनो भेड़ की वंशज है. इसका विकास फ्रांस में हुआ था. इन भेड़ों का सिर बड़ा, तथा कान और नाक के चारों ओर श्वेत बाल होते हैं. मेढ़े सींगदार और सींगरहित भी होते हैं. भेड़ों के सींग नहीं होते. मेढे का भार 125 किग्रा. तक और भेड़ का अधिक से अधिक भार 90 किग्रा. तक होता है. इसका शरीर मांसदायी नस्लों की भाँति चिकना नहीं होता. इसकी तुलना सर्वोत्तम मांसदायी नस्लों से नहीं की जा सकती फिर भी बाजार में इसकी काफी माँग रहती है और इससे उच्च कोटि का महीन ऊन भी प्राप्त होता है. इसका लगभग सारा शरीर मुख और टाँगें सघन ऊन से ढके रहते हैं. **रैम्ब्युलेट** नस्ल उच्च कोटि की प्रजननकर्ता है और विभिन्न प्रकार के चरागाहों में भी अपना निर्वाह कर लेने में इनकी शक्ति अतुलनीय है. जब इसका संकरण मध्यम और लम्बे ऊन वाली नस्लों से किया जाता है तो नई पीढ़ी के मेमने काफी चारा खाने वाले अतः उत्तम मांस देने वाले हो जाते हैं.

शेवियट एक मध्यम ऊन वाली नस्ल है जिसका विकास मुख्यतः स्काटलैंड में हुआ. इस नस्ल का आकार छोटा, कान खड़े, मुख श्वेत, टाँगें श्वेत और छोटे बालों से ढकी और नाक, ओंठ और पैर काले होते हैं. मेढ़े का औसत भार 80 किग्रा. और मादा का 53 किग्रा. होता है. इससे केवल 2.5–3.5 किग्रा. ही ऊन प्राप्त होता है. ऊन हलकी होती है और उसमें कुछ पीतक (ऊर्णवसा और चिकनाई) भी होता है, यह अपेक्षाकृत कम सिकुड़ने वाली होती है.

साउथडाउन एक छोटी भेड़ है जो मांस उत्पादन में अद्वितीय है. शरीर गठीला, नाटा और चौड़ा, टाँगें दूर-दूर स्थित, सिर चौड़ा और मुख हल्के भूरे रंग का होता है. वयस्क होने पर मेढ़ों का भार 80 किग्रा. तथा भेड़ों का 55 किग्रा. होता है. इससे एक बार में 2–3 किग्रा. ऊन प्राप्त होता है. यह नस्ल सबसे पुरानी अंग्रेजी नस्ल है. बहुत-सी अन्य नस्लों के सुधारने में इसका योग रहा है.

लीसेस्टर दो किस्म की होती हैं: अंग्रेजी और वार्डर. ये भेड़ें मँझोले आकार की होती हैं और इनकी टाँगों और मुख पर रोयें नहीं होते हैं. मादायें विशेष बहुप्रजनक नहीं होतीं. शरीर का आकार और ऊन, लम्बे ऊन वाली नस्लों के ही समान होते हैं.

लिंकन इंगलैंड की मूल नस्ल है. इसकी भेड़ें बड़ी होती हैं और इनके कान बड़े और मोटे तथा सिर चौड़ा होता है. इनका शरीर बेडौल और अत्यन्त मांसल होता है. मादायें काफी बच्चे देने वाली होती हैं किन्तु इनकी गणना उत्तम दूध देने वाली भेड़ों में नहीं की जाती. इनसे लम्बे रेशों वाला उत्तम ऊन अच्छी मात्रा में (प्रतिवर्ष 5–7 किग्रा.) प्राप्त होता है. इस नस्ल का उपयोग संकरण और नई नस्लों के विकास में सफलतापूर्वक किया गया है.

ऑस्ट्रेलियन मेरिनो भेड़ और उसकी ऊन की श्रेणी संसार-भर में प्रसिद्ध है. ऑस्ट्रेलिया में 1850 में केवल 1.7 करोड़ भेड़ें थी जो 1890 के पूर्वार्द्ध में बढ़कर 10 करोड़ हो गयीं. ऑस्ट्रेलिया में भेड़ों की संख्या संसार की कुल संख्या के 1/6 से भी कम है, किन्तु इन भेड़ों से संसार का 1/3 ऊन प्राप्त होता है. उत्तम मेरिनो ऊन का तो 50% उत्पादन ऑस्ट्रेलिया में ही होता है.

न्यूजीलैंड की 70% से कुछ अधिक भेड़ें **रोमनी-मार्श** नस्ल की और केवल 2–3% **मेरिनो** नस्ल की हैं. अर्ध-संकरित और अन्यथा संकरित नस्लों में से प्रत्येक 12% पायी जाती हैं. अन्य नस्लें जैसे **कोरीडेल** और अल्प संख्याओं में ब्रिटेन की मांस और लम्बे ऊन वाली नस्लें भी पायी जाती हैं जिनका प्रयोग संकरण में किया जाता है.

दक्षिणी अफ्रीका में संसार की 4% भेड़ें पायी जाती हैं और संसार के कुल ऊन का 5% उत्पादन होता है. अधिकांश ऊन उत्तम **मेरिनो** किस्म का होता है. 1966–67 से 1968–69 तक विभिन्न देशों में भेड़ों की कुल संख्या और कच्चे ऊन के उत्पादन के आँकड़े सारणी 44 में दिये गये हैं

सारणी 44 – विभिन्न देशों में ऊन का उत्पादन*

देश	भेड़ों की संख्या (लाख में)			कच्चे ऊन का उत्पादन (हजार टन में)		
	1936-67	1967-68	1968-69	1966-67	1967-68	1968-69
अर्जेण्टाइना	487	410	450	200	194	180
ऑस्ट्रेलिया	1,644	1,669	1,746	800	805	855
तुर्किस्तान	347	359	370	44	44.9	45.3
दक्षिणी अफ्रीका	368	370	386	132	139	140
न्यूजीलैंड	600	605	599	322	330	336
पाकिस्तान	103	103	103	20.4	20.4	20.4
ब्रिटेन	290	280	268	59.4	58.1	57.6
भारत	413	394	394	32.6	32.6	32.6
संयुक्त राज्य अमेरिका	239	221	212	107	103	96.6
सोवियत संघ	1,355	1,385	1,406	371	395	413

* Wool & Woollens of India, Indian Woollen Mills Federation, Bombay, 1971, 29-30.

प्रबन्ध

पालतू जानवरों में भेड़ें, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अनुकूलन के लिये बेजोड़ हैं. ये पहाड़ों, पहाड़ियों, मैदानों, मरुभूमियों और कष्टकृष्य भूमियों से प्राप्त विभिन्न प्रकार के चारों को खाकर बदले में मनुष्य को ऊन, मेमने, मांस और खालें प्रदान करती हैं. उचित पोषण के साथ ही साथ कुशल प्रबन्ध, नस्ल के भीतर वरण और संकरण को भी मान्यता दी जाती है. प्रजनन करने वाली भेड़ों का कम खर्च में पालन, मेमनों की बड़ी संख्या और उनकी निरन्तर और शीघ्र वृद्धि, दुग्धपान अवस्था में उनका मोटा होना, और स्वच्छ तथा भारी ऊन की प्राप्ति ये सभी बातें पर्याप्त पौष्टिक आहार और अच्छे प्रबन्ध पर निर्भर करती हैं.

संयुक्त राज्य अमेरिका में भेड़ पालने की चार सामान्य पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जो कृषीय ढाँचे में ठीक बैठती हैं. ये पद्धतियाँ हैं: चारण क्षेत्र, फार्म, विशुद्ध नस्ल से प्रजनन और मोटे मेमनों का उत्पादन.

भारत में सफल प्रबन्ध पद्धतियों में भेड़ की किस्मों और जलवायु के अनुसार अन्तर देखा जाता है. ऐसे फार्मों में जहाँ रेवड़ों की औसत संख्या चरागाहों में रेवड़ों की संख्या से (60 या उससे अधिक) बहुत कम होती है, बहुत-सी ऐसी पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं जो चरागाहों में व्यवहृत नहीं होतीं. इसी प्रकार चरागाहों के प्रबन्ध में उपयुक्त मानी गयी बहुत-सी पद्धतियाँ फार्म के रेवड़ों के लिये किंचित ही उपयोगी होती हैं.

भेड़ की आयु सामान्यतः 10–12 वर्ष है, किन्तु उनकी उपयोगी आयु, नस्ल, स्थान और बाजार की माँग पर निर्भर करती है. भेड़-पालन को लाभदायक बनाने के लिये अनुत्पादक भेड़ें नष्ट कर दी जानी चाहियें और केवल स्वस्थ तथा उपयोगी भेड़ों को ही पालना चाहिये. इसलिये जिन क्षेत्रों में भेड़ों को पालना हो वहाँ के चरागाहों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये सावधानी से नर और मादा भेड़ों की नस्लों का चुनाव करना चाहिये. भारत में भेड़ें 40–50 के छोटे रेवड़ों में पाली जाती हैं. प्रत्येक रेवड़ में एक मेढ़ा होता है. इस प्रकार मिश्रित कृषि-व्यवस्था में ठीक लागत पर मांस और ऊन मिलता रहता है. इस पद्धति के बहुत से लाभ हैं: जैसेकि पालक सही-सही अभिलेख रख सकता है और मेढ़ों के अवगुण शीघ्र ही जान सकता है, प्रजनन के लिये आवश्यक संख्या में मेढ़ों को रखकर, शेष नर मेमनों को प्रतिवर्ष मांस के लिये बेच दिया जाता है. नर मेमनों को दूध छुटाने के पश्चात् जब वे अधिकतम वृद्धि पर होते हैं संगम करने के पहले बेच देना चाहिये.

कुशल प्रबन्ध का मुख्य ध्येय ऊन और मांस का अधिक उत्पादन है. यह नस्ल के वरण और पोषण की विधियों पर निर्भर करता है. अच्छे मेढ़े में उसकी विशेष नस्ल के सभी वांछित लक्षण होने चाहिये, साथ ही उसे प्रजनन-काल में और उसके बाद भी हृष्ट-पुष्ट बना रहना चाहिये. उसकी छाती चौड़ी, धड़ स्थूल और उभरी पसलियों से युक्त, पीठ समतल, कमर चौड़ी, पैर मजबूत, गरदन पुष्ट और सिर सुडौल होना चाहिये.

संगम-काल के पूर्व मेढ़ों को रेवड़ में भली-भाँति बसा देना चाहिये. ऐसी सूचना है कि कम आयु के मेढ़ों को अधिक आयु वाली भेड़ों से और वयस्क मेढ़ों को कुमारी भेड़ों के साथ संगम कराने से अच्छे मेमने मिलते हैं. प्रजनन-काल में मेढ़ों के भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिये क्योंकि अधिकांश मेढ़े इस अवस्था में

ठीक से चरना बन्द कर देते हैं. इस काल मे मेढो को स्वस्थ बनाये रखने के लिये उन्हे श्रेष्ठ चारे अथवा सान्द्र आहार हाथ से खिलाने चाहिये. प्रजनन काल की समाप्ति पर मेढो को रेवड से अलग कर देना चाहिये क्योकि यदि इसके बाद वे सगम करेगे तो नियत समय के पश्चात ही मेमने होगे. एक मेढा प्रतिवर्ष 30–40 भेडो को गाभिन करने की क्षमता रखता है.

भेडें सामान्यत 9–14 महीने की आयु मे सगम के योग्य हो जाती हैं और 7 वर्ष तक प्रजनन-योग्य बनी रहती हैं. इसके पश्चात् अनुत्पादक भेडो को चुनकर अलग कर दिया जाता है. जिन क्षेत्रों में चरागाहो में चारे का अभाव रहता है वहाँ भेडो को तीसरी या चौथी ब्याँत के बाद ही अलग कर दिया जाता है. वयस्क भेडे उचित दाम पर बडी कठिनायी से मिलती है इसलिये अपेक्षित नस्ल की शिशु-भेडो को दूध छूटने के बाद ही या उन बडी भेडो को जिनसे पहले ब्याँत मे ही श्रेष्ठ मेमने मिल चुके हो, खरीद लेना चाहिये.

सफल प्रजनन के लिये भेड को $2\frac{1}{2}$–3 वर्ष की आयु का या लगभग चार दाँत का होना चाहिये. सम-शारीरिक गठन और मेमना-उत्पादन-क्षमता भेड मे अपेक्षित गुण हैं और इन्ही गुणो के आधार पर रेवड पालने मे आर्थिक सफलता मिल सकती है. मादा भेड का शरीर लम्बा अच्छा है यदि ऊँचाई कम हो और पिछला धड चौडा तथा स्तन सुडौल होने चाहिये. इनमे चारा खोजने और मेमनो के पोषण और रक्षण की आदत होनी चाहिये. मादा भेड का चुनाव उसके बाह्य आकार की अपेक्षा उसकी क्षमता के आधार पर किया जाता है ऊन उत्पादन के लिये पाली जाने वाली नस्लो मे अधिकाश ऊन मादा भेडो से ही प्राप्त होता है. मेमनो मे ऊन उत्पादन का गुण मादा भेड से ही मिलता है सफल भेड-पालन के लिये भेड को मेमने पिलाने के लिये पर्याप्त दूध देना चाहिये. सगम से लगभग दो सप्ताह पूर्व से मादा भेडो को या तो कुछ दाना भी खिलाया जाता है या उन्हे ऐसे नये चरागाहो मे ले जाया जाता है जहाँ काफी चारा मिल सके. यह विधि उत्तेजना प्रणाली कहलाती है. जब कभी जल्दी-जल्दी मेमनो की आवश्यकता होती है तो ऐसा करने से मादा भेडो का मदकाल समय से कुछ पूर्व हो जाता है गर्भकाल मे मादा भेडो का उचित पोषण करने से जीवित मेमनो की सख्या बढती है और निर्बल तथा अपग मेमनो की सख्या घटती है. इससे रोग भी कम होते हैं, भेड का दूध बढता है तथा ऊन की मात्रा एव गुणो मे सुधार होता है.

जब तक मेढे भली-भाँति चिह्नित न हो और मादा भेडो की प्रजनन-तिथियो के उचित अभिलेख न रखे हुये हो तब तक सगम कराते समय निश्चित कर पाना कठिन हो जाता है कि कौन-सा मेढा उर्वर है और कौन सा वन्ध्य जब भेडो का प्रसवकाल पास आ जाता है तो उन्हे उपयुक्त वाडो मे निवास देना चाहिये और प्रतिकूल मौसम से उनकी रक्षा करनी चाहिये.

प्रसव के बाद कुछ दिनो तक भेडो की देखभाल मे सावधानी बरतनी चाहिये. पहले 48 घण्टो तक, अथवा जब तक नवजात मेमने अपनी टाँगो पर खडे होकर माँ का दूध पीने में समर्थ न हो लें, समुचित देखरेख की आवश्यकता पडती है. मातृहीन या धाई माँ के न होने पर मेमनो को पहले हाथ से खीस और फिर दूध पिलाना पडता है. जब मेमने 7–14 दिन की आयु के बीच हो तभी उन्हे बधिया करा देना चाहिये. पूँछ के चारो ओर मल एकत्रित होने पर मक्खी या मैगट बाधक बन सकते हैं अत: चाकू या गरम लोहे से पूँछ काट दी जाती है. प्रजनन रेवडो मे होनहार दिखाई पडने वाले मेमनो की, बधिया मेमनो की और बिकाऊ मादा मेमनो की पूँछे काट देनी चाहिये और पहचान के लिये तरह-तरह के चिह्न बना देने चाहिये. विशुद्ध प्रजनक मेमनो पर भी चिह्न बनाये जाते हैं जिससे नर और मादाओ की वशावली की पहचान की जा सके. चरवाहे गडरिये प्राय: अपने-अपने मेमनो की छाती रग देते है जिससे रेवडो के मिल जाने पर भी वे अपने-अपने पशुओ की पहचान कर लेते हैं.

भेडो को लम्बे-चौडे अथवा अधिक लागत पर तैयार निवास स्थानो की आवश्यकता नही पडती. भेडो के बहुत से बडे और छोटे रेवड ठण्डे प्रदेशो में भी अल्प या बिना किसी आश्रय के पाले जाते हैं. भेडो की रक्षा के लिये बनाये गये बाडे ऊँची भूमि पर होने चाहिये. खिलाने के उपस्कर, उनको दिये जाने वाले आहार तथा शाला मे उनके लिये नियत स्थान के अनुसार बदलते रहते हैं. सूखी घास के टाँडो और दाने वाली नादो की आवश्यकता वही पडती है जहाँ भेडे एक ही स्थान मे रहती हैं और फार्म मे उगाये गये चारे पर पाली जाती हैं. खुली और बन्द दोनो ही प्रकार की खाने की नाँदो का प्रयोग सामान्य है.

आहार

भारतवर्ष मे भेडे अपना जीवन निर्वाह प्राय: जगली घासों, बूटियो और खेतो के अपशिष्ट उत्पादो पर करती हैं. ये कम नमी वाली नरम घासो को पसन्द करती हैं क्योकि नरम घास में परिपक्व घास की अपेक्षा अधिक प्रोटीन होता है सामान्यत. भेड के शारीरिक विकास के लिये सान्द्र आहार विशेष परिस्थितियो मे ही आवश्यक होता है. भेडो के भोजन मे प्रोटीन, खनिज (विशेषत: कैल्सियम और फॉस्फोरस), कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन और तन्तु होने चाहिये पानी की समुचित मात्रा भी आवश्यक है. भेडो को पानी देने के लिये अर्ध-वृत्ताकार सीमेन्ट की चरही कुछ ऊँचाई पर स्थायी रूप से रख दी जाती है.

फलीदार चारे और खली मे प्रोटीन की मात्रा प्रचुर होती है. मोठ या मटकी (**विगना ऐकोनिटीफोलियस**), मूँग (**वि. ऑरियस**); उर्द (**वि. मुंगो**), कुल्थी (**डालीकास बाईफ्लोरस**), रिजका (**ल्यूसर्न**) और बरसीम जैसे सामान्य फलीदार पौधो की पत्तियाँ भेडो को प्रिय हैं. भारतवर्ष के चरागाहो मे भी कई प्रकार के जगली फलीदार पौधे उगते हैं मेमनो को शकरकन्द की लताये प्रिय हैं. अगाथी (**सेसबानिया इजिप्टिएका**) भी भेडो के लिये अच्छा चारा है.

सामान्यत आयु और शरीर के भार के अनुसार हर भेड को प्रतिदिन 1–2 किग्रा. फलीदार चारे की आवश्यकता होती है. चरागाहो मे जब फलीदार चारो की विशेष कमी होती है या अकाल के दिनो मे भेडो को प्रोटीन देने की आवश्यकता होती है तो मूगफली, तिल या कुसुम की खली जैसे सान्द्र दिये जा सकते हैं. भेडो को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिये 110–225 ग्रा. तक खली पर्याप्त होती है. चारे मे प्रोटीन की कमी से भेडे दुर्बल हो जाती हैं और ऊन का उत्पादन भी घट जाता है. इसलिये रेवड के स्वामी को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये कि भेडो को नरम घास और फलीदार चारे मिलते रहें भेडो मे खनिज पदार्थो की पूर्ति के लिये सामान्य लवण, चूना और निर्जमित हड्डी के चूरे-की-समान-मात्राये मिलाकर देनी-चाहिये

मेरिनो मेढा

लिंकन मेढा
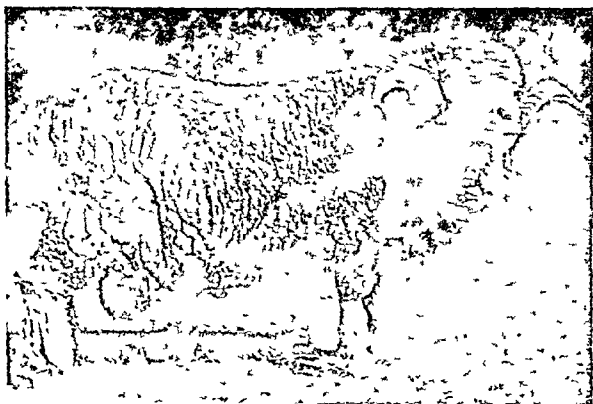
रेम्ब्युलेट मेढा

साउथडाउन मेढा

भेड़ें : विदेशी नस्लें

पर्याप्त ऊन तथा मांस मिल सके पालने की प्रवृत्ति है. नये रेवड़ को संगठित करते समय मादा भेड़ों का चुनाव सावधानी से करना चाहिये. इसके लिये अनव्यायी नयी भेड़ों की अपेक्षा ज्ञात अच्छी प्रजनन-क्षमता वाली भेड़ें अपेक्षित हैं.

भारत में भेड़ों के 3 मुख्य प्रजनन-काल हैं. ग्रीष्म (मार्च–अप्रैल), पतझड़ और वर्षा (जून–जुलाई, कभी-कभी जून–अगस्त) और शीत (अक्तूबर–नवम्बर). इन ऋतुओं मे भेड़ें प्रायः हर 17–19 दिन बाद मद में आती हैं और यह मदकाल 20–24 घण्टे तक बना रहता है. मद का अन्तिम समय प्रजनन के लिये अनुकूलतम होता है.

किसी रेवड़ में मद में आयी भेड़ों की प्रतिशतता न केवल उनकी आयु पर ही निर्भर करती है वरन् उस ऋतु मे चरागाहों की प्राप्ति पर भी निर्भर रहती है. ग्रीष्म ऋतु में अनुमानतः केवल 15–20%, पतझड़ के आरम्भ मे 60–80% और शीत ऋतु मे बहुत ही कम भेड़ों के मद मे आने की संभावना रहती है. गर्भावधि साधारणतः 142–152 दिन है. भेड़ें, बकरियों से इस बात में भिन्न हैं कि वे नियमित रूप से वर्ष मे केवल एक बार या कभी-कभी 14 महीने मे दो बार ब्याती हैं. जिन मेमनों का जन्म गर्मी मे गर्भाधान के फलस्वरूप होता है, वे स्वस्थ होते हैं, क्योंकि भेड़ों को गर्भकाल में प्रचुर चारा मिलता रहता है. किन्तु बहुत से गड़रिये जाड़ों मे मेमने चाहते हैं क्योंकि उनके रेवड़ मानसूनी फ़सलों पर निर्वाह कर सकते हैं. गर्मी मे उत्पन्न मेमने स्वस्थ नहीं होते. मेमनों को नियत समय से, या तो मानसून के अन्त में या शीत ऋतु के मध्य में पैदा होना लाभदायक है. इस प्रकार नये मेमनों की देखरेख अच्छी तरह हो सकती है और उसके प्रवन्ध में श्रम तथा धन का व्यय कुछ ही समय तक होता है.

पशुओं को समुन्नत बनाने की अनेक विधियां हैं जिनमें से तीन मुख्य हैं : (1) सजातिक प्रजनन; (2) संकरण; और (3) उन्नतकरण.

सजातिक प्रजनन, निकट सम्बन्धी पशुओं का प्रजनन है और यह गुणों को प्रवर्धित करने में उपयोगी है. श्रेष्ठ भेड़ें प्राप्त करने की सबसे उत्तम विधि उत्कृष्ट गुणों वाले मेढ़ों का चुनाव करके परीक्षण द्वारा यह जान लेना है कि उनमें से कौन-कौन अच्छी संतति दे सकते हैं. यदि इन मेढ़ों मे से उत्पन्न कुछ मेमने मूल मादा भेड़ों के रेवड़ से अच्छे गुणों वाले होते हैं, तो उनको प्रजनन के लिये चुन लिया जाता है. इस प्रकार चुने गये मेढ़ों का निकटतम सम्बन्धी में संगम कराकर अच्छी संततियाँ प्राप्त की जा सकती हैं. इस प्रकार चुने हुये गुण प्रति पीढ़ी बढ़ते जाते हैं. सजातिक प्रजनन के फलस्वरूप अवांछनीय गुणों से युक्त मेमनों को छांटकर अलग कर देना चाहिये. रेवड़ के स्वामी को चाहिये कि मेढ़ों का चयन उनके गठन पर न करके उनके क्षमता सम्बन्धी अभिलेखों के आधार पर करे.

संकरण केवल उन्हीं परिस्थितियों में करना चाहिये जब नयी नस्लें विकसित करनी हों. इस विधि की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि संकरण के लिये प्रयुक्त होने वाली नस्लों की विशेषतायें पूरी तरह ज्ञात हों और प्रजनन की योजना विधिवत् अपनानी हो. जब दो असम्बद्ध नस्लों का संकरण किया जाता है तो पहली संतति में संकर-ओज आ जाता है जिससे शारीरिक वृद्धि तीव्र तथा मांस और ऊन की प्राप्ति अधिक होती है. यदि इस संतति में अन्तर्प्रजनन होने दिया जाय तो आने वाली पीढ़ियाँ संकरजातीय और अपने मूल वंशजों के उत्तम गुणों से विहीन होंगी. अतः यह आवश्यक है कि विशुद्ध नस्लों के रेवड़ों के संकरण से उत्पन्न पहली पीढ़ी के संकरित पशुओं के प्रजनन में सावधानी बरती जाय. कभी-कभी पहली पीढ़ी के इस संकरित रेवड़ को अधिक ओज देने के लिये एक तीसरी नस्ल से प्रजनित किया जाता है. भारतीय नस्लों के लिये अभी संकरण की उपयुक्त प्रणालियों का विकास नहीं हो सका है.

देश में उत्तम ऊन वाली **मेरिनो** भेड़ों के विकास के लिये पंजाब, जम्मू और कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में स्थानीय किस्मों का संकरण मेरिनो मेढ़ों से किया जा रहा है. विभिन्न कोटि की पहली (संकर$_1$), दूसरी (संकर$_2$) और तीसरी (संकर$_3$) संकर पीढ़ियाँ इन प्रदेशों में तैयार की गयी हैं. जिससे ऊन में सुधार हुआ है, जैसे ऊन का अधिक महीन होना, मज्जा में कमी और रोमावली का अधिक सघन होना. बारम्बार विशुद्ध मेरिनो मेढ़ों मे प्रजनन द्वारा इन संकरित भेड़ों का ऊन मेरिनो के समान बन जाता है. ऐसे प्रयोगों से राजकीय पशुधन फार्म, हिसार ने **हिसारडेल** नाम की एक नयी उत्तम ऊन वाली नस्ल का विकास किया है.

जब भेड़ों के ऊन गुणों मे या मांस उत्पादन में सुधार लाना होता है तो उन्नतकरण का कार्य हाथ में लिया जाता है. यह सुधार निरन्तर विशुद्ध नस्ल के मेढ़ों का संकरण अज्ञात कुल की भेड़ों से करके किया जा सकता है. शुद्ध वंशज मेढ़ों से प्राप्त नर मेमने, वांछित सुधार एवं बल न आ पाने तक बेच दिये जाते हैं. पहली पीढ़ी में 50% सुधार होगा किन्तु यदि पाँचवी पीढ़ी तक शुद्ध वंशज उत्तम मेढ़ों मे प्रजनन न किया गया तो सुधार स्थिर नहीं रह सकता. यह विधि काफी सरल है किन्तु रेवड़ के स्वामी को यह ज्ञात होना चाहिये कि इस प्रकार सुधारी गयी भेड़ों में अनुकूलन का गुण ही सबसे महत्वपूर्ण है.

कृत्रिम वीर्यसेचन

उत्तम पोषण, प्रवन्ध और प्रजनन के अतिरिक्त, भारतीय पशुओं मे उत्पादन बढ़ाने का एकमात्र उपाय इनके आनुवंशिक संघटन में सुधार है. इस बात को ध्यान मे रखते हुये कि देश में ऐसे जनकों की संख्या अत्यन्त सीमित है जो अपनी प्रेषण शक्ति के लिये मान्य हैं, यह उद्योग करना चाहिये कि स्टाक के आनुवंशिक संघटन में जितनी जल्दी सुधार हो सके कर लेना चाहिये. इस प्रकार का सुधार केवल कृत्रिम वीर्यसेचन विधि द्वारा सम्भव है जिससे कई मादायें केवल एक ही स्खलन से सेचित करायी जाती हैं. इस विधि से ऐसे एक मेढ़े से, जो उत्कृष्ट मेमनों को जन्म देने मे समर्थ है, 30–40 भेड़ों का एक रेवड़ सेचित कराया जा सकता है. इनके वीर्य को निम्न ताप पर संचित किया जा सकता है और भेड़ों का मदकाल आने पर उसे तनु करके उसका प्रयोग किया जा सकता है. वीर्य को अंड-पीतक साइट्रेट और बाइकार्बोनेट-फॉस्फेट जैसे तनुकारकों में 0–1° या 15–20° तक प्रतिरक्षित रख कर उसकी आयुष्मता बढ़ायी जा सकती है. जब मेढ़े बहुत मँहगे होते हैं या कुछ ही समय मे बहुत-सी भेड़ें एक साथ मद में आ जाती हैं या जब मेढ़ा अत्युत्तम प्रजनक होता है तो कृत्रिम वीर्यसेचन बहुत लाभकर होता है.

रोग

भेड़ों को कई प्रकार के संसर्ग और असंसर्ग-जन्य रोग हो जाते हैं. किसी विशेष क्षेत्र में पाली और प्रजनित की जाने वाली भेड़ों में

उस क्षेत्र के रोगों के प्रति प्रतिरोधकता उत्पन्न हो जाती है परन्तु वातावरण बदल देने पर प्रतिरोधकता घट जाती है. भेड़ों में रोगों के कुछ मुख्य कारण हैं: वाड़ों में भेड़ों की अधिक संख्या, निचली और गीली भूमि पर चराना और वातावरण तथा भोजन का एकाएक बदलना.

अन्य पशुधन के विपरीत भेड़ों में किसी बीमारी के लक्षण सरलता से समझ में नहीं आते. गंभीर रूप से रोगग्रस्त हो जाने पर भी भेड़ें अपनी समान्य दिनचर्या करती रहती हैं. रोगी होने के लक्षण हैं: असामान्य आचरण, तेज ज्वर, जुगाली वन्द कर देना, कठिनाई से श्वास लेना, खाँसना, छींकना, प्रवाहिका और निश्चेष्ट मुद्रा. यूथी वृत्ति के कारण किसी भी प्रकार का संक्रामक रोग तेजी से फैल जाता है अतः उसकी रोकथाम तत्काल ही होनी चाहिये.

भारतवर्ष में प्रतिवर्ष संसर्गज रोगों से तमाम भेड़ें मरती हैं. इनमें से कुछ रोग, जैसे कि गीले और सीले क्षेत्रों के रोग, क्षेत्र विशेष में होते हैं. यदि आरोग्य भेड़ों की अकस्मात् मृत्यु तेज ज्वर, कठिनायी से साँस लेने, चर्म की लाली, तेज दर्द, गंभीर प्रवाहिका और शरीर के किसी अंग में असामान्य सूजन से हो तो यह समझना चाहिये कि रोग प्रायः बैक्टीरिया या वाइरस-जन्य है. इन रोगों से भेड़ों को मरने से बचाने के लिये समय पर निदान और चिकित्सा होनी चाहिये.

गिल्टी रोग अति संक्रामक है, यह **वैसिलस ऐंथ्रैसिस** के कारण उत्पन्न होता है. इसको छूत प्रदूषित आहार, जल और मक्खियों द्वारा फैलती है. गले के भीतर और जिह्वा में असामान्य सूजन और तेज ज्वर इसके मुख्य लक्षण हैं. रोगी भेड़ 6 घण्टे के भीतर मर जाती है. रोग के प्रारम्भ में सल्फा ओषधि और पेनिसिलिन का प्रयोग लाभदायक सिद्ध होता है. ऐंथ्रैक्स स्पोर वैक्सीन का टीका लगाने से एक वर्ष के लिये प्रतिरक्षा हो जाती है. ऐंथ्रैक्स प्रतिसीरम से भी छूत फैलने से बचाव हो सकता है. रोग को फैलने से रोकने के लिये कड़ी स्वास्थ्य व्यवस्था रखनी चाहिये और छूत से ग्रस्त पशुओं के शवों को सावधानी से नष्ट कर देना चाहिये.

ब्रैक्सी एक अन्य अति तीव्र विषरक्तता है जो **क्लास्ट्रीडियम सेप्टिकम** के जीव-विषों के द्वारा उत्पन्न होती है. जब जाड़े की ऋतु में भेड़ें नीचे चरागाहों में उतर कर तुषार से पूर्ण घासें और जड़ें चरतीं हैं तो उन्हें रोग की छूत लग जाती है. ग्रसित भेड़ें 4 घंटे के भीतर मर जाती हैं. **क्ला. सेप्टिकम से** तैयार फार्मेलीनीकृत सम्पूर्ण कल्चर वैक्सीन के द्वारा भेड़ों को प्रतिरक्षित करके इस रोग से बचाया जा सकता है.

आंत्रविषरक्तता भेड़ों का एक घातक रोग है जो **क्लास्ट्रीडियम वेलशाई** प्ररूप डी के एप्सिलॉन जीव-विष से उत्पन्न होता है. इस रोग से ग्रस्त भेड़ों को आक्षेप आते हैं और वे एकाएक मर जाती हैं. छूत फैले रेवड़ की भेड़ों की क्षति अति प्रतिरक्षित सीरम और टीका देकर घटायी जा सकती है. 6 माह के पश्चात् पुनः टीका लगाया जा सकता है. जहाँ तक सम्भव हो यह सावधानी बरतनी चाहिये कि भेड़ों को अधिक चारा न दिया जाय और जल्दी-जल्दी चरागाह न बदले जायें.

रक्तस्रावी पूतिजीवरक्तता एक भयानक रोग है जो प्रायः निचले क्षेत्रों में **पास्तुरेला हीमोलाइटिका** के कारण होता है. तेज ज्वर, भूख न लगना, नाक से पानी बहना, तेज साँस और रक्त-सहित प्रवाहिका इस रोग के लक्षण हैं. रोगी भेड़ की कुछ ही घंटों में या दो दिन के भीतर मृत्यु हो जाती है. प्रायः इस रोग में आंत्रविषरक्तता का भ्रम हो जाता है. रोग की प्रारम्भिक अवस्था में पशु को सल्फ़ा ओषधि और पेनिसिलिन देकर रोगमुक्त किया जा सकता है. विशिष्ट कारकजीवों से युक्त संरक्षी टीके अभी नहीं बन पाये हैं.

खुरगलन भी एक संसर्गज रोग है जो भेड़ों में **स्पाइरोकीटा पेनोर्था** नामक स्पाइरोकीट के साहचर्य में **फ्यूजीफार्मिस नोडोसस** के कारण होता है. इसमें पाँव के खुर का भाग निचले कोमल ऊतकों से विलग हो जाता है. यह रोग सभी आयु की भेड़ों में होता है और देश के कुछ रेवड़ों में ही होता है. सर्दी के महीनों में यह उग्र रूप धारण कर लेता है. दिन में दो बार आधे-आधे घण्टे के लिये 10% कॉपर सल्फेट अथवा 2% फार्मेलीन के घोल में पैर डालकर ग्रस्त पशुओं को खड़े रहने देना चाहिये.

पास्तुरेलोसिस, पास्तुरेला मल्टोसिडा या **पा. हीमोलाइटिका** के कारण होने वाला एक उग्र ज्वर वाला रोग है. इस रोग के मुख्य लक्षण हैं: ज्वर, भूख न लगना, नाक से पानी बहना, खाँसी और श्वास कष्ट और अन्त में मृत्यु. इसमें श्वसनी फुफ्फुसशोथ हो सकता है. प्रारम्भिक अवस्था में सल्फा ओषधि और पेनिसिलिन से रोकथाम संभव है. फार्मेलीन से मारे गये **पा. मल्टोसिडा** से तैयार एक तेल-सह ओषध टीके को लगाकर भेड़ों की रक्षा इस जीव से फैलने वाले संक्रमण से की जाती है. यदि भेड़ें **पा. हीमोलाइटिका** से ग्रस्त हों तो टीके में इसको भी मिला देना चाहिये.

भेड़ों में सालमोनेला रुग्णता के कारण **साल्मोनेला एवार्टस-ओविस** जीव से पैराटाइफायडी गर्भपात और **सा. टिफिमुरियम** से पैरा-टाइफायडी पेचिश का संक्रमण होता है. प्रायः मेमनों के जन्म के 6 सप्ताह पूर्व गर्भपात आरम्भ होता है. संक्रमण की तीव्रता के अनुसार, भेड़ों में पेचिश कुछ घंटों से लेकर अधिक से अधिक 5 दिन तक चलती है. पैराटाइफायडी गर्भपात के लिये कोई ओषधि ज्ञात नहीं है. संक्रमित भेड़ों से बच्चे पैदा नहीं कराने चाहिये. पैराटाइफायडी पेचिश में सल्फ़ा ओषधियों का प्रयोग किया जा सकता है.

स्ट्रक, क्लास्ट्रीडियम वेलशाई प्ररूप सी. के बीटा-जीव-विष द्वारा उत्पन्न तुरन्त जान लेने वाली विषरक्तता है. हाल ही में भारत के कुछ भागों में यह रोग पाया गया है. जाड़ों और वसन्त ऋतुओं में जब चारा कम होता है, तो भेड़ें इस रोग से प्रभावित हो जाती हैं. ग्रस्त पशुओं के उदर में पीड़ा रहती है और वे प्रायः अपनी पिछली टाँगें फैलाकर खड़े होते हैं. इस रोग से होने वाली मृत्यु दर अधिक होती है. **क्ला. वेलशाई** प्ररूप सी. के एक फार्मेलीनीकृत टीके का प्रयोग प्रतिरक्षा करने में किया जा सकता है.

भेड़ों को प्रायः न्यूमोनिया हो जाता है जिससे उन्हें रोगमुक्त कर पाना कठिन है. यह रोग संसर्गज नहीं है. खाँसी, जुकाम और ज्वर रोग के साधारण लक्षण हैं. यूकैलिप्टस तेल या बेंजाइन की कुछ बूँदें एक बाल्टी उबलते पानी में डालकर वाष्प के अंतःश्वसन से जुकाम और फुफ्फुस दाब की अधिकता कम हो जाती है.

भेड़ों के अन्य संसर्गज जीवाणुवीय रोगों में जोन्स रोग, मेमनों की पेचिश, लिस्टर रुग्णता, दुर्दम शोफ, लेप्टोस्पाइरा रुग्णता और यक्ष्मा सम्मिलित हैं.

संसर्गज दुग्ध रोधक रोग की उत्पत्ति प्ल्यूरोनिमोनिया वर्ग के एक

जीव से होती है. वयस्क भेड़ें, विशेषतया दुग्धकाल में इस रोग की शिकार होती हैं. पंजाब में इस रोग के फैलने की सूचना है. ज्वर, स्तनशोथ, कृशता और कभी-कभी गर्भपात हो जाना इस रोग के सामान्य लक्षण हैं. स्टोवारसाल का सोडियम लवण इस रोग के उपचार मे उपयोगी सिद्ध हुआ है.

वाइरस-जन्य संसर्गज रोग भी जीवाणवीय रोगों के समान ही घातक होते हैं. इनमे से भारतीय भेड़ों को होने वाले महत्वपूर्ण रोगों का वर्णन आगे किया जा रहा है.

नील जिह्वा रोग एक निस्यंदनीय वाइरस द्वारा जन्य है और इसकी छूत रेत मक्खी (**कोलीकायडीस** जाति) के काटने से फैलती है. हाल ही में महाराष्ट्र प्रदेश में इसके होने की सूचना प्राप्त हुयी है. ज्वर, भूख न लगना, मुख की श्लेष्मिक झिल्ली का लाल होकर बदरंग बैंगनी और नीले रंग की हो जाना, मुख के भीतर छाले पड़ना और झागदार लार गिरना इसके मुख्य लक्षण हैं. कभी-कभी इस रोग से ग्रस्त भेड़ें लँगड़ी हो जाती हैं. इस रोग से मृत्यु दर 30% होती है. प्रतिरक्षा के लिये मुर्गी के परिवर्धित भ्रूण से पारित तनूकृत विभेदों का प्रयोग किया जाता है. इस रोग में वाइरस की विविधता को ध्यान में रखते हुये बहुसंयोजक टीका आवश्यक है.

पूयस्फोटक त्वकशोथ वाइरस जन्य है और अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे भेड़ों की चेचक रोग से मिलता है. ज्वर, भूख न लगना और सुस्ती, इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं. इसके बाद शरीर के जिन भागों के रोम गिर जाते है वहाँ लाल चकत्ते पड़ जाते हैं. ये चकत्ते कुछ समय बाद द्रवहीन गाँठों में बदल जाते हैं. 15–18 दिन मे इन गाँठों पर पपड़ी पड़ जाती है. वयस्क भेड़ों की अपेक्षा कम आयु की भेड़ों में ग्रस्त पशुओं की मृत्यु संख्या अधिक है. गाँठों से तैयार किये गये टीके से प्रतिरक्षा हो सकती है.

पूयस्फोटिका (एक्थीमा) निस्यंदनीय वाइरस के कारण होता है और भेड़ों से मनुष्यों में भी पहुँच सकता है. यद्यपि यह घातक नहीं है किन्तु इससे मेमनों और बकरी के बच्चों को काफी हानि पहुँचती है. इसमें मुह और ओठ के कोनों मे मस्से निकल आते हैं और नथनों, कानों, गालों, आँखों, टाँगों और खुरसंधि आदि अंगो पर फैल सकते हैं. मस्सों में पीव आ जाता है, फूटने पर एक पीला-सा द्रव रिसता है और तब खुरण्ट बन जाते हैं. ये खुरण्ट काले पड़ कर गिर जाते है और कोई निशान नहीं छोड़ते. शीघ्रता से फैलने के कारण इसके उपचार से कोई लाभ नहीं होता. खुरण्टों को पूतिरोधी लगाकर छुड़ाया जा सकता है. 50% ग्लिसरीन सेलाइन में 1% सूखे खुरण्टों का निलम्बन लगाने से भेड़ों को प्रतिरक्षित करना संभव है.

खुरपका या **मुंहपका** रोग बहुत ही संक्रामक है. यह एक निस्यंदनीय वाइरस के कारण जनित है. यद्यपि यह घातक नहीं होता फिर भी इसके कारण काफी आर्थिक क्षति पहुँचती है. इसके मुख्य लक्षण हैं : ज्वर, मुख एवं अंगुलियों के जोड़ों के बीच और थनों पर फफोले बनना. गायों-भैंसों की अपेक्षा भेड़ों में इस रोग की उग्रता कम होती है. मुख के फफोले प्राय: छोटे होते है और पैरों के क्षत बहुत बड़े नही होते. इस रोग का कोई विशेष उपचार ज्ञात नहीं है. किन्तु पूतिरोधी पट्टी करने से कुछ आराम मिल सकता है. क्रिस्टल वायलेट वैक्सीन से प्रतिरक्षण संभव है. एप्यीकरण (संक्रमित पशुओं की लार को स्वस्थ पशुओं के मसूड़ों पर मलने) से रेवड़ में इस रोग के फैलने की अवधि घट जाती है.

रैबीज एक तीव्र और शीघ्र घातक, निस्यंदनीय वाइरस द्वारा जनित, मस्तिष्क सुपुम्नाशोथ है. संक्रमिक मांसाहारी जन्तुओं के काट लेने पर 17–18 दिन बाद भेड़ों में इस रोग के लक्षण पहले-पहल प्रकट होने लगते हैं. एक दूसरे को धक्के देना, कामोत्तेजना, बेचैनी और घास-फूस को कुचलना इसके सामान्य लक्षण हैं. यह रोग 1 से 4 दिन तक चलता है. इसका कोई उपचार ज्ञात नहीं है. कृत्रिम रूप से संक्रमित भेड़ों के मस्तिष्क और सुपुम्ना के फीनॉलीकृत निलंबन का 10 मिली., सात बार सुई द्वारा लगाने से प्रतिरक्षण संभव है.

रिंडरपेस्ट या **पशु-प्लेग** एक घातक वाइरस जनित रोग है लेकिन प्राय: इससे भेड़ें आक्रान्त नहीं होतीं. यह रोग दूषित जल और आहार द्वारा फैलता है. तेज़ ज्वर, दुर्गन्धयुक्त तीव्र प्रवाहिका, कृशता और लार टपकना इसके मुख्य लक्षण हैं. इसका कोई उपचार ज्ञात नहीं है. पशु-प्लेग प्रतिसीरम के टीके लगाने से लगभग 10–14 दिन तक अस्थायी प्रतिरक्षण हो जाता है. खरगोशीय या खरगोशीय-पक्षीय पशु-प्लेग वैक्सीन द्वारा अधिक काल तक सक्रिय प्रतिरक्षा संभव है.

स्क्रेपी भेड़ों और बकरियों के तंत्रिका तंत्र का निस्यंदनीय वाइरस रोग है. यह 1.5 वर्ष से कम आयु की भेड़ों मे नही होता. उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में इस रोग के होने की सूचना है. इसका संक्रमण वाइरस से संदूषित चरागाहों से होता है. अति उत्तेजना, कम्पन, खुजली और चाल में लड़खड़ाहट इसके सामान्य लक्षण हैं. पुट्ठों में आक्षेप और अंगघात भी हो सकता है. यह रोग प्राय: घातक होता है. किन्तु कभी-कभी एकाध पशु बच भी जाते हैं. इसका कोई प्रभावी उपचार ज्ञात नहीं है. इस रोग से प्रतिरक्षित करने वाला वैक्सीन भी अभी ज्ञात नहीं हो सका है.

मेष चेचक अति संक्रामक वाइरस रोग है जो कुछ क्षेत्रों में फैलता है. मेमनों में यह घातक होता है. वयस्क भेड़ों में इससे मृत्यु संख्या अधिक नहीं होती है किन्तु यह उनके बल को तोड़ देता है. इसकी छूत संदूषित चारों, बर्तनों और परिचारकों द्वारा फैलती है. मुख के अन्दर, पिछली टाँगों के बीच और अयन पर पूयस्फोटिकाओं का प्रकट होना, तेज़ ज्वर, भूख न लगना और चरने में असमर्थता इस रोग के मुख्य लक्षण हैं. रोग प्राय: 2–3 सप्ताह तक चलता है. इसका कोई विशेष उपचार अभी तक ज्ञात नहीं है. फफोलों के द्रव में सम भाग ग्लिसरीन मिलाकर एक विश्वसनीय वैक्सीन बनाया जाता है. भेड़ में इस वाइरस के किसी अनुग्रह विभेद से बनी लसीका और जिलेटिनी पदार्थ का प्रयोग भी प्रभावी वैक्सीन के रूप में किया जा सकता है.

भेड़ों के असंसर्गज रोगों में प्रथम आमाशय का फूलना, नाभि और जोड़ों के रोग, थनों की क्षति और कटि का पक्षाघात सम्मिलित हैं.

पेट का फूलना भेड़ों का एक अति सामान्य रोग है जो विशेष रूप से वर्षा ऋतु में होता है. यह चारे में आकस्मिक परिवर्तन, अधिक खाने, पौधों के विष या आंतर परजीवियों के कारण हुयी निर्बलता से हो सकता है. उदर के ऊपरी बायें भाग का फूलकर काफी फैल जाना, तेजी से सांस चलना और बेचैनी इस रोग के मुख्य लक्षण हैं. एक चम्मच तारपीन का तेल और 112 ग्रा. तिल के तेल को साथ मिलाकर देने से प्रथम आमाशय में गैस का बनना बन्द हो जाता है. यदि रोग बहुत ही बढ़ चुका हो तो प्रथम आमाशय को बायीं ओर से छेद दिया जाता है.

नार या पूँछ काटते समय या वधिया करते समय जो घाव होते हैं उनके द्वारा संक्रामक जीव पहुँच कर नाभि और जोड़ों के रोग पैदा करते हैं. इससे घुटनों और अन्य जोड़ों में सूजन आ जाती है. ग्रस्त पशुओं का उपचार सल्फा ओषधि और एण्टीबायोटिक देकर किया जा सकता है.

चूचकों को क्षति पहुँचाने वाले रोग को थनैला कहते हैं. थनों को सावधानी से देखभाल करनी चाहिये.

पंजाब में भेड़ों और बकरियों को वर्षा ऋतु के बाद कटि-पक्षाघात होता है किन्तु उससे भेड़ों में मृत्यु अधिक होती है. लड़खड़ाती चाल, पिछली टाँगों की गति में असमन्वय और सामान्य भू-लुंठन तथा कभी-कभी तेज ज्वर इस रोग के मुख्य लक्षण हैं. रोग की अवधि 1–2 सप्ताह की होती है. कहा जाता है कि थायमिन के प्रयोग से रोग अच्छा हो जाता है.

यकृत फ्लूक, फ़ीताकृमि, आमाशयकृमि और फुफ्फुसकृमि आदि भेड़ों के अन्तरपरजीवी हैं. भेड़ें इनको चरते समय ग्रहण कर लेती हैं. ये कृमि मुख्यत: परपोषी भेड़ों का रक्त चूसते हैं और उनकी पाचन-शक्ति को नष्ट कर देते हैं. अरक्तता, भार का घटना, जबड़े के नीचे सूजन और प्रवाहिका इन परजीवियों के आक्रमण के मुख्य लक्षण हैं. भेड़ों में पाये जाने वाले सामान्य यकृत फ्लूक **फैसिओला जाइगैंटिका** कोबोल्ड और **डाइक्रोसीलियम डेण्ड्रिटिकम** (रुडोल्फ़ी) हैं. **मोनीजिया एक्सपैंसा** (रुडोल्फ़ी) एक सामान्य फ़ीताकृमि है जो भेड़ों और बकरियों की आंत्र-भित्ति पर संलग्न रहता है. **ईसोफैगोस्टोमम** जातियों के कारण भेड़ों की आंत्र में गठीले अर्बुद बन जाते हैं. आमाशय कृमियों या तार कृमियों में **हेमांकस कानटार्टस** (रुडोल्फ़ी) और **मेसिस्ट्रोसिरंस डिजिटेटस** (लिस्टो) सम्मिलित हैं. फुफ्फुसकृमि **वेरिस्ट्रांगलस न्यूमोनिकस** भालेराव की उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल के कुछ पहाड़ी इलाकों की भेड़ों तथा बकरियों की श्वासनिकाओं में पाये जाने की सूचना है.

यकृत कृमियों के संक्रमण का उपचार टेट्राक्लोर एथिलीन द्वारा किया जाता है. आमाशय कृमियों के लिये सबसे सस्ता उपचार 1% कॉपर सल्फेट (नीला-थोथा) का घोल है. चरागाहों में फसलों के हेर-फेर से परजीवियों का आपात कम हो जाता है. 4.5 ली. 1% कॉपर सल्फेट (नीला-थोथा) में 28 ग्रा. निकोटिन सल्फेट मिलाकर देने से गोलकृमि और फ़ीताकृमि परजीवियों की संख्या घट जाती है. आंत्र परजीवियों से उत्पन्न प्रवाहिका को रोकने के लिये अरण्डी के तेल में तारपीन का तेल मिलाकर दी जाती है. पानी में खड़िया और कत्थे का चूर्ण मिलाकर देने से भी लाभ होता है.

बाह्य-परजीवियों के अन्तर्गत टिक, माइट और जुएं आते हैं. ये उन स्थानों पर वृद्धि करते हैं जहाँ अधिक भेड़ें एक स्थान पर रखी गयी हों या मौसम नम और गरम हो, जैसे कि मानसून के आरम्भ और अन्त में होता है. टिक की मुख्य जातियाँ **हायलोमा ईजिप्शिअम** (लिनिअस), **इक्सोडेस रिसिनस** (लिनिअस) और **आर्निथोडोरास सेविग्नाई** (औडूइन) हैं. **सोरोप्टीस** जाति, भेड़ों के रेवड़ों में पड़ने वाला एक सामान्य माइट है. **बोविकोला ओविस** (लिनिअस) नामक भेड़-जूं के कारण ऊन को गंभीर क्षति होती है. टिक और माइट प्राय: पशु की गरदन, कंधों और गुदा के आसपास चिपक जाती हैं. ये भेड़ का रक्त चूसती हैं. इनसे भेड़ों में बेचैनी और चिड़चिड़ापन उत्पन्न होता है. टिकों के कारण आवर्ती ज्वर आता है और ये कई प्रकार के संचारी रोगों का संचारण भी करते हैं. भेड़ों का स्कैब, चर्म पर विस्फोट निकलने का सामान्य रोग है जो भेड़ों के शरीर पर स्कैब माइट के कारण होता है. इन बाह्य-परजीवियों के कारण प्राय: चमड़ी पर घाव बन जाते हैं जिनमें मक्खी के सुंडे पड़ने की संभावना रहती है.

भेड़ों को डी-डी-टी और गैमैक्सेन भरे टबों में डुबकी लगवा कर इन परजीवियों को नष्ट किया जा सकता है और चूना गंधक और निकोटिन सल्फ़ेट के घोल में डुबकी देकर भी भेड़ों की माइटों को नष्ट करते हैं. यदि भेड़ के शरीर पर लगे घावों की देखरेख न की जाये तो नीली मक्खी उनमें अंडे दे देती है. अण्डों से मैगट निकल कर चमड़ी के भीतर प्रवेश कर जाते हैं और मांस को खराब कर देते हैं. इन्हें निकालने के लिये तारपीन के तेल में डुबोकर रुई के फाहे को घाव के अन्दर भरते हैं. बोरिक अम्ल और सल्फ़ेनिलैमाइड जैसी मन्द पूतिरोधी पट्टी से घाव भर जाते हैं.

भेड़ों से प्राप्त उत्पाद

ऊन, भेड़ का मांस, खाल और खाद मुख्य भेड़-उत्पाद हैं. इनके अतिरिक्त भेड़ों की कुछ नस्लों से दूध भी मिलता है जिसकी खपत मुख्यत: स्थानीय रूप से हो जाती है.

कश्मीर और निकटवर्ती शीतोष्ण क्षेत्रों की भेड़ें अपने उत्तम ऊन के लिये; बीकानेर की मगरा और चोकला नस्लें तथा जोरिया क्षेत्र की कच्छी नस्ल उत्कृष्ट कालीन-योग्य ऊन के लिये और नेल्लोरी मांड्या और तेनगुरी नस्लें मांस के लिये पाली जाती हैं.

ऊन

सारणी 45 में भारत में 1961 में ऊन का अनुमानित वार्षिक उत्पादन (राज्यवार), सारणी 46 में भारत में ऊन का औसत वार्षिक उत्पादन (क्षेत्रों के अनुसार), सारणी 47 में भारत में विभिन्न नस्लों से औसत वार्षिक ऊन की प्राप्ति दी गयी है. ऊन, भेड की रक्षा करता है और स्वास्थ्य भी बनाये रखता है. इसलिये ऊन को कतरते समय इस बात की सावधानी बरतनी चाहिये कि ऊन उस समय कतरा जाय जब मौसम शीतोष्ण हो. भारत में जाड़ों के बाद फ़रवरी से मार्च तक, जब खेतों में काफी चारा मिलता रहता है और वर्षा ऋतु के अन्त में अगस्त से सितम्बर तक का समय ऊन कतरने के लिये सबसे उपयुक्त होता है. ऊन कतरने से पहले भेड़ों को स्नान कराया जाता है और कतरने के लिये तेज धार वाली कैंची का प्रयोग किया जाता है.

वयस्क भेड़ों से कतरा या उपाड़ा हुआ ऊन 'जीवित ऊन' कहलाता है और मेमनों से कतरा गया ऊन 'होग ऊन' कहलाता है. ऊन के कुल उत्पादन का एक छोटा अंश मरी हुई भेड़ों की खालों से भी उतारा जाता है और इस ऊन को 'उपाड़ा ऊन' या 'लाइम्ड' या 'टैनरी ऊन' कहते हैं. भेड़ के कन्धों और धड़ के दोनों ओर से सबसे अच्छा ऊन और उससे कुछ कम अच्छा ऊन पीठ के निचले हिस्से तथा कमर और टांगों के ऊपरी भाग से प्राप्त होता है. गुणों और प्राप्ति की दृष्टि से पहली कटाई (वसन्त ऋतु) का ऊन दूसरी कटाई (वर्षा ऋतु) के ऊन से अपेक्षाकृत अच्छा होता है. कतरन का भार प्राय: प्रति भेड़ 0.5 किग्रा. मद्रास में, 2.2 किग्रा. राजस्थान में और प्रति मेमना 227 ग्रा. बिहार में, 1 किग्रा. (राजस्थान) तक घटता-बढ़ता रहता है.

सारणी 45—भारतवर्ष में 1961 में ऊन का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

(टनों में)

प्रदेश	कतरा हुआ ऊन			उपाड़ा हुआ ऊन	योग (कतरा और उपाड़ा)
	वयस्क भेड़ों से	मेमनों से	योग		
आन्ध्र प्रदेश	2,543.3	353.3	2,896.6	263.1	3,159.7
उत्तर प्रदेश	2,171.8	191.0	2,362.8	3.6	2,366.4
केरल	...	...	...	0.9	0.9
गुजरात	1,220.2	116.6	3,151.2†	32.7	3,183.9
जम्मू और कश्मीर	595.6	77.6	673.2	22.7	695.9
तमिलनाडु	497.6	91.2	588.8	1,375.3	1,964.1
दिल्ली	6.8	1.4	8.2	45.4	53.6
पंजाब	1,307.7	124.3	1,432.0	83.9	1,515.9
पश्चिमी बंगाल	160.6	26.3	186.9	233.1	420.0
बिहार	313.0	39.5	352.5	10.0	362.5
मध्य प्रदेश	602.8	67.6	670.4	26.8	697.2
मैसूर	2,016.7	372.9	2,389.6	90.3	2,479.9
महाराष्ट्र	1,658.3	201.8	1,860.1	47.2	1,907.3
राजस्थान	11,473.2	1,622.5	13,095.7	49.4	13,145.1
हिमाचल प्रदेश	552.0	49.0	601.0	1.8	602.8
योग	25,119.6	3,335.0	30,269.0†	2,286.2	32,555.2
प्रतिशत (%)			93.0	7.0	100.0

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.
†इसमें घुमन्तू भेड़ों से प्राप्त 1,814.4 टन ऊन भी सम्मिलित है.

सारणी 46—भारत में कच्चे ऊन का क्षेत्रों के अनुसार औसत वार्षिक उत्पादन*

क्षेत्र	भेड़ों की संख्या (लाख)	ऊन उत्पादन (टन)
शीतोष्ण हिमालयी	52.0	4,720
शुष्क उत्तरी	123.8	20,210
दक्षिणी	226.5	10,700
पूर्वी	30.0	90.6
योग	432.3	35,720.6

*भेड़ और ऊन विकास अधिकारी, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली द्वारा प्राप्त आँकड़ों से.

श्रेणीकरण और वर्गीकरण

कतरा हुआ ऊन कृषि उत्पादन (श्रेणीकरण और अंकन) 1937 के अधिनियम और 1961 के ऊन श्रेणीकरण और अंकन के उपबंन्धों के अनुसार श्रेणीकृत किया जाता है. उत्पादकों को श्रेणी के प्रमाणपत्र देने के लिये विभिन्न स्थानों पर ऐसे श्रेणीकरण केन्द्र स्थापित किये गये हैं, जिनमें कई अधिकृत लपेटने वाले और गट्ठर बनाने के प्रेस होते हैं. यहाँ ऊन का परीक्षण होता है और ऊन की श्रेणी का प्रमाणपत्र दिया जाता है. ऐगमार्क के अन्तर्गत 1955 से ऊन की स्वच्छता, रंग और किस्म के आधार पर श्रेणीकरण करना अनिवार्य हो गया है. ऊन को श्रेणीबद्ध करते समय सामान्य गुणों को ध्यान में रखा जाता है : जैसे ऊन में अधिक मैलन न हो, वह खुरदुरा और मिलावट से मुक्त हो. ऊन के श्रेणीकरण नियम बन जाने से निर्यात किये जाने वाला भारतीय ऊन सभी दृष्टियों से उत्तम कोटि का हो गया है और इस प्रकार ऊन के परिवहन, व्यापार और लिवरपूल के नीलामों में निर्यात और विक्रय आदि में जो व्यय होता है उसमें लगभग 10% की बचत हो जाती है.

सारणी 48 में देश के महत्वपूर्ण ऊन-उत्पादक क्षेत्रों से प्राप्त देशी ऊनों का विवरण दिया गया है. इन ऊनों को मोटे तौर पर चार वर्गों में श्रेणीकृत किया जाता है.

भारत में ऊन का कोई भी सुव्यवस्थित वर्गीकरण प्राप्त नहीं है. निर्यात वाणिज्य के लिये वर्गीकरण की प्रणाली भेड़ के प्ररूप और नस्ल के अनुसार न होकर क्षेत्रीय नाम पद्धति पर आधारित है. निर्यात व्यापार में माने गये मुख्य वर्ग निम्नलिखित हैं : **जोरिया** (उत्कृष्ट श्वेत, प्रथम श्वेत, प्रथम पीला, हल्का धूसर, बादामी); **हरनाई** (श्वेत, धूसर); **बीकानेरी** (अति श्वेत, उत्कृष्ट हल्का पीला, प्रथम पीला, औसत श्वेत, धूसर, काला, ओटा); **राजपूताना** (श्वेत, पीला, धूसर.); **विबरिक** (श्वेत, धूसर); **बियावर** (श्वेत, पीला, बादामी, धूसर); **मारवाड़** (श्वेत, पीला, धूसर); **बीकानेर** त्वचीय ऊन (श्वेत, पीला) और सामान्य काला और धूसर.

उत्कृष्ट तन्तु – प्रायः ऊन की श्रेष्ठता का निर्णय ऊन तन्तु के व्यास या महीनपन, तन्तु की लम्बाई, मजबूती, लचीलापन, लहरदार, लोमशता (मज्जापना), रंग, चमक, जुड़ने के गुणों, सिकुड़ने की मात्रा, ऊन पर नमी का प्रभाव और उत्पादन की ऋतु के आधार पर किया जाता है. साधारणतः यह कहा जा सकता है कि ऊन जितना ही महीन, लचीला और समान तन्तुओं का होगा उसकी कताई उतनी ही अच्छी होगी. यह भी महत्वपूर्ण होता है कि सम्पूर्ण कतरा हुआ ऊन यथासम्भव एक-सा महीन हो और प्रत्येक तन्तु का व्यास पूरी लम्बाई में एक-सा हो. लहरदार और अधिक लचीला महीन ऊन अधिक दाम पर बिकता है. इसी प्रकार लम्बे तन्तुओं वाला ऊन भी मँहगा बिकता है. लम्बे तन्तुओं वाला मोटा ऊन और अधिक प्रतिशत खुरदुरे बालों वाला ऊन सस्ता बिकता है.

संरचना – विशुद्ध ऊन का तन्तु लचीला, टिकाऊ, आर्द्रताग्राही और गरम बनाये रखनेवाला तथा सहज ही ज्वलनशील नहीं होता. तन्तु को गीला करने पर ऊष्मा निकलती है. ऊन के तन्तुओं की सतह शल्कीय होती है और बालों में जो कठोर मध्याग अथवा कठोर कोशिकाओं का जो केन्द्रीय अभ्यन्तर होता है वह ऊन के तन्तु में नहीं होता ऊन की रंजक अवशोषकता और रंग बनाये रखने की क्षमता अपेक्षाकृत मोटे बालों से कहीं अधिक होती है. बालों का कड़ा मध्यांश कताई के समय मरोड़ का और रंजकों के प्रति अवशोषण का प्रतिरोध करता है. ऊन के तन्तुओं से कते धागे और उससे बुने ऊनी कपड़ों में नमदे की भाँति जुड़ जाने का विशेष गुण पाया जाता है. ऊन के तन्तुओं का व्यास 12–80 मा. (μ) होता है. ऊन के उत्तम तन्तु अपेक्षाकृत महीन और लचीले होते हैं और इनसे मुलायम तथा आनम्य धागा प्राप्त होता है जो मृदु साबुन से युक्त गरम जल में धोने पर सिकुड़ता है भारतीय ऊन अपने लचीलेपन और अपघर्षक प्रतिरोध में अद्वितीय है. संसार के अन्य ऊनों में इन गुणों का सर्वथा अभाव पाया जाता है. बालदार ऊन का धागा निम्न गणना का तथा छूने में रूक्ष होता है और इसी कारण उससे बना कपड़ा अधिक टिकाऊ नहीं होता. सारणी 49 में विभिन्न प्रकार के भारतीय ऊनों के अभिलक्षण और उनके उपयोग दिये हुये हैं. भारतवर्ष में राजस्थान प्रमुख ऊन उत्पादक प्रदेश है जहाँ से देश के ऊन के वार्षिक उत्पादन का 45% प्राप्त होता है.

राजस्थान में लगभग 73 लाख भेड़ों का ऊन कतरा जाता है. एकत्रित ऊन साफ तथा श्रेणीबद्ध करके 145–150 किग्रा.

सारणी 47 – भारत में विभिन्न नस्लों से औसत वार्षिक ऊन की प्राप्ति*

नस्ल	प्रदेश	प्रति भेड़ ऊन की प्राप्ति (ग्रा.)
कश्मीर घाटी		
पुंछ	जम्मू एवं कश्मीर	681
कारनाह		
लोही	पंजाब	1,360
रामपुर-बुशायर	हिमाचल प्रदेश	907
नाली	राजस्थान	1,814–3,175
चोकला	,,	1,360–2,270
मगरा	,,	1,360–2,270
मालपुरा	,,	681–1,134
मारवाड़ी	,,	681–1,134
पुगल	,,	1,360–1,814
सोनाड़ी	,,	454–1,134
जैसलमेरी	,,	1 587
कच्छी पाटनवाड़ी	गुजरात	1,134–1,360
कच्छी मारवाड़ी	,,	1,587–1,814
छोटानागपुरी	बिहार	170– 227
शाहाबादी	,,	34
दक्कनी	महाराष्ट्र	454– 681
बेल्लारी	आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर	34– 40

*भेड़ और ऊन विकास अधिकारी, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्राप्त आँकड़ों से.

सारणी 48 – भारत में विभिन्न श्रेणियों के ऊनों का उत्पादन*

(टनों में)

क्षेत्र	मोटा	मध्यम I	मध्यम II	महीन
शीतोष्ण हिमालयी	518	1,816	867	204
शुष्क उत्तरी	6,199	6,992	3,268	1,317
दक्षिणी	9,398†	...	...	...
योग	16,115	8,808	4,135	1,521

*भेड़ और ऊन विकास अधिकारी, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्राप्त आँकड़ों से.

†अधिकतर रंगीन और मोटा ऊन.

सारणी 49 – भारत की मान्यताप्राप्त भेड़ नस्लों के ऊनों के अभिलक्षण तथा उनके उपयोग*

भेड़ की नस्ल	तन्तु के अभिलक्षण और ऊन के उपयोग
महीन ऊनदायी नस्लें	
चोकला (राजस्थान) वरणात्मक प्रणाली से प्रजनित हिसारडेल (हरियाणा) दक्कनी रेम्प्युलेट संकरित (पूना)	मज्जा अल्प, तन्तु लम्बाई में कम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन प्रायः श्वेत (चोखला, पीली), कपड़ा बनाने में प्रयुक्त.
महीन मध्यम ऊनदायी नस्लें	
गद्दी और रामपुर-बुशायर (उत्तरी हिमालयी); गुरेज, कारनाह और भादरवाह (जम्मू तथा कश्मीर)	मज्जा अल्प, तन्तु लम्बाई में मध्यम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन श्वेत, मोटा कपड़ा बनाने में प्रयुक्त.
बियांगी (उत्तरी हिमालयी) मेवाती (हिमाचल प्रदेश, पंजाब और उत्तर प्रदेश) बागरी और सूतर (पंजाब)	मज्जा अल्प, तन्तु लम्बाई में मध्यम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन पीली, मोटा कपड़ा बनाने में प्रयुक्त.
बीकानेरी	मज्जा मध्यम (मिलेजुले तन्तु), तन्तु लम्बाई में मध्यम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन पीली, कालीन और कपड़ा बनाने में प्रयुक्त.
उत्कृष्ट श्रेणी और कालीन योग्य ऊनदायी नस्लें	
नाली (राजस्थान और पंजाब)	मज्जा अधिक (मिलेजुले तन्तु), तन्तु लम्बे तथा हाथी दाँत जैसे श्वेत, शरदकालीन कतरन अति पीली, कालीन और कपडा बनाने में प्रयुक्त.
मगरा, जैसलमेरी (राजस्थान)	मज्जा मध्यम (मिलेजुले तन्तु), अधिक (मगरा), तन्तु लम्बाई में मध्यम (मगरा), लम्बे (जैसलमेरी), रंग अति श्वेत (मगरा), श्वेत (जैसलमेरी), शरद्कालीन कतरन पीली, कालीन और कपडा बनाने में प्रयुक्त.
निम्न श्रेणी और कालीन योग्य ऊनदायी नस्लें	
मारवाड़ी और पुगल (राजस्थान)	मजा मध्यम (मिलेजुले और बालदार तन्तु), तन्तु लम्बाई में मध्यम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन पीली, मोटे कालीनों और कम्बलों में प्रयुक्त.
पाटनवाड़ी और जोरिया (उत्तरी गुजरात)	मज्जा अल्प, तन्तु लम्बाई में मध्यम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन पीली, मोटे कालीनों और कम्बलों में प्रयुक्त.
मोटी ऊनदायी नस्लें	
मालपुरा (राजस्थान), कच्छी (उत्तरी गुजरात), बुंदेलखंड (हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश), पंजाब पहाड़ी और पंजाब देशी (पंजाब)	मज्जा अधिक, तन्तु लम्बाई में मध्यम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन पीली (बुन्देलखंड, श्वेत), मोटे कालीनों और कम्बलों में प्रयुक्त.
लोई (पंजाब)	मज्जा मध्यम, तन्तु लम्बाई में मध्यम, रंग श्वेत, शरद्कालीन कतरन पीली, मोटे कालीनों और कम्बलों में प्रयुक्त.
बहुत मोटा ऊन देनेवाली नस्लें	
मुंजाल (पंजाब), हरसुद (मध्य प्रदेश), सोनाड़ी (राजस्थान)	मज्जा अधिक खुरदुरा, बालदार, तन्तु लम्बे (सोनाड़ी मध्यम), रंग श्वेत (हरसुद, श्वेत और रंगीन), शरद्कालीन करतन पीली (हरसुद, श्वेत और रंगीन), मोटे कम्बलों में प्रयुक्त.
छोटा नागपुरी और शाहाबादी (बिहार)	मज्जा अत्यधिक, बालदार, तन्तु कम लम्बे, श्वेत और रंगीन, शरद्कालीन करतन श्वेत और रंगीन, मोटे कम्बलों में प्रयुक्त.
दक्कनी, हसन, बेल्लारी, नेल्लोर और ब्रांदुर (प्रायद्वीपीय पठार)	मज्जा मध्यम, खुरदुरे बालोदार तन्तु, लम्बाई में मध्यम, श्वेत और रंगीन, शरद्कालीन कतरन श्वेत और रंगीन, मोटे कम्बलों में प्रयुक्त.

*Data from Shri Ram Institute for Industrial Research, New Delhi; *India & Pakistan Wool, Hosiery & Fabrics*, 1967, 91-93; Sule, *Wool & Wool. India* (Spec. No.), 1968, 5(2), XLVI-XLVII.

के गट्ठरों में बाँधकर पाली, बियावर, बीकानेर और केकरी में व्यापार में प्रयुक्त विभिन्न नामों जैसे **बीकानेरी, राजपूताना, मारवाड़ी, जैसलमेरी, बियावरी, केकरियान, जोरिया** आदि, से बेच दिया जाता है. अन्य ऊन के बाजारों में जैसे उत्तर भारत में फाजिल्का, पानीपत और दिल्ली से दक्षिण पूर्व में राजकोट तक भी थोड़ा ऊन बेचा जाता है. श्रेणीकरण, तन्तु की लम्बाई, रंग और खुरदुरे ऊन की मात्रा के अनुसार कुल मिलाकर राजस्थानी ऊनों के 90 मुख्य प्रकार ज्ञात हैं.

राजस्थान में वसन्त ऋतु में कतरा हुआ ऊन श्वेत और शीत ऋतु में कतरा हुआ ऊन पीला, भूरा, धब्बेदार और रंग में कुछ भिन्न होता है. इस प्रदेश में 1956 में भिन्न-भिन्न रंगों के ऊनों के उत्पादन की मात्रा (टनों में) इस प्रकार थी : श्वेत, 4,812; श्वेत आभा का, 545; पीला, 7,627; और रंगीन, 409.

राजस्थान में उत्पादित ऊन का औसतन 60% (8,172 टन) प्रतिवर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और रूस को निर्यात कर दिया जाता है. कच्चे और गट्ठर बँधे ऊन की

पर्याप्त मात्रा कारखानों, कालीन उद्योग वालों और हाथ से कातने वालों द्वारा देश में ही खरीद ली जाती है.

संसाधन – राजस्थान में ऊन का संसाधन और उसका उपयोग पूर्णतया हस्तकला के ही रूप में है. बीकानेर, जोधपुर और उदयपुर कमिश्नरियों के कुछ भागों में ऊन की कताई और बुनाई गौण धन्धे हैं. अनुमान है कि राजस्थान में भेड़-पालन, ऊन को साफ करने, उसके विपणन और संसाधन द्वारा लगभग 10 लाख लोगों को परोक्ष या अपरोक्ष रूप में, भेड़ों और ऊन के उद्योग द्वारा जीविका मिलती है. बीकानेर और जोधपुर कमिश्नरियों के कातनेवाले लोग ऊन से बहुत महीन धागा निकालने के लिये प्रसिद्ध हैं. प्रतिवर्ष लगभग 900 टन ऊन की खपत गद्देदार कालीन, कम्बल, लोई, ट्वीड बनाने और निर्यात के लिये हाथ से काता हुआ ऊन का धागा बनाने में होती है. ऐसी बनी हुयी वस्तुओं का मूल्य पर्याप्त ऊँचा होता है. यहाँ से कालीनों का निर्यात ब्रिटेन, कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका को किया जाता है. शालों और ट्वीडों की खपत राजस्थान में ही हो जाती है. फैल्ट और नमदे देश के अन्य भागों में भेज दिये जाते हैं. कता हुआ ऊन निकटवर्ती प्रदेशों में कालीन बुनने के लिये चला जाता है.

कालीन बुनना एक कुटीर उद्योग है और इसके मुख्य केन्द्र उत्तर प्रदेश में भदोही, मिर्ज़ापुर, आगरा और शाहजहाँपुर हैं; राजस्थान में जयपुर; पंजाब में अमृतसर; जम्मू और कश्मीर में श्रीनगर; आंध्र प्रदेश में वारंगल ; और मैसूर प्रदेश में बंगलौर है. हाथ-करघे से बनायी गयी वस्तुओं के लिये उत्तर प्रदेश अग्रणी है और अनुमान है कि इस राज्य में हर दस जुलाहों में से एक इस उद्योग से जीविकोपार्जन करता है.

औसतन 4,540 टन भार के ऊनी कालीन तथा कम्बल संसार के 40 देशों को जैसे ब्रिटेन, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, स्विटज़रलैंड, मलेशिया इत्यादि को निर्यात किये जाते हैं. इनका मूल्य 4.5 करोड़ रुपये है.

उपयोग – भारतीय ऊन निम्नकोटि के होते हैं और कम दामों पर विकते हैं. इनसे पहनने के उत्तम वस्त्र नहीं बनाये जा सकते. भारत में उत्पादित ऊन का आधा अंश देशी कम्बल बनाने में होता है. शेष आधे की खपत मिलों तथा कालीन उद्योग में हो जाती है. उत्तम कोटि का ऊनी कपड़ा बनाने वाली भारतीय मिलें ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड से आयातित ऊन के धागे पर आश्रित हैं. भारत में तैयार ऊन, मिश्रित तथा बालदार किस्म का होता है. इसलिये इनका उपयोग निम्न-कोटि के धुने हुये मोटे धागे बनाने में किया जाता है. ऊनी कपड़ा बनाने के लिये दो प्रकार से पूनियाँ बनायी जाती हैं. धुन कर तन्तुओं को मिली-जुली ढीली अवस्था में धागा खींचने के लिये छोड़कर और उस विधि से जिसमें तन्तुओं को कंघे से काढ़कर समान्तर करके धागा कातने के लिये पूनियाँ बनायी जाती हैं. जो कपड़ा धुनकी हुयी पूनियों से कते धागे से बनता है वह ऊनी कपड़ा कहलाता है और समान्तर तन्तुओं वाली पूनियों से कते धागे से बना ऊनी कपड़ा वर्स्टेड कहलाता है. धागे की बारीकी का निर्णय पूनी को अधिकतम सीमा तक कात कर किया जाता है, जो धुनी हुयी ऊन की पूनी में 234 मी. और कंघी किये हुये ऊन में 512 मी. तक होती है. कातने के बाद इससे अट्टियाँ बनायी जाती हैं. 454 ग्रा. में जितनी अट्टियाँ चढ़ जायें उसी के अनुसार ऊन के धागे की गणना (काउंट) निर्धारित की जाती है. कपड़ा बनाते समय मजबूत तन्तु ही बचे रह सकते हैं. कमजोर तन्तु टूटकर या तो गाँठें या फालतू ऊन के टुकड़े जिन्हें 'नायलस' कहते हैं, बनते हैं (Woollen Industry, WIth India—Industrial Products, pt IX).

यद्यपि भारत में ऊन का उद्योग एक प्रकार से सारे देश में बिखरा हुआ है, फिर भी यह उद्योग मुख्यतः महाराष्ट्र और पंजाब में केन्द्रित है. अनुमानतः इस उद्योग में 25 करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुयी है. भारत में कुल मिलाकर ऊन की 257 संगठित इकाइयाँ हैं जिनमें से 36 केवल कताई की, 195 केवल बुनायी की और 26 मिश्रित इकाइयाँ हैं. भारत से प्रतिवर्ष 1 करोड़ रुपये की ऊनी होजरी पश्चिमी एशियाई देशों को निर्यात की जाती है. ऊनी और वर्स्टेड कपड़ों के थानों का निर्यात मूल्य 44 लाख रुपये से अधिक है. 1953-54 में 90 लाख किग्रा. ऊनी माल का निर्यात हुआ था किन्तु पिछले कुछ वर्षों में यह मात्रा बढ़कर औसतन 1.6 करोड़ किग्रा. तक पहुँच गयी है.

भारतीय ऊन के भौतिक अभिलक्षण – अभी कुछ समय पहले तक भारत में उत्पादित ऊन के भौतिक अभिलक्षणों का विस्तृत अध्ययन नहीं हो पाता था किन्तु ऊन के बाजार से लाये और कतरन के कुछ नमूनों का विश्लेषण केन्द्रीय आयुध विभाग प्रयोग-शाला, कानपुर और विक्टोरिया जुबली तकनीकी संस्थान, बम्बई, में किया जाता है. रेशमी और कृत्रिम रेशमी मिलों की अनुसंधान संस्था (SASMIRA—स्थापित 1950), बम्बई, अन्तर्राष्ट्रीय मानकीकरण कार्यालय द्वारा प्राकृतिक तंतुओं (जिनमें ऊन भी सम्मिलित है) के परीक्षण द्वारा मान्य तटस्थ परीक्षण गृह है.

ऊन अनुसंधान संस्था (WRA—स्थापित 1963), बम्बई द्वारा ऊन के सम्बन्ध में आधारभूत और व्यावहारिक अनुसंधान किये जाते हैं. जब तक इस संस्था का ऊन अनुसंधान संस्थान स्थापित नहीं हो जाता तब तक विक्टोरिया जुबली तकनीकी संस्थान, बम्बई में ही ऊन के भौतिक और रासायनिक अभिलक्षणों का परीक्षण होता रहेगा. इस संस्था का कार्य अधिकतर योजना-निर्दिष्ट है और इसका सम्बन्ध भारतीय ऊनों और अन्य तंतुओं के मिश्रणों का विकास, ऊन धोने के पानी में से मोम की पुनः प्राप्ति, ऊन के धागे के गुणों और उत्पादन का सर्वेक्षण जैसे अध्ययनों से है.

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा देश के मुख्य भेड़-पालन क्षेत्रों में ऊन के गुणों सम्बन्धी विस्तृत अनुसंधान सम्पन्न कराये जा रहे हैं. श्रीराम औद्योगिक अनुसंधान संस्थान, दिल्ली ने भी भारतीय ऊन के भौतिक और रासायनिक लक्षणों से सम्बन्धित उपयोगी आँकड़े प्रस्तुत किये हैं.

भारतीय ऊनों के प्रमुख अभिलक्षणों की सीधी-सीधी तुलना अन्य देशों के ऊनों से करना सम्भव नहीं है क्योंकि ये विभिन्न किस्मों के होते हैं और इनके गुण भी भिन्न-भिन्न होते हैं. भारतीय भेड़ों से प्राप्त ऊन प्रायः मोटा और मिलाजुला होता है और अधिक-तर कम्बल, मोटी ट्वीड, कालीन और दरियाँ बनाने के काम में लाया जाता है. भारतीय मोटे ऊन के तंतु अनुप्रस्थ काट में उत्तम ऊन के तंतुओं से अपेक्षाकृत अधिक दीर्घवृत्तीय होते हैं. इनका समोच्च रेखा-अनुपात लगभग 1:3 होता है, इस कारण इनसे एक समान और सुसम्बद्ध धागों का उत्पादन नहीं किया जा सकता. महीन, मध्यम तंतु का ऊन केवल कुछ ही संकरित और छंटी हुयी प्रजनित भेड़ों से प्राप्त होता है.

कालीनों के ऊन के भौतिक विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि यह चार विभिन्न प्रकार के तन्तुओं का बना होता है : ऊन, बाल,

मिलेजुले ततु और खुरदुरे तथा बाल-मिश्रित ततु. रगीन ततु भी विभिन्न अनुपातो मे पाये जाते है और कुछ नस्लो का ऊन तो रगीन ही होता है. ऊन मे विभिन्न प्रकार के तन्तुओ का अनुपात नस्लो के अनुसार बदलता रहता है और ऊन और बालो के अशो पर ही मुख्यत: ऊन का घटिया या बढिया होना निर्भर करता है.

देश मे विभिन्न नस्लो की भेडो से कतरे ऊनो के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि इनमे शुद्ध ऊन और बालदार तन्तुओ का अनुपात काफी बदलता रहता है. दक्षिणी क्षेत्र की भेडो की कतरन पूर्णरूपेण बालदार होती है जबकि उत्तरी क्षेत्रो की भेडो पर ऊन अधिक और बाल कम होते है. पूर्वोय क्षेत्र के अधिक वर्षा वाले भागो की नस्लो के ऊन मे पश्चिमी क्षेत्रो के शुष्क और अर्धशुष्क भागो की भेडो के ऊन से अपेक्षाकृत अधिक बाल होते है इस प्रकार भेडो के ऊन के तन्तुओ के अभिलक्षण जलवायु और वातावरण पर निर्भर करते है. सबसे उत्तम ऊन की कतरन केवल पहाडो पर रहने वाली भेडो से प्राप्त होती है जहाँ की जलवायु ठडी और शुष्क होती है.

भारतीय ऊन की उत्तमता भेड की नस्ल और ऋतु के साथ बदलती रहती है. भारतीय ऊन के व्यास का विचरण गुणाक **ऑस्ट्रेलियन मेरिनो**-70^s ऊन से काफी अधिक होता है. प्रायद्वीपी क्षेत्रों के ऊन 36^s–40^s के होते है जबकि उत्तरी भारत के मैदानों के ऊन 40^s–56^s के हैं. इनमें से कुछ ऊन तो 60^s के भी होते हैं. हिमालयी क्षेत्रों के ऊन मोटे और मध्यम कोटि के होते हैं. सारणी 50 में विभिन्न किस्मों के भारतीय ऊनो और 70^s वाले ऑस्ट्रेलियन मेरिनो ऊन के भौतिक अभिलक्षण दिये गये हैं.

राजकीय पशुधन फार्म, हिसार में विकसित **हिसारडेल** नस्ल का ऊन 60^s–62^s का होता है और छः मास तक बढने पर रेशे की लम्बाई 3.8–5.00 सेमी हो जाती है सामान्यत. मोटे ऊनो के तंतु महीन ऊनो से अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं, इसलिये भारतीय ऊनो के तन्तु सकरित या मेरिनो ऊनो से लम्बे होते है भारत मे एक ही नस्ल की भेडो मे ऊन की रेशा-लम्बाई मे काफी अन्तर पाया जाता है.

भारत के मोटे ऊन अधिकतर कम लहरदार या सीधे होते हैं. **चोकला** और सकरित ऊन लहरदार होते है किन्तु उनकी लहर अत्यधिक परिवर्तनशील होती है और तन्तु के व्यास से इसका अधिक सम्बन्ध नहीं है महीन ऊनो मे लहर साधारणत उनकी विशिष्ट द्विपार्श्विक वल्कुट-सरचना के कारण मानी जाती है. भारतीय ऊनो की सरचना इस प्रकार की नही होती. सभवत भारतीय भेडो के पोषण मे ताम्र की न्यूनता के कारण ही उनका ऊन कडा और सीधा होता है

मज्जा के कारण भारतीय ऊनो की तन्यता मे यथेष्ट अन्तर रहता है. उत्तरी भारत के मैदानों मे अधिकतर कालीन बनाने के लिये उत्पादित ऊनो की मिश्रित कतरनो मे से छाँटे गये मज्जा-विहीन महीन तन्तुओं की शुष्कतन्यता अधिकतर 2,000–3,000 किग्रा./वसेमी. पायी गयी. ये मान अन्य देशो के ऊनो मे अधिक भिन्न नहीं है. भारत के सभी मज्जाविहीन ऊन, **मेरिनो** ऊन की तुलना मे कम प्रसरण (टूटने के बिन्दु पर) सहन कर सकते हैं.

भारतीय ऊन चमकदार, श्वेत से लेकर हाथीदाँत के रग तक के होते हैं. पीले वर्ण के ऊन हल्के पीले से लेकर गहरे पीले रग तक के होते हैं. कुछ दक्षिण भारतीय ऊन धूसर, भूरे या काले भी होते हैं. पीली ऊनो मे पीलेपन की मात्रा 3–12.5 तक होती है और उत्तरी भारत के मैदानो मे अक्तूबर–मार्च तक कतरे हुये ऊनो मे 1.0–3.0 तक रहती है. पहाडी क्षेत्रों और प्रायद्वीपी

सारणी 50 – भारतीय ऊनों के विभिन्न प्रकारो के भौतिक लक्षण*

ऊन की किस्म	तन्तु का औसत व्यास		मज्जायुक्त तन्तु (%)	औसत रेशा लम्बाई का परास (सेमी.)
	सीमा (μ)	विवरण गुणांक (%)		
उत्तरी भारत के मैदान				
नाली (पंजाब)	30–40	35–50	25–50	12–18
हिसारडेल (संकरित) (हरियाना)	0–25	10–20	.	5–8
मगरा (राजस्थान)	30–40	35–50	40–60	9–12
चोकला (राजस्थान)	20–35	20–30	5–30	8–12
सोनाडी (राजस्थान)	40–60	40–60	40–70	8–11
मारवाडी (राजस्थान)	35–45	30–40	20–40	8–13
मालपुरा (राजस्थान)	40–60	50–70	50–70	8–10
जैसलमेरी (राजस्थान)	30–40	40–50	30–50	11–16
पाटनवाड़ी (उत्तरी गुजरात)	30–40	30–40	20–40	8–12
स्थानीय ऊन (उत्तर प्रदेश)	40–50	40–50	70–90	3–8
स्थानीय ऊन (बिहार)	40–70	40–50	40–50	8–15
छोटा नागपुरी (बिहार)	60–80	50–60	80–90	4–6
शाहाबादी (बिहार)	60–70	50–60	80–90	4–7
प्रायद्वीपीय पठार				
दक्कनी (महाराष्ट्र)	35–50	40–60	10–20	4–7
दक्कनी रैम्ब्युलेट संकरित (महाराष्ट्र)	20–22	10–15		4–6
बेल्लारी (मैसूर)	40–50	40–50	30–50	6–11
हिमालयी क्षेत्र				
गद्दी (हिमाचल प्रदेश)	28–32	25–30	10–20	7–10
हिसारडेल संकरित (कुल्लू)	20–25	20–25		5–8
गुरेज (जम्मू-कश्मीर)	30–40	25–35	10–20	7–13
कारनाह (जम्मू-कश्मीर)	30–40	25–35	10–20	6–15
भादरवाह (जम्मू-कश्मीर)	25–50	40–50	20–30	7–12
रामपुर-बुशायर (हिमाचल प्रदेश और उत्तरी पंजाब)	30–40	30–40	10–30	6-11
नीलगिरि क्षेत्र				
नीलगिरि (ऊटकमंड)	22–28	20–25	10–20	7–13
नीलगिरि-रोमनी मार्श संकरित (ऊटकमण्ड)	25–32	20–30	10–20	7–13
ऑस्ट्रेलियन मेरिनो ऊन 70 प्ररूप	18	5–10	...	5–10

*Sule, *Wool & Wool. India* (Spec. No.), 1958, 5(2), LIII

पठार के ऊन श्वेत होते है और उनमे पीलेपन की मात्रा 1.5 से भी कम रहती है.

भारतीय ऊन किसी दी गयी आर्द्रता पर मेरिनो ऊन से कम आर्द्रताग्राही होते है. सारणी 51 में 25° और 65% आपेक्षिक आर्द्रता पर कुछ भारतीय ऊनो मे आर्द्रता की मात्रा दी गयी है.

सारणी 51—कुछ भारतीय ऊनों में आर्द्रता की मात्रा* (%)

ऊन का नमूना	क्षेत्र	65% आ. आ. और 25° पर अनुकूलित सूखे ऊन में	65% आ. आ. और 25° पर पुनः शोषित अति आर्द्र ऊन में
गद्दी	पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र	14.4	17.8
हिसारडेल (संकरित)	पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र	15.1	17.1
हिसारडेल (संकरित)	पंजाब के मैदान	13.5	15.5
लोही	,,	14.1	16.1
चोकला	राजस्थान	14.4	17.3
मालो	,,	13.7	16.2
पाटनवाड़ी	उत्तरी गुजरात	13.5	16.1
दक्कनी	पूना	13.6	16.3
नीलगिरि	ऊटकमंड	13.6	15.6
नीलगिरि रोमनी-मार्श (संकरित नस्ल)	ऊटकमंड	14.0	16.1

*Sule, *Wool & Wool. India* (Spec. No.), 1968, **5(2)**, LVII.
आ. आ.—आपेक्षिक आर्द्रता.

ऊन का उलझना (ऊन के तन्तुओं का धुलते समय इस प्रकार आपस में उलझ जाना कि फिर वे अलग न हो सकें) मुख्यत: ऊन के दो भौतिक गुणों के कारण होता है, ये हैं : विभेदक घर्षणी प्रभाव (वि.घ.प्र.) और ऊन के तन्तुओं की प्रत्यास्थता. उच्च विभेदक घर्षणी प्रभाव और प्रत्यास्थता के कारण ऊन के तन्तु आपस में अच्छे जुड़ते हैं. भारतीय ऊनों का विभेदक घर्षणी प्रभाव जालिका-रूपीय शल्कीय संरचना के कारण कम होता है और इसकी प्रत्यास्थता भी कम होती है इसलिये इनके उलझने की क्षमता भी कम होती है. किरीटीय या शल्कीय संरचना के कारण मेरिनो ऊन का विभेदक घर्षणी प्रभाव उच्च होता है और इसलिये ऊन की जुड़ने की क्षमता भी उच्च होती है. विभिन्न भारतीय नस्लों के ऊनों के जुड़ने के गुणों के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं किन्तु यह पाया गया है कि संकरित भेड़ों के ऊन में उलझने की क्षमता अधिक होती है. इस क्षमता से कुछ लाभ हैं तो कुछ हानियाँ भी है. उत्तम मेरिनो ऊन से बनायी हुयी होज़री और खुली संरचना वाले ऊनी कपड़ों के बनाने से पूर्व कपड़े के फैलाव को एक-सा बनाये रखने और धुलायी के समय अधिक गुत्थियाँ बनना रोकने के लिये ऊन को विशेष रूप से उलझनरोधी उपचार देने पड़ते हैं. भारतीय ऊन होज़री के लिये उपयुक्त नहीं है किन्तु फ़ेल्ट उत्पादों, कम्बलों और महिलाओं के कोटों, ट्वीड, सर्ज आदि कपड़े बनाने में इनका श्रेष्ठतर उपयोग हो सकता है.

भारतीय मज्जारहित ऊन के तन्तुओं का पानी में प्रतिबल-विकृति सम्बन्ध सामान्यतया मेरिनो ऊनों से कुछ भिन्न है : जैसे कि टूटने के बिन्दु पर प्रसरण कुछ कम तथा किसी दिये हुये आर. पर प्रसरण अधिक और आर्द्रतन्यता कम होती है. भारतीय ऊन का स्थायी समुच्चय (उबलते पानी में एक घण्टे रखने के बाद की स्थायी तनन सीमा) मेरिनो ऊन की तुलना में और पीले ऊनों का स्थायी समुच्चय श्वेत ऊनों से अपेक्षाकृत कम होता है.

मुलायम वस्त्र बनाने के लिये अन्य रेशों के साथ भारतीय ऊन नहीं मिलाये जा सकते, क्योंकि ये भंगुर, मोटे तथा कड़े होते हैं.

सभी कच्चे ऊनों में कुछ-न-कुछ अशुद्धियाँ होती हैं और इनका अनुपात भेड़ की नस्ल के ऊपर निर्भर करता है. इन अशुद्धियों में चर्बी (तेल ग्रन्थियों का स्राव) और ऊर्ण-वसा या स्वेद (स्वेदोत्पादक ग्रंथियों का स्राव) भेड़ के शरीर से निकलते हैं. कच्चे ऊन में चर्बी और ऊर्ण-वसा का अंश भेड़ की नस्ल के अनुसार बदलता रहता है. अन्य अशुद्धियाँ, जैसे धूल और वनस्पति-पदार्थ वातावरण पर निर्भर करते हैं. स्वच्छ शुष्क ऊन की प्राप्ति की गणना करते समय केवल चर्बी, ऊर्ण-वसा और नमी का ही लेखा रखा जाता है, और धूल और वनस्पति-पदार्थ को समाविष्ट नहीं किया जाता है जो कि एक ही रोमावलि में 5–20% तक (स्वच्छ सूखे ऊन में भार के अनुसार) हो सकते हैं. सारणी 52 में विभिन्न भारतीय ऊनों के नमूनों में रोमावलि की मात्रा दी गयी है.

सभी भारतीय ऊनों से मेरिनो ऊन की अपेक्षा कच्चे ऊन से अधिक स्वच्छ और सूखे ऊन की प्राप्ति होती है. पीले रंग के ऊनों में चर्बी की मात्रा अपने अनुरूप श्वेत ऊनों से बहुत कम होती है. भारतीय ऊनों में चर्बी की मात्रा संकरित और मेरिनो भेड़ों से निश्चित रूप से कम होती है. सामान्यत: भारतीय ऊनों में ऊर्ण-वसा की मात्रा मेरिनो ऊन से अधिक होती है और उत्तरी भारत के मैदानों की भेड़ों के ऊन की ऊर्ण-वसा अन्य क्षेत्रों की भेड़ों की तुलना में अत्यधिक क्षारीय होती है.

ऊन की चर्बी एक मूल्यवान गौण-उत्पाद है. अपने विशुद्ध रूप में इसका उपयोग लैनोलिन के नाम से विभिन्न कान्ति-वर्धकों में होता है. इनमें कोलेस्टेरॉल और आइसो-कोलेस्टेरॉल पाये जाते हैं जो हार्मोनों के संश्लेषण में प्रमुख अन्तर्वर्ती हैं. ऊन में चर्बी की मात्रा प्राथमिक (प्रा) और गौण (गौ) पुटकों के स्वरूप पर निर्भर करती है, और गौ/प्रा अनुपात एवं पुटकों के घनत्व की समानुपाती होती है. अधिकतर भारतीय भेड़ों की नस्लों का गौ/प्रा अनुपात 0.5–3.0, मेरिनो भेड़ का 15–30 और संकरित भेड़ों का 4–15 होता है. निम्न गौ/प्रा अनुपात और निम्न पुटक घनत्व के कारण भारतीय ऊनों में चर्बी की मात्रा संकरित या मेरिनो ऊनों की तुलना में कम होती है.

भारतीय ऊनों के साथ जो वनस्पति-पदार्थ पाये जाते हैं वे हैं : हिमालयी क्षेत्रों, उत्तरी भारत के मैदानों और (नीलगिरि को छोड़कर) प्रायद्वीपी पठारों के अन्य ऊनों में **जैन्थियम स्ट्रूमेरियम** के काकल बर, राजस्थान और उत्तरी गुजरात के मैदानों में प्राप्त ऊनों में सैंड बर और उत्तरी गुजरात के ऊनों में तिपतिया बर, घासें, टहनियाँ और काँटे आदि. सामान्य रूप से ग्रीष्म और शरद ऋतुओं की तुलना में शीत और बसन्त ऋतुओं में एकत्र किये गये ऊन में इन बरों की मात्रा अधिक होती है. यांत्रिक विधि से या रगड़ द्वारा बिना रेशों को तोड़े इन बरों को अलग करना कठिन है. केवल कार्बनीकरण द्वारा ही यह पदार्थ नष्ट किया जा सकता है.

रासायनिक गुण और संघटन—ऊन स्क्लेरोप्रोटीन है और बाल, सींग, पंख तथा अन्य अधिचर्म ऊतकों से इनका निकट सम्बन्ध है जो सामान्यत: केराटिन कहलाते हैं. ऊन के प्रोटीन का

सारणी 52 – विभिन्न भारतीय ऊनों की रोमावलि के मूलतत्व*

ऊन का नमूना	ऊर्ण वसा का पी-एच	ऊर्ण वसा (स्वच्छ सूखे ऊन के भार का %)	चर्बी (स्वच्छ सूखे ऊन के भार का %)	औसत प्राप्ति कच्चे ऊन मे (स्वच्छ सूखे ऊन का %)
गंगा-सिंध के मैदान				
नाली (पंजाब), वसन्त ऋतु की श्वेत कतरन	8.0–9.5	25–50	6–17	55–65
नाली (पंजाब), पीले रंग की शरतकालीन कतरन	9.0–10.5	10–25	0– 3	65–75
नाली (राजस्थान) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	9.0–10 5	10–25	0– 3	65–75
सोनाडी (राजस्थान) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	8.5–9.5	10–20	0– 3	70–80
मारवाडी (राजस्थान) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	8.5–9.5	10–20	0– 3	70–80
मालपुरा (राजस्थान) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	8.5–9.5	15–25	0– 3	65–75
जैसलमेरी (राजस्थान) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	8.5–9 5	20–30	2– 5	65–75
चोकला (राजस्थान) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	8.5–9.5	10–20	0– 2	70–80
लोई (पंजाब) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	8 0–9.0	5–20	0– 2	70–80
लोई (पंजाब) वसन्ती श्वेत कतरन	7 5–8.5	10–25	5–10	65–75
प्रायद्वीपी पठार				
चुनिंदा दक्कनी (पूना) श्वेत वसन्तकालीन कतरन	7.0–8.0	20–30	10–15	55–65
चुनिंदा दक्कनी (पूना) पीले रंग की शरतकालीन कतरन	7.0–8.0	15–25	7–10	65–75
दक्कनी-रेम्ब्युलेट संकरित (पूना) श्वेत वसन्तकालीन कतरन	7.0–8.0	15–25	20–30	60–70
दक्कनी-रेम्ब्युलेट संकरित (पूना) श्वेत शरतकालीन कतरन	7.0–8.0	20–35	20–30	55–65
हिमालयी क्षेत्र				
गद्दी (कुल्लू) श्वेत शरतकालीन कतरन	7.0–8 0	10–20	6–10	65–75
हिसारडेल संकरित (कुल्लू) श्वेत शरतकालीन कतरन	7.5–8.5	20–30	8–12	55–65
नीलगिरि क्षेत्र				
नीलगिरि (ऊटकमंड) श्वेत वसन्तकालीन कतरन	7.5–8.5	20–30	15–20	55–65
नीलगिरि-रेमनी-मार्श, संकरित (ऊटकमंड), श्वेत वसन्तकालीन कतरन	7.5–8.5	10–25	6–10	55–65
ऑस्ट्रेलियन मेरिनो-70 श्वेत वार्षिक कतरन	7.0–7.5	10–20	25–35	50–60

*Sule, *Wool & Wool. India* (Spec. No), 1968, 5(2), LI.

ऐमीनो अम्ल संघटन इस प्रकार है : आर्जिनीन, 10.6, हिस्टिडीन, 1.1; लाइसीन, 3.3, फेनिल ऐलानीन, 4.0, मेथियोनीन, 0.6; थ्रियोनीन, 6.7; टायरोसीन, 5.6; सिस्टीन, 13.7; ल्यूसीन, 8.1; आइसोल्यूसीन, 4.5, और वैलीन, 5.7 ग्रा. / 16 ग्रा. N. ऊन में अन्य प्रोटीनों से गन्धक की मात्रा अधिक होती है. ऊन कम-से-कम एक इमीनो और 17 ऐमीनो अम्लों से निर्मित पॉलीपेप्टाइड शृंखलाओं का बना होता है. वृद्धि के समय सिस्टीन के अवक्रमण से कुछ और ऐमीनो अम्ल बनते हैं. पॉलीपेप्टाइड शृंखलायें वलय अथवा कुंडली के आकार में रहती हैं और अंतर तथा अंत.शृंखला हाइड्रोजन बन्धों, अंत.शृंखला सहसंयोजक बन्धों (डाइसल्फाइड बन्धों) और अंत:शृंखला वैद्युत संयोजक बन्धों (लवण बन्धों) के द्वारा बनती है. जब रेशों को पानी में ताना जाता है तो वलित शृंखलायें अन्तर-शृंखला हाइड्रोजन बन्धों के टूट जाने के कारण खुल जाती हैं किन्तु जब ऊन का रेशा शुष्क अवस्था में ही ताना जाता है तब हाइड्रोजन बन्ध नहीं टूटते और इस प्रकार शृंखलायें वलित ही बनी रहती हैं.

ऊन के रेशे के तीनों आकृतिक अवयवों का, जिनके नाम, उपचर्म, वल्कुट और मध्यांश (या अभ्यन्तर) हैं, रासायनिक संघटन भिन्न-भिन्न होता है. उपचर्म चपटी प्लेट जैसी आच्छादी कोशिकाओं (0 5 मामी. मोटी और 8–20 मामी. लम्बी) का बना होता है. बाह्य और अन्त: उपचर्म प्रोटीन होते हैं जिनमें अणु-संकरण की मात्रा शेष तन्तुओं से अधिक और तन्तुकों की मात्रा कम होती है. वल्कुट, ऊन का 90% होता है और यह तकुवे की आकृति की वल्कुट कोशिकाओं (100 मामी लम्बी और 4 मामी. मोटी) से निर्मित होता है, जिनमें तन्तुक और सूक्ष्म तन्तुक अन्त.स्थापित रहते हैं. सूक्ष्म तन्तुक वलित पॉलीपेप्टाइड शृंखलाओं के समूह से बने होते हैं. उत्तम ऊनों की द्विपार्श्विक वल्कुट संरचना दो परस्पर बटे हुये अर्ध-सिलिण्डरों से बने रेशे से मिलती-जुलती है जबकि मोटे ऊनों में इस प्रकार की संरचना नहीं पायी जाती. कुछ मोटे ऊन के तन्तुओं में, तन्तु की अनुप्रस्थ काट में, दोनों प्रकार के वल्कुट अरीय पाये जाते हैं. मज्जा या केन्द्रीय क्रोड में एक वायु कोटरिका होती है जो रेशे के भीतर प्रकाश के परावर्तक का कार्य करती है. उत्तम मेरिनो ऊन मज्जाविहीन होता है किन्तु अधिकांश भारतीय ऊनों में मज्जा रहता है. यह मज्जा अविच्छिन्न हो सकता है जैसे लोमश रेशों में, या खण्डों में विभाजित जैसा कि विषमांग रेशों में.

भारतीय ऊन में गन्धक (सिस्टीन) की कम और लैन्थियोनीन की अधिक मात्रा होने के कारण यह मेरिनो ऊनों से भिन्न है. इसका कारण उत्तरी भारत के मैदानों में, विशेषत: शरद् ऋतु में, भेड के ऊन के रेशों पर क्षारीय ऊर्ण-वसा की क्रिया है. अधिकतर भारतीय ऊनों में गन्धक की मात्रा 2.8–3.1% होती है. पीले रंग की ऊन में गन्धक कम होता है. केवल भेड प्रजनन फार्म, पूना में पाली गयी, चुनिन्दा दक्कनी भेडों (ठीक पर खिलायी) के ऊन से ही उच्चतम और मेरिनो के ऊन के बराबर (3.4–3.7%), गन्धक की मात्रा (4%) से युक्त ऊन प्राप्त होती है. भारतीय ऊनों में गन्धक और ऐमीनो अम्लों की मात्रा का विवरण सारणी 53 में दिया हुआ है.

विभिन्न नस्लों की भेडों के ऊन-प्रोटीन (केराटिन) में नाइट्रोजन की मात्रा लगभग एक समान सूचित की गयी है: दक्कनी × मेरिनो और दक्कनी × रेम्ब्युलेट के ऊनों का समग्र औसत

सारणी 53 – भारतीय ऊनों में गन्धक और एमीनो अम्लों की मात्रायें* (%)

ऊन का नमूना	कुल गन्धक	सिस्टीन	लैन्थियोनीन	टायरोसीन	ट्रिप्टोफेन
राजस्थान					
नाली, मगरा, चोकला, सोनाड़ी, मारवाड़ी, पुगल और जैसलमेरी (कालीन का ऊन)					
पीले रंग की शरद् ऋतु की कतरन	2.3–2.8	5.5–7.0	1.0–3.0	4.0–5.0	0.75–0.8
श्वेत वसन्त ऋतु की कतरन	2.8–3.0	8.0–10.0	0.5–0.6	4.0–5.0	0.75–0.8
पंजाब और हरियाणा					
नाली (मध्यम)					
पीले रंग की शरद् ऋतु की कतरन	2.0–2.5	4.5–6.0	2.3–5.0	3.6–4.2	0.8
श्वेत वसन्त ऋतु की कतरन	2.8–3.0	8.0–10.0	0.6–1.0	4.4–4.6	0.8
लोई (मोटा)					
पीले रंग की शरद् ऋतु की करतन	2.0–2.5	4.0–6.0	2.0–3.0	4.0–4.3	0.75
श्वेत वसन्त ऋतु की कतरन	2.5–2.8	7.0–9.0	0.5–1.0	4.0–4.3	0.75
हिसारडेल संकर नस्ल (उत्तम)					
पीले रंग की शरद् ऋतु की कतरन	2.3–2.8	7.0–9.0	1.0–1.5	5.0–5.3	0.8
श्वेत वसन्त ऋतु की कतरन	2.8–3.2	9.0–10.5	0.5–0.7	6.5–7.0	0.8
अन्य क्षेत्र					
पूना – चुनिंदा दक्कनी (मोटा)	3.8–4.1	13.0–14.0	0.4–0.5	4.3–4.5	0.8
दक्कनी-रेम्ब्युलेट संकर नस्ल (उत्तम)	3.2–3.3	10.0–11.0	0.3–0.4	6.2–6.3	0.8
ऊटकमंड – नीलगिरि (उत्तम)	3.0–3.2	9.5–10.0	0.3–0.4	5.5–5.7	0.8
नीलगिरि रोमनी-मार्श संकर नस्ल (उत्तम)	2.8–3.0	9.0–10.0	0.3–0.5	5.5–5.7	0.8
मैसूर – बेल्लारी (मोटा)	2.5–2.8	8.0–9.0	0.3–0.5	...	...
कुल्लू – गद्दी (उत्तम)	2.9–3.0	9.0–10.0	0.3–0.4	...	...
ऑस्ट्रेलियन मेरिनो–70 (उत्तम)	3.4	11.5	0.3	6.2	0.82

*Sule, *Wool & Wool. India* (Spec. No.), 1968, 5(2), LII.

मान 16.27±0.04% है. ऊन में नाइट्रोजन की मात्रा का ऊन की कोटि से कोई सम्बन्ध नहीं है.

भारतीय ऊनों में सिस्टीन की मात्रा मेरिनो ऊन से कम होती है. पीले रंग के ऊनों में सिस्टीन का अंश कम (4–7%) और लैन्थियोनीन की मात्रा अधिक (2.0–3.5%) होती है.

भारतीय ऊनों में टायरोसीन की मात्रा उनकी उत्तमता से सम्बन्धित है. यह मोटे ऊनों में (4.0–5.5%), संकरित ऊनों (6–7%) से कम होती है. विभिन्न भारतीय ऊनों में ट्रिप्टोफेन की मात्रा लगभग एक-सी (0.75–0.80%) रहती है. मेरिनो ऊन में 0.80–0.85% ट्रिप्टोफेन होता है.

लैन्थियोनीन की उच्च मात्रा के कारण कुछ भारतीय ऊनों पर ऊन के कीड़े आक्रमण नहीं करते हैं. ऐसे ऊनों की क्षार विलेयता (ऑक्सीकरण से क्षति का एक परीक्षण) निम्न और यूरिया-बाइसल्फाइट विलेयता (खुला छोड़ने पर भार में कमी) अत्यन्त न्यून (0–2%) होती है.

पीत रंजन – भारतीय कच्चे ऊनों का पीत रंजक स्थायी होता है और धोकर छुटाया नहीं जा सकता. ऐसा ही प्रभाव अन्य गर्म और नम देशों जैसे उत्तरी मेक्सिको, दक्षिणी अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया में भी देखा जाता है. जहाँ कहीं भी ऊन में चर्बी इतनी कम होती है कि अवरोध नहीं उत्पन्न कर सकती, वहाँ ऊन में पीत रंजक का प्रमुख कारण ऊन के रेशों में ऊर्ण-वसा के रंजकों का प्रवेश माना जाता है. भारतीय ऊनों में यह सबसे बड़ा दोष है.

यह पीला रंग ऊन के रेशे में अनियमित रूप से फैला हुआ होता है और उसकी तीव्रता तथा आभा दोनों ही बदलते रहते हैं. नाली और चोकला नस्लों के ऊन अत्यधिक पीले रंग के होते हैं जबकि राजस्थान और पंजाब की मगरा, पुगल, मारवाड़ी, जैसलमेरी, सोनाड़ी, लोई और मालपुरा नस्लों के ऊन साधारण या हल्के पीले रंग के होते हैं. उत्तरी गुजरात की भेड़ें और हरियाणा की संकरित हिसारडेल भेड़ों के ऊन केवल हल्के पीले रंग के होते हैं. ऊपर दी गयी सभी नस्लों में पीत रंजन केवल शरत ऋतु में ही पाया जाता है, इनकी जाड़े तथा वसन्त ऋतु की कतरनें श्वेत से लेकर संगमरमरी श्वेत रंग तक की होती हैं.

इस पीले रंग को न तो धोकर और न किसी विलायक से निष्कर्षित करके छुड़ाया जा सकता है. यदि ऊन को तब तक विरंजित किया जाये जब तक वह श्वेत न हो जाय तो रेशे काफी विक्षत हो जाते हैं. यदि इन रंगीन ऊनों को असमान रंग होने के कारण गहरे रंगों से रंगा जाय तो यह रंग पीले रंग के भागों पर श्वेत भागो की तुलना मे शीघ्र ही हल्का पड़ जाता है. इसके अतिरिक्त अपने मूल लालाभ-पीत रंग के कारण पीले ऊन चटक पेस्टिल शेडो में नही रंगे जा सकते. सभी पीले रंग के ऊन अनिवार्यत: क्षारीय ऊर्ण-वसा के कारण क्षतिग्रस्त होते हैं जिससे उनकी तनन सामर्थ्य निम्न होती है तथा वे स्पर्श में रूक्ष होते हैं. इन दोषों के कारण पीले रंग के ऊन से कम दाम मिलते हैं और अपने ही समान श्वेत ऊनो की तुलना में इनका निर्यात भी महत्वपूर्ण नही होता. भारत में उत्पादित कुल ऊन का 30% पीले रंग का होता है, जिससे प्रतिवर्ष दो करोड़ रुपये का घाटा होता है. राजस्थान में कुछ कालीन बनाने वाले ऊनों मे पीले रंग का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या हो गयी है.

रंजन—साधारणत: भारतीय ऊनों मे *अतिसामान्य रंजन गुण* पाया जाता है. भारतीय ऊनों की रंजक-शोषकता ऊन की किस्म के साथ ही बदलती रहती है. इसलिये जब विभिन्न नस्लों के ऊन परस्पर मिलाये जाते हैं, जैसा कि भारत में प्रचलित है, तो अति तीव्र रासायनिक क्रिया करने वाले रंजकों से रंगने पर भी समस्यायें उठ खड़ी होती हैं.

कुछ मोटे और कालीन की कोटि के भारतीय ऊनों को रंगने की प्रमुख कठिनाइया ऊनों मे कड़े बालों (केम्प) और लोमश रेशों की उपस्थिति के कारण होती हैं. केम्प कम लम्बे, अत्यधिक मज्जायुक्त रेशे (उसका 90%) होते हैं जो अत्यन्त भंगुर होते हैं और कोई भी रंजक ग्रहण नही करते. भारतीय ऊनों में इनकी मात्रा 0–20% के बीच घटती-बढ़ती रहती है. कालीन बनाने की बढ़िया ऊन में लगभग 5% केम्प होते हैं. जब मज्जारहित और मज्जायुक्त रेशों को समान परिस्थितियों मे रंगा जाता है तो मज्जायुक्त रेशे हल्के रंग के दिखलायी पड़ते हैं. जब भारतीय ऊनों में केम्प और लोमश रेशो का अंश काफी रहता है तो उन्हें रंगने पर रंगाई धब्बेदार होती है. मज्जायुक्त ऊनो का यह दोष न तो रंगने की प्रणाली में परिवर्तन करने, और न विभिन्न रंजकों के प्रयोग से ही दूर किया जा सकता है. कालीन-ऊनों के विशेष लक्षण, विषम रेशे हैं, जो रंगाई मे विशेष कठिनायी नही डालते. भेडो का सतर्क एवं चुनिंदा प्रजनन करने से कड़े बालों और बालदार तन्तुओं का अंश घट जाता है और भारतीय ऊन के रंजक गुणों में भी सुधार आ सकता है.

गंगा-सिन्धु के मैदानों से प्राप्त ऊन अन्य भारतीय ऊनों और **मेरिनो** ऊन की तुलना मे आनम्य होते हैं. इस गुण के कारण ये कालीन बनाने के लिये आदर्श ऊन है. भारतीय कालीन बनाने योग्य ऊन चीन देश के ऊनों की तुलना में कम चमकदार होते हैं. इन ऊनों की रंजन-क्षमता दक्षिणी अमेरिकी किस्मों से निम्नकोटि की है. शरत् ऋतु में प्राप्त भारतीय कालीन बनाने योग्य ऊनों का बाजार दाम बहुत ही कम होता है क्योंकि वे पीले रंग के होते हैं. ऊनों मे लचीलापन मुख्यत: मिश्रित तन्तुओं और एक ही गुच्छ में अंशत: मज्जायुक्त और मज्जारहित ऊन के तन्तुओं की एक साथ उपस्थिति के कारण होता है.

किसी आदर्श कालीन बनाने वाले ऊन में भार के अनुसार 35% से अधिक मिश्रित तन्तु होने चाहिये किन्तु मज्जारहित रेशों को, जिनका व्यास 25 मामी. से कम हो, 35% से अधिक नही होना चाहिये. आदर्श कालीन बनाये जाने वाले ऊन में केम्प और लोमश रेशों की मात्रा भार के अनुसार 4% से अधिक नहीं होनी चाहिये.

गंगा-सिन्धु के मैदानों में उत्पन्न सभी ऊन आदर्श मिश्रण के नही होते. अपने उभरे रहने की क्षमता, राशि तन्यता, धागे दबने और जुटने से प्रतिरोध और अधिक काल तक चलने के कारण बीकानेरी ऊन (**नाली, मगरा** और **चोकला** का मिश्रण), संसार भर मे कालीन बनाने के लिये आदर्श ऊन माना जाता है. इसके मिश्रण का संघटन लगभग वैसा ही होता है जैसा कि आदर्श कालीन ऊन के लिये ऊपर बताया जा चुका है.

प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व देश मे कुल ऊन की कतरन का अनुमान 23,608 टन था. प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक यह मात्रा बढ़कर 26,332 टन और द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 31,780 टन हो गयी. 1963 मे विभिन्न प्रदेशों में ऊन का उत्पादन सारणी 54 मे दिया गया है

सारणी 54—भारत में 1963 में आकलित ऊन का उत्पादन*

प्रदेश	मात्रा (टनों में)
आन्ध्र प्रदेश	2,724
उत्तर प्रदेश	2,724
गुजरात	2,724
जम्मू और कश्मीर	1,362
तमिलनाडु	1,816
पंजाब	2,724
बिहार	454
महाराष्ट्र	1,816
मैसूर	1,362
राजस्थान	15,890
हिमाचल प्रदेश	908
योग	34,504

**भेड़ और ऊन विकास अधिकारी, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्,* नई दिल्ली से प्राप्त आँकड़े.

मांस

ऊन के अतिरिक्त भेड़ों से मास और दूध भी प्राप्त होता है उत्कृष्ट ऊन देने वाली भेड़ें मांस और दुग्ध-उत्पादन की दृष्टि से घटिया होती हैं. अधिक मांसदायी विरली ही भेड़ें उत्कृष्ट ऊन देती हैं. दुग्ध-उत्पादक नस्लों से मांस और ऊन दोनों ही कम मात्रा मे मिलते हैं. जो मेमने 4–5 महीने की आयु के बीच ही बड़े कद और अधिकतम भार के हो जाते हैं वे ऊँचे दामों पर बिकते हैं. मांस की मात्रा और गुणों का निर्धारण पुट्ठों, कमर, टांगों और कन्धों को टटोल कर किया जाता है. बूढ़ी भेड़ों का मांस विशिष्ट मुवास, चीमड़पन, तथा मोटी रेशेदार पेशियों के कारण अच्छा नही होता. ऐसा मांस जो मुलायम हो, रसीला हो और जिसमें चर्बी उपयुक्त किस्म की और सही मात्रा मे हो, अच्छी कोटि की श्रेणी में रखा जाता है. कम उम्र में नर मेमनों को बधिया कर

सारणी 55 – 1960–61 में भारत में वध की गयी भेड़ों की संख्या*

प्रदेश	पशुवध-गृहों में वध की गयी भेड़ों की संख्या†
असम	अप्राप्य
आन्ध्र प्रदेश	28,612
उड़ीसा	31,123
उत्तर प्रदेश	2,11,194
केरल	89,272
गुजरात	1,72,425
जम्मू और कश्मीर	अप्राप्य
तमिलनाडु	15,23,640
त्रिपुरा	1,895
दिल्ली	5,06,721
पंजाब	1,61,317
बिहार	47,856
मणिपुर	...
मध्य प्रदेश	50,442
महाराष्ट्र	15,39,611
मैसूर	4,06,061
राजस्थान	1,13,773
लक्षद्वीप द्वीप समूह	अप्राप्य
हिमाचल प्रदेश	2,970
योग	48,86,912

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य और कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

†मध्य प्रदेश (20,501) और मणिपुर (2,000) को छोड़कर अन्य प्रदेशों में पशुवध-गृहों के बाहर वध की गयी भेड़ों की संख्या के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं.

सारणी 56 – 1958–59 में भारत में मांस का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

प्रदेश	मांस वसा और अस्थियों सहित (टनों में)
असम	141.5
आन्ध्र प्रदेश	28,338.1
उड़ीसा	1,805.7
उत्तर प्रदेश	7,452.0
केरल	885.2
जम्मू और कश्मीर	473.2
तमिलनाडु	34,341.4
त्रिपुरा	12.0
दिल्ली	4,113.4
पंजाब†	4,001.8
पश्चिमी बंगाल	6,697.6
बिहार	678.9
मणिपुर	1.2
मध्य प्रदेश	5,633.7
बम्बई	40,508.9
मैसूर	19,448.0
राजस्थान	3,578.3
हिमाचल प्रदेश†	743.0
योग	1,58,853.9

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य और कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

†भूतपूर्व राज्य.

देने से पेशियों के कणों में सुधार होता है और वे मुलायम हो जाते हैं.

भारत में (राज्यवार) 1960–61 में वध की गयी भेड़ों की संख्या और 1958–59 में मांस का अनुमानित वार्षिक उत्पादन क्रमशः सारणी 55 और 56 में दिया गया है.

केवल राजस्थान से ही प्रतिवर्ष औसतन 5 लाख भेड़ें मांस के लिये बाहर भेजी जाती हैं. राजस्थान के मुख्य भेड़ निर्यात करने वाले जिले भीलवाड़ा, जैलोर, जैसलमेर और चित्तौड़गढ़ हैं. भेड़ों को स्थल और रेल मार्गों से दिल्ली, लखनऊ, अहमदाबाद और बम्बई ले जाया जाता है. राज्य में ही प्रतिवर्ष लगभग 9 लाख भेड़ों का वध होता है. राज्य से भेड़ों का निर्यात प्रायः जाड़ों (अगस्त–फरवरी) में किया जाता है जब लम्बी यात्राओं के लिये मौसम अनुकूल होता है. किसान प्रायः 8–12 महीने की आयु के भेड़ों के समूह को चुनकर पशुवध-गृहों को बेच देते हैं.

खालें

वध की गयी भेड़ों का सबसे महत्वपूर्ण और मूल्यवान गौण-उत्पाद खाल है. भारत में 1961 में भेड़ों की खालों का राज्यवार अनुमानित वार्षिक उत्पादन सारणी 57 में दिया गया है. अनुमानतः राजस्थान में प्रतिवर्ष लगभग 14 लाख भेड़ों की खालों का उत्पादन और तैयारी होती है. भेड़ों की खालें बटुवे, महिलाओं के हैंड-बैग, हैटों के पट्टे और पार्चमेण्ट आदि उपयोगी वस्तुओं के बनाने के लिये अत्युत्तम कच्चे माल का काम करती हैं. भेड़ की खाल से जूतों के ऊपरी चमड़ों की कुछ किस्में, धौंकनियाँ और मशक भी बनाये जाते हैं. कुछ कच्ची खालें ढोलक और तबले बनाने के काम में लायी जाती हैं. उचित रूप से चमड़ा उतारने, कमाने और चर्म-शोधन से खालों का व्यापारिक मूल्य बढ़ जाता है.

दूध

बकरियों की तुलना में भेड़ें कम दूध देती हैं. कश्मीर की पुंछ, पंजाब की लोही और उत्तरी गुजरात के रेतीले जिलों की कच्छी के अतिरिक्त किसी भी अन्य नस्ल से पर्याप्त मात्रा में दूध नहीं मिलता. उनमें इतना ही दूध होता है कि मेमने पी सकें. ऊपर दी गयी भेड़ों की तीन नस्लों से प्राप्य दूध की मात्रा तथा उसके उपयोग के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं.

सारणी 57–भारत में 1961 में भेड़ की खालो का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

प्रदेश	भेड़ की खाले (हजार मे)
असम	15
आन्ध्र प्रदेश	2,666
उड़ीसा	203
उत्तर प्रदेश	1,028
केरल	18
गुजरात	1,447
जम्मू और कश्मीर	88
तमिलनाडु	3,040
दिल्ली	284
पंजाब	374
पश्चिमी बंगाल	482
विहार	111
मध्य प्रदेश	587
महाराष्ट्र	2,152
मैसूर	1,827
राजस्थान	1,069
हिमाचल प्रदेश	149
अडमान, निकोबार, लक्षदीव द्वीप, मणिपुर, त्रिपुरा, आदि	2
योग	15,542

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य और कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

अनुसंधान और विकास

देश की आर्थिक व्यवस्था में भेड-उद्योग का महत्वपूर्ण योगदान है इसलिये भेडो के सुधार के लिये क्षेत्रीय आधार पर अनुसंधान योजनाये बनायी गयी है द्वितीय पचवर्षीय योजना मे अनुसंधान पर 1.5 करोड रुपये व्यय होने थे जिसमे से 90 लाख रुपये व्यय हुये. तृतीय पचवर्षीय योजना के प्रथम तीन वर्षो मे 82 लाख रुपये व्यय किये गये. इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ने तृतीय पचवर्षीय योजना की अवधि मे भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् के माध्यम से अनुसंधान योजनाओं को 15 लाख रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान की. राज्य सरकारो को भी इन योजनाओं मे इतनी ही धनराशि लगानी थी.

1937 से ही भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, भारत की कुछ महत्वपूर्ण भेड नस्लों की कार्य-क्षमता का अध्ययन कर रही है, तथा प्रयोग के रूप में विदेशी उत्तम ऊन वाली भेडो को प्रविष्ट करने की सम्भावनाओ पर विचार कर रही है जिससे उत्तम, एक समान ऊन की अधिक प्राप्ति हो सकने वाली नस्ल का विकास हो सके. 1952 मे परिषद् द्वारा किये गये अध्ययन की प्रमुख विशिष्टताओं का सारांश नीचे दिया गया है.

ऊन–जलवायु के अनुसार हिमालयी क्षेत्र वस्त्र बनाने योग्य ऊन के उत्पादन के लिये सबसे उपयुक्त है. इसलिये इस क्षेत्र मे **ऑस्ट्रेलियन मेरिनो**, अति विकसित अमेरिकी **रेम्ब्युलेट**, रूसी **स्टेवेरोपोलस्किया**, **पोलवार्थ** जैसी उत्तम ऊन वाली नस्लो को लाकर और स्थानीय नस्लो को विदेशो से लाये गये मेढो के साथ सकरित करके उत्तम ऊन वाली नयी नस्लो के विकास के यत्न किये गये है. जम्मू और कश्मीर मे बनिहाल और डाचीगाम, हिमाचल प्रदेश मे सराहन और उत्तर प्रदेश मे पीपल-कोठी मे स्थित भेड प्रजनन अनुसंधान केन्द्रो मे एक समन्वित प्रायोगिक प्रजनन कार्य प्रारम्भ किया गया हे. इन तीनो ही स्थानो पर किये गये प्रयोगो से यह स्पष्ट हो चुका है कि द्वितीय पीढी के श्रेणीकृत मेढो से प्राप्त ऊन की कतरन का भार 3.2–3 5 किग्रा. तक होता है, जबकि प्रथम पीढी के श्रेणीकृत मेढो से उतारी कतरन का भार केवल 1.4–1 8 किग्रा है, और स्थानीय भेडो से केवल 0 5–0.7 किग्रा. कतरन प्राप्त होती है. सकरित सतति से प्राप्त कतरनें लोमश रेशो से मुक्त और अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे एक-से रेशो वाली होती है. इनकी कोटि 56 से 60 गणना की और रेशे की लम्बाई 88 9 मिमी. होती है सकरित मेढो को गाँवों मे रखने से सततियो की कतरनो के ऊन-भार मे 30–80% तक की वृद्धि हुयी है. इन क्षेत्रो मे विभिन्न फार्मो से, ग्रामीण क्षेत्रों मे वितरण के लिये प्रतिवर्ष 25–30 उत्कृष्ट मेढे पैदा होते हैं और अभी तक कुल 1,200 सकरित मेढे वितरित किये जा चुके है.

शुष्क उत्तरी क्षेत्र मे उत्कृष्ट ऊन देने वाली भेडो के पाले जाने की सम्भावनाये है. किन्तु इस क्षेत्र से उत्पादित ऊनो का दोष है कि उनमे मोटे लोमश रेशे रहते है और रेशे एक से नही होते. जोरबीर (राजस्थान), पाटन (गुजरात) और हिसार (हरियाणा) मे ऐसी नस्लो के विकसित किये जाने का चुनिंदा प्रजनन कार्य प्रारम्भ हुआ है जिनसे कपडो या उच्चकोटि के कालीनो के लिये एक समान और बालो से मुक्त ऊन प्राप्त हो सके.

जोरबीर मे **चोकला** भेडे प्रायोगिक प्रजनन के लिये प्रयोग मे लायी जा रही है. राजस्थान मे **मगरा**, **मारवाड़ी** और **जैसलमेरी** भेडो के नये विभेद भी विकसित किये जा रहे है. पाटन मे जोरिया क्षेत्र की प्रमुख नस्ल **कच्छी** भेड प्रायोगिक कार्यो के लिये प्रयुक्त हो रही है. इस फार्म की भेडो से लगभग 0 9 किग्रा., 50–54 गणना का और 63 5–76 2 मिमी. लम्बे रेशो वाला ऊन प्राप्त होता है. राजकीय पशुधन फार्म, हिसार मे बीकानेरी भेड के एक नये विभेद का विकास हुआ है जिसमे एक-सा बालरहित ऊन प्राप्त हो सकता है. पंजाब राज्य की भेड विकास योजना के अन्तर्गत इस विभेद का प्रवर्धन किया जा रहा है. इसी प्रकार का कार्य उत्तरी गुजरात के सौराष्ट्र और कच्छ क्षेत्रों मे किया जा रहा है.

नीलगिरि क्षेत्रो (जहा समशीतोष्ण जलवायु मे लायी गयी विदेशी नस्लो को पालने की प्राकृतिक सुविधायें हैं) की कुछ हजार भेडो के अतिरिक्त, दक्षिणी क्षेत्र की अधिकतर भेडो से मोटे और रगीन ऊन की प्राप्ति होती है. भेड प्रजनन फार्म, पूना (महाराष्ट्र) और भेड अनुसंधान केन्द्र, ऊटकमंड (नीलगिरि) दोनो में ही भेडो का प्रजनन कार्य चालू किया गया है.

भेड प्रजनन फार्म, पूना में **दक्कनी** भेडो के एक ऐसे रेवड का विकास किया गया है जिससे श्वेत, कम बालदार उत्कृष्ट कोटि की कतरन प्राप्त होती है. स्थानीय नस्लो को **मेरिनो** और **रेम्ब्युलेट** मेढो से भी सकरित किया गया है जिसके फलस्वरूप द्वितीय पीढी

में श्रेणीकृत संतति प्राप्त हुयी है. मेरिनो से प्राप्त संकरित विभेदों के पुनः संकरण से दो भिन्न-भिन्न विभेद प्राप्त हुये हैं. बड़े कद का जिससे मध्यम श्रेणी का लम्बे रेशों का ऊन मिलता है तथा छोटे कद का जिससे कम लम्बा तथा अपेक्षाकृत उत्तम ऊन मिलता है. दक्षिणी क्षेत्र की जलवायु में इन दोनों विभेदों को स्थायी करने के लिये इनके बीच चुनिंदा प्रजनन कार्य किया जा रहा है. मेरिनो या रेम्ब्युलेट मूल से प्राप्त संकरित मेढ़ों में ऊन की कतरन का भार बढ़कर 311–567 ग्रा. तक हो जाता है. अधिकांश संतति से 40ˢ से 48ˢ गणना की कोटि का कपड़े बनाने योग्य श्वेत ऊन प्राप्त होता है (सारणी 58).

भेड़ अनुसंधान केन्द्र, ऊटकमंड में स्थानीय भेड़ों को **रोमनी-मार्श** मेढ़ों से संकरित किया गया है. संकरित संतति में स्थानीय भेड़ों की अपेक्षा तीव्र वृद्धि होती है और एक समान लम्बे रेशों वाले (114–152 मिमी. लम्बाई और 25.5–28 मामी. व्यास) ऊन की अधिक मात्रा (2.7 किग्रा./वर्ष) प्राप्त होती है.

पूर्वी क्षेत्र में गौरीकर्मा (बिहार) में **छोटा नागपुरी** और **शाहाबादी** भेड़ों का संकरण **रोमनी-मार्श** मेढ़ों के साथ किया जा रहा है. स्थानीय भेड़ों की तुलना में संकरित संतति से दुगने ऊन की प्राप्ति बतायी जाती है. कालिम्पांग के निकट भेड़ फार्म में भी स्थानीय भेड़ों को काले मुख वाले स्काच मेढ़ों से संकरित करने के परीक्षण किये जा रहे हैं. शिलांग के निकट पशुधन फार्म पर संकरित **रोमनी-मार्श** भेड़ों का एक छोटा रेवड़ पाला जा रहा है. इस फार्म पर उत्पन्न मेढ़े इस जिले के भेड़ पालकों को प्रजनन हेतु दिये जाते हैं.

उत्तरी भारत की भेड़ नस्लों के कच्चे ऊनों के पीला पड़ने के लिये जो कारण उत्तरदायी हैं उनकी खोजबीन के लिये भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा जयपुर (राजस्थान), श्रीराम औद्योगिक अनुसंधान संस्थान, दिल्ली, और केन्द्रीय चर्म अनुसंधान संस्थान, मद्रास में एक समन्वित योजना चलायी गयी है. जयपुर में ऊनों के पीले पड़ने के सम्बन्ध में क्षेत्र अनुसंधान किये जा रहे हैं जबकि अन्य दो प्रयोगशालाओं में रासायनिक खोजें हो रही हैं.

उष्ण और आर्द्र मौसम में मेढ़ों की अपेक्षा भेड़ों में ऊन जल्दी पीला पड़ने लगता है. **चोकला** जैसी सघन ऊन वाली कुछ नस्लों में पीलापन अधिक गहरा होता है.

ऊन के पीलेपन को मुख्य रूप से कनारी (चटक पीले) रंग, सुनहरे रंग, जीवाणुओं के कारण बदरंग, पीलेपन तथा प्रकाश और ताप के कारण पीलेपन में वर्गीकृत किया गया है. सफेद ऊन, 105° पर 15–60 घण्टे गर्म करने पर धीरे-धीरे पीला पड़ जाता है. सुनहरे बदरंग ऊन को केवल अपघर्षण द्वारा धोकर सफेद बनाया जा सकता है. कनारी रंग के ऊन की लटों के रेशों में तीन भाग होते हैं: नीचे का पीला भाग, ऊपर का श्वेत भाग और मध्य भाग जिसमें कि पीले और श्वेत रंग अस्पष्ट रूप से मिले रहते हैं. रेशे प्रायः मध्य भाग में कमजोर होते हैं और उनके निचले हिस्से में ऊपर की अपेक्षा अधिक नमी बनाये रखने की क्षमता होती है. कतरने के काफी समय बाद तक भी ऊन के इस भाग में नमी बनी रहती है. प्राकृतिक कनारी रंग के ऊन के पीले रंग के रेशे और रंगे हुये रेशे की आड़ी काटों के विन्यास के सूक्ष्मदर्शीय परीक्षण से दोनों को पहचाना जा सकता है. जिस ऊन के तन्तु में कृत्रिम रंग होता है उसके वल्कुट में पीला रंग गाढ़ा होता है जबकि प्राकृतिक कनारी रंग के ऊनों में यह फैला हुआ रहता है. विरंजन सम्बन्धी अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि कनारी पीले ऊनों के दो प्रकार हैं : रोधी तथा कम-रोधी. सूर्य के प्रकाश में खुला रखने पर कम-रोधी ऊन, रोधी ऊनों की अपेक्षा तीव्रता से हल्के पड़ जाते हैं. कम-रोधी ऊनों को उत्तम सफेद और रोधक ऊनों को पीताभ-श्वेत छायाभास तक विरंजित करना संभव हो सका है (केन्द्रीय चर्म अनुसंधान संस्थान, मद्रास से प्राप्त सूचना).

कनारी रंग के ऊनों के नमूनों के स्पेक्ट्रमी अभिलक्षण क्षार उपचारित ऊनों से भिन्न पाये गये हैं. जिससे विदित होता है कि कनारी पीलापन क्षार-उपचार-जन्य नहीं होता. मुक्त गन्धक या लैन्थियोनीन की मात्रा बढ़ने से भी कनारी पीले ऊनों के बराबर पीलापन नहीं आ पाता. टायरोसीन और ट्रिप्टोफेन जैसे ऐमीनो अम्लों के ऑक्सीकरण से भी कनारी पीलापन नहीं उत्पन्न हो पाता. सूर्य का प्रकाश, गर्मी और नमी जैसे बाहरी कारक भी प्रत्यक्ष रूप से कच्चे ऊन में पीला रंग उत्पन्न नहीं करते हैं. आनुवंशिकी और प्राकृतिक घटक मिलकर ऊन में पीला रंग उत्पन्न करने में सहायक बताये जाते हैं. श्रीराम औद्योगिक अनुसंधान संस्थान, दिल्ली में किये गये नये शोध कार्यों से पता चला है कि

सारणी 58 – मेरिनो या रेम्ब्युलेट संकरित मेढ़ों के प्रयोग से ऊनों की मात्रा और गुण में सुधार*

विभेद	ऊन की प्राप्ति (ग्रा./वर्ष)	ऊन के रेशे/वर्सेमी.		ऊन का व्यास (μ)		कोटि (मज्जा)		गणना
		परास	औसत	परास	औसत	परास	औसत	
दक्कनी—स्थानीय	392	280–1,323	516	26–68	41	5–94	47	36ˢ–40ˢ
चुनिंदा दक्कनी	700	472–1,030	666	26–50	35	0–47	46	44ˢ–56ˢ
दक्कनी × मेरिनो संकर$_1$	784	500–1,200	928	29–31	30	2–8	6	50ˢ
दक्कनी × मेरिनो संकर$_2$	728	1,276–4,530	2,871	19–28	24	0–5	2	60ˢ
रेम्ब्युलेट × दक्कनी	476	471– 821	719	33–42	40	0–54	19	...
दक्कनी × रेम्ब्युलेट संकर$_1$	1,090	915–1,895	1,181	24–30	27	1–12	5	...

*भेड़ और ऊन विकास अधिकारी, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्राप्त आँकड़ों से.

शरद्कालीन ऊन की कतरनो मे उच्च ऊर्ण-वसा की मात्रा के कारण ही, यदि ऊन मे चर्वी की मात्रा निम्न हो तो कनारी रग पैदा हो जाता है. कनारी रग स्वेद ग्रथियो से स्रवित पदार्थ मे रजको के प्रवेश के कारण पैदा होता है. यह प्रक्रिया जलवायु, चरागाहो, पोषण और आनुवशिकी पर निर्भर रहती है. कनारी ऊनो की (जो कि क्षारीय होते हैं) ऊर्ण-वसा मे एक ऐसा पदार्थ रहता है जो परावैंगनी प्रकाश मे प्रतिदीप्ति उत्पन्न करता है. रेशे मे चर्वी की मात्रा और ऊर्ण-वसा मे रजको की मात्रा मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं जिससे कनारी रग भी भेडो की कुछ नस्लो मे वार-वार प्रगट होता रहता है. सारणी 59 मे भारत मे **नाली** नस्ल की भेडो की वसन्त और शरद्कालीन कतरनो मे चर्वी और ऊर्ण-वसा की मात्रा दी गयी है.

कनारी रग के लिये उत्तरदायी ऊर्ण-वसा के रजको की प्रकृति को समझने के लिये रजको को पृथक् करके उनके गुण ज्ञात करने के प्रयत्न किये गये है. यदि रेशो और रजको के वीच वधता हाइड्रोजन वन्धो द्वारा हुयी तो रजक पदार्थ को हाइड्रोजन वन्ध विच्छेदक विलायको जैसे कि डाइमेथिल-फार्मामाइड द्वारा निष्कर्षित किया जा सकता है. यदि वन्धता सह-सयोजक वन्धो से हो तो ऊन का जल-अपघटन करके तन्तु और रजको के बीच के सभी सह-सयोजक वन्धों को विच्छेदित करने के पश्चात् ही रजको को किसी उपयुक्त विलायक के द्वारा निष्कर्षित किया जा सकता है. वेजीन, एथिल-ऐसीटेट, कार्वन टेट्राक्लोराइड, ट्रेटाहाइड्रोफ्यूरान और डाइमेथिल-फार्मामाइड जैसे विलायको द्वारा ऊन से रंजको का निष्कर्षण असफल रहा है किन्तु ऊन को 0 1 N NaOH मे भिगोकर, उसे ऐथिल-मेथिल कीटोन से निष्कर्षित करके कुछ पीले रजक पदार्थ पृथक् किये जा सके हैं. निष्कर्षित रंजको मे कोई भी ऐमीनो अम्ल नही पाये जाते, और ये रजक 64^s गणना वाले मेरिनो ऊन को पीला रंग प्रदान करते है. इस प्रकार रगे हुये ऊन से किसी भी विलायक द्वारा कोई रजक पदार्थ नही निकाला जा सका हे. रंजक पदार्थ और रगा हुआ ऊन दोनो ही अपने स्पेक्ट्रमी अभिलक्षणो मे कनारी रग के ऊन से मिलते-जुलते हैं.

राजस्थान में जव जून–सितम्वर मे भेडो का ऊन पीला होने लगता हे तव उनको प्रति मास एक या दो वार नहला देने से उनका रग हल्का होकर गहरे पीले से पीलापन लिये हुये सफेद हो जाता है. ऊन की लम्वाई वढने से पीलापन भी वढता है, इसलिये वसन्त ऋतु में यथासंभव विलम्वित कतरायी (किन्तु अप्रैल के पहले सप्ताह के वाद नही) करने से गर्मी मे पीलापन कम हो जाता है. पीले ऊन की दूसरी कतराई सितम्वर के दूसरे सप्ताह के पूर्व ही की जानी चाहिये और कतराई को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिये कि पीले ऊन की वाढ कम से कम हो.

मेरिनो भेड से सकरण करने से ऊन मे चर्वी की मात्रा वढती है, जिससे ऊन कम रजित होता है. अत: भेड की ऐसी नस्लो का विकास करके कनारी ऊन के अपघटन को संभवत: घटाया जा सकता है, जिनमे ऊन की वृद्धि और उत्तमता के साथ ही साथ चर्वी की मात्रा अधिक हो.

मांस – मासदायी नस्लो के विकास के लिये विभिन्न प्रदेशो मे मुख्यत: महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु मे एक समन्वित अनुसंधान योजना चल रही है. मासदायी नस्लो, यथा, वांद्रूर, **नेल्लोर** और **मेशेरी** के मांस-उत्पादन पर लिंग, प्रजनक और आयु

सारणी 59 – नाली ऊन में चर्वी, ऊर्ण-वसा और रंजक की मात्रायें*

नमूना	पीलेपन की कोटि†	ऊर्णवसा का पी-एच	ऊर्णवसा (%)	चर्वी (%)	चर्वी परत की औसत मोटाई (μ)	रंजक (रेशे के भार का %) ऊर्णवसा मे (क)	रेशे मे (ख)	योग (क+ख)
वसन्त कतरन								
निचला भाग	0.6	9.3	47.3	17.3	1.74	2.11	0.05	2.16
ऊपरी भाग	0.8	8 2	43 0	6.3	0.74	2.46	0.05	2.51
शरत कतरन								
गहरी पीली लटे								
निचला भाग	8 4	10.1	14.0	2.7	0.31	0.30	0.83	1.13
ऊपरी भाग	2 5	9.8	8.0	0.5	0 06	0.22	0 33	0.55
मध्यम पीली लटे								
निचला भाग	6.1	10 0	7.0	1.2	0.14	0 24	0 55	0.79
ऊपरी भाग	2 0	9.6	4 5	0.4	0 05	0.08	0.26	0 34
अति हल्की पीली लटे								
निचला भाग	1.9	9.8	5.0	1.4	0.17	0.07	0.12	0.19
ऊपरी भाग	1.2	8 8	4 0	0.4	0.05	0 04	0.06	0.10

* Gupta & Bhan, *Wool & Wool. India* (Spec No), 1968, 5(2), XXXIX.

† पीलेपन की कोटि की गणना $\frac{(R_{550}-R_{425})}{(R_{550}-R_{425})}\times 100$ सूत्र से की गयी जहां R उस तरंगदैर्घ्य पर परावर्तकता (MgO के संदर्भ में) है (परावर्तकता मापन बॉश और लोम्ब स्पेक्ट्रानिक-20 स्पेक्ट्राफोटोमीटर पर किये गये).

के प्रभाव और मांस के गुणों के सुधार के लिये विदेशी नस्लों के प्रवेश के सम्बन्ध में खोज हो रही है.

भेड़ फार्म, खायावाड़े (पूना) में **बांदूर** नस्ल के साथ किये गये अध्ययन से पता चला है कि विभिन्न आयुओं पर संसाधित मांस की प्रतिशतता नहीं बदलती. अफ़गानिस्तान की **टर्की** और **गलजबी** सर्वोत्तम मांसदायी नस्लें हैं. इनमें से कुछ **बांदूर** नस्ल को संकरित करने के लिये आयात की गयी हैं. भेड़ प्रजनन अनुसंधान केन्द्र चिन्यापल्ली (आन्ध्र प्रदेश) में **नेल्लोर** और **मांड्या** नस्ल की भेड़ों पर मांस उत्पादन की दृष्टि से अध्ययन हो रहा है. उनके शवों के अध्ययन से पता चला है कि टांगें और जोड़ संसाधित किये गये भार का एक-तिहाई होते हैं. भेड़ फार्म, चिंगलपेट (तमिलनाडु) में **मेशेरी** भेड़ें **मांड्या** भेड़ों के साथ संकरित की गयी हैं और उनसे प्राप्त होने वाले मांस पर अध्ययन किया जा रहा है.

भारत में 1960–61 से 1975-76 तक में होने वाली भेड़ों की संख्या और प्राप्य मांस तथा ऊन के अनुमान सारणी 60 में दिये गये हैं.

खालें – ऊन संघटन के परिपेक्ष्य में खालों की ऊतिकी के अध्ययन की एक समन्वित अनुसंधान योजना, उत्तर प्रदेश (लखनऊ), राजस्थान (बीकानेर) और महाराष्ट्र (पूना) में चालू है. इस योजना का ध्येय विभिन्न प्रकार की पुटिकाओं की वृद्धि और उनके विकास का अध्ययन और ऊन के लक्षणों को खाल संरचना के प्रतिरूप से सह-सम्बन्धित करना है.

प्रजनन – भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में संकरण की एक योजना का प्रयास किया जा रहा है. न्यूजीलैंड ने "भूख के विरुद्ध अभियान" (फ्रीडम फ़्रॉम हंगर कैम्पेन) प्रोग्राम के अन्तर्गत 410 **रोमनी-मार्श** और **साउथडाउन** भेड़ों का एक रेवड़

सारणी 60 – भारत में मांस और ऊन की सम्भावित प्राप्ति* (1960–76)

	1960–61	1965–66	1970–71	1975–76
भेड़ों की संख्या (लाखों में)	402.6	431.0	463.1	52.10
वध के लिये उपलब्ध संख्या (लाखों में)	136.8	146.5	162.1	182.1
औसत संसाधित भार (किग्रा. में)	9.6	10.03	10.62	11.26
कुल मांस की प्राप्ति (टनों में)	1,31,842	1,46,886	1,72,207	2,04,917
ऊन की औसत प्राप्ति (ग्रा.)	826	876	922	972
कुल ऊन उत्पादन (टनों में)	33,260	37,707	42,637	49,535

*पशुपालन के लिये चतुर्थ पंचवर्षीय योजना, खाद्य और कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली द्वारा बनायी गयी कार्य समिति की रिपोर्ट.

भेंट किया है. इन भेड़ों को उपयुक्त अनुसंधान फार्मों पर रखा गया है जहाँ इन्हें भारतीय जलवायु से अनुकूलित करके संकरण परीक्षणों के लिये तैयार किया जा रहा है. संकरित विभेद स्थानीय भेड़ों को उन्नत करने के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में वितरित कर दिये जायेंगे. संयुक्त राज्य अमेरिका से भी 400 **रेम्ब्युलेट** भेड़ों का एक रेवड़ इसी योजना के अन्तर्गत भेंटस्वरूप आया है जो केन्द्रीय भेड़ और ऊन अनुसंधान संस्थान, मालपुरा (राजस्थान) में रखा गया है.

1958 से सोवियत संघ से प्राप्त भेड़ों की कुछ नस्लों पर परीक्षण किये जा रहे हैं. इनमें सोवियत **मेरिनो**, **स्टेवेरोपोलास्किया** (सोवियत **रेम्ब्युलेट**) और **ग्रुवाइशेव** (सोवियत **रोमनी-मार्श**) प्रमुख हैं. 1964 में 428 सोवियत **मेरिनो** भेड़ों का एक रेवड़ राज्य व्यापार निगम के द्वारा आयात किया गया जिसका उपयोग स्थानीय भेड़ों को उन्नत बनाने में किया जा रहा है.

प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व देश में चार भेड़ प्रजनन फार्म थे जहाँ छोटे पैमाने पर भेड़ों की विदेशी नस्लों को बसाकर परीक्षण किये जाते थे. द्वितीय पंचवर्षीय योजना के काल में मेढ़ों के उत्पादन के लिये 10 बड़े भेड़ फार्म और 29 छोटी प्रजनन इकाइयाँ स्थापित की गयीं. 1969 तक 51 फार्म और 19 मिश्रित पशुधन फार्मों में उत्कृष्ट भेड़ों के रेवड़ पाले जा रहे थे. सारणी 61 में इन फार्मों का राज्यवार विवरण दिया गया है. प्रत्येक फार्म पर अब ऐसी सुविधायें प्राप्त हैं कि प्रतिवर्ष वे कम से कम 25 उत्कृष्ट मेढ़े पैदा कर सकें और मेढ़ों का कुल उत्पादन 2,500 हो.

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भेड़ और ऊन प्रसार केन्द्रों के द्वारा रेवड़ के स्वामियों से सीधा सम्पर्क बनाने के प्रयास किये गये. योजना के अन्तिम कुछ वर्षों में इस प्रकार के 305 केन्द्र खोले गये. प्रत्येक केन्द्र को आसपास के क्षेत्रों की 3,000 से 4,000 भेड़ों की देखरेख करनी पड़ती थी. तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 137 अतिरिक्त केन्द्रों की स्थापना हुयी. प्रत्येक केन्द्र 10,000–15,000 भेड़ों की देखरेख करता है. इस प्रकार 70 लाख से 1 करोड़ भेड़ें 'भेड़ और ऊन सुधार' योजनाओं के अन्तर्गत आ जाती हैं. इस समय 439 भेड़ और ऊन प्रसार केन्द्र (मेढ़ों के केन्द्रों को सम्मिलित करते हुये) हैं और इन केन्द्रों में 14,000 मेढ़े हैं. फलस्वरूप तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में 2.5 लाख सुधरी हुयी संतति का जन्म हुआ.

विविध – ऊन के आयात को यथासंभव घटाने और देशी ऊनों के उचित विपणन के लिये, ऊन कतरने और ऊन को श्रेणीकृत करने की एक योजना राजस्थान में बड़े पैमाने पर आरम्भ की गयी है. ऊन श्रेणीकरण और विपणन के प्रशिक्षण के लिये एक और केन्द्र जयपुर में स्थापित किया गया है. नवलगढ़ में एक ऊन श्रेणीकरण केन्द्र और जयपुर में एक विपणन केन्द्र भी स्थापित किया जा रहा है. आशा की जाती है कि यह श्रेणीकरण और विपणन केन्द्र, अपनी देखभाल में रखी गयी लगभग 1 करोड़ भेड़ों से प्राप्त कुल ऊन की मात्रा को संभाल सकेंगे.

पूना में स्थापित, एक प्रशिक्षण केन्द्र राज्य सरकारों से प्रतिनियुक्त अधिकारियों को भेड़ और ऊन उत्पादन के आधारभूत पक्षों, जैसे भेड़ों के प्रजनन की प्रणालियाँ, फार्म व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था, चारा उत्पादन, भेड़ों का स्वास्थ्य आदि पर प्रशिक्षण देता है.

सारणी 61—भारत में भेड़ फार्म और प्रजनन इकाइयां*

प्रदेश	भेड़ फार्म	प्रजनन फार्म या इकाइयां	ऊन या प्रजनन अनुसंधान केन्द्र
असम	डिफू	...	...
आन्ध्र प्रदेश	पेनूकोंडा	महवूबनगर, चिन्तल देवी	ऊन टेक्नालाजिकल प्रयोगशाला राजेन्द्र नगर, हैदरावाद
उड़ीसा	...	चिपलिमा	...
उत्तर प्रदेश	वारापेष्टा (पिथोरागढ़)	मथुरा, पांगू (पिथोरागढ़), केदारकंठ (चमोली), डुंडा (उत्तर काशी), कासमी (अल्मोड़ा), चकराता (देहरादून), सैदपुर (झांसी), माल्जदूर (मथुरा), वावूगढ़ (मेरठ)	केन्द्रीय भेड़ और ऊन अनुसंधान केन्द्र, पशुलोक, चमोली
गुजरात	नखताराना	पाटन, मोरवी	...
जम्मू और कश्मीर	वनिहाल, विल्लावर, डाचीगाम	अण्डेरवार	...
पश्चिमी वंगाल	...	कालिमपोंग, कल्याणी	...
विहार	...	टेकरा (गया), गौरीकर्मा, छत्रा	...
तमिलनाडु	कुट्टुपकम, सत्तूर, नानगुनेरी	होसर, चेट्टिनाड, पडुकोट्टाई, अभिशेकपट्टी	ऊटकमंड, छिन्नसलेम उपकेन्द्र (केन्द्रीय भेड़ और ऊन अनुसंधान संस्थान, कोडाईकनाल)
मध्य प्रदेश	...	टीकमगढ़, मंदसौर, शिवपुरी	...
महाराष्ट्र	रंजनी	कोल्हापुर, तुल्जापुर, औरंगावाद, ताथावड़े (पूना), पड़ेगांव, मुडुद, पोहोर, भीलाखेड	...
मैसूर		अंगवादी (जिला वीजापुर), सुल्ताती (वेलगांव जिला), धंगूर (मंड्या जिला), हेसार घाटा	...
राजस्थान	कोडमडेसर, मंडोर, पोकरन, जोरवीर, जयपुर	...	केन्द्रीय भेड़ और ऊन अनुसंधान संस्थान, मालपुरा
हरियाणा	...	हिसार	...
हिमाचल प्रदेश	...	सिराजकूलू, हमीरपुर, जिओरी (सराहन), करछम, किन्नौर, चम्बा	केन्द्रीय भेड़ और ऊन अनुसंधान संस्थान, कुल्लू का उपकेन्द्र

*भेड़ और ऊन विकास अधिकारी, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली से प्राप्त आँकड़े.

भेड़ पालन, भेड़ प्रजनन और ऊन तकनीक पर अध्ययन करने के लिये मालपुरा (राजस्थान) में एक केन्द्रीय भेड़ और ऊन अनुसंधान संस्थान आरम्भ किया गया है जिसके दो उपकेन्द्र, एक हिमाचल प्रदेश की कुल्लू घाटी में और दूसरा तमिलनाडु के कोडाईकनाल में हैं.

बकरियाँ

बकरियाँ, भेड़ों की समवर्गी हैं किन्तु उनसे अधिक सहिष्णु और फुर्तीली होती हैं. बकरों की ठोड़ी के नीचे बालों का गुच्छा होता है. आजकल की बकरियाँ एशिया और यूरोप की (कैप्रा जातियों की) जंगली बकरियों की एक या अधिक किस्मों की वंशज बतायी जाती हैं. ये मनुष्य द्वारा पाले जाने वाले पहले पशुओं में से है.

बकरियाँ आर्थिक दृष्टि से लाभकारी होती हैं. इनसे दूध, मांस, बाल तथा चमड़ा मिलता है. अनेक प्रकार के पौधों को कुतरने की आदत के कारण बकरियों से वनरोपण के क्षेत्रों मे अधिक हानि होती है. बकरी-पालन का कार्य सस्ता होता है और भारत में यह बहुत से भूमिहीन श्रमिकों का प्रमुख व्यवसाय है. बकरी ने अपने को देश के सभी क्षेत्रों की प्राकृतिक दशाओं के अनुकूल ढाल लिया है. देश के कुछ क्षेत्रों में दूध देने वाली नस्लें पाली जाती हैं, लेकिन अधिकतर बकरियाँ मांस के लिये ही पाली जाती हैं. बकरियों का दूध आसानी से पच जाता है और यह बच्चों, बीमारों तथा बूढ़ों के लिये अच्छा होता है. बकरियाँ अधिक बच्चे देती हैं. ये 14 महीने में दो बार ब्याती हैं और प्रत्येक बार में दो या तीन बच्चे देती हैं. इस प्रकार बकरी पालने वाले को निश्चित रूप से आमदनी होने का भरोसा रहता है.

1966 की पशु-गणना के अनुसार भारत में 6,411 करोड़ बकरियाँ थीं जो कि विश्व की समस्त बकरियों की संख्या की लगभग एक-चौथाई हैं (सारणी 62). बकरियों की कुल संख्या में 1956 से 1961 तक 9.8% तथा 1961 से 1965 तक 5.1% की वृद्धि हुयी. बकरियों की सबसे अधिक घनी आबादी पश्चिमी बंगाल में है, इसके बाद उत्तर प्रदेश, केरल और तमिलनाडु का स्थान आता है. 1961 में भारत में बकरी के दूध का अनुमानित वार्षिक उत्पादन 6,28,150 टन तथा एक ब्यांत (दूध देने की अवधि) में प्रति बकरी औसतन 58 किग्रा. था. बकरियों से 3,19,496 टन मांस (1958–59 के लिये अनुमानित), उत्पादन के अतिरिक्त 9.8 करोड़ रुपये के मूल्य की 3.1 करोड़ खालें तथा 1.07 करोड़ रुपये के मूल्य के 7,580 टन बाल भी प्राप्त हुये (1961 के लिये पहले से किये गये काम चलाऊ आकलन के अनुसार). देश की ग्राम्य अर्थव्यवस्था बकरियों की संख्या तथा उनकी देखरेख पर बहुत कुछ निर्भर है.

देश में अधिकतर बकरियाँ अज्ञात कुल की हैं. यद्यपि कुछ क्षेत्रों में उत्तम नस्लें भी पायी जाती हैं. हिमालय क्षेत्र, शुष्क उत्तरी भाग, दक्षिणी भाग और पूर्वी भाग, ये चार ऐसे प्रमुख क्षेत्र हैं जहाँ विशेष प्रकार की नस्लें भली प्रकार पाली जाती है. भारत में बकरियों की 15 नस्लें पायी जाती है.

भारतीय नस्लें

हिमालय क्षेत्र, जिसमें जम्मू और कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, पंजाब और उत्तर प्रदेश सम्मिलित हैं, उच्च गुणों के बालों वाली कुछ विशिष्ट नस्लों की बकरियों के लिये विख्यात हैं. सफेद बालों वाली हिमालयी बकरी पुष्ट देह वाली होती है. इसके बधिया बकरों का उपयोग पर्वतीय क्षेत्रों में व्यापारिक माल ढोने के लिये किया जाता है. इनसे उपलब्ध होने वाले बालों से भी आय होती है. पाले जाने वाले स्थानों के अनुसार इन नस्लों के तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं : **चम्बा, गद्दी और कश्मीरी**. ये काँगड़ा और कुल्लू की घाटियों, चम्बा, सिरमूर और हिमाचल प्रदेश में शिमला तथा जम्मू की पहाड़ियों के भागों में पायी जाती हैं. छोटी पश्मीना बकरी छोटे कद की, सुन्दर, तेज चलने वाली तथा अद्वितीय होती है और हिमालय में 3,350 मी. से अधिक ऊँचाई पर तथा तिब्बती पठार पर पाली जाती है. गिलगिट, लद्दाख और हिमाचल प्रदेश में लाहूल तथा स्पिती घाटियों मे भी यह बड़ी संख्या में पायी जाती हैं. तिब्बती शरणार्थियों के आगमन से पहले यह अनुमान लगाया गया था कि लद्दाख मे 50,000 बकरियाँ पाली जाती थीं और अब यह संख्या बढ़कर 1,80,000 हो गयी है. बकरियों के झुंड मुख्यतया लद्दाख के चाँगथाँग इलाके में 3,660–4,270 मी. की ऊँचाई पर पाले जाते हैं. इनसे अत्यन्त मुलायम और गरम पशु-रोयें प्राप्त होते हैं जिनका प्रयोग कश्मीर और कुल्लू घाटियों में अच्छे किस्म के कपड़े बनाने में किया जाता है. सर्दी के बाद कंघा करने से बकरी के नीचे की सुन्दर खाल निकल आती है. इससे प्रत्येक बकरी से 21 से 56 ग्रा. तक बहुमूल्य बाल प्राप्त हो जाते हैं. यदि बाहरी खाल के मोटे बाल महीन रोओं में मिल जाते हैं, तो वस्त्र तैयार करने से पहले उन्हें अलग कर लेते हैं. **चेगू** बकरियाँ स्पिती, याकसार, कश्मीर और तिब्बत के ऊँचे पहाड़ों पर पायी जाती है. इनसे पश्मीना, उत्तम मांस तथा प्रतिदिन लगभग 225 ग्रा. दूध मिलता है.

भारत के शुष्क उत्तरी इलाकों में बकरियों की कुछ महत्वपूर्ण नस्लें पायी जाती हैं. **जमुनापारी,** बकरियों की सबसे बड़ी एवं अत्यन्त शाही नस्ल है, जो अधिकांशतः इटावा जिले मे और मध्य प्रदेश में यमुना तथा चम्बल नदियों के बीच में अधिकतर पायी जाती हैं, जहाँ की जलवायु तथा चरागाहों की दशायें इनके पालने के लिये अत्यधिक उपयुक्त हैं. चक्करनगर, सहसन और आसपास के अन्य गाँव इन बकरियों के लिये सुप्रसिद्ध हैं. **जमुनापारी** बकरियों की आकृति विशाल, कद ऊँचा, टाँगें लम्बी, चेहरा उत्तल, कान बड़े लटके हुये तथा उन्नत रोमन नाक होती है. वे किसी भी मानक लाक्षणिक रंगों के लिये प्रजनित नही की जाती. इनका शरीर आमतौर पर सफेद तथा गर्दन और चेहरा लाल-भूरा या हल्के भूरे रंग का होता है. कत्थई या काले धब्बों वाली बकरियाँ भी मिलती हैं. **जमुनापारी** बकरियों की पिछली टाँगों पर लम्बे और मोटे बाल होते हैं, चमड़ी चमकदार होती है और सींग छोटे तथा चपटे होते हैं. ये वही अच्छी तरह पनपती हैं जहाँ चरने के लिये विपुल छोटी-छोटी झाड़ियों वाले चरागाह होते हैं.

जमुनापारी बकरी द्विकाजी पशु है, जिससे अच्छा मांस तथा अच्छे गुण का दूध भी प्राप्त हो सकता है. इसीलिये यह ग्रामीण तथा शहरी इलाकों में बहुत से परिवारों की आमदनी का प्रमुख स्रोत है. चुनिंदा बकरे 127 सेमी. ऊँचे और बकरियाँ 102 सेंमी. ऊँची होती हैं. दूध के लिये पाली गयी बकरियाँ 250 दिन की दुग्ध अवधि में 363–544 किग्रा. दूध (3.5% वसा) देती हैं. उत्तर प्रदेश में इस नस्ल से प्रतिदिन अधिकतम दूध

4.85 किग्रा. प्राप्त हुग्रा. इस नस्ल का उपयोग नयी नस्लों, जैसे बीतल बकरी, के विकास में किया जाता है. मूलभूत प्रजननकारी स्टाक के बनाये रखने तथा इसकी किस्म को बढ़ाने के लिये उत्तर प्रदेश सरकार ने 1938-39 में **जमुनापारी** बकरी प्रजनन योजना प्रारम्भ की थी.

बीतल नस्ल मुख्यतया पंजाब में पायी जाती है. यह **जमुनापारी** नस्ल के समान होती है परन्तु इससे ग्राकार में छोटी होती है ग्रौर उतनी वजनी नहीं होती. बकरों के ग्रामतौर पर दाढ़ी होती है. बकरियों के सफेद रंग पर लाल ग्रौर कत्थई रंग के घने धब्बे होते हैं. बकरियाँ एक दिन मे 1.8 किग्रा. दूध देती हैं ग्रौर 177 दिन की दुग्ध ग्रवधि में दूध की ग्रधिकतम मात्रा 591.5 किग्रा. होती है.

मारवाड़ी, मेहसाना ग्रौर **झालावाड़ी** नस्लों का विकास पहाड़ी बकरियों तथा **जमुनापारी** बकरियों के मेल से हुग्रा है, ये हिमालयी बकरियों से मिलती-जुलती हैं. ये संकर नस्लें राजस्थान, गुजरात ग्रौर मध्य प्रदेश मे पायी जाती हैं. बकरियों की इन नस्लों में विभिन्न रंगों का संयोग पाया जाता है. ये प्रतिदिन लगभग 0.75–1.00 किग्रा. दूध देती हैं.

काठियावाड़ी बकरी का जन्म-स्थान कच्छ, उत्तरी गुजरात तथा दक्षिणी राजस्थान है. इसकी चमड़ी काली होती है तथा गर्दन पर लाल धब्बे होते हैं. यह प्रतिदिन लगभग 1.25 किग्रा. दूध देती है.

बरबरी नस्ल की उत्पत्ति शायद पूर्वी ग्रफ्रीका के ब्रिटिश सोमालिया में बरबेरा स्थान मे हुयी. इसके बाल छोटे-छोटे ग्रौर सींग सीधे होते हैं. यह बकरी दिल्ली में; उत्तर प्रदेश में ग्रलीगढ़, एटा, इटावा, ग्रागरा ग्रौर मथुरा; ग्रौर हरियाणा मे गुड़गाँव, करनाल, पानीपत ग्रौर रोहतक के शहरी क्षेत्रों में लोकप्रिय है. इन बकरियों के रंग में बड़ी ग्रसमानता पायी जाती है. ग्रधिकतर सफेद रंग पर लाल तथा कत्थई रंग के धब्बे पाये जाते हैं. इनका पोषण बांधकर ही होता है ग्रौर 108 दिन के दूध देने की ग्रवधि में ये प्रतिदिन 0.90–1.25 किग्रा. तक दूध (5% वसा) देती हैं. ये एक बार में कई-कई ग्रौर 12-15 महीने मे दो बार बच्चे देती हैं.

शुष्क उत्तरी इलाके की तीन प्रमुख नस्लों के शरीर के माप तथा ग्रौसत दैनिक दुग्ध उत्पादन सारणी 63 में दिये गये हैं.

दक्षिणी इलाके में तीन पृथक्-पृथक् नस्लें पायी जाती हैं जिनके नाम हैं : **बरारी, सूरती** ग्रौर **दक्कनी. बरारी** महाराष्ट्र के नागपुर ग्रौर वर्धा जिलों मे तथा मध्य प्रदेश के निमाड़ जिले में पायी जाती है. यह ऊँची काले रंग की बकरी है जो प्रतिदिन 0.63 किग्रा. दूध देती है.

सूरती तथा इससे मिलती-जुलती **मालाबारी** (**तेलिचेरी**) नस्ल का विकास संभवत: ग्ररब की छोटी दुधारू बकरियों से हुग्रा है. मोटे तौर से **सूरती** नस्ल **बरारी** के समान होती है तथा इसकी टाँगें छोटी ग्रौर सफेद होती हैं. ये बम्बई, नासिक ग्रौर सूरत में लोकप्रिय हैं. यह ग्रपने इलाके के नाम से ही पुकारी जाती है. यह ग्रधिक दूध देने वाली बकरी है ग्रौर एक दिन में 2.25 किग्रा. तक दूध देती है. मारथेण्डम (त्रिवेन्द्रम) में यह प्रतिदिन 1–2 किग्रा. तक दूध देती है.

दक्कनी ग्रौर इससे ग्रत्यधिक मिलती-जुलती **उस्मानाबादी** नस्लें मुख्यत: दक्षिण में पश्चिमी ग्रांध्र प्रदेश में पायी जाती हैं. इनका ग्राकार ग्रौर भार मध्यम होता है तथा ये मैदानों की बकरियों के मिश्रण से उत्पन्न हुयी हैं. इनका रंग ग्रामतौर पर काला होता है. सफेद ग्रौर काले रंग का या सफेद ग्रौर लाल रंग का मिश्रण ग्रधिक पाया जाता है. ये प्रतिदिन 1.35–2.25 किग्रा. दूध देती हैं.

मालाबारी (**तेलीचेरी**) नस्ल का मूल स्थान उत्तरी केरल है. यह दो या ग्रधिक प्रकारों का मिश्रण है जिसमें सूरती रक्त की प्रधानता रहती है. इसका रंग एक समान नहीं होता है ग्रौर यह प्रतिदिन 0.9 से 2.8 किग्रा. दूध देती है.

जलवायु में विभिन्नता होने ग्रौर भारी वर्षा के कारण पूर्वी क्षेत्र ग्रधिक दूध देने वाली बकरियों के पालने के लिये उपयुक्त नहीं है. इस इलाके की बकरियों को प्राय: ग्रल्प चारे पर ही पालते हैं. इस इलाके में **बंगाली** बकरी पायी जाती है, जो काली, भूरी ग्रौर सफेद इन तीन रंगों की होती है. इसकी टाँगें छोटी, परन्तु शरीर भारी तथा इसका मांस श्रेष्ठ समझा जाता है. बकरों का भार 14.0–15.3 किग्रा. ग्रौर बकरी का 8.4–13.5 किग्रा. होता है. बकरियाँ वर्ष में दो बार ब्याती हैं ग्रौर हर बार जुड़वां बच्चे उत्पन्न होते हैं. बंगाली बकरी की खाल उत्कृष्ट कोटि की होती है तथा इसकी माँग भारत तथा विदेशों के जूता उद्योग के लिये ग्रधिक है, लेकिन इससे दूध कम मिलता है.

ग्रसम की पहाड़ियों की बकरियाँ कांगड़ा ग्रौर कुल्लू घाटियों की सफेद पहाड़ी बकरियों के समान होती हैं ग्रौर पृथक् नस्ल के रूप में मान्य हैं.

विदेशी नस्लें

कुछ विदेशी नस्लें जो ग्रधिक दूध देती हैं ग्रौर मोहेयर (विशिष्ट प्रकार का रोयां) उत्पन्न करती हैं. भारत में संकर नस्लें

सारणी 62 – 1966 में भारत में बकरियों का वितरण*

(हजार में)

राज्य	संख्या	राज्य	संख्या
ग्रंडमान-निकोबार द्वीप समूह	10.131	नागालैंड	12.417
ग्रसम	1,594.571	पंजाब	621.427
ग्रान्ध्र प्रदेश	3,758.439	पश्चिमी बंगाल	4,834.894
उड़ीसा	3,081.139	पांडिचेरी	11.476
उत्तर प्रदेश	8,136.104	बिहार	7,801.141
केरल	1,189.218	मणिपुर	5.970
गुजरात	2,771.339	मध्य प्रदेश	6,606.457
चंडीगढ़	3.933	महाराष्ट्र	5,121.337
जम्मू एवं कश्मीर	605.501	मैसूर	2,783.682
तमिलनाडु	3,770.847	राजस्थान	10,323 396
त्रिपुरा	56.198	हरियाणा	517.341
दादरा ग्रौर नगर हवेली	12.753	हिमाचल प्रदेश	460.765
दिल्ली	14.345	लक्षदीवी, मिनिकोय, ग्रमीनदीवी द्वीप समूह	2.023
योग		64,106.844	

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Food & Agriculture, Govt. of India, 1972.

गद्दी बकरा

गद्दी बकरी

बरबरी बकरी

काली बंगाली बकरी

बकरियाँ : देशी नस्लें

सानेन बकरी

बीतल बकरा

बीतल बकरी
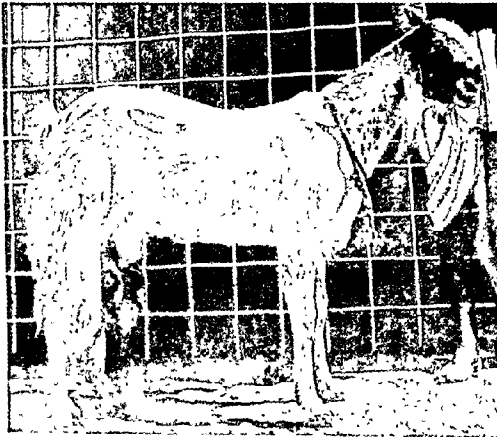
जमुनापारी बकरी

जमुनापारी बकरा

बकरियाँ : देशी नस्लें

सारणी 63 – शुष्क उत्तरी इलाके की बकरियों के शरीर का माप तथा औसत दैनिक दुग्ध उत्पादन*

नस्ल	नाक के अगले सिरे से पूँछ की नोंक तक की लंबाई (सेंमी.)	जमीन से कंधे तक ऊँचाई (सेंमी.)	प्रौढ़ का शरीर भार (किग्रा.)	प्रति बकरी औसत दूध की प्राप्ति (किग्रा.)
जमुनापारी				
बकरा	127–137	91–102	68.0–90.0	...
बकरी	116–127	76–86	45.0–65.0	2.25–2.7
बीतल				
बकरा	127–132	91–99	65.8–86.1	...
बकरी	107–122	76–83	45.4–61.2	1.8
बरबरी				
बकरा	96–112	66–76	36.3–45.4	...
बकरी	91–114	61–71	27.2–36.3	1.13

*Lall, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 4, 1954, 6.

विकसित करने के लिये उपयुक्त पायी गयी हैं. इनमें अल्पाइन, नूबियन, **सानेन, टोगनबर्ग** और **अंगोरा** प्रमुख नस्लें हैं.

अल्पाइन बकरियों का उद्भव फ्रान्सीसी और स्विटजरलैंडीय आल्पस इलाकों में हुआ. ये गर्म जलवायु में भी ठीक रहती हैं. इनके कान उठे हुए और चेहरा दबा हुआ होता है, रंग तरह-तरह का जैसे काला, कत्थई, सफेद या इनमें से किन्हीं रंगों का मिश्रण होता है. प्रायः इनके सींग होते हैं. बकरे का औसत भार 65–80 किग्रा. और बकरी का 50–60 किग्रा. होता है. यह नस्ल भी अन्य नस्लों के बराबर दूध देती है. दूध में मक्खन-वसा औसतन 3–4% होती है. इस नस्ल का आयात भारतीय अवस्थाओं में आयात की गयी बकरियों पर, तौर पर खिलाये जाने का प्रभाव देखने के लिये, लुधियाना जिले (पंजाब) के 'हीफर प्रोजेक्ट' के अन्तर्गत, विशाल संख्या में किया गया है.

नूबियन बकरी जर्सी नस्ल के नाम से जानी जाती है. यह नस्ल सबसे पहले मिस्र से प्राप्त **नूबियन** नस्ल तथा भारत से प्राप्त **जमुनापारी** नस्ल के बकरों तथा ब्रिटिश बकरियों के संकरण से विकसित की गयी. **नूबियन** का रंग सफेद, काला, लाल तथा कत्थई या फिर इन रंगों का कोई मिश्रण होता है. इसका चेहरा अन्य विदेशी नस्लों से भिन्न होता है. नाक रोमन तथा कान लम्बे लटके हुये होते हैं. बकरों तथा बकरियों दोनों के ही सींग होते हैं. बकरों का भार 65–80 किग्रा. और बकरियों का 50–60 किग्रा. होता है. इसके दूध देने की अवधि में इससे प्रतिदिन 6.6 किग्रा. तक दूध प्राप्त होता है. दूध में औसत मक्खन-वसा 4–5% होती है.

सानेन बकरी स्विटजरलैंड की नस्ल है जिसके दाढ़ी होती है और नहीं भी होती, कान सीधे या आगे को नुकीले होते हैं. इसका क़द छोटा होता है, कभी-कभी लम्बे बालों की झालर होती है जो पीठ और पिछले पुट्ठों पर लटकती रहती है. रंग पीत-श्वेत या हल्का बादामी होता है. प्रकार के अनुसार रंग में अन्तर हो सकता है. अमेरिका में यह नस्ल निरंतर दूध देते रहने के कारण लोकप्रिय है. इस नस्ल की 8–10 माह दूध देने की अवधि में औसतन 2–5 किग्रा. दूध प्रतिदिन मिलता है. दूध में औसत मक्खन-वसा 3–4% होती है.

टोगनबर्ग की उत्पत्ति स्विटजरलैंड में हुयी. इस बकरी के सींग नहीं होते, इसके कान खड़े होते हैं और चेहरा सपाट या दबा हुआ होता है. कद छोटा होता है और पीठ और पिछले पुट्ठों पर लटकती हुयी लम्बे बालों की झालर होती भी है और नहीं भी होती. इसका रंग बादामी होता है. चेहरे पर आँखों से थूथन तक, कानों के अगले भाग, टांगों से घुटने तक जाँघ के नीचे और पूँछ के चारों ओर सफेद धब्बे पाये जाते हैं. इस प्ररूप में अन्तर भी पाये जा सकते हैं. यह इंगलैंड और अमेरिका में दूध देने वाली महत्वपूर्ण बकरी है. इसका प्रतिदिन का औसत दुग्ध उत्पादन 5–6 किग्रा. है. दूध में मक्खन-वसा 3–4% होती है.

अंगोरा बकरी, जिसका मूल स्थान तुर्की तथा एशिया माइनर है, दुधारू नहीं होती, परन्तु इससे कीमती और महत्वपूर्ण कपड़ों के लिये रोयें प्राप्त होते हैं, जो व्यापार में मोहेयर कहलाते हैं. उत्तरी भारत की सिवालिक पहाड़ियों की प्लायोसीन चट्टानों से प्राप्त बकरी के जीवाश्मों से इस बात की पुष्टि होती है कि इस बकरी का उद्गम स्थान हिमालय ही है और मोहेयर उद्योग का भारत में प्रवेश इस काल का नहीं है. अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका के शुष्क इलाकों में इस बकरी को पालने में सफलता प्राप्त हुयी है. अंगोरा बकरी का कद छोटा होता है, इसकी टाँगें अत्यधिक छोटी होती हैं. देखने में बकरी जैसी न लगकर ये भेड़ जैसी जान पड़ती हैं. इसकी पीठ सपाट होती है और पूंछ की तरफ ढाल नहीं होता. इसका शरीर वर्गाकार तथा हृष्ट-पुष्ट, सिर छोटा, कान चपटे, नुकीले और लटके हुये होते हैं. सींग धूसर रंग के, मेढ़ों के सींग पीछे और बाहर की ओर सर्पिल, चमड़ी गुलाबी रंग की और रंगीन धब्बों से मुक्त होती है. पूंछ छोटी और सीधी होती है. शुष्क जलवायु में गर्मी और सर्दी के बीच अत्यधिक भिन्नताओं में भी यह अच्छी तरह पनपती है.

बकरी के लोम सुन्दर होते हैं और शरीर से सफेद छल्ले के रूप में छितराते हुये या लम्बे घेरों में लटकते हैं. लोम अथवा **मोहेयर** गठन में उत्तम, उच्च तनन शक्ति के और देखने में कान्तिवान होते हैं. भारत में कश्मीर, पंजाब, हिमाचल प्रदेश और उत्तरी उत्तर प्रदेश के शुष्क हिमालयी इलाके इस बहुमूल्य नस्ल के पालने के लिये उपयुक्त हैं. सफेद हिमालयी बकरियाँ **अंगोरा** से अधिक मिलती-जुलती हैं और इनका संकरण किया जा सकता है. संकर बकरियों से प्राप्त बाल ज्यादा अच्छे होते हैं और इनका उपयोग आयातित मुलायम ऊन के स्थान पर किया जा सकता है.

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के प्रोत्साहन से उत्तर प्रदेश में **अंगोरा** बकरों का समावेश हुआ है जिसका लक्ष्य **गद्दी** अथवा सफेद पहाड़ी बकरियों के साथ संकरित करके प्रदेश में **मोहेयर** उद्योग की स्थापना करना है.

आहार और प्रबन्ध

ग्रामीण क्षेत्रों में बकरियों को एकमात्र चरायी करके पाला जाता है. यह पशु सभी प्रकार की वनस्पतियों, जैसे पत्तियों, कलिकाओं, टहनियों, घासों, खरपतवारों, जंगली पौधों, सब्जियों तथा फलों के छिलकों, ऊपर से काटी गयी झाड़ियों, पौधों की कटी

गयी शाखाओं तथा काली बेरी, गोखरू और कीकर जैसे तीक्ष्णवर्धी पौधों को खाकर पल जाता है

ठौर पर खिलाने के लिये अच्छी सूखी घास, सुखायी कुरकुरी पत्तियाँ, और थोड़ा-सा नमक बकरियों के लिये उत्तम चारा है. दुधारू बकरियों को मूंगफली की खली के समान रातबों को चने, मक्का और भूसी के समान भाग के साथ मिलाकर भी कभी-कभी खिलाया जाता है वकरी के आहार मे कैल्सियम, फॉस्फोरस और नमक जैसे खनिज आवश्यक होते है 2% खनिज मिश्रण को सामान्यत. रातब में मिला लिया जाता है. बकरियों को बहुत से विटामिनों खासतौर से ए, डी और ई की आवश्यकता होती है. अधिक दुधारू बकरियों के बच्चों के आहार मे संश्लिष्ट विटामिनों को मिला लिया जाता है.

भारत में अच्छे चरागाहों के अभाव के कारण तथा रातब के रूप में खिलाये जाने वाले अनाजों की कमी तथा मँहगाई के कारण बकरियों मे पोषणज न्यूनतायें देखी जाती है. प्रोटीन की न्यूनता दूर करने के लिये घास या सुखायी हुयी घास (हे) के रूप मे फलीदार चारे खिलाने चाहिये. दूध देने की अवधि में बकरियों की दैनिक आवश्यकता आमतौर पर 450–565 ग्रा. रातब मिश्रण और 1.80 किग्रा. मोटा चारा है.

सामान्यत नर बच्चे मादा की तुलना मे भारी होते हैं. जन्म के समय बीतल नस्ल के नर मेमने का भार 3 0 किग्रा. तथा मादा का 2 7 किग्रा. होता है. दूध छुडाने पर या बकरी की मृत्यु हो जाने के अतिरिक्त इन्हें अधिकाशत. माता के दूध पर ही छोड दिया जाता है चार माह की आयु मे ही इनका दूध छुडा देना चाहिये तथा पेडो की पत्तियों जैसे ठोस आहार को पूरी तरह से खाने देना चाहिये, जिसे ये जन्म के 2–3 सप्ताह बाद ही कुतरना प्रारम्भ कर देते हैं कच्छ मे कुछ बकरी-पालक मेमनों को दूध छुडाने से लगभग दो माह पूर्व से मखनिया दूध देना शुरू कर देते हैं उत्तर प्रदेश के एटा जिले मे बरबरी बकरियों को हाथ से खिलाया जाता है. नर मेमने मादा बकरी की तुलना मे अधिक खाते हैं लेकिन उन्हें अधिक मात्रा मे नहीं खिलाना चाहिये क्योंकि ये मोटे होने से आलसी तथा कम प्रजननशील हो जाते हैं. स्वस्थ बकरे को प्रतिदिन 1 86 किग्रा. रातब मिश्रण (दाना) देना चाहिये. मैथुन काल में यह मात्रा बढा देनी चाहिये. पूर्ण विकसित जमुनापारी बकरे को जब ठौर पर खिलाया जाता है तब उसे प्रतिदिन 6 8–9 0 किग्रा हरे चारे की आवश्यकता होती है. बकरों को स्वस्थ रखने के लिये उन्हें प्रतिदिन 3.2–4 8 किग्रा. चारा चरना आवश्यक है.

एक मेमने को पहले तीन दिन तक दिन मे पांच बार 56–112 ग्रा. दूध पिलाना चाहिये 2 सप्ताह या अधिक आयु के मेमनों को निम्नलिखित अवयवों से युक्त (भार के अनुसार) मेमना-प्रारम्भक खिलाना चाहिये दली हुयी पीली मक्का, 45: चावल की पालिश, 20, गेहूँ का चोकर, 15, मूगफली की खली, 10, सूखा दूध, 8, और खनिज मिश्रण, 2 भाग, विटामिन ए (निर्जलीकृत-स्थायी), 200, विटामिन डी (निर्जलीकृत-स्थायी), 60, और प्रतिजैविक (ओरोमाइसीन, टैरामाइसीन), 80 अंश प्रति करोड़ भाग. जब मेमने इस आहार और फलीदार चारे को खाने लगे तो दूध की मात्रा धीरे-धीरे कम कर देनी चाहिये. नमक तथा स्वच्छ जल तो सदैव ही मेमनों के लिये उपलब्ध रहना चाहिये.

बकरियों का सामान्य दैनिक आहार (सभी आयु के लिये): रिजका या सूखी बरसीम 1.5 किग्रा., रसदार घासे, साइलेज या जड़े 1 किग्रा., सान्द्र मिश्रण 1 किग्रा. है. इस मिश्रण को दली मक्का 75 किग्रा., ज्वार 75 किग्रा, गेहूँ का चोकर 25 किग्रा., मूगफली की खली या अलसी की खली 25 किग्रा., नमक 2.5 किग्रा., भपाई हड्डी का चूरा 1.5 किग्रा., और चूना पत्थर 1 किग्रा. मे तैयार किया जाता है. इस मिश्रण मे 14% प्रोटीन रहता है.

अच्छी प्रकार तैयार की गयी सूखी घास जैसे रिजका और बरसीम दुधारू बकरी का उत्तम और सस्ता पोषण है. लुधियाना मे बकरी पालने वाले बकरियों को मूंगफली का मोटा चारा देते हैं तथा इसका पत्तीदार भाग या तो बेच दिया जाता है या अन्य पशुओं को खिला दिया जाता है.

अच्छे आहार और प्रबन्ध से बकरियों की दूध देते रहने की अवधि बढने में सहायता मिलती है. कुछ भारतीय नस्लें चौदह महीने मे दो बार बच्चे जनती हैं. इसी कारण उनका दुग्धकाल दस माह से कम होता है.

बकरों का आहार बकरियों के समान ही होता है परन्तु वे अधिक चारा खाते हैं क्योंकि ये काफी हृष्ट-पुष्ट होते हैं. मैथुन काल मे इनको अधिक रातब खिलाना चाहिये.

बकरियों को खराब मौसम तथा जंगली जानवरों से बचाने की आवश्यकता होती है. इनके आवास ऐसे स्थानों पर होने चाहिये जहाँ अच्छी तरह से हवा आ-जा सके, पर्याप्त जगह हो, जल निकास अच्छा हो और पर्याप्त प्रकाश मिलता हो. इमारत के एक कोने मे 'लीन-टु' प्रकार का बाडा (3.0 मी. × 1.5 मी.) बकरियों को रखने के लिये सस्ता रहता है. दो बकरियों तक के बाधने के लिये 1.3 मी. × 1.1 मी. स्थान मे एक ठौर बनाकर, 100 या अधिक बकरियों को रखने और खिलाने की व्यवस्था करने के लिये अनेक ठौरों वाले नियमित आवास बना लेने चाहिये. बकरी के आवास की योजना जलवायु, दशाओं और बाँधे जाने वाले झुंड के अनुसार बनायी जाती है. कम वर्षा वाली (50–76 सेमी.) शुष्क जलवायु मे एक तरफ से खुला हुआ लम्बा बाडा, जिसमें मौसम का असर कम पडे, अच्छे जल-निकास वाली नींव के ऊपर बनाना चाहिये बकरों मे खास तौर से मैथुनकाल में दुर्गन्ध आती है इसलिये इनको दुधारू बकरियों से पृथक रखना चाहिये.

प्रजनन

दूध और मास की दृष्टि से बकरियों का नियोजित प्रजनन अधिक लाभकर है. प्रजनन काल, जलवायु पर निर्भर करता है और भिन्न-भिन्न स्थानों पर पृथक-पृथक होता है. मई–जून तथा जुलाई में सगम कराने पर एटा (उत्तर प्रदेश) मे अक्टूबर–नवम्बर तथा दिसम्बर मे बकरियाँ बच्चे जनती हैं, जबकि हिसार (हरियाणा) में मार्च से जुलाई तक सगम होने पर अगस्त से नवम्बर के महीनों मे बच्चे पैदा होते हैं. यह देखा गया है कि शरद् ऋतु मे ब्यायी बकरियाँ गर्मियों मे ब्यायी बकरियों की अपेक्षा अधिक दूध देती हैं. आयात की गयी बकरियों का सामान्य प्रजनन काल सितम्बर से फरवरी अथवा मार्च के प्रारम्भ तक होता है. बरबरी और बंगाली बकरियां वर्ष में भिन्न-भिन्न समय पर बच्चे दे सकती हैं. बीतल और जमुनापारी बकरियां जुलाई–सितम्बर में बच्चे देती हैं परन्तु सभी बकरियों के प्रजनन-काल मे काफी भिन्नता होती है.

अंगोरा बकरा

पश्मीना बकरा

प्रजनन के लिये चुने हुये बकरे असली प्रकार के और अधिक सामर्थ्य और ओजपूर्ण होने चाहिये. इनमे किसी प्रकार की न्यूनता या रोग नहीं होना चाहिये. जब प्रजननकारी बकरे का चयन किया जाता है तब इसकी वंशावली की पिछली एक या दो पीढ़ियों के बारे में जानकारी कर लेनी आवश्यक होती है. मैथुन के समय बकरे को काफी व्यायाम कराना चाहिये और स्वच्छ घेरे मे रखना चाहिये.

सामान्यत: अभिजनक बकरे दो से तीन वर्ष की आयु तक अच्छे रहते है. एक वयस्क बकरा वर्ष मे 80–100 बकरियो से मैथुन करने की क्षमता रखता है. सगम के लिये तरुण बकरे की उपयुक्त आयु दस माह है. और वह जब तक तीन वर्ष का न हो ले तब तक वर्ष मे तीस से अधिक बकरियो पर इसका प्रयोग नही करना चाहिये. दो मैथुनो के बीच का अन्तर नवीन बकरो के लिये लगभग दो सप्ताह का और पुराने बकरो के लिये दो-तीन दिन का होना चाहिये. यदि बकरो को स्वस्थ दशा मे रखा जाये तब कोई भी बकरा बारह वर्ष तक प्रजनन कार्य के लिये सक्षम रह सकता है. जब बकरी मद मे आती है तो उसको बकरे के पास ले जाया जाता है और एक या दो बार तक मैथुन होने तक साथ-साथ रखा जाता है.

दस-पन्द्रह माह की आयु की बकरियाँ प्रजनन के लिये उपयुक्त हो जाती है. हिसार फार्म पर जहाँ **बीतल** बकरियों के रेवड को चरागाहों पर पाला जाता है बकरियाँ लगभग पन्द्रह मास मे वयस्क हो जाती है और पहला मेमना लगभग पाँच माह बाद पैदा होता है. बकरियाँ सामान्यत: एक साथ दो बच्चे देती हैं परन्तु पाँच मेमनो को एक साथ जन्म देते हुये भी देखा गया हे. जुडवा बच्चे पैदा होने की घटना, नस्ल, वातावरण और बच्चे देने की क्रम सख्या पर निर्भर करती है. सरकारी पशुधन फार्म, हिसार मे **बीतल** बकरियो मे औसतन 35% एक, 54.4% दो, 6.3% तीन और 0.4% चार बच्चों को जन्म देते देखा गया हे. **जमुनापारी** नस्ल मे 19–50% (औसत 35%) और **बरबरी** नस्ल मे 47–70% जुडवा बच्चे होते हे. सगर्भता काल मे बकरी की जैसी अवस्था रहती है उसका भी प्रभाव बच्चे के गुण पर पडता है. बकरी को अच्छी प्रकार से खिलाना चाहिये, टहलाना चाहिये और वर्षा तथा ठण्ड से बचाना चाहिये. वर्ष मे मादा को एक बार प्रजनन करने देना चाहिये और बच्चे देने के सात-आठ माह बाद फिर सगम कराना चाहिये. बच्चे जनने की बारम्बारता नस्ल पर निर्भर करती हे. बरबरी नस्ल की बकरियाँ अठारह माह मे दो बार बच्चे देती हैं. बकरियाँ पाँच-सात वर्ष की आयु मे अधिकतम क्षमता प्राप्त कर लेती हे और छठे ब्यॉत के बाद बकरियो को रखना आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही हे.

बकरियो के नियोजित प्रजनन के लिये वाछनीय गुणो वाली उचित नस्ल का चुनाव आवश्यक हे. अच्छी वशावली और सतोषजनक दूध देने वाली बकरियो की सन्ततियों मे वे ही गुण ला सकना आसान होता हे. इसी तरह विदेशी बकरो का सकरण देशी बकरियो से कराया जाता हे तो आशाजनक फल प्राप्त होते हैं. पजाब सरकार ने 1964 मे गहन कृषि जिला कार्यक्रम के अन्तर्गत दुधारु बकरी योजना, लुधियाना, प्रारम्भ की जिसका प्रमुख उद्देश्य भारत मे उन्नत दुधारु बकरियो का चयन करना और उनका अधिक दूध उत्पादन के लिये विदेशी बकरो से सकरण कराना था.

भारत मे बकरी के प्रजनन की बहुत-सी पद्धतियाँ हैं. विभिन्न पद्धतियो का सक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है.

उन्नयन (अपग्रेडिंग) – यह प्रजनन की एक सस्ती और उत्तम पद्धति है, जिसमे ज्ञात नस्ल के शुद्ध प्रजनित नर का सगम उसी नस्ल की या अज्ञात पूर्वजो की मादाओं से किया जाता है. इस विधि का उद्देश्य एकरूपता लाना तथा सतति मे उत्तम उत्पादक गुणो का समावेश करना हे.

अन्त:प्रजनन – यह अत्यन्त निकट सम्बन्धियो के मध्य होने वाली प्रजनन पद्धति है और किसी नस्ल मे विशिष्ट गुणो को स्थिर करने मे लाभदायक है. यदि जनको मे अवाछनीय कारक पाये जाते हैं तो सतति मे भी वही लक्षण आयेगे इसलिये इस विधि द्वारा वाछित गुणो के साथ कुछ अवाछित गुण भी आ जाते है.

अर्धनिकट अंत:प्रजनन (लाइनब्रीडिंग) – यह विख्यात विधि है और अन्त:प्रजनन का कामचलाऊ रूप है, इसमे लाभ-हानि की कम गुजाइश रहती है. यह वह पद्धति है जिसमे सम्बन्ध कम गहन होता है और जिसमे मिलन कराने का उद्देश्य संतति परीक्षित प्रजनकों के समान उत्तम नर प्रजनको को प्राप्त कराना होता है. प्राय: छोटे-छोटे प्रजनक नर या मादा के उत्तम गुणो के लाने के लिये इस पद्धति का उपयोग करते हैं.

सजातीय संकरण – ऐसे पशुओ का वह मिलन है जो एक ही नस्ल के होते है, परन्तु उनमे 4–6 पीढियो तक की वशावली मे कोई घनिष्ठ सबध नही रहता. यह सुरक्षित पद्धति हे क्योकि ऐसा नहीं हो सकता कि बिना किसी प्रकार से सम्बन्धित दो पशु अवाछित जीनो का वहन करे और उसे अपनी सन्ततियो तक पहुँचा दे. इस विधि का उपयोग केवल दूध के उत्पादन को बढावा देने के लिये किया जाता है.

संकरण – विभिन्न नस्लो के दो शुद्ध पशुओं का मिलन सकरण कहलाता है. इसमे एक नस्ल के शुद्ध नर को दूसरी नस्ल की उच्च श्रेणी की मादा से सगम कराया जाता है. सकर पशु अन्त:जात पशुओ की तुलना मे अधिक ओजपूर्ण होते हैं.

त्रि या चतु:संकरण विधि – आजकल पशु-पालक तीन या चार विभिन्न विभेदो या नस्लो के परस्पर सकरण को अपनाते हैं. विभेदो अथवा नस्लों के सकरण द्वारा सकर ओज पाना तथा मास और दुग्ध उत्पादन बढाना सभव है. जटिल आनुवशिकता के कारण यह सभव है कि पहली पीढी मे सभी गुण न आ पायें, परन्तु बकरियो की सन्तति में आकार, ओज, प्रजनन शक्ति तथा दुग्ध उत्पादन सम्बन्धी जीनो की अभिवृद्धि की जा सकती है

कृत्रिम वीर्यसेचन

बकरियो मे कृत्रिम वीर्यसेचन लाभकारी होता हे यदि उसे गोपशुओ मे अपनायी जाने वाली पद्धति के अनुसार ही उपयोग में लाया जा सके और परीक्षित नरो को भली-भाति स्थापित किया जा चुका हो. अच्छी वशावलियो की कुछ दुधारु बकरियाँ जैसे **अल्पाइन**, **नूबियन** और **टोगनबर्ग** नस्लो की बकरियो का आयात भारत मे हुआ हे और इनका मेल देशी नस्लो के साथ किया गया हे. बानगी के तोर पर सन्तति परीक्षण कार्यक्रम मे देशी तथा आयात की गयी दोनो प्रकार की बकरियो का उपयोग सकरण किये जाने वाले बकरो की शक्ति जानने के उद्देश्य से किया गया. यदि एक बार उत्तम नर के रूप मे कोई बकरा मिल जाये तो उनका प्रयोग कृत्रिम वीर्यसेचन की विधि से व्यापक रूप से किया जा सकता है.

वकरियों मे कृत्रिम वीर्यसेचन का विकास उस सीमा तक विकसित नहीं हो सका है, जितना कि गोपशुओं में है. वकरों के वीर्य के रख-रखाव, परीक्षण तथा परिवहन में कुछ छोटी-छोटी समस्यायें सामने आती हैं. इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये अनुसंधान जारी है. प्रजनन कार्यक्रम के लिये कृत्रिम वीर्यसेचन द्वारा उपयुक्त वकरे का चयन सुगम बनाने के लिये भारतीय दुधारू वकरी संघ द्वारा लुधियाना मे वकरों तथा वकरियों दोनों की वंशावलियों को प्रदर्शित करने के लिये पंजीयन प्रमाणपत्र रख जाते हैं.

परजीवी और रोग

वकरियों मे वहुत-सी बीमारियाँ और रोग लगते हैं. जानवरों में आन्तरिक तथा वाहरी परजीवी ऐसी बीमारियाँ उत्पन्न करते रहते हैं, जिनसे मवेशियों का स्वास्थ्य विगड़ जाता है और दूध तथा मांस का उत्पादन कम हो जाता है.

सामान्यतः वकरियाँ अत्यन्त सहिष्णु और अन्य पशुओं की तुलना में जीवाणुओं और विषाणुओं द्वारा उत्पन्न रोगों से कम ग्रसित होती हैं. वकरी स्फोट, सांसर्गिक प्लूरोन्यूमोनिया, गिल्टी रोग, और अन्य जीवाणुज संक्रमण, खुरपका और मुंहपका रोग, जोन्स रोग, अधरांगघात और प्रवाहिका वकरी के सामान्य संस्पर्श रोग हैं.

वकरी स्फोट एक सामान्य रोग है. जिसमें तुरन्त की ब्यायी वकरियों के थनों तथा अयन पर ग्रन्थियों के आकार के क्षत हो जाते हैं. यह रोग दुधमुंहे मेमनों के मुंह तथा ओठों में फैल सकता है. रोगग्रस्त वकरी दूध नहीं देती और सामान्यतः दूध की मात्रा घट जाती है. ऐसे पशुओं को अलग कर लेना चाहिये, और दुहने के पहले मंद पूतिरोधी मरहम जैसे सल्फानिलैमाइड मरहम लगाने के वाद गर्म सिंकाई करके द्वितीयक संक्रमण को रोकना चाहिये. सप्ताह मे दो वार इप्सम लवण का उपयोग भी लाभकारी होता है. फार्मों पर भेड़-टीका लगाने से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुये हैं.

संस्पर्श प्लूरोन्यूमोनिया वकरियों का एक घातक रोग है. इसका प्रभाव सभी आयु की वकरियों मे होता है. खाँसी, छीक आना और नासा-स्राव तथा भूख का कम हो जाना इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं. रोगग्रस्त पशुओं को उपचार के लिये एकान्त में रखना चाहिये. महामारी होने पर पशुओं को रोग प्रभाव से मुक्त करने के लिये एक नया टीका निकाला गया है.

ऐन्थ्रैक्स एक अन्य घातक रोग है जो वहुत-सी वकरियों में होता है. यह रोग अचानक प्रकट होकर भयकर रूप धारण करता है. यह रोग **बैसिलस ऐंथ्रैसिस** द्वारा तव उत्पन्न होता है जव वकरियाँ गर्म मौसम में घास-पात की कमी होने पर चरागाहो में चरती हैं. जब मनुष्य रोगग्रस्त पशुओं के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें भी यह रोग हो जाता है. यह रोग तमिलनाडु, मैसूर और महाराष्ट्र प्रदेशों मे अधिक फैलता है, किन्तु छुटपुट रूप में सारे भारत मे पाया जाता है. वकरियों में यह रोग ज्यादातर उग्र होता है. पशु डाँवाडोल होकर फिरता है, काँपने लगता है, बेचैन हो जाता है, साँस लेने मे कठिनायी होती है, रक्तस्राव होता है तथा वह ऐंठने लगता है. रोगग्रस्त इलाकों में ऐंथ्रैक्स प्रतिसीरम देकर इस रोग से छुटकारा पाया जाता है.

ब्रुसेलोसिस या माल्टा ज्वर एक संक्रामक रोग है जो **ब्रुसेला मेलिटेंसिस** द्वारा फैलता है. इस रोग से वकरियों में गर्भपात हो जाता है. रोगग्रस्त प्राणियों के दूध से भी यह रोग मनुष्यों को लग जाता है. इस रोग का निदान रक्त-परीक्षण या दूधवलय परीक्षण द्वारा किया जा सकता है. टीका लगाने से इस रोग का वचाव हो जाता है.

विब्रियासिस, सर्पिल आकार के **विब्रियो फीटस** नामक जीवाणु द्वारा फैलता है. रोगग्रस्त वकरों से मैथुन कराने या कृत्रिम वीर्यसेचन में वीर्य के रोगग्रस्त रहने पर यह संक्रमण फैलता है. दूषित जल और चारे से भी संक्रमण होता है. स्ट्रेप्टोमाइसिन से उपचार के वाद वकरियों में सामान्य प्रजनन क्षमता पुनः आ जाती है.

लेप्टोस्पाइरोसिस नामक रोग **लेप्टोस्पाइरा पामोना** द्वारा फैलता है. इससे दूध उत्पादन में भारी कमी आ जाती है और वकरियों की वृद्धि रुक जाती है. यह संक्रमण सामान्यतः पोखरों तथा तालावों और झीलों से फैलता है. टीका लगाकर तथा संक्रमण के कारकों का निवारण करके इस रोग को रोका जा सकता है.

स्तनशोथ (थनैली) दुधारू वकरियों का उग्र रोग है. यह विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं से उत्पन्न होने वाला जटिल रोग है. अयन के ग्रस्त भाग का उपचार पेनिसिलिन इंजेक्शन लगा कर किया जाता है.

किलाटी लसीकापर्वशोथ रोग कोराइनेबैक्टीरियम ओविस द्वारा उत्पन्न होता है. इसमे जवड़े, स्कन्ध या वगल में सूजन आ जाती है. रोगग्रस्त वकरियों को अलग कर देना चाहिये और क्षतों का उपचार करना चाहिये. इस अवस्था का कोई विशिष्ट उपचार नहीं है.

वकरियों का खुरपका और मुंहपका रोग भारत के अनेक भागों में सामान्य है. इस रोग मे जीभ, ओठ, गाल, तालू और मुंह के अन्य ऊतकों तथा पैर की विदर के ऊपर तथा वीच की चमड़ी की श्लेष्मा कला पर व्रण वनने लगते हैं. वरसात या गर्मी के महीनों मे यह रोग फैलता है. इसी समय प्रवाहिका तथा निमोनिया भी हो जाता है. रोगग्रस्त वकरियों को अलग करके उपचार करना चाहिये.

हाल ही के अन्वेषणों से पता चला है कि वकरियाँ यक्ष्मा (ट्यूबर्कुलोसिस) से छुटकारा नहीं पाती. रोगग्रस्त वकरियों मे यह रोग गोपशुओं की तुलना मे अधिक तेजी से फैलता है. फेफड़े तथा वक्ष लसीका ग्रन्थियाँ इससे प्रभावित होने वाले प्रमुख अंग हैं. रोगी पशुओं की शीघ्र ही ट्यूवर्कुलिन परीक्षा करा लेनी चाहिये. भयंकर रूप से रोगग्रस्त रेवड़ों में इस रोग का नियंत्रण करने के लिये वी. सी. जी. का टीका लाभकारी होता है.

जोनरोग संभवतः भारत में वाहर से आया है. यह रोग आजकल देश के वहुत से व्यवस्थित फार्मों मे व्याप्त है. यह क्षयकारी रोग है, यह यक्ष्मा के समान ही वैसिलस द्वारा उत्पन्न होता है. रोगग्रस्त पशु में ज्वर, खाँसी और भूख के कम हुये विना ही मांस घट जाता है तथा क्षीणता धीरे-धीरे वढ़ती जाती है. कभी-कभी और आवर्ती प्रवाहिका होने से पशु मे दुर्वलता एवं निर्जलीकरण में वृद्धि होती है और अन्त मे पश मर जाता है. रोग का पता लगाने के लिये जोनिन परीक्षण लाभकर है.

अधरांगघात या पूर्ण अंगघात तमिलनाडु, मैसूर, उड़ीसा और पंजाव मे फैलता वताया गया है. पंजाव में भेड़ तथा वकरियों मे कटि अंगघात वरसात के वाद होता है. पशुओं का लड़खड़ाना, पिछली टाँगों का पटकना तथा सामान्यता भू-लुंठित होना इस रोग के लक्षण हैं. कभी-कभी देह का ताप भी वढ़ जाता है. यह रोग

संक्रामक नहीं होता है तथा थायमिन (विटामिन बी$_1$) के प्रयोग से दूर हो जाता है. उड़ीसा प्रान्त में यह रोग पंजाब से आयात की गयी **बीतल** बकरियों में अथवा उनके द्वारा स्थानीय बकरियों से उत्पन्न संतति में ही होता है. बकरियों में यह रोग संभवतः प्रमस्तिष्क कृमिकरण के कारण होता है.

पाचन में बाधा पड़ जाने, जीवाणु विषाणुज संक्रमण, कॉक्सिडिया या आन्तरिक परजीवियों के कारण प्रवाहिका हो सकती है.

आन्तरिक परजीवियों से होने वाली हानियाँ अधिक भयावह होती हैं. ग्रस्तता के कारण हालत बिगड़ना, अमितव्ययता रक्ताल्पता, तथा अन्य बुरे प्रभाव देखे जाते हैं. इस रोग से प्रति वर्ष लाखों रुपयों की हानि होती है. आन्तरिक परजीवी अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे रोगजनक प्रोटोजोआ, फ्लूक, फीताकृमि और गोलकृमि. ये प्रथम आमाशय (रुमेन), आँत, यकृत और फेफड़ों जैसे आन्तरिक अंगों में संक्रमण करते हैं.

रोगकारी प्रोटोजोआ और **बबेसिया** जातियाँ भारत में कभी-कभी बकरियों में किलनी ज्वर उत्पन्न करती हैं.

ट्राइकोमोनीअता बकरियों के जनन अंगों को प्रभावित करने वाला संस्पर्शी रोग है. इससे गर्भपात हो जाता है तथा कभी-कभी अस्थायी वंध्यता भी आ जाती है. यह रोग ट्राइकोमोनाइड द्वारा फैलता है, जो बकरियों के गर्भाशय या बकरों के जननांगी मार्ग में रहते हैं. इस रोग का कोई संतोषजनक उपचार नहीं है. बकरियाँ पूरी तरह से ठीक होकर तीन माह तक आराम करने के बाद सामान्यतः गर्भ धारण करती हैं.

कॉक्सीडिया रुग्णता भारत में बकरी के बच्चों का सामान्य रोग है. कॉक्सीडियम वृद्धि करते हैं तथा जानवरों के सभी प्रकार के ऊतकों पर छा कर श्लेष्म कला को विक्षत कर देते हैं, जिससे दस्त की बीमारी (प्रवाहिका) हो जाती है, भार घट जाता है तथा कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है. सल्फामेथैजीन और सल्फाक्विनोक्सैलीन (इम्बैजीन) इस रोग के नियंत्रण के लिये प्रभावकारी ओषधियाँ हैं. अच्छी तरह सफाई रहने पर रोग का फैलना रुक जाता है.

फ्लूक आहार नाल, यकृत तथा अन्य अंगों में परजीवियों के रूप में पाये जाते हैं. **फैसियोला जाइगैण्टिका** कोबोल्ड, यकृत, पित्त नलियों तथा कभी-कभी फेफड़ों में परजीवी होता है तथा इसके जीवन-चक्र को पूरा होने में एक या अधिक मध्यवर्ती परपोषियों की आवश्यकता होती है. बकरियों में इस परजीवी से उत्पन्न होने वाले सामान्य लक्षण रक्ताल्पता, कृशता तथा प्रवाहिका हैं. यकृत फ्लूक से बचाव के लिये बकरियों को बरसात में पानी भरी निचली भूमि में नहीं चराना चाहिये. कार्बन टेट्राक्लोराइड की उपयुक्त खुराक यकृत फ्लूक के नियंत्रण के लिये सबसे सस्ती और प्रभावोत्पादक ओषधि है.

आमाशय फ्लूक (**कॉटिलोफोरॉन** जातियाँ) सामान्यतः भेड़ों और बकरियों में पाये जाते हैं और अपनी अपरिपक्व अवस्था में अत्यधिक रोगजनक होते हैं तथा इससे काफी मृत्युयें होती हैं. रोगग्रस्त पशु सुस्त पड़ जाता है, चारा नहीं खाता तथा पशु की हालत बहुत जल्दी बिगड़ जाती है. रोग की बढ़ी हुयी दशा में गले में सूजन आ जाती है. उत्तर प्रदेश और बिहार में इस रोग को सामान्यतः बीसी, पिट्टू या गिल्लड़ कहते हैं. यह रोग बरसात के बाद या सर्दियों के प्रारम्भ में फैलता है, चिरकारी प्रवाहिका हो जाती है और कभी-कभी 10–15 दिनों के अन्दर पशु की मृत्यु हो जाती है. अत्यधिक घातक अवस्था में कटि अंगघात हो जाता है तथा परपोषी की मृत्यु हो जाती है. प्रारम्भ में कॉपर सल्फेट की खुराक देने के बाद कार्बन टेट्राक्लोराइड और हेक्साक्लोराइड देने से इस रोग पर भली-भाँति नियंत्रण हो जाता है.

रक्त फ्लूक (**शिस्टोसोमा** जातियाँ) भेड़ तथा बकरियों की आन्त्रयोजनी और प्रतिहारिणी शिराओं में पाये जाते हैं. इनसे आन्त्र श्लेष्मा में व्रण उत्पन्न हो जाते हैं. फलतः प्रवाहिका हो जाती है, पशु दुर्बल हो जाते हैं और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है. कार्बन-टेट्राक्लोराइड में तरल पैराफिन, मखनिया दूध या सान्द्र मैग्नीशियम सल्फेट विलयन मिलाकर प्रयोग करने से रक्त फ्लूक नष्ट हो जाते हैं.

फीताकृमि, विशेषतया **मोनीजिया** जातियाँ, बकरियों में संक्रमण करती हैं. जब इनके अंडे या कोई सगर्भा खंड, किसी उपयुक्त परपोषी द्वारा निगल लिये जाते हैं तो वे बढ़ करके लारवा बन जाते हैं और बकरियाँ ऐसे लारवों को निगल करके ग्रस्त हो जाती हैं. रोगग्रस्त मेमने और बकरी के बच्चे साधारणतः कमजोर पड़ जाते हैं, भार घट जाता है, दुर्बलता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं तथा दस्त आने लगते हैं. इससे ग्रस्त पशुओं की तोंद निकल आती है और जबड़े के नीचे शोफ हो जाता है. जिलेटिन सम्पुटिका में निकोटीन कॉपरसल्फेट और लेड-आर्सेनेट (0.5–1.0 ग्रा.) देने के बाद रेंडी के तेल की एक खुराक देने से फीताकृमि निकालने में सहायता मिलती है. अन्य बहुत-सी ओषधियाँ भी प्रभावोत्पादक पायी गयी हैं, जैसे फीनोथायजीन, कार्बन टेट्राक्लोराइड, नर फर्न का निष्कर्ष, तारपीन का तेल आदि. पिसी सरसों की बुकनी (112 ग्रा.) और कॉपर-सल्फेट (216 ग्रा.) का जल में मिश्रण जिससे आयतन 13.5 ली. हो जाय, इस कृमि संक्रमण की रोकथाम के लिये उत्तम है.

जुएँ (**बोविकोला** जातियाँ), किलनी (**आर्निथोडोरास** जातियाँ, **बूफिलस** जातियाँ) और माइट (**सार्कोप्टीस** जाति) प्रमुख बाह्य परजीवी हैं जो बकरियों में विशेषतया मेमनों में क्षत पैदा करते हैं. माइट से उत्पन्न होने वाला सार्कोप्टीस मेन्ज बकरियों में होने वाले मेन्ज का अति सामान्य उग्र रूप है. छिड़कने वाले गैमेक्सेन पाउडर या नहलाने वाले विलयन के प्रयोग से इन परजीवियों से रक्षा हो सकती है.

बकरी उत्पाद

बकरियों से दूध, मांस, बाल, चमड़ा और खाद मिलती है. ये दूध तथा कुछ हद तक मक्खन-वसा की लाभप्रद उत्पादक हैं. भारत के बहुत-से भागों में नन्हीं बकरी गरीबों की गाय है. बकरी की खाल का इस्तेमाल हल्के चमड़ों के उत्पादन में किया जाता है तथा इससे काफी मात्रा में विदेशी मुद्रा कमायी जाती है.

दूध – सारे देश में दूध उत्पादन की कमी को पूरा करने के लिये बकरियों का उपयोग किया जाता है. लगभग 17.5% बकरियों को दूध के लिये पाला जाता है. बकरियों से प्राप्त दूध की मात्रा 0.6 से 4.5 किग्रा. तक होती है, यह मात्रा पृथक-पृथक नस्ल के लिये पृथक-पृथक होती है. दूध में औसत-वसा 4.5% होती है. यदि सामान्य आकार और भार की बकरी का पोषण उचित प्रकार से किया जाय तथा उसको समुचित परिस्थितियों में रखा जाये, तो वह 7–10 माह की दूध देने की अवधि-भर प्रतिदिन लगभग 2.2 ली. दूध दे सकती है. उत्तर प्रदेश के एटा नामक

स्थान में प्रत्येक **बरबरी** बकरी 108 दिन की दुग्ध-अवधि में प्रतिदिन औसतन 1.0 किग्रा. दूध देती है. संकर नस्लों में दूध देने की औसत अवधि 165 दिन तथा दूध की औसत दैनिक मात्रा 1.4 किग्रा. है. हिसार फार्म पर दूध देने की औसत अवधि 177 दिन तथा औसत दुग्ध की मात्रा 179.2 किग्रा. है. बकरियों की दुहाई, पशु को कम-से-कम असुविधा प्रदान करते हुये, या तो मूंतकर या मुट्ठी से की जाती है. दूध की पूर्ति को अखण्ड बनाये रखने के लिये दुहाई का समय नियमित होना चाहिये.

संरचना में बकरी का दूध मानव दूध के समान होता है. इसमें वसा 4.9, वसारहित ठोस 9.3, प्रोटीन 4.3, और राख 0.9% होती है. मिशन फार्म, एटा में **जमुनापारी** तथा **बरबरी** बकरियों के दूध में वसा की मात्रा क्रमश: 5.2 और 4.9% होती है. बकरी का दूध आसानी से पच जाता है तथा बच्चों और बीमारों के लिये उत्तम होता है. इसमें प्रत्युर्जता गुण नहीं पाया जाता है. यह छाजन, दमा और बच्चों के परागज ज्वर को दूर करने के लिये रामबाण है. गाय के दूध के विपरीत यह क्षारीय होता है और इसमें लोहा अधिक होता है.

भारत में बकरी के दूध का प्रबन्ध करने वाली विशिष्ट दुग्धशालायें नहीं हैं. प्रत्येक किसान अपनी बकरी को दिन में दो बार दुहता है तथा दूध बाँटता है. सारणी 64 में 1961 का राज्यवार दुग्ध-उत्पादन दिया गया है.

बकरी के दूध से पपड़ीदार दही बनता है. बकरी का दूध तथा दही दोनों ही बच्चों के लिये मृदु विरेचक हैं. बकरी के दूध से बहुतायत से मृदु पनीर तैयार किया जाता है. व्यापारिक पैमाने पर बकरी के दूध से अन्य डेरी उत्पाद तैयार नहीं किये जाते हैं (देखे, Dairy Industry, Wlth India – Industrial Products, pt III, 1–38).

मांस

बकरी का मांस अधिक स्वादिष्ट होता है और भारत में भेड़ के मांस से अधिक पसंद किया जाता है. मांस के लिये प्रतिवर्ष हजारों बकरियों का वध किया जाता है (सारणी 65) तथा इस माँग की पूर्ति के लिये ग्रामीण इलाकों में विशाल संख्या में बकरियों को पाला जाता है. भारत में 1958–59 में बकरी के मांस का राज्यवार वार्षिक उत्पादन सारणी 66 में दिया गया है.

पोषणज सलाहकार समिति के अनुसार 1961–62 में भारत की मांस खाने वाली 37.608 करोड़ जनसंख्या की आवश्यकता की पूर्ति के लिये 38,89,645 टन मांस की आवश्यकता थी, लेकिन भेड के मांस की कुल उपलब्धि 4,78,350 टन थी. इस प्रकार आवश्यकता तथा वास्तविक उपलब्धि के बीच काफी अन्तर था. भारत में 1958–59 में लगभग 276 करोड़ रुपये के मूल्य का 3,19,496 टन बकरी का मांस उत्पन्न हुआ.

भारत की किसी भी अन्य बकरी की तुलना में **अंगोरा** बकरी का मांस (चीवन) अधिक स्वादिष्ट होता है और अधिक दामों पर मिलता है.

बाल

भारत में बकरियों की विभिन्न नस्लों से विभिन्न प्रकार के बाल उपलब्ध होते हैं. भारत में 1961 में बकरी के बालों का अनुमानित वार्षिक राज्यवार उत्पादन सारणी 67 में दिया गया है. **अंगोरा** बकरी के लम्बे और चमकीले बाल मोहेयर कहलाते हैं. ये कम्बल बनाने, गद्दी मढने, रोयेंदार कपडा बनाने, मनुष्यों के गर्मी के कपड़े बनाने, अस्तर लगाने, ऊनी कम्बल, गोट की पट्टी, जाल, जूतों के फीते, टोप, सजावट के सामान, जूतों के विग, स्विच, पर्दा, पलगपोश आदि बनाने के काम में आते हैं.

सारणी 64 – 1961 में भारत में बकरी के दूध का वार्षिक अनुमानित उत्पादन*
(टन)

राज्य	मात्रा	राज्य	मात्रा
अंडमान और निकोबार द्वीप	146	पश्चिमी बंगाल	42,845
असम	9,085	बिहार	82,395
आंध्र प्रदेश	52,054	मणिपुर	105
उड़ीसा	11,140	मध्य प्रदेश	33,385
उत्तर प्रदेश	75,311	महाराष्ट्र	74 081
केरल	11,802	मैसूर	25,509
गुजरात	36,775	राजस्थान	1,11,004
जम्मू और कश्मीर	3,962	लक्षदीवी, मिनिकोय और अमीनदीवीद्वीप	18
त्रिपुरा	948		
दिल्ली	368		
पंजाब	23,023	हिमाचल प्रदेश	3,867
योग		6,28,150	

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

सारणी 65 – भारत में 1960–61 में वध की गयी बकरियों की संख्या*

राज्य	वध की गयी बकरियाँ (वध-गृहों में)	राज्य	वध की गयी बकरियाँ (वध-गृहों में)
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	अप्राप्य	पंजाब	2,61,892
असम	अप्राप्य	पश्चिमी बंगाल	अप्राप्य
आंध्र प्रदेश	20,042	बिहार	4,11,183
उड़ीसा	81,010	मणिपुर	अप्राप्य
उत्तर प्रदेश	6,01,200	मध्य प्रदेश	2,95,316
केरल	88,170	महाराष्ट्र	2,52,271
गुजरात	3,73,215	मैसूर	2,92,824
जम्मू और कश्मीर	अप्राप्य	राजस्थान	4,14,137
तमिलनाडु	7,29,770	लक्षदीवी, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप समूह	अप्राप्य
त्रिपुरा	5,094		
दिल्ली	अप्राप्य	हिमाचल प्रदेश	6,961
योग		38,33,085	

*विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

सारणी 66 – 1958–59 में भारत में बकरी के मांस का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*
(टन)

राज्य	अस्थि-चर्बी युक्त मांस	राज्य	अस्थि-चर्बी युक्त मांस
असम	2,605.4	पश्चिमी बंगाल	43,407.9
आन्ध्र प्रदेश	22,813.1	बम्बई†	48,685.0
उड़ीसा	3,073.3	बिहार	15,581.3
उत्तर प्रदेश	35,697.2	मणिपुर	23.7
केरल	6,878.3	मध्य प्रदेश	43,953.8
जम्मू और कश्मीर	493.8	मैसूर	11,706.6
तमिलनाडु	22,713.1	राजस्थान	34,349.7
त्रिपुरा	382.7	हिमाचल प्रदेश†	1,203.8
दिल्ली	10,243.8	अन्य	9.6
पंजाब†	15,674.2		
योग		3,19,496.3	

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर. †भूतपूर्व राज्य.

सारणी 67 – भारत में 1961 में बकरी के बालों का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

राज्य	मात्रा (किग्रा.)
आन्ध्र प्रदेश	39,916
उत्तर प्रदेश	3,60,974
गुजरात	50,392
जम्मू और कश्मीर	2,26,982
तमिलनाडु	39,99,996
दिल्ली	18,144
पंजाब	4,74,563
महाराष्ट्र	2,07,482
मैसूर	6,59,430
राजस्थान	12,58,757
हिमाचल प्रदेश	2,82,937
योग	75,79,573

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

मोहेयर, ऊन की तुलना में अधिक मजबूत होता है और घरों में धागा कातने के लिये अधिक उपयुक्त है. कातने से पहले कच्चे मोहेयर को धोया नहीं जाता. औद्योगिक कताई स्कूल, हिसार, में मोहेयर की कताई सामान्य चरखे पर की जाती है और इससे मोहेयर के गलीचे बनाये जाते हैं. मोहेयर के गलीचे, चादरें, कम्बल आदि अत्यन्त सुन्दर तथा टिकाऊ होते हैं. कारों और रेल के डिब्बे के पर्दे तथा सूट बनाने और आरामदेह सामान तैयार करने में मोहेयर का बहुतायत से उपयोग किया जाता है. अनुमान लगाया गया है कि भेड़ की तुलना में अंगोरा बकरी से लगभग तीन-गुनी आमदनी होती है.

कांगड़ा जिले (हिमाचल प्रदेश) की सफेद बालों वाली गद्दी बकरियों का संकरण हिसार और उत्तर प्रदेश के पीपलकोठी फार्म पर अंगोरा नस्ल से कराया गया है जिससे उत्तम बालों वाली नस्ल तयार हो सके. संकर बकरी से काफी महीन बाल प्राप्त होते है. तीसरे तथा चौथे संकरण में तो मोहेयर के समान बाल प्राप्त होते है. लेकिन पशुओं का सामान्य आकार घट जाता है. उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र राज्यों के संकरों (संकर$_3$) के बालों की उपलब्धि 392 और 548–590 ग्रा. सूचित की गयी जबकि इसकी तुलना में विशुद्ध अंगोरा बकरियों से क्रमश: 700 और 1757 ग्रा. बालों की प्राप्ति होती है.

पश्मीना (पश्म), लद्दाख, लाहूल और स्पिती तथा हिमाचल प्रदेश की चीना घाटियों तथा उत्तर प्रदेश के टेहरी और गढ़वाल जिलों में पायी जाने वाली पश्मीना बकरियों से उपलब्ध मुलायम रोमावलि है. इन बकरियों के बालों का प्रयोग सामान्यतया जामा, नमदा, कम्बल, झोले इत्यादि बनाने में किया जाता है. पश्मीना का उपयोग प्रसिद्ध कश्मीरी शाल बनाने में किया जाता है. ये बकरियाँ औसतन 112 ग्रा. पश्मीना प्रदान करती हैं. इसकी अलग-अलग किस्मों का मूल्य 66 से 88 रु. प्रति किग्रा. है. लद्दाख की बकरियों के पश्मीने का अनुमानित वार्षिक उत्पादन 136.2 टन है, जिसमें से 40.86 टन उत्तम रोमावलि है, जो कपड़े बनाने के काम आती है.

टेहरी की बकरियों के बाल तभी काटे जाते हैं जब बकरी के बालों की रस्सियाँ बनानी होती हैं. कश्मीर में बकरियों के बाल नियमित रूप से काटे जाते हैं. मैदानों में बकरियों के बालों की कटाई केवल उन्हें सुन्दर लगने के लिये की जाती है. बकरी-पालक जमुनापारी बकरियों के पिछले भाग के बाल इसलिये काट देते हैं कि बालों की जटायें न बन जायें और वे गन्दे न हो जायें.

बकरी के बालों का निर्यात ऐगमार्क के अन्तर्गत, श्रेणीकरण के बाद किया जाता है. सारणी 68 में विभिन्न देशों को निर्यात होने वाले बकरी के बालों के आँकड़े दिये गये हैं.

चमड़ा

भारत ही अकेला ऐसा देश है जहां बड़ी तादाद में बकरी के चमड़े का उत्पादन होता है. भारत में बकरी के सर्वोत्तम चमड़े के उत्पादन के लिये पश्चिमी बंगाल विख्यात है. चमकदार किया हुआ चमड़ा, कुछ चुनी हुयी बकरियों की खालों से, दोहरी अवगाहित क्रोम चर्मशोधन क्रिया द्वारा तैयार किया जाता है. चमकदार चमड़ा उद्योग से सम्बद्ध स्वर्ण या रजत, कुचले और संकुचित किड, दस्ताने, अंगरखे तथा अस्तर किड, कैन्वास, जिल्दसाजी, ई. आई. टैन तथा इनकी ड्रैसिंग और कुछ औद्योगिक चमड़ा उद्योग जैसे कि रोलर खाल, डायफ्राम चमड़ा, गैसमीटर चमड़ा आदि हैं.

बकरी तथा बकरी के बच्चों की खालें भारत के निर्यात व्यापार की प्रमुख वस्तुयें हैं. ये विशेष रूप से अमेरिका भेजी जाती हैं जहां पर इनका इस्तेमाल जूता-उद्योग में किया जाता है. बकरी की खाल की दो प्रमुख व्यापक श्रेणियां हैं : **अमृतसरी** और **कलकतिया**. पहली का उपयोग जूतों के अस्तर बनाने में और दूसरी का जूतों के ऊपरी आवरण बनाने में किया जाता है. जूतों के अस्तरों की माँग अपेक्षाकृत स्थायी है किन्तु ऊपर के आवरणों की माँग फैशन के अनुसार चढ़ती-उतरती रहती है. अनुमान लगाया गया है कि भारत में प्रतिवर्ष लगभग 2.75 करोड़ बकरियों

सारणी 68 – 1963 में बकरी के बालों का निर्यात*

देश	मात्रा (टनों में)	मूल्य (हजार रु. में)
पश्चिमी जर्मनी	802	2,165
नीदरलैंड	560	1,046
आॅस्ट्रेलिया	458	906
पूर्वी जर्मनी	251	795
संयुक्त राज्य अमेरिका	208	692
फ्रांस	205	645
बेल्जियम	182	506
यूनाइटेड किंगडम	54	154
चेकोस्लोवाकिया	41	86
जापान	28	168
हांगकांग	11	29
यूगोस्लाविया	10	19
इटली	10	40
जिब्राल्टर	5	19
फिनलैंड	1	2
अन्य	13	28
योग	2,839	7,300

*Agricultural Marketing, 1964,7, 24.

सारणी 69–भारत में 1961 में बकरी की खालों का अनुमानित उत्पादन*

राज्य	बकरी की खालें (हजार टुकड़े)	राज्य	बकरी की खालें (हजार टुकड़े)
असम	330	पंजाब	940
आन्ध्र प्रदेश	2,045	पश्चिमी बंगाल	3,846
उड़ीसा	414	विहार	1,790
उत्तर प्रदेश	4,588	मध्य प्रदेश	4,044
केरल	591	महाराष्ट्र	3,332
गुजरात	1,429	मैसूर	1,136
जम्मू और कश्मीर	84	राजस्थान	3,711
तमिलनाडु	1,875	अन्य†	51
दिल्ली	807		
योग	31,193		

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

†अंदमान, निकोबार, लक्षदीवी द्वीप समूह, मणिपुर, त्रिपुरा आदि.

और मेमनों की खालें प्राप्त होती हैं. इसमें से 2.33 करोड़ खालें पशुओं के वध से तथा 42 लाख मृत बकरियों से प्राप्त होती हैं. भारत में 1961 में बकरी के चमड़े का राज्यवार अनुमानित वार्षिक उत्पादन सारणी 69 में दिया गया है.

बकरी की खालों का लगभग 90% उत्पादन दिल्ली, तमिलनाडु, मैसूर, पंजाब, केरल और पश्चिमी बंगाल में वध किये पशुओं से होता है. मरे हुये पशुओं की अधिकांश खालें महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में प्राप्त होती हैं. बकरी की खालों के उत्पादन में ऋतु के अनुसार बहुत कम अन्तर पड़ता है. कुछ गिने चुने त्योहारों में इनका उत्पादन बकरी के मांस की मांग बढ़ जाने से बढ़ जाता है (बकरी की खालों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिये देखें, Hides and Skins, Wlth India – Industrial Products, pt IV, 244-251).

खाद

मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिये बकरी की खाद उत्तम होती है. यह देखा गया है कि यदि एक हेक्टर भूमि में रात-भर 2,000 बकरियाँ बैठें तो भूमि को पर्याप्त खाद प्राप्त हो जाती है. गाय या घोड़े की खाद की अपेक्षा बकरी की खाद में नाइट्रोजन की मात्रा तथा फॉस्फोरिक अम्ल कई गुने अधिक रहते हैं. बकरी के मूत्र में नाइट्रोजन तथा पोटैश दोनों ही अधिक रहते हैं और यह अन्य किसी भी जानवर के मूत्र की तुलना में अधिक मूल्यवान होता है.

अनुसंधान और विकास

प्रजनन – भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के अन्तर्गत महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश में समन्वित अनुसंधान योजना चल रही है जिसका उद्देश्य **अंगोरा** बकरे से स्थानीय बकरियों के संकरण द्वारा सुन्दर चमकदार बालों वाली बकरियों की नई नस्लें विकसित करना है. प्रयोगात्मक संकरण कार्यक्रम, पूना (महाराष्ट्र), बिलासपुर (हिमाचल प्रदेश) और ग्वालधाम (उत्तर प्रदेश) में प्रगति पर है. ग्वालधाम फार्म पर तीसरी संतति प्राप्त कर ली गयी है, तथा अन्य दो फार्मों पर दूसरी संतति के कुछ मेमने पैदा किये जा चुके हैं. जब स्थानीय बकरियों को तीसरी संतति तक उन्नत किया जाता है, तो उनके संकरण से सुन्दर चमकदार मोहेयर पैदा करने की क्षमता आ जाती है. मोहेयर उत्पन्न करने वाली बकरियों को अलग करने तथा उन्हें स्थायी बनाने के कार्य को शुद्ध नस्ल के अंगोरा बकरों तथा उनकी संतति के पर्याप्त मात्रा में प्राप्त न होने के कारण बाधा पहुँची है.

पश्मीना उद्योग के सुधार की महत्ता पर विचार करते हुये, जम्मू तथा कश्मीर सरकार द्वारा कुरील में 200 पश्मीना बकरियों के एक छोटे से फार्म की स्थापना की गयी है. इसी उद्देश्य से दो अन्य फार्म, मायो तथा कारगिल में स्थापित किये गये हैं. यदि यह उद्योग सुव्यवस्थित हो जाय और वैज्ञानिक विधि से विकसित किया जाय तो लद्दाख में बकरियों की वर्तमान संख्या से लगभग 2 करोड़ रुपयों की आमदनी होने लगे.

कम ऊँचाइयों पर पश्मीना बकरियों का अंगोरा बकरों से संकरण कराकर मुलायम बालों वाली बकरियों की नस्लें उत्पन्न करना संभव है. संकरों में ऐसी रोमावलि उत्पन्न करने की शक्ति होती है जो पश्मीना की तरह मुलायम हो तथा रेशम की तुलना में कहीं अधिक कांतिमान भी हो.

सुअर

भारत जैसे घनी आबादी वाले देशो मे कम लागत पर उपलब्ध सुअर पशु-प्रोटीन महत्वपूर्ण है. थोडी लागत से उच्च पोषण मान का खाद्य-मास प्रदान करने के मामले मे अन्य फार्म-पशुओ की अपेक्षा यह सर्वश्रेष्ठ है. अनेक पश्चिमी देशो मे तथा भारत में भी जहाँ सुअर के मास तथा मास उत्पाद (1966–67 के अनुमान के अनुसार 33,495 टन) कुल वार्षिक मास उत्पादन के 5% है, सुअर उद्योग का राष्ट्रीय आय मे काफी योग है जिन दशाओ में सुअर पाले जाते हैं उनके कारण सुअर का मास बकरी के मास की अपेक्षा अधिक पसद नही किया जाता. भारत मे सुअर-पालन आर्थिक रूप से नीच जातियो का सहायक पेशा है परन्तु हाल ही मे शुद्ध नस्लो के प्रविष्ट होने के कारण उनके प्रजनन, आहार तथा मास के विपणन की उन्नत विधियो के अपनाने के कारण यह आशा बँधने लगी है कि इस उद्योग से देश की अर्थव्यवस्था मे काफी सहयोग मिलेगा. सुअर पालने मे नाममात्र की लागत बैठती हे. इसे घरेलू उद्योग के रूप मे अपनाया जा सकता है.

1956 की गणना के अनुसार भारत मे सुअरो की सख्या लगभग 50 लाख आँकी गयी है. सुअरो की सख्या का राज्यवार वितरण सारणी 70 मे दिया हुआ है.

सुअरो की सबसे अधिक सख्या उत्तर प्रदेश मे और सबसे कम जम्मू और कश्मीर मे है.

सुअर बडे तेज प्रजनक है और वर्ष मे दो बार बच्चे जनते हैं तथा प्रत्येक बार मे 6–8 या 12 छौनो को जन्म देते हैं. छौने तेजी से बढते है और लगभग 6–8 माह मे उनका भार 68 किग्रा. या अधिक हो जाता है. इस अवस्था मे इनका वध किया जा सकता है. खाद्य के अतिरिक्त सुअर की चर्बी का उपयोग भोजन पकाने मे भी किया जाता हे सुअर से प्राप्त उत्पाद, जैसे सुअर का साधारण या नमकीन मास, हैम, गुलमा, चर्बी आदि की माग स्थानीय उपभोग तथा निर्यात दोनो के लिये बढती जा रही है. सुअर के शूको की माँग विदेशी बाजारो मे है. सुअर के कमाये हुये चमडे का उपयोग जीनो, बटुओ तथा गुटको की जिल्दो आदि के बनाने मे किया जाता है

सुअर, **सुस** लिनिअस वशीय है (गण–आर्टियो **डेक्टाइला**; उपगण–**सुइफोर्मिस**, कुल–**सुइडी**). इनमे पालतू जातियो के अतिरिक्त हिमालय की तलहटी मे पायी जाने वाली कुछ जगली जातियाँ जैसे सामान्य भारतीय जगली सुअर, **सुसस्क्रोफा क्रिस्टेटस** वैगनर और नाटा सुअर **सु सैलवेनियस** (हॉगसन) सम्मिलित हैं. आजकल जो सुअर पाये जाते हैं वे धीरे-धीरे जगली सुअरो से पालतू बनाये गये हैं. नवजात छौनो मे पायी जाने वाली गहरी भूरी अनुदैर्घ्य धारियाँ पुरखो की देन है और ये आयु के बढने के साथ-साथ लुप्त होती जाती है

भारत मे चार प्रकार के सुअर पाये जाते है : जगली सुअर, पालतू या देशी सुअर, विदेशी नस्लें तथा उन्नयित सुअर देशी सुअर की उत्पादकता बढाने तथा उत्तम मास प्राप्त करने के लिये यू.के., न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया जैसे अन्य देशो से सकरण के लिये उत्तम गुण की नस्लो का आयात किया जाता है.

भारतीय नस्लें

भारतीय जगली सुअर **सुसस्क्रोफा क्रिस्टेटस** (स. – वाराह; हि. – सुअर, बारवा, वद, बुरा जानवर; त.–पन्नी; क.–हाण्डी) निचले जगलो या बनो और हिमालय पर 4,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. यह जानवर नाक से आमाशय तक लगभग 1.5 मी. लम्बा और स्कन्ध तक 71–91 सेमी. ऊँचा तथा भार मे 136 किग्रा. होता है. पश्चिमी बगाल मे पाया जाने वाला जगली सुअर पजाब और दक्खिन मे पाये जाने वाले सुअर की अपेक्षा अधिक भारी होता है. जगली सुअर का थूथन लम्बा, पसली छोटी तथा टाँगें लम्बी होती हैं. नर मादाओ से बडा होता है. तरुण सुअर का रग मोर्चई धूसर होता है परन्तु आयु के साथ-साथ गहरा रक्ताभ-भूरा हो जाता है तथा इसके बालो के सिरे धूसर हो जाते हैं. विरल बाल तथा पूरे अयाल या काले कडे बालो के अयाल जो गर्दन से पीठ तक लटकते रहते हैं जगली सुअर मे लाक्षणिक होते हैं. इसमे ऊनी रोमावलि नही पायी जाती. नरो मे दात अच्छी प्रकार विकसित होते हैं, ऊपर तथा नीचे के दाँत बाहर की ओर मुह से बाहर निकले रहते हैं जगली सुअर अत्यन्त चुस्त होता है और जब क्रुद्ध हो जाता है तो मनुष्यो पर हमला कर बैठता है.

जगली सुअरी सभी मौसमो मे अत्यधिक बच्चे देती है. ब्याने से पहले मादा छौनो के लिये बाडा तैयार करती है तथा घास और तिनको का बिछावन बनाती है. चार माह की गर्भावधि के बाद 6–8 छौने पैदा होते है. ये 10–20 के झुड मे चलते है. सर्वभक्षी होने के कारण, ये पौधो, जडो, कद, कीट, साँप, उच्छिष्ट, सडे हुये मास आदि का भोजन करते है. कोई भी अन्य पशु, फसलो को इन पशुओ से अधिक हानि नही पहुँचाते. जगली सुअर से बहुत कम शूकर उत्पाद मिलते हैं लेकिन इनका मास स्वादिष्ट होता है.

सुसस्क्रोफा अण्डमानेन्सिस ब्लाइथ, अण्डमान द्वीप समूह के जगलो मे पाया जाने वाला जगली सुअर हे.

नाटा सुअर, **सु. सालवेनियस** (हॉग्सन) सिक्किम, नेपाल, भूटान और असम मे हिमालय की तलहटी मे स्थित अत्यधिक नमी वाले जगलो मे पाया जाता है यह रात्रिचर हे और ऊँची घासो मे रहना पसन्द करता है, इसीलिये कभी-कभी ही दिखायी देता है. यह 5–20 के झुडो मे रहता है पशु के कधो पर चौडाई लगभग 32 मिमी तथा थूथन से पूछ के ऊपरी भाग तक 66 सेमी. होती है इसका भार 77 किग्रा., रग भूरा और काला होता है. स्पष्ट रूप से अयाल नही होते. इसके नीचे के बाल ऊन जैसे नही होते. गर्दन के पीछे तथा पीठ के बीच के बाल लम्बे होते हैं लेकिन कानो पर के बाल छोटे होते हैं. इसकी आदत जगली सुअर के समान होती है

चाहे पालतू सुअर हो या देशी सुअर, जगली अवस्था से पालतू होने पर धीरे-धीरे वे नवीन परिस्थितियो मे ढलने पर भी एक अलग समूह के रूप मे पाये जाते हैं. इन सुअरो के लक्षण तथा रग देश के भीतर के विभिन्न क्षेत्रो की स्थलाकृति और जलवायु की दशाओ के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं. ये विभिन्न रगो मे जैसे काला, भूरा, किट्ट, धूसर और यहाँ तक कि इनमे से किन्ही दो रंगो के मिश्रण में भी पाये जाते हैं. इनकी प्रकृति तथा सरचना

सारणी 70 – भारत में 1966 में सुअरों की संख्या का वितरण*
(हजारों में)

राज्य	संख्या	राज्य	संख्या
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	21,314	दादरा और नगरहवेली	0.160
		दिल्ली	6.053
असम	422.799	पंजाब	44.883
आन्ध्र प्रदेश	581.871	पश्चिमी बंगाल	143.676
उड़ीसा	180.138	पाण्डिचेरी	1.788
उत्तर प्रदेश	1,162.279	मणिपुर	73.926
केरल	111.928	मध्य प्रदेश	378.095
गुजरात	1.657	महाराष्ट्र	181.122
चण्डीगढ	1.608	मैसूर	207.078
जम्मू और कश्मीर	0.485	राजस्थान	83.347
तमिलनाडु	474.891	हिमाचल प्रदेश	2.869
त्रिपुरा	36.627		
योग		49,75.419	

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

मे भी काफी अन्तर होता है. सुअर-पालन विधियों से भी देशी सुअरों में भिन्नता आ जाती है.

देशी सुअरो का चेहरा लम्बोतरा और नथनों की ओर नुकीला होता है. गर्दन और पीठ पर आने वाले बाल मोटे, लम्बे और कड़े होते हैं, जबकि बगलों तथा जंघो पर के बाल पतले और छोटे होते हैं. इनका सिर और कन्धा पिछले भाग की तुलना मे भारी होता है, पीठ कुछ-कुछ धनुषाकार और पुट्ठा नीचे की ओर लटका होता है. कान छोटे और मझोले आकार के, पूछ घुटने तक लटकती हुयी और बालो के गुच्छों से युक्त होती है. मादाओं में 6–12 चूचुक (स्तन) होते है. प्रौढ़ सुअरो का भार 168 किग्रा. तक होता है.

अधिकतर देशी सुअरो का वध करके उनका ताजा मांस उपभोग मे लाया जाता है. सुअरों का वध कई प्रकार से किया जाता है. बिहार मे इन्हे मारने के लिये तेज और नुकीले सिरो वाली बाँस की पट्टियों का प्रयोग किया जाता है. सुअरो को उनके सिर पर भारी भोथरे औजार से प्रहार करके मूच्छित करके स्थिर कर देते हैं अथवा उनकी देह मे चाकू भोंकने से पहले कार्बन डाईऑक्साइड स्थिरीकारक का प्रयोग किया जाता है.

विदेशी नस्लें

भारत मे सुअर की विदेशी नस्लों का प्रवेश हो चुका है परन्तु इसका कोई प्रमाण नही है जिससे यह पता चल सके कि इन नस्लों का आयात सबसे पहले और फिर उसके बाद में कब-कब हुआ. प्रमुख नस्लो जैसे बर्कशायर, लार्ज ह्वाइट यार्कशायर, मिडिल ह्वाइट यार्कशायर, लैंडरेस, हैम्पशायर, टामवर्थ और वेसेक्स सैडिल-बैक का आयात यू. के. और अन्य पश्चिमी देशों मे किया गया. आज की नस्लें इन्ही प्रमुख नस्लों की सन्ततियाँ हैं, जिन्होंने अपने आपको भारतीय परिस्थितियों में ढाल लिया है.

बर्कशायर उन्नत अंग्रेजी नस्लों मे सबसे पुरानी सुअरों की नस्ल है और व्यापक रूप से पाली जाती है. यह मध्यम आकार की विशिष्ट नस्ल है जो सामान्यत: चिकनी, पर्याप्त लम्बी, भारी और सामान्य आकार की है, टाँगें भी मध्यम आकार की, अच्छी और औसत लम्बाई की हड्डियों वाली होती है. पशु का रंग काला और नाक छोटी तथा ऊपर उठी हुयी, चेहरा दबा हुआ और कान सीधे किन्तु कुछ आगे झुके हुये होते हैं. शरीर पर्याप्त चौड़ा और पीठ चौड़ी, जंघा और कन्धे सामान्यतया चिकने और मांसल होते है. इस सुअर का मांस अच्छी किस्म का होता है. अच्छे बर्कशायर सुअर लगभग 6 माह में बेचने योग्य आकार के हो जाते है. इस नस्ल के प्रौढ़ सुअर और सुअरियों का भार क्रमश: 272–385 और 204–294 किग्रा. होता है.

लार्ज ह्वाइट यार्कशायर का मूल स्थान यू. के. है. जब इसका संकरण अन्य उपयुक्त नस्लों के साथ किया जाता है तो अच्छी किस्म का शूकर मांस प्राप्त होता है. भारत मे इस नस्ल का आयात यू. के., न्यूजीलैंड या ऑस्ट्रेलिया से होता है. इसका आकार विशाल और चेहरा लम्बा तथा कुछ-कुछ दबा हुआ होता है. देह सुन्दर, सफेद, बिना घूघुर वाले बालों से ढकी होती है. चमड़ी गुलाबी रंग की झुर्रियों से रहित तथा लम्बे और औसत दर्जे की रोमावलि से युक्त होती है. कान पतले, लम्बे और कुछ-कुछ आगे झुके हुये तथा किनारे पर बालों से युक्त होते हैं. गर्दन लम्बी और कन्धे तक भरी हुयी, छाती चौड़ी तथा गठीली होती है. स्कन्ध अधिक बड़े नही होते हैं. पीठ कुछ-कुछ धनुष की तरह मुड़ी हुयी और कमर लम्बी और चौड़ी तथा पुट्ठे चौड़े और विकसित होते हैं.

जंघा मांसल और घुटनों तक तथा पूछ ऊँचाई पर लगी होती है. टखने मजबूत और सीधे तथा पैर साफ होते हैं. इस नस्ल के प्रौढ़ सुअरों और सुअरियों का भार क्रमश: 295–408 और 227–317 किग्रा. होता है. यह नस्ल अपने विशिष्ट प्रकार के शूकर मांस के लिये प्रसिद्ध है. यह विभिन्न प्रकार की जलवायु में रहने मे सक्षम है.

यू. के. की लार्ज एवं स्माल ह्वाइट यार्कशायर नस्लों के संकरण से मिडिल ह्वाइट यार्कशायर नस्ल निकली है. यह नस्ल सबसे पहले 1885 मे पशु-पंजिका मे दर्ज की गयी थी. यह सहिष्णु नस्ल है और इसका उपयोग अन्य नस्लो के विकास के लिये किया जाता है. देशी सुअरों को सुधारने के लिये भारत मे इसको यू. के. तथा अन्य देशों से मंगाया गया है.

मिडिल ह्वाइट यार्कशायर औसत आकार का सुअर है जिसका उपयोग शूकर मांस के लिये होता है. इसका भार हल्का, मांस अच्छा, रंग सफेद तथा सिर छोटा, चेहरा दबा हुआ, ऊपर की ओर उठा हुआ, चौड़ा और कानों के बीच मे होता है. चमड़ी चिकनी तथा बिना झुर्री की होती है. गर्दन, सिर से कन्धे तक एकसार होती है. कान लगभग खड़े परन्तु कभी-कभी बाहर की ओर मुड़े होते हैं. जांघ चौड़ी तथा खुरों तक मांसल होती है. हड्डियाँ छोटी-छोटी होने के कारण सज्जित करने पर काफी प्रतिशत मांस निकलता है. यह अच्छा चरने वाला पशु है और हृष्ट्टा रहता है. यह कई बार बच्चे देता है, सुअरियाँ शीघ्र ही वयस्क हो जाती हैं और अच्छी जननी बनती हैं. इस नस्ल के प्रौढ सुअरों और सुअरियों के भार क्रमश: 249–340 और 181–282 किग्रा. होते हैं.

लैण्डरेस सफेद सुअर होता है और उसके कान कटे, बगलें

लार्ज ह्वाइट यार्कशायर सुअरी और उसके बच्चे

लार्ज ह्वाइट यार्कशायर सुअर
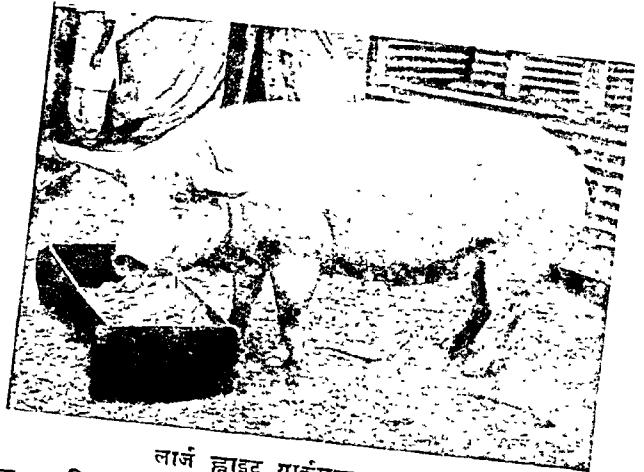
लार्ज ह्वाइट यार्कशायर सुअरी

सुअर : भारत में सफलतापूर्वक प्रजनित विदेशी सुअर

मिडिल ह्वाइट यार्कशायर सुअर

मिडिल ह्वाइट यार्कशायर सुअरी

सुअर : भारत में सफलतापूर्वक प्रजनित विदेशी सुअर

टामवर्थ सुअरी

टामवर्थ सुअर

हेम्पशायर सुअरी
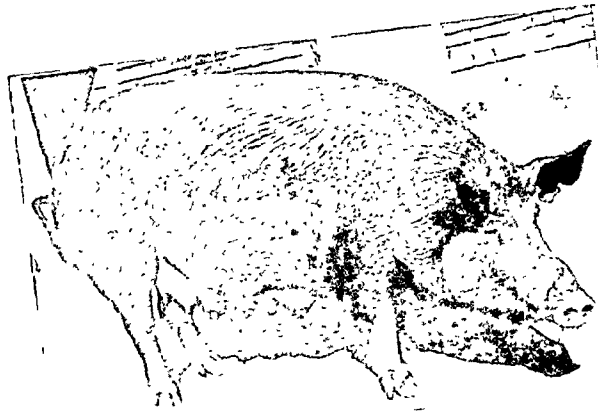
हेम्पशायर सुअर

सुअर : विदेशी नस्लें

लम्बी, अच्छी जांघों से युक्त होती है. इससे श्रेष्ठ शूकर मांस प्राप्त होता है. यह सुअर स्विटजरलैंड का मूलवासी है. सबसे पहले इसका प्रवेश ब्रिटेन में 1949 में हुआ, इसका वहा की लोकप्रिय नस्लो मे द्वितीय स्थान है. **लैंण्डरेस सुअर,** शव गुणो में **लार्ज ह्वाइट यार्कशायर** से उत्तम होता है. 25 सप्ताह की आयु के सुअरों का भार 52.5 किग्रा. होता है.

अमेरिका में **हैम्पशायर** का विकास अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध मे यू. के. से सुअरों का आयात करके किया गया. **हैम्पशायर** काला सुअर है जिसकी देह के इर्द-गिर्द और सामने की टाँगों पर सफेद पेटी होती हे, सिर तथा पूछ काले और कान खडे होते है. यह नस्ल अन्य मास वाली नस्लो की अपेक्षा छोटी होती है तथा इसकी टाँगे छोटी होती हैं. सुअरियाँ अधिक वच्चे देती हैं.

टामवर्थ ब्रिटिश साम्राज्य की चिर परिचित नस्लों में से है. इसका रंग सुनहरा-भूरा, सिर लम्बा तथा संकीर्ण, थूथन लम्बा तथा कान खड़े होते है. इसकी पीठ मजबूत और कन्धे पतले होते है. इससे उत्तम किस्म का शूकर मांस प्राप्त होता है. सुअरियाँ अनेक वच्चे देने वाली होती है. प्रौढ़ सुअर का भार 300 किग्रा. तक होता है.

वेसेक्स सैडिलबेक मुख्य रूप से शूकर मांस वाली अंग्रेजी नस्ल है. इसे मास उत्पादन के लिये सरलतापूर्वक अनुकूलित किया जा सकता है. यह वहुप्रजनन के लिये प्रसिद्ध है. इसकी गठन मासल होती है. इस नस्ल का सिर, गर्दन, पिछला हिस्सा, पिछली टाँगे और पूछ काली, सिर लम्बा तथा थूथन सीधा और कान न फड़फड़ाने वाले तथा वाहर को निकले होते हैं. आठ सप्ताह के सुअरों का भार 21.5 किग्रा. होता है.

प्रवन्ध

अन्य फार्म पशुओं की तरह सुअर अपनी वहुप्रजनक, अधिक वृद्धि दर, शीघ्र प्रौढ़ता एवं अतिरिक्त डेरी अवशेषो और धान्यो को पोषक तथा स्वादिष्ट मास मे वदलने की क्षमता के कारण प्रसिद्ध है. इनसे उत्तम खाद प्राप्त होती है. इस प्रकार कोई भी किसान कुछ ही सुअर पाल कर अपने फार्म की उपज के व्यर्थ पदार्थो का उपयोग कर सकता है और अतिरिक्त आमदनी प्राप्त कर सकता है.

भारत मे सुअर पालने वालों की आर्थिक दशा खराव होने के कारण सुअर पालने मे व्यावहारिक रूप से कोई सुधार नहीं हो पाया है. साथ ही यहा के सुअर-पालकों का पश्चिमी देशो का सा न तो नवीनतम ज्ञान है और न सुअर-पालन विधियों का अनुभव ही है. साथ ही देश मे अखिल भारतीय या क्षेत्रीय स्तर पर देशी या आयातित उन्नतशील नस्लो के सुधार के लिये कोई सुअर प्रजनन सस्था भी नही है. केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो द्वारा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उत्तरार्द्ध मे सुअर सुधार योजनाओ के लागू करने से अभिलिषित गुणो के सुअरो का उत्पादन हुआ है और सुअर उद्योग मे उन्नति के लक्षण दिखायी देने लगे है.

इस समय भारत मे सुअर विपणन के लिये कोई सगठन नहीं है, जिसके कारण वाजार मे सुअरो के भार और देह सरचना के मानक निश्चित नही हो पाये हैं. सुअर-मास उत्पादन करने वाले कारखाने सामान्यत: सुअरो को व्यक्तिगत प्रजनकों या ठेकेदारो से खरीदते है और अपना मानक स्वय निश्चित करते हैं.

सुअर पालने की विभिन्न पद्धतियों मे निम्नलिखित प्रमुख हैं :

खुला सुअरवाड़ा – आधुनिक सुअर वाडों मे सुअरों को विशाल घेरों मे मुक्त रूप से घूमने के लिये छोड़ दिया जाता है. ऊँची जमीन के ऊपर साधारण छायादार स्थान बना दिये जाते हैं जिससे इच्छानुसार सुअर इनके नीचे आराम कर सकते हैं. भारत के ग्रामीण क्षेत्रो मे सुअरो को इसी ढंग से पाला जाता है. लेकिन व्याने वाली सुअरी को जमीन के नीचे वने अड्डे मे रखा जाता है जो उसी आकार के खुले हुये आँगन से जुड़ा हुआ होता है जिसमे सुअरी तथा उसके वच्चे माँद मे आ सकें.

खूंटे में बांधकर – सुअरों को लम्बी चमड़े की पट्टी या जंजीर से खूटो मे इस ढग से बाध दिया जाता है कि वे आराम से चारों ओर घूम सके. इस पद्धति के अन्तर्गत पाले जाने वाले सुअरों के लिये भिन्न-भिन्न स्थानो पर आवश्यकतानुसार छोटे उठाऊ वाड़े बना दिये जाते हैं. ऐसे उठाऊ वाडे ऐसे स्थानो से दूर रखे जा सकते हैं जहाँ संक्रामक रोग फैलते हैं.

सुअरबाड़ा – इस पद्धति मे सुअरो को कुछ काल तक भीतर और कुछ काल तक वाहर रखा जाता है. इमारत के आकार के अनुसार छोटे-छोटे वाड़े बनाकर वाहर जाने के लिये रास्ता रखा जाता है वही सुअर खाते हैं तथा घूमकर सीमित व्यायाम करते हैं और अन्दर ही सो जाते है.

गहन आवास व्यवस्था – यह पद्धति सामान्यत: उन स्थानो पर अपनायी जाती है जहाँ सुअरों को वड़े पैमाने पर रखने तथा पालने की आवश्यकता होती है.

ऐसे विदेशी तथा संकर सुअरों को, जिन पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता होती है, विशेष रूप से वने सुअर-घरो में रखा जाता है. ये घर या तो डच प्रकार के हो सकते हैं जैसे उत्तर प्रदेश सरकार के केन्द्रीय डेरी फार्म, अलीगढ मे वने हुये है, या वैसे जैसे इलाहाबाद कृषि संस्थान, इलाहाबाद ने उपयोग के लिये बनाये है. डच प्रकार के सुअर आवासो मे एक विशाल केन्द्रीय गृह होता है, इसमे एक तरफ ब्याने के लिये बाडो की पंक्ति होती है, जिनमे से प्रत्येक बाड़े की माप 3.7 मी. × 2.5 मी. होती है. दूसरी ओर उसी माप का व्यायाम-वाडा होता है. इसमे खस्सी सुअरों को कीचड़ मे लोटने के लिये 1.83 × 1.22 × 0.23 मी. का स्थान रहता है. वाडे की बगल की दीवारे ठोस होती हैं तथा छत कम से कम 4.5 मी. ऊँची होती है, इसका फर्श सीमेंट का, नालियाँ उपयुक्त प्रकार की तथा खिडकियाँ होती हैं. खस्सी सुअरो को रखने के लिये पृथक कमरे होते है. ये आवास खर्चीले होते हैं तथा भारत मे कुछ व्यापारिक तथा सैनिक सुअरशालाओं मे ही इनका उपयोग किया जाता है. इलाहाबाद कृषि सस्थान की सुअरशाला मे दोनो ओर गहरी नाली, वीच मे ईंट का चवूतरा तथा एक तरफ व्यायाम वाडा (2.5 × 7.5 मी.) तथा वीच के चवूतरे पर लोहे का छोटा दरवाजा होता है. इन वाडो के दूसरे छोर पर दो आयताकार वाहरी स्थान शेडो का कार्य करते हैं. इन शेडो मे सीमेंट से खुली ईंटों की चिनाई करके (कवूतर मुकवो की तरह) सीधी दीवारे खडी की जाती हैं. ऐस्वेस्टास सीमेंट की चादरो की छत खम्भों पर टिकी रहती है जो पीछे की ओर 1.35 मी. ऊँचे और शेड के आगे की ओर 1.91 मी. ऊँचे होते है. पानी तथा चारे की नांदे जस्तेदार लोहे की चादरो से बनायी जाती हैं. गर्मियो मे ठडक पहुचाने के लिये ईंट का बना छोटा लोटने का स्थान भी रखा जाता है जिसमें 203–254 सेंमी. गहरा पानी रह सके. ये सुअर-आवास सस्ते होते हैं तथा आर्द्र क्षेत्रो के लिये सर्वोत्तम होते है.

आहार

लाभकारी सुग्रर-पालन आर्थिक दृष्टि से संतुलित आहार प्रदान करने पर निर्भर करता है जिसमें फार्म अवशेषों तथा उपोत्पादों, कूड़े, कसाई-घर के उपोत्पादों, खराव आटे, सड़े गले अनाजों, इत्यादि का पूरा-पूरा उपयोग होता हो. सुग्ररों में ऐसे उत्पादों की बहुत बड़ी मात्रा को उपयोग में लाने तथा इनको आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक पोषक मान वाले खाद्य मांस में बदलने की क्षमता होती है. भारतीय परिस्थितियों में सुग्रर के लिये आदर्श खाद्य मक्के का दलिया तथा गेहूँ या चावल की भूसी, मूंगफली की खली और दालें हैं. इसके अतिरिक्त, मछली या रक्तचूर्ण, नमक, हरे चारे जैसे वरसीम (**ट्राइफोलियम एलेक्सैंड्रिनम**), मेथी (**ट्राइगोनेला** जाति), कुल्थी (**डालिकस बाइफ्लोरस**) तथा नेपियर घास की मुलायम पत्तियाँ भी इनके भोजन हैं. लेकिन खाद्य पदार्थ की मात्रा तथा उसका प्रकार, खिलाये जाने वाले सुग्रर के प्रकार के अनुसार बदलते रहते हैं. बढ़ने वाले सुग्ररों को अधिक प्रोटीन, खनिज तथा विटामिनों की आवश्यकता होती है. सामान्यत: सुग्रर को 450 ग्रा. प्रतिदिन प्रतिमास आयु के अनुसार आहार देना चाहिये, जब सुग्रर को मोटा करना हो तो देह भार में प्रति 450 ग्रा. वृद्धि के लिये प्रतिदिन 900 ग्रा. अतिरिक्त आहार खिलाना चाहिये. यदि अत्यधिक चर्बी-युक्त पॉर्क की आवश्यकता हो तो सुग्ररों को मक्का दी जा सकती है और यदि कम चर्बीदार बेकन तथा हैम प्राप्त करना है तो मक्का के साथ मखनियाँ दूध और मट्ठा मिलाना चाहिये अथवा प्रोटीन की कमी को पूरा करने के लिये समान मात्रा में चना मिलाया जा सकता है. बढ़ने वाले सुग्ररों को पर्याप्त पीने का पानी देना चाहिये.

प्रजननकारी सुग्ररियों के आहार में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है. इन्हें पूरे वर्ष हरा चारा खिलाना चाहिये. प्रजननकारी सुग्ररियों और छोटी सुग्ररियों को प्रजनन काल के पूर्व प्रति दस दिन या प्रति सप्ताह पहले से अतिरिक्त आहार की आवश्यकता होती है. इस उपचार को 'उत्तेजित करना' कहते हैं तथा यह जानवरों को शीघ्र ही तथा नियमित रूप से मद में लाने तथा गर्भ धारण करने की प्रायमिकता को बढ़ाने में सहायक होता है. गर्भिणी सुग्ररियों को, विकसित होने वाले भ्रूण के लिये, मांस-पेशियों तथा हड्डियों के निर्माण हेतु काफी प्रोटीन तथा खनिज मिलने चाहिये. सुग्ररियों को मोटा न होने देने के लिये गर्भावस्था में स्टार्चयुक्त आहार मे कमी कर देनी चाहिये. सुग्ररियों के लिये निर्धारित मिश्रित आहार ये हैं : मक्का, 27.2 किग्रा.; पिसी जौ या गेहूँ, 13.6 किग्रा.; मछली का चूरा, 4.5 किग्रा. या मक्का, 22.7 किग्रा.; पिसा जौ, 11.34 किग्रा.; गेहूँ का चोकर, 6.8 किग्रा. और मछली का चूरा, 4.5 किग्रा.

सेम, मटर, बन्दगोभी, शलजम, चुकन्दर, आलू आदि को भी आहार में मिला देने से लाभ होता है. गर्भधारण की प्रारम्भिक अवस्था में सुग्ररी को यदि काफी हरा चारा मिलता रहे तो उसे प्रतिदिन 1.35 किग्रा. रातव मिश्रण की आवश्यकता पड़ती है. गर्भधारण के बाद की अवस्थाओं में सुग्ररी को लगभग 2.70 किग्रा. मिश्रण खिलाने की आवश्यकता होती है. ब्याने के तुरन्त बाद हल्का भोजन देना चाहिये, जिसमें गर्म दूध में गेहूँ की भूसी खिलायी जा सकती है. कुछ दिनों तक आहार में शीरे की भी थोड़ी मात्रा दी जा सकती है. आहार को धीरे-धीरे बढ़ाकर 2.7 से 3.6 किग्रा. कर देना चाहिये और दिन में तीन बार खिलाना चाहिये. जब बच्चे एक माह से अधिक के हो जायें तो माता के आहार में प्रति छौने पर 450 ग्रा. की वृद्धि कर देनी चाहिये. 12 छौनों वाली सुग्ररी को प्रतिदिन लगभग 6.35 किग्रा. चारे की आवश्यकता होती है.

7 या 8 सप्ताह की आयु के बाद ही छौनों को नियमित आहार दिया जाता है. इस आयु तक छौने माँ के दूध पर पलते हैं. दूध छुड़ाने के बाद छौनों को अलग बाड़े में रखा जाता है और धीरे-धीरे उन्हें सामान्य आहार पर पाला जाने लगता है. प्रारम्भ में इन्हें दली हुयी जई के समान सूखे दानों पर रखा जाता है और बाद में तरल चारे में गेहूँ की भूसी, जौ या गेहूँ तथा मखनिया दूध में दली हुयी मक्का खिलाते हैं. ज्यों-ज्यों छौने बढ़ते जाते हैं, तरल चारे में कमी की जाती है और हरे चारे में वृद्धि करके धीरे-धीरे नियमित आहार देने लगते हैं जिसे दिन में 4–5 बार खिलाते हैं.

प्रजनन-काल में अच्छी शक्ति, पौरुष तथा ओज बनाये रखने के लिये सुग्ररों को उसी प्रकार तथा उतनी ही मात्रा में चारे की आवश्यकता पड़ती है. साथ ही खुले स्थान में काफी व्यायाम की भी आवश्यकता होती है. इनकी सामान्य खुराक में प्रोटीन-बहुल खाद्यों जैसे सोयाबीन, मछली-चूर्ण, मांस-चूर्ण, डेरी-उप-उत्पादों इत्यादि को बढ़ा देना चाहिये. यह भी अपेक्षित है कि पूरे साल हरा चारा मिलता रहे.

जिन सुग्ररों को खिलाकर मोटा किया जाता है उन्हें प्रजनक सुग्ररों की अपेक्षा 50% अधिक चारे और चरने के लिये काफी चरागाह की आवश्यकता होती है. मोटे तौर पर दाने की आवश्यकता जानवर के शरीर भार की लगभग 3% होती है. मोटे होने के समय, अच्छा चरागाह होना चाहिये और एक भाग गर्त अवशेष तथा एक भाग सोयाबीन की खली में 20 भाग मक्का का मिश्रण मिलाकर खिलाना चाहिये.

प्रजनन

सुग्रर उच्च प्रजनन-क्षमता के लिये प्रसिद्ध हैं. ये स्वास्थ्यकर अवस्था में सामान्यतया वर्ष में दो बार बच्चे जनते हैं. व्यवहार में तीन प्रकार के प्रजनन आते हैं. अन्तर्प्रजनन, बहिर्प्रजनन और संकरण. अन्तर्प्रजनन निकट संबंधी पशुओं के मिलाने की विधि है और यह तभी काम में लायी जाती है, जब किसी विशेष पशु के कतिपय उत्तम गुणों को प्रकट करना हो. लगातार अन्तर्प्रजनन से उत्पादन की मात्रा तथा गुण में ह्रास होता है. बहिर्प्रजनन में असंबंधित या दूर के संबंधित पशुओं का मिलन होता है. सामान्यत: व्यापारिक प्रजनक इसे व्यवहार मे लाते हैं. इस विधि से सामान्यतया काफी परिवर्तन आता है परन्तु इसमें प्रजनक को अत्यन्त सावधानी के साथ चयन करने की आवश्यकता पड़ती है. संकर प्रजनन में विभिन्न शुद्ध नस्लों के सुग्ररों का संगम होता है और इस विधि मे भी जोड़े का सावधानी के साथ चयन करना आवश्यक है.

ठीक तरह पाले-पोसे सुग्रर सामान्यतया आठ माह की आयु में मैथुन के लिये तैयार हो जाते हैं, लेकिन पहले के कुछ महीनों तक इन्हें कम ही प्रयोग में लाना चाहिये. अंधाधुन्ध प्रजनन से बचने के लिये सुग्ररों को अलग बाड़े में रखना जरूरी है. स्वस्थ तथा सक्रिय बनाये रखने के लिये इन्हें पर्याप्त व्यायाम कराना चाहिये और प्रजनन-काल में ही इन्हें मैथुन करने देना चाहिये.

साधारणतः एक वर्ष में एक सुअर लगभग 50 सुअरियों को गाभिन कर सकता है किन्तु इससे अधिक सुअरियों पर इस्तेमाल करने से छौने छोटे होंगे और वे अधिक शक्तिवान तथा स्वस्थ भी नहीं होंगे. ठीक प्रयोग करने पर एक सुअर लगभग 6 वर्ष की आयु तक संगम कर सकता है.

प्रजनन के लिये सुअरियों को उत्तम वंशावली वाले पशुओं में से चुनना चाहिये और अन्तःप्रजनन रोकने के लिये संबंधित पशुओं को मैथुन नहीं करने देना चाहिये. अच्छी सुअरी से सामान्यतः इतने बड़े बच्चे होते हैं जिन्हें वह अपना दूध पिला सकती है. यह लक्षण संतति में चला जाता है, अतः पशुवृन्द के लिये यह अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है.

जब सुअरियाँ लगभग दो वर्ष की हो जाती हैं तो वे पूर्ण वयस्क हो जाती हैं, यद्यपि कुछ छौनियों में 8 या 9 माह की आयु में ही वयस्कता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं. नयी छौनियों को कम उम्र में गाभिन नहीं कराना चाहिये अन्यथा इससे पशु का विकास रुक जाता है तथा कुपोषण के कारण संतति पर प्रभाव पड़ता है. सुअरियों और नयी सुअरियों में मद के लक्षण प्रकट होते ही तुरन्त ही सुअर से संगम करा देना चाहिये. ऐसी सुअरियों को बाकी सुअरियों से अलग रखना चाहिये और ब्याने के समय उन्हें अलग बाड़े में ले जाना चाहिये.

सुअरियों में गर्भावधि लगभग 112–116 दिन की होती है, इस अवधि में इनका भार बहुत नहीं बढ़ना चाहिये और इनकी हालत गिरनी भी नहीं चाहिये. अच्छी स्वस्थ सुअरियाँ वर्ष में दो बार: एक बार दिसम्बर–जनवरी और दूसरी बार जुलाई–अगस्त में बच्चे जनती हैं. सामान्यतः अप्रैल–जून में उत्पन्न होने वाले छौने वर्ष के अन्य किसी समय पैदा होने वाले बच्चों की तुलना में ठीक से नहीं बढ़ पाते.

पहले कुछ दिनों तक छौने बहुत तेजी से बढ़ते हैं. जो छौने अगली टांगों के पास के स्तनों पर चिपके रहते हैं वे आमतौर से बड़े तथा पुष्ट होते हैं. कम दूध होने या एक बार में अधिक बच्चे होने पर या तो कोई दूसरी धाय सुअरी या कम बच्चों वाली सुअरी या बोतल द्वारा कृत्रिम आहार की व्यवस्था की जानी चाहिये. जिन सुअरों को प्रजनन के लिये नहीं रखना हो उन्हें चार सप्ताह का हो जाने पर और 12 घंटे तक भूखा रखकर खस्सी करा देना चाहिये. जब सुअर तीन माह के हो जायें तो इन्हें धीरे-धीरे विशिष्ट सान्द्र आहार देना प्रारम्भ करना चाहिये. जब छौने लगभग 8–10 सप्ताह के हो जायें तो उनका दूध छुड़ा देना चाहिये तथा दिन में तीन बार मखनिया दूध पिलाना चाहिये और धीरे-धीरे दाना खिलाना प्रारम्भ करना चाहिये.

प्रजनन-क्षमता को उच्च स्तर पर बनाये रखने के लिये नियमित छंटनी आवश्यक है. यह कार्य छौनों के दूध छोड़ देने के बाद और सेने वाली सुअरियों की वैयक्तिक क्षमता की जाँच में खरी उतरने के बाद करना चाहिये. ऐसी प्रौढ़ सुअरियाँ जो अच्छी दशा तथा अच्छे बाह्य लक्षणों के होने पर भी अच्छे आकार वाले 6 छौनों को तैयार नहीं कर पातीं उन्हें मोटाये जाने वाले पशुओं के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया जाता है. दोषपूर्ण स्तन वाली, और खराब बच्चे पैदा करने वाली सुअरियों को बहिष्कृत कर देना चाहिये. केवल अच्छी आकृति के छौने उत्पन्न करने वाली तथा उनका भली-भाँति पोषण करने वाली सुअरियों का ही चयन करना चाहिये. यहाँ तक कि उनकी शारीरिक दशा बहुत अच्छी नहीं भी रहे तब भी अगले प्रजनन काल तक उन्हें बनाये रखना चाहिये. बच्चा देने वाली सुअरी तथा प्रजनक सुअर की प्रजनन संरचना से सम्बंधित विस्तृत यूथ-अभिलेखों से प्रजनक अपने प्रजनन कार्य के लिये उत्तम समूह का चयन कर सकेगा. इसी प्रकार सुअरों, जननी सुअरियों, नये और मोटाये गये पशुओं के आहार-अभिलेखों के विवरण से इन पशुओं की क्षमता के निर्धारण में सहायता मिलेगी.

भारत में देशी सुअरों के उन्नयन का कार्य नियमित रूप से उत्तर प्रदेश के आगरा, मेरठ, एटा, मैनपुरी, फर्रुखाबाद, मुजफ्फरनगर और सहारनपुर जिलों, तथा पंजाब और दिल्ली के कुछ भागों में किया जाता है, जहाँ पर सुअरों को पालने के लिये सस्ते सान्द्र खाद्य उपलब्ध हैं. उत्तर प्रदेश में प्रतिवर्ष काफी संख्या में शुद्ध नस्ल के मिडिल ह्वाइट यार्कशायर सुअर 10 रु. के नाममात्र के मूल्य पर प्रजनकों को दिये जाते हैं और बदले में उनसे सरकारी शूकर मांस फैक्टरी के लिये अच्छे दामों पर श्रेणीकृत संतति की खरीद की जाती है. इस श्रेणी उन्नयन कार्य से अनेक उन्नत सुअर-यूथ प्राप्त हुये हैं.

रोग

अन्य फार्म पशुओं की तरह सुअरों में भी जीवाणुओं, विषाणुओं, कवक और वाह्य तथा आन्तरिक परजीवियों द्वारा उत्पन्न अनेक रोग फैलते हैं. इनमें अनेक न्यूनता रोग भी होते हैं.

जीवाणुज रोग – सुअर प्लेग, **पास्तुरेला सुइसेप्टिका** वैसिलस द्वारा उत्पन्न संक्रामक रोग है. यह प्रायः स्वस्थ सुअरों की श्वसन नली में पाया जाता है, पशु के कमजोर हो जाने पर यह रोग जोर पकड़ता है. इसमें तेज ज्वर रहता है, भूख नहीं लगती, साँस लेने में कठिनाई होती है तथा कभी-कभी गले पर उग्र सूजन आ जाती है और प्रवाहिका या पेचिश हो जाती है. सारे शरीर पर रक्तस्रावी धब्बे दिखायी पड़ने लगते हैं तथा नाक, गुदा और मूत्रांगों से रक्तस्राव होने लगता है. निमोनिया भी हो सकता है. रोगग्रस्त पशुओं को अलग हटाकर उपचार करना चाहिये. सुअर-बाड़ों को पूरी तरह निःसंक्रमित कर लेना चाहिये तथा सम्पर्क में आये पशुओं को प्रति-रक्तस्रावी सेप्टीसीमिया सीरम का टीका लगा देना चाहिये. रक्तस्रावी सेप्टीसीमिया टीका, रोग निरोधक उपचार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है.

शूकर विसर्प संस्पर्श रोग है, यह *एरिसिपेलोथ्रिक्स रूसियोपैथियो वैसिलस द्वारा उत्पन्न होता है*, जो सुअरों की आहार नली में पाया जाता है. यह रोग जून–अक्टूबर के महीनों में सर्वाधिक होता है, इसमें तेज ज्वर चढ़ता है और भूख नहीं लगती फिर चमड़ी पर कुछ उठे हुये हीरे की आकृति के क्षत उत्पन्न हो जाते हैं अथवा कानों, नितम्बों, जंघों तथा पेट आदि पर लाली छा जाती है. सुरक्षा के लिये सम्पर्क में आने वाले समस्त सुअरों को प्रतिसीरम की खुराक देनी चाहिये जिससे एक पखवाड़े तक के लिये रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है और इसी अवधि में इन्हें मोटा करके वध किया जा सकता है. दीर्घकालीन तथा तीव्र रोग क्षमता के लिये अप्रैल और मई में एक साथ एक बगल में सीरम का इंजेक्शन लगाया जाता है तथा दूसरी बगल में वेक्सीन का टीका लगाया जाता है.

ब्रुसेला एबार्टस स्विस के द्वारा अकाल गर्भपात हो जाता है. सुअरी और शिशु सुअरी को दूषित भोजन करने या संक्रमित सुअर से मैथुन करने के फलस्वरूप संक्रमण हो जाता है. गर्भपात के पश्चात् भ्रूण और संदूषित पशु बिछाली को नष्ट कर देना चाहिये और सुअरियों का

पूतिरोधी लोशन से उपचार करना चाहिये. जिस सुअरी का गर्भपात हुआ है उसके रक्त सीरम में यदि समूहनग्राही परीक्षण मिला है तो यूथ के सभी पशुओं का परीक्षण किया जाना चाहिये और संदूषित पशुओं का वध कर देना चाहिये.

गिल्टी रोग घातक होता है और **बेसिलस ऐंथ्रेसिस** द्वारा फैलता है. ज्वर के साथ गला सूज जाता है और प्रवाहिका, पेचिश, तथा श्वसन व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाते हैं. फलतः पशु की मृत्यु हो जाती है. यह रोग मनुष्यों में फैल सकता है. अतः शव को खुला नहीं छोड़ना चाहिये, और ठीक से नष्ट कर देना चाहिये. रोग आरम्भ होने पर प्रति-ऐंथ्रैक्स सीरम का उपयोग करना चाहिये और अधिक ग्रस्त स्थानों पर रोग निरोधक उपचार के रूप में ऐंथ्रैक्स स्पोर टीका लगाना चाहिये.

यक्ष्मा एक अन्य दीर्घकालिक संस्पर्श रोग है. इसके लक्षण ज्वर तथा देह के किसी भी भाग में गँठीले क्षत पड़ जाना है. रोग के अधिक बढ़ जाने पर लसीका ग्रन्थियों, यकृत, फेफड़ों, प्लीहा, संधियों तथा अन्य अवयवों पर यक्ष्मा ऊतक के पिंड बन जाते हैं. पक्षी तथा गो-जाति दोनों ही प्रकार के **माइकोबैक्टीरियम ट्युबर्क्युलोसिस** नामक बैसिलस सुअरों पर आक्रमण करते हैं. गो-जाति के बेसिलस से सामान्य यक्ष्मा उत्पन्न होती है. छौने यक्ष्माग्रस्त माता से संक्रमित होते हैं. यूथ में जब रोग के होने का संदेह हो, तो ट्यूबर्क्युलिन अभिक्रिया के लिये पशुओं की जाँच करा लेनी चाहिये. संक्रामक शवों और बिछावन को नष्ट कर देना चाहिये. इस रोग से पीड़ित कुक्कुट तथा गो-पशुओं को सुअरों से मिलने की छूट नहीं देनी चाहिये. मट्ठा, मखनिया दूध, इत्यादि जैसे डेरी उप-उत्पादों को बिना निर्जर्मीकरण के नहीं खिलाना चाहिये.

विषाणु रोग—सुअर ज्वर या सुअर विशूचिका अत्यन्त संक्रामक रोग है, जो छनकर निकल सकने वाले विषाणु द्वारा उत्पन्न होता है. यह रोग केवल सुअरों को ही प्रभावित करता है. इसके लक्षण हैं ज्वर चढ़ना, भूख न लगना, शिथिलता, वमन, प्रवाहिका, श्वास लेने में कठिनाई तथा कानों, पेट तथा टाँगों की अन्तःसतह की चमड़ी पर लाल या नील-लोहित धब्बों का पड़ना. उग्र अवस्था में सुअर मर जाते हैं, रक्त तथा रोगग्रस्त पशु के मल-मूत्र में पाया जाने वाला विषाणु जूं, कुत्तों, चिड़ियों, परिचारकों आदि के द्वारा फैल सकता है. रोगग्रस्त पशु को अलग रखकर उपचार करना चाहिये. सुअरबाड़ों को अच्छी तरह धोकर निःसंक्रमित कर लेना चाहिये. रोग के निवारण के लिये विशिष्ट प्रतिसीरम का टीका लगाना चाहिये. प्रशीतक में सुखाया हुआ खरगोशीय सुअर ज्वर टीका भारतीय पशु चिकित्सा शोध संस्थान द्वारा तैयार किया जा चुका है, जिसका उपयोग रोग निरोधक के लिये किया जा सकता है.

सुअर-माता भी निस्यंदनीय विषाणु द्वारा उत्पन्न होने वाला अत्यधिक सांसर्गिक रोग है. इसमें ज्वर चढ़ता है, भूख नहीं लगती, और कानों, गर्दन, जांघों की आन्तरिक सतह तथा देह की निचली सतह की चमड़ी पर छाले उपट जाते हैं. पाचन-मार्ग में व्रण उत्पन्न हो जाते हैं तथा अधिक रोगग्रस्त सुअरों में निमोनिया हो जाता है. रोगग्रस्त जानवरों को अलग करके उनका उपचार करना चाहिये. पोटैशियम परमैंगनेट के गर्म पानी से घावों को धोना चाहिये तथा बोरिक अम्ल और वैसलीन से पट्टी कर देना चाहिये. यदि सभी रोगग्रस्त पशुओं का वध कर दिया जाय तो यह रोग अन्य पशुओं में नहीं फैलता.

खुरपका और मुंहपका निस्यंदनीय विषाणु द्वारा पैदा होने वाला एक अन्य अत्यधिक सांसर्गिक रोग है. अधिक ज्वर, जल-स्फोट बनना तथा मुंह में छाले पड़ना, ये इस रोग के कुछ लक्षण हैं. पैर के छाले अत्यन्त दुखदायी होते हैं जिससे पशु ढंग से चल नहीं पाता है. छौनों में यह रोग घातक है. रोगग्रस्त पशु को अलग कर लेना चाहिये तथा उपचार करना चाहिये. एक प्रतिशत कॉपर-सल्फेट या फिनाइल लोशन पैरों के छालों पर लगाना तथा 2% फिटकरी के लोशन से मुंह के छालों को साफ करने से लाभ पहुँचता है. इस रोग का कोई प्रभावोत्पादक टीका उपलब्ध नहीं है.

छौनों को इन्फ्लुएंजा निस्यन्दनीय विषाणु द्वारा उत्पन्न होता है. द्वितीयक रोग कारक **हीमोफिलस इन्फ्लुएंजा सुइस** की उपस्थिति में यह रोग अधिक बढ़ जाता है. यह संस्पर्शी रोग है और छौनों में अति सामान्य है. इसकी पहचान ताप के बढ़ने तथा नाक और आँखों से पानी बहने से हो जाती है. निमोनिया, फुफ्फुसावरणशोथ (प्लूरिसिस) और विशेष रूप से पिछली टाँगों में संधिशोथ हो सकते हैं. रोगग्रस्त सुअरों को अलग रखना चाहिये और गरम शुष्क बाड़े में जिसमें काफी बिछावन हो, रखना चाहिये. सूचना है कि सोलूसैप्टैजीन (20%) या सल्फामैथाजीन (0.5%) विशेष रूप से संधियों के ग्रस्त होने पर लाभकर होते हैं.

संक्रामक पेचिश, काक्सीडिया द्वारा उत्पन्न होती है और नये सुअरों में फैलती है. इसका उपचार उपयुक्त आंत्रीय पूति-रोधी तथा कषायों के द्वारा किया जाता है.

नाभि रोग या सन्धि रोग एक संक्रामक रोग है जो नवजात छौनों में होता है. इसका संक्रमण **एशेरिशिया कोलाई** द्वारा होता है और नाभि से बढ़ता हुआ यह यकृत और संधियों तक पहुंच जाता है, जिससे पीलिया, पेचिश तथा लंगड़ापन उत्पन्न होते हैं. ऐसे बाड़ों की उचित रूप से सफाई, जहाँ बच्चे जनते हों, तथा स्वस्थ पशुओं का निःसंक्रमण करने से इस रोग को दूर करने में सहायता मिलती है. उग्र स्थिति में सल्फानिलेमाइड या प्रोसेप्टेजीन देने की सलाह दी जाती है.

कवक रोग—एक्टिनोमाइसीजता सुअरों की आहार नाल में पाये जाने वाले **स्ट्रेप्टोथ्रिक्स एक्टिनोमाइसीज** कवक द्वारा उत्पन्न होता है. इससे सुअर के अयन में गिल्टीदार सूजन आ जाती है और एक या अधिक स्तनग्रन्थियों में क्षत हो जाते हैं. आमाशय तथा आंतों में भी क्षत फैल सकते हैं जिसके कारण पाचन में बाधा पड़ती है तथा सामान्य दुर्बलता आ जाती है. यदि अन्यथा उपयोगी न हों तो रोगग्रस्त पशुओं का सामान्यतः वध कर दिया जाता है. सल्फा-पिरिडीन या कोलाइडी आयोडीन से उपचार किया जा सकता है. बाहरी क्षतों के उपचार के लिये शल्य उपचार आवश्यक हो सकता है.

परजीवी – अन्तःपरजीवियों में से आंत्र कृमि विशेष रूप से बढ़ने वाले सुअरों के लिये हानिकर होते हैं. कम खिलाये गये या उपेक्षित या गन्दे कमरों में रहने वाले और गन्दी वस्तुओं को खाने वाले सुअर कृमियों से शीघ्र ग्रस्त हो जाते हैं. कांटेदार सिर वाले कृमि **मैक्राकैन्थोरिंकस हिरुडीनेसियस** ट्रेवेसोन (=एकिनोरिंकस गिगास) तथा सामान्य गोल कृमि **ऐस्कैरिस लम्ब्रीकोइडीस** लिनिअस सुअरों के दो प्रमुख आंत्रीय परजीवी हैं. इससे ग्रस्त छौनों की बाढ़ रुक जाती है. वे लाभदायक नहीं रह पाते और कमजोर हो जाते हैं. उनका मांस घट जाता है और चमड़ी खुरदरी हो जाती है, उन्हें दस्त की बीमारी लग जाती है.

और कभी-कभी तो पूरी आँत कृमियों से भर जाती है. प्रति 45 किग्रा. देह-भार पर 2 मिली. कीनोपोडियम का तेल तथा उसके बाद रेंडी के तेल का विरेचन देने से आँतों से कृमि निकल जाते हैं.

सुअर कभी-कभी फुफ्फुस कृमि, **मेटास्ट्रॉगिलस ऐलांगेटस** से ग्रस्त हो जाते हैं जिसके कारण सांस लेने में कष्ट होता है, खांसी आती है तथा नाक से पानी बहने लगता है. ये कृमि अपने जीवन-क्रम की एक अवस्था सुअर के पाचक-मार्ग में व्यतीत करते हैं. अतः आँत्र कृमियों के किये गये उपचार से संक्रमण को सीमित रखने में सहायता मिलती है. रोगग्रस्त जानवरों का वध किया जा सकता है और अन्यों को दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है. स्थान बदलने से कृमि संक्रमण के नियंत्रण में सहायता मिलती है.

यकृत फ्लूक का संक्रमण उन सुअरों में सामान्यतया होता है, जो गड्ढों तथा घोंघों से युक्त स्थिर पानी वाले तालाबों, निचली भूमि के चरागाहों में पहुंचते रहते हैं. **फैसीओला-जाइगेंटिका** कोबोल्ड सामान्य यकृत फ्लूक है, जिससे सुअरों में रक्ताल्पता, कमजोरी तथा पाचन में बाधा उत्पन्न होती है. रोग निरोधक उपचार के रूप में सुअरों को दूषित चरागाहों में नहीं जाने देना चाहिये और ताजे पानी के घोंघों को कॉपर सल्फेट (1 भाग प्रति 50,00,000 भाग पानी) के उपयोग से नष्ट कर देना चाहिये. कार्बन टेट्राक्लोराइड या हैक्साक्लोरएथेन परजीवी के नियंत्रण में प्रभावकारी होते हैं.

शूकर-फीता कृमि, **टीनिया सोलियम** लिनिअस और प्रदोत कृमि, **ट्रिकिनेला स्पिरैलस** (ओवेन), दो अन्य प्रमुख आँत के कृमि हैं जो परजीवी हैं. इनकी लारवा अवस्था सुअर की पेशियों को क्षति पहुँचाती है तथा "रोमान्तिका संक्रमित मांस" उत्पन्न करती है. यदि यह मांस कच्चा या आधा पका खाया जाये, तो मनुष्यों में भी संक्रमण हो जाता है. सुअरों में इस संक्रमण को रोकने के लिये मनुष्यों की विष्ठा से सुअरों को दूर रखकर सावधानी बरतनी चाहिये. सुअर में ट्रिकिनेला कृमियों के लारवापुटी का कोई उपचार नहीं है. संक्रमण के निवारण के लिये उस क्षेत्र में पाये जाने वाले चूहों को नष्ट करना तथा चूहे से दूषित खाद्य पदार्थ को सुअरों को न खाने देने से ही इसकी रोकथाम हो सकती है. जहां चूहे उत्पात मचाये ऐसे स्थानों से प्राप्त कचड़े को पका लेने के बाद ही सुअरों को खिलाना चाहिये.

सुअरों की त्वचा के दो सामान्य परजीवी जूं, **हीमेटोपिनस सुइस** लिनिअस और खारिश पैदा करने वाली माइट, **सार्कोप्टीस स्कैबिआइ** (द गियर) हैं. पहला परजीवी अत्यन्त सामान्य है. इसमें अधिक संक्रमण होने पर सुअर बेचैन तथा दुबला हो जाता है. खारिस पैदा करने वाला माइट चमड़ी में घुस जाता है और अण्डे देता है और लगभग दो से तीन सप्ताह में सम्पूर्ण जीवन-चक्र पूरा कर लेता है तेज खुजली उठने पर सुअर ग्रस्त अंग को रगड़ता या खुजलाता है जिससे उसकी हालत बिगड़ जाती है और पशु दुबला हो जाता है. इन दोनों परजीवियों को रोगग्रस्त हिस्से पर अपरिष्कृत पेट्रोलियम लगाकर नष्ट किया जा सकता है. शुद्ध गंधक 450 ग्रा., ओलियम पाइसिस 56 मिली, लिकर पोटैश 56 मिली. और द्रव पैराफिन 1.12 मिली. से बने मरहम के लगाने से लाभ होता है. यदि संक्रमण व्यापक हो, तो रोगग्रस्त सुअरों का वध कर देना चाहिये. सुअर बाड़ों को पूरी तरह निःसंक्रमित करके सफेदी करा देनी चाहिये.

न्यूनता रोग – जब आहार में खनिजों की कमी होती है तो अन्य पशुधन की तुलना में सुअर जल्दी रोगग्रस्त हो जाते हैं. जब सुअर बाड़ों की दीवालों या बिछावन इत्यादि को चाटने लगें तो खनिज की कमी समझना चाहिये, जिसके कारण उन्हें पेचिश हो जाती है तथा वृद्धि रुक जाती है.

लोहे तथा तांबे की न्यूनता आहार में फैरस सल्फेट और कॉपर-सल्फेट की उपयुक्त मात्रा मिलाकर पूरी की जा सकती है.

कैल्सियम तथा फॉस्फोरस की कमी इन खनिजों से अधिकता वाले खाद्य पदार्थों को खिलाने से पूरी हो जाती है. विटामिन-डी के पूरक के रूप में कॉड, शार्क या हालिबट यकृत तेल की थोड़ी मात्रा देने से कमी पूरी हो जाती है. रिकेट और अस्थिमृदुता का उपचार इसी प्रकार किया जाता है. आहार में कैल्सियम की कमी के कारण सुअरियों में दुग्ध-ज्वर (प्रसवीय अल्प कैल्सियम रक्तता) हो जाता है. इन्हें कैल्सियम-बहुल खुराक दी जाती है तथा ग्लूकोस के साथ मैग्नीशियम क्लोराइड का अवत्वक इंजेक्शन लगाते हैं.

छौनों में आयोडीन की कमी से उनके बाल उड़ जाते हैं. इसके लिये सुअरियों को सामान्य खुराक में उपयुक्त मात्रा में पोटैशियम आयोडाइड दिया जाता है.

अविटामिनता से सुअरों के स्वास्थ्य, वृद्धि और दैनिक कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है. समुचित स्वास्थ्य के लिये सुअरों को विटामिन ए, बी, डी और ई आवश्यक हैं. इनको हरे चारे, सब्जियाँ, चुकन्दर, गेहूँ का चोकर, साबुत दाना (मक्का), कॉड या हालिबट यकृत तेल, सान्द्र आहार के साथ खिलाये जा सकते हैं.

सुअर-बाड़ों से प्राप्त उत्पाद

सुअरों से शूकर मांस, नमक लगाकर धुआँ दिया गया शूकर मांस, रान, गुलमा, चर्बी, खाल तथा शूक प्राप्त होते हैं. इनमें से शूक और चर्बी प्रमुख उपोत्पाद हैं. उत्तरी भारत के एक या दो आधुनिक शूकर मांस कारखानों को छोड़कर अधिकांश सुअर-बाड़ा उत्पादों की बाजार में पूर्ति छोटे पैमाने पर तैयार करने वाले करते हैं जो सभी प्रकार के सुअरों का इस्तेमाल करते हैं. ये सुअर-बाड़ों से प्राप्त उत्पादों के उचित निरीक्षण के लिये कोई प्रबन्ध नहीं करते.

सुअरों को वध के पूर्व 24 घण्टे तक उपवास कराते हैं और पूर्ण विश्राम करने देते हैं क्योंकि अच्छे स्तर तथा संरक्षण योग्य उत्पाद प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है. सुअरों का वध पहले ही प्रहार में करना चाहिये और बाद में गले की शिराओं का रक्त निकालने के लिये गर्दन में दो-धार वाले चाकू से प्रहार करना चाहिये. फिर शव को धोते हैं तथा गर्म पानी से अच्छी तरह साफ करते हैं और बाद में विभिन्न प्रकार के उत्पाद तैयार करने के लिये विभिन्न अंगों को काट-काट कर अलग-अलग कर लेते हैं. 1960–61 में कसाईखानों में काटे गये सुअरों की संख्या सारणी 71 में दी गयी है.

सुअर मांस – सुअर के मांस को पॉर्क कहते हैं. इसके विभिन्न नाम पशु के शरीर के उन भागों के अनुसार रखे गये हैं जिनसे मांस प्राप्त किया जाता है. बेकन, पशु की पीठ तथा बगल से प्राप्त मांस है तथा हैम, जाँघ के पीछे से अथवा पिछली टाँग और घुटने के बीच से प्राप्त किया जाता है. भारत सरकार के विपणन और निरीक्षण निदेशालय द्वारा 1966–67 में किये गये आकलन के

सारणी 71 – भारत में 1960–61 में वध किये गये सुअरों की कुल संख्या*

राज्य	संख्या
आन्ध्र प्रदेश	621
उत्तर प्रदेश	7,992
केरल	1,213
तमिलनाडु	5,868
दिल्ली	13,247
पंजाब	7,108
महाराष्ट्र	15,165
मैसूर	1,401
राजस्थान	290
योग	52,905

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय, नागपुर.

सारणी 72 – भारत में 1966–67 में सुअर मांस का आकलित उत्पादन*

(टनों में)

राज्य	सुअर मांस का उत्पादन	राज्य	सुअर मांस का उत्पादन
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	67.4	दिल्ली	799.8
असम	5,057.0	पंजाब	918.0
आन्ध्र प्रदेश	784.0	पश्चिमी बंगाल	12,298.0
उड़ीसा	453.0	पाण्डिचेरी	3.53
उत्तर प्रदेश	2,084.0	बिहार	391.2
केरल	478.8	मणिपुर	688.0
गुजरात	52.2	मध्य प्रदेश	6,176.0
गोवा, दमन और दीव	194.5	महाराष्ट्र	1,812.8
तमिलनाडु	353.0	मैसूर	484.8
त्रिपुरा	89.8	राजस्थान	179.6
		हिमाचल प्रदेश	97.6
योग		33,494 8	

*विपणन और निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय, नई दिल्ली.

अनुसार, सुअर मांस और मांस उत्पाद भारत में उत्पादित कुल मांस के केवल 5 प्रतिशत है (सारणी 72).

पॉर्क के उत्पादन का सुअरों की कुल संख्या, वध किये गये सुअरों की संख्या तथा संसाधित मास की मात्रा से घनिष्ठ संबंध पाया जाता है. प्रति पशु मांस की मात्रा अनेक कारकों, जैसे शरीर भार, आकृति और नस्ल पर निर्भर करती है.

कुछ सरकारी कारखानों के अतिरिक्त दिल्ली तथा कलकत्ता जैसे शहरों मे भी सुअर का मांस तथा मांस-उत्पादों का उत्पादन करने वाले कुछ कारखाने हैं. इन कारखानों का अनुमानित वार्षिक उत्पादन (टनों में) इस प्रकार है: मैसर्स इसेक्स फार्म, दिल्ली (250); केन्द्रीय डेरी फार्म, अलीगढ़ (130); इलमेक, कलकत्ता (50); फास्टर वेल, गिटवाको फार्म और इण्टरनेशनल फूड पैकर्स (प्रत्येक 10). बोरिवली बेकन फैक्ट्री, बम्बई (महाराष्ट्र) की क्षमता सुअर मांस तथा मांस-उत्पादों के लिये प्रतिदिन 100 सुअरों को ससाधित करने की है.

सुअर मांस का उपयोग ताजे सुअर मास के रूप मे या संसाधन के बाद किया जाता है. भेड़ मांस तथा बकरी मांस की तरह ताजे सुअर के मांस की मांग केवल शहरों में ही नही वरन् गाँवों में भी है. गाँव के लोग इसे ताजा खाते है, जबकि शहरी लोग इसे केवल ताजी अवस्था मे ही नहीं वरन् बेकन, हैम तथा गुलमा के रूप में भी खाते हैं. सुअर का मांस बहुत स्वादिष्ट होता है और उत्पादों में अनेक रूपों में संसाधित तथा संरक्षित किया जाता है. संग्रहागारों में इसे लम्बी अवधि तक रखा जा सकता है.

सुअर का मांस जल्दी खराब हो जाता है अतः इसे उचित अवस्था में रखना तथा संरक्षित करना चाहिये. मांस स्वस्थ एवं निरोगी पशुओं से जो रोगमुक्त एवं स्वास्थ्यकर परिस्थितियों में पाले गये हों, प्राप्त करना चाहिये. भारतीय मानक संस्थान ने मांस वाले जानवरों तथा उनके उत्पादों की मरणोत्तर तथा मरने से पूर्व जांच करने के लिये विनिर्देश जारी किये हैं (IS: 1723-1960, 1982-1962, 2476-1963).

शूक – सुअर, हॉग तथा जंगली सुअरों के बाल कड़े, तार जैसे और मजबूत होते हैं. ये साधारणतया पीठ और गर्दन से प्राप्त किये जाते हैं. जानवरों की जंघा तथा पेट पर भी छोटे बाल पाये जाते हैं. सुअर के बाल मोटे तथा दृढ़ और जड़ से सिरे तक पतले होते हुये किनारे पर नुकीले हो जाते हैं तथा इनके छोर फटे हुये और कशाकार होते है, जिसके कारण वे वार्निश तथा पेण्ट करने के लिये अत्यन्त उपयुक्त हैं. जीवित पशु से प्राप्त शूक शव से प्राप्त होने वाले शूकों की अपेक्षा उत्तम होते हैं. भारतीय सुअरों के बाल मोटे तथा मजबूत तथा सभी रंगों में मिलते हैं. विवर्ण शूकों को केन्द्रीय चर्म अनुसंधान संस्थान, मद्रास द्वारा विकसित एवं मानकीकृत प्रक्रम द्वारा विरंजित करके श्वेत रंग में बदला जा सकता है (देखें शूक, भारत की सम्पदा–प्राकृतिक पदार्थ).

देश में सुअर-शवों से खाल नहीं उतारी जाती, वरन् 4–6 मिनट तक उन्हें गर्म पानी के तालाब में झुलसाने से शूक ढीले हो जाते हैं. गर्म पानी से झुलसाने के बाद घण्टी के आकार के दस्ती अवघर्षकों से शूक अलग कर लिये जाते है. जो शूक नही खुरचे जाते उन्हें झुलसा कर जला देते हैं.

सुअरों के बाल उत्पादन में भारत का स्थान चीन के बाद आता है. 1960–61 में 1.52 करोड़ रुपये के मूल्य के 3,82,000 टन बालों का उत्पादन हुआ. यह मात्रा उपलब्ध मात्रा की केवल आधी है. बालों के उत्पादन करने वाले प्रमुख क्षेत्र उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पंजाब हैं. सज्जित शूकों का प्रमुख व्यापार केन्द्र उत्तर प्रदेश में कानपुर तथा मध्य प्रदेश में जबलपुर है. 70% शूकों का निर्यात अकेले कानपुर से होता है. शूकों की प्रमुख किस्म देशी शूक उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश से प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है. उत्तम शूक या दार्जिलिंग-शूक, दार्जिलिंग जिले में हिमालय की निचली पहाड़ियों तथा असम के कुछ स्थानों से प्राप्त होते हैं. भारतीय सुअरों के शूक तीन रंगों में मिलते हैं: सफेद, काले और धूसर. इनको पुनः तीन कोटियों में वर्गीकृत किया गया है : अत्यधिक दृढ़, दृढ़ या अर्ध-दृढ़ अथवा मुलायम.

व्यापारिक शूक जीवित सुअरों के गले के पृष्ठ भाग से इस तरह निकाले जाते हैं कि जड़ें अक्षत रहें जिससे उनकी दृढ़ता और कठोरता में कमी न आये.

सुअर के बाल समस्त सामान्य पशुओं के बालों से सर्वाधिक कीमती होते हैं और मुख्यतया दाढ़ी बनाने और शरीर धोने वाले ब्रुशों से लेकर पेण्ट करने तथा रंगने वाले विभिन्न प्रकार के ब्रुशों के बनाने के काम आते हैं. इनका इस्तेमाल क्रिकेट बॉल के ऊपरी खोल बनाने तथा जूतों का तल्ला चढ़ाने में होता है.

देश में शूकों को एकत्र करने वाले बाजार उत्तर प्रदेश में आगरा, इलाहाबाद, आजमगढ़, फैजाबाद और जौनपुर; महाराष्ट्र में अमरावती और नागपुर; बिहार में सन्थाल परगना; पश्चिमी बंगाल में कलकत्ता, दार्जिलिंग और कालिमपोंग; तथा आन्ध्र प्रदेश में काकिनाडा हैं. शूकों के निर्यात के लिये बम्बई मुख्य बन्दरगाह है. यू.के., अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी और जापान में कुल निर्यात का क्रमश: 58, 28, 8 और 4% जाता है. भारत शूकों के निर्यात से 2.5 करोड़ रुपये वार्षिक की विदेशी मुद्रा कमाता है.

निर्यात के लिये शूकों के गुणों को निश्चित करने के लिये शूकों की श्रेणियों के मानकीकरण की आवश्यकता हुयी है क्योंकि उनके गुणों में ह्रास हुआ है तथा विदेशी क्रयकर्ताओं ने यदा-कदा शिकायतें की हैं (IS: 1844–1962). फलत: पैकिंग सतर्कता से न करने तथा विभिन्न आकार और रंगों के शूकों को मिलाने से रोकने के लिये 1954 में ऐगमार्क श्रेणीकरण चालू किया गया. शूकों को तभी निर्यात होने दिया जाता है, जब वे श्रेणीकरण तथा विपणन (संशोधित) नियम 1962 के अनुसार उचित रूप से श्रेणीकृत तथा चिह्नित हों और भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार द्वारा प्रमाणित हों.

ऐगमार्क श्रेणीकरण योजना के अन्तर्गत निर्यात किये जाने वाले शूकों के गुणों का अनुमान उनकी लम्बाई, रंग, गठन और बाह्य पदार्थों के मिलावट के न होने के आधार पर किया जाता है. शूकों की 18 श्रेणियां हैं जिनकी लम्बाई 51 से 159 मिमी. और इससे अधिक भी होती है और दो क्रमागत श्रेणियों के बीच 6.8 मिमी. का अन्तर होता है. 51 मिमी. से कम लम्बे शूकों को छोटी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है. इस योजना का प्रबन्ध कानपुर में एक पृथक् निरीक्षणालय में विभिन्न केन्द्रों पर रखे गये कर्मचारियों द्वारा किया जाता है. केन्द्रों में बालों का संसाधन किया जाता है और उन्हें निर्यात के लिये पैक किया जाता है. नमूनों का सतर्कतापूर्वक भौतिक विश्लेषण किया जाता है और जो स्वीकृत निर्देशों के अनुरूप होते हैं उनपर ऐगमार्क लगा दिया जाता है. ऐगमार्क के अन्तर्गत श्रेणीकृत सभी प्रकार के भेजे गये माल में रंग, श्रेणी, आकार (लम्बाई), किस्म, पैकिंग का स्थान, पैक करने की तिथि और शुद्ध भार से अंकित समुचित लेबिल होना चाहिये. अपेक्षित गुण नियंत्रण योजना के प्रारम्भ होने से निर्यातित बालों के गुणों में सुधार हुआ और दस वर्ष के भीतर बिक्री में चौगुनी वृद्धि हुयी.

गुलमा – हड्डियों तथा चमड़ी से मुक्त ताजे कटे हुये सुअर के मांस से **गुलमा** तैयार किया जाता है. हैम, नमकीन बेकन मांस इत्यादि के बनाने में शव के अन्य हिस्सों से बचा हुआ स्कंध तथा छँटे हुये मांस का उपयोग गुलमा बनाने में किया जाता है. गुलमा के लिये चुने गये मांस को 2–3 प्रतिशत नमक मिश्रण मिलाकर पूरी रात रखा जाता है. गुलमा के डिब्बों को सोडायुक्त गर्म पानी से धोकर तैयार किया जाता है. छोटे आकार के गुलमा के लिये भेड़ की आँत की पतली नलियों का उपयोग किया जाता है. गुलमा को स्वादिष्ट बनाने के लिये काली मिर्च, पैप्रिका, इलायची और मस्कैट-नट जैसे मसाले उचित मात्रा में डाले जाते हैं.

गुलमा का कीमा बनाने से पहले 25% नमक मिला ताजा मांस तथा 13% वसायुक्त मांस मिलाया जाता है फिर पूरे ढेर को काटने वाली मशीन से दो बार कीमा बनाया जाता है और बाद में गेहूँ का आटा (750 ग्रा./4.5 किग्रा.) तथा मसाले तब तक मिलाये जाते हैं जब तक कि ये मांस में पूरी तरह अवशोषित नहीं हो जाते. इसके बाद इस मथे हुये मांस को पात्रों में भर दिया जाता है और इससे तुरन्त गुलमा थैलियाँ (गट) भर ली जाती हैं और 450 ग्रा. और 900 ग्रा. के पैकिटों में भरकर बेचने के लिये तैयार कर ली जाती हैं.

मांस उत्पादों के गुण में सुधार लाने तथा इन उत्पादों को कतिपय मानकों के अनुरूप लाने के उद्देश्य से भारतीय मानक संस्थान ने विनिर्देश जारी किये हैं (IS : 1723-1960; 1981-1962; 2475-1963; 2476-1963; 3060-1965; 3061-1965).

सुअरों के शव से मिलने वाले अन्य उप-उत्पाद, वसा, आँत, ग्रन्थियाँ, रक्त, खुर आदि हैं. विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय ने 1958-59 में भारत में इन उत्पादों के वार्षिक उत्पादन का आकलन किया है. प्राप्त आंकड़े सारणी 73 में दिये हुये हैं.

सारणी 73 – 1958–59 में वध किये गये सुअरों से प्राप्त उत्पादों का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

(मात्रा टनों में)

राज्य	वसा	आँत	ग्रन्थियाँ	रक्त	खुर
असम	374.5	202.8	203.2	249.7	19.5
आन्ध्र प्रदेश	40.6	26.4	26.4	32.5	2.5
उड़ीसा	15.9	12.4	10.3	14.3	1.2
उत्तर प्रदेश	141.5	79.6	62.4	88.5	6.7
केरल	8.4	5.9	4.6	6.3	0.5
तमिलनाडु	16.3	8.9	8.9	10.9	0.9
दिल्ली	31.8	17.7	16.0	20.4	1.7
पंजाब	44.3	28.2	19.5	33.2	2.4
पश्चिमी बंगाल	778.3	496.2	316.7	535.1	30.4
बिहार	2.0	1.2	1.4	1.2	0.1
मध्य प्रदेश	309.9	251.8	252.2	309.9	24.2
महाराष्ट्र‡	103.2	61.9	67.2	72.2	6.5
मैसूर	27.0	21.1	19.0	24.3	2.0
राजस्थान	2.3	1.7	1.5	1.8	0.1
हिमाचल प्रदेश	4.5	3.4	3.0	3.6	0.3
अन्य†	49.9	29.9	32.5	39.9	3.1
योग	1,950.4	1,249.1	1,044.8	1443.8	102.1

* विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

† अण्डमान और निकोबार, लक्षदीवी, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप, मणिपुर और त्रिपुरा राज्य. ‡ भूतपूर्व बम्बई राज्य.

सारणी 74 – सुग्ररों की नस्लों, प्रजनन केन्द्रों, फार्मों तथा इकाइयों का विवरण*
(1 अप्रैल 1968 के अनुसार)

राज्य	स्थान	नस्लें†	राज्य	स्थान	नस्लें†
असम	शिलांग	LWY, BERK	त्रिपुरा	गान्धीग्राम	MWY
	खानपाड़ा	LWY, HAMP	नागालैंड	गास्पानी	LWY
	तूरा	LWY		तूलां	LWY
	हैफलांग	LWY		तिजित	LWY
	खाईकोल	LWY	पंजाब	नाभा	LWY
	कालियापानी	LWY		लुधियाना	LWY
	बरहानपुर	अप्राप्य		खरार	LWY
	टीफू	LWY		जालन्धर	LWY
आन्ध्र प्रदेश	गन्नावरम्	LWY	पश्चिमी बंगाल	हरिंघाटा	LWY, LR, TW, WSB×B,
	मुकाटयाला	LWY			LWY,LR,D×LWY,WSB×
उड़ीसा	भंज नगर	MWY	बिहार	रांची	LWY LR
	चिपलिमा	LWY		गौरीकर्म	LWY
उत्तर प्रदेश	अलीगढ़	MWY, LWY, चारमुखा		जमशेदपुर	LWY
		HAMP TW, LR		होतवार	LWY
	अराजीलाइन्स	MWY	मणिपुर	इम्फाल	यार्कशायर
	(वाराणसी)		मध्य प्रदेश	अधारताल	अप्राप्त
केरल	मन्नूथी	LWY LWY, MWY	महाराष्ट्र	आरे	LWY, LR
	थैलायोलाप्परम्बा	LWY		धाथावाडे (पूना)	LWY
	अंकामाली	LWY		नागपुर	LWY
	मुनायाड	LWY		औरंगाबाद	LWY
	परस्साला	LWY	मैसूर	हेसारघट्टा	LWY, SB, LR
तमिलनाडु	होसुर	LWY	राजस्थान	अलवर	LWY, LR
	पुडुकोट्टाई	LWY		बस्सी (जयपुर)	LWY
	काट्टुपक्कम	LWY	हरियाणा	हिसार	LWY
	ओर्थानाद	LWY		अम्बाला	LWY
	चेट्टिनाद	LWY	पांडिचेरी	करियामानिकम्	LWY
	अलामाथी	LWY	नेफा	पासीघाट	LWY, WSB. स्थानिक

*सहायक पशुपालन कमिश्नर (सुअरशाला विकास), खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नयी दिल्ली से प्राप्त आँकड़े.

†LWY, लार्ज व्हाइट यार्कशायर; MWY, मिडिल व्हाइट यार्कशायर; BERK, बर्कशायर; HAMP, हैम्पशायर; LR, लैंड रेस; TW, टामवर्थ; WSB, वेसेक्स सैडिल बैक; SB, सैडिल बैक.

सुग्रर की चर्बी – सुग्रर की उपचारित चर्बी लार्ड कहलाती है. ताजे शवों से प्राप्त वसा को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लेते हैं तथा उन्हें भट्ठी के ऊपर उबालते हैं. जब चर्बी उबलने लगे तो शोधित चर्बी को अलग कर लेते हैं तथा विजातीय कणों को हटाने के लिये महीन छलनी से छान लेते हैं. इसके बाद इसे विभिन्न आकार के निर्जमित टीन के डिब्बों में भरकर मुहरबंद कर देते हैं. विभिन्न स्थानों पर भेजने के पूर्व डिब्बाबंद उत्पादों को ठण्डे तथा शुष्क स्थान में रखा जाता है. लार्ड का उपयोग खाना पकाने के अतिरिक्त साबुन, स्नेहक, मोमबत्ती और ग्रीस बनाने में किया जाता है. चमड़े को वाटर-प्रूफ बनाने के लिये इससे भी संसिक्त (रचाई) किया जाता है.

थायरायड, पीयूषिका, अग्न्याशय जैसी ग्रन्थियाँ हारमोन विरचनों को तैयार करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं. पेप्सीन, थायरोक्सीन, पिट्यूट्रिन, इन्सुलिन, यकृत निष्कर्ष, टैस्टोस्टेरोन इत्यादि जैसी उपयोगी ओषधियाँ भी इन्हीं ग्रन्थियों से तैयार की जाती हैं. इन ग्रन्थियों के एकत्र करने तथा संरक्षित रखने के लिये पर्याप्त सुविधायें न होने के कारण भारत में इनका यथेष्ट मात्रा में उपयोग नहीं हो पाता.

यद्यपि खुर, सुग्रर उप-उत्पादों का कुछ ही प्रतिशत हैं किन्तु वे अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं. इनका उपयोग चर्म उद्योग में जूतों का तेल बनाने में होता है और इनसे बटन, कंघी, चाकू के हत्थे आदिफैन्सी सामान बनाये जाते हैं. ये चूर्ण के रूप में उर्वरक की तरह भी प्रयुक्त होते हैं.

सुग्रर के खुरों का चूर्ण बना लिया जाता है जो तम्बाकू उर्वरक के रूप में तथा प्लास्टर और प्लास्टिक के साँचे बनाने के काम आता है.

रक्त एक मूल्यवान उप-उत्पाद है. रक्त-चूर्ण का उपयोग पशुधन तथा कुक्कुटों के लिये आहार के रूप में और खाद के रूप में भी किया जाता है. इसका उपयोग प्लाईवुड में प्रयुक्त होने वाले ऐल्बुमिन के बनाने तथा रँगने से पूर्व चमड़े का प्रसाधन करने, और कपड़ों तथा कागज को रँगने में किया जाता है.

अनुसंधान और विकास

सुअर-पालन भारत में नीच जाति के गरीब लोगों का व्यवसाय रहा है, इसीलिये सुअर पालने में अभी तक कोई उन्नति नहीं हुयी है. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने 1959–60 में सहकारी सुअर विकास योजना प्रारम्भ की. इस योजना के अन्तर्गत अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), हरिंघाटा (पश्चिमी बंगाल), बम्बई (महाराष्ट्र) और गन्नावरम् (आन्ध्र प्रदेश) में एक साथ प्रजनन केन्द्र तथा बेकन फैक्ट्रियाँ तथा विभिन्न स्थानों पर सुअर प्रजनन फार्म और सुअरशाला विकास खण्ड स्थापित किये गये हैं. संकर प्रजनन द्वारा सुअरों की नवीन नस्लों को विकसित करने के उद्देश्य से सात राज्यों में तीन मिली-जुली योजनायें चालू हैं. सुअरशाला विकास कार्य में देशी सुअरों के श्रेणी-उन्नयन हेतु यार्कशायर, लैंडरेस आदि जैसी उन्नत नस्लों का उपयोग किया जाता है. प्रजनन केन्द्रों में शुद्ध नस्ल के सुअरों की वृद्धि की जाती है और उन्हें किसानों में वितरित किया जाता है. विभिन्न सुअर-प्रजनन केन्द्रों तथा इकाइयों पर शुद्ध नस्ल के 10,000 तक सुअर उपलब्ध हैं. सारणी 74 में सुअर की नस्लों, प्रजनन केन्द्रों तथा इकाइयों का निर्देश है.

घोड़े तथा टट्टू

घोड़े (संस्कृत – अश्व)–विश्व के इतिहास को मोड़ देने में अपने अत्यधिक प्रभाव के कारण पशुधन में अश्व जाति के पशुओं का महत्वपूर्ण स्थान है. मानव मात्र के आर्थिक कल्याण में भी इनका काफी हाथ रहा है. पूर्व ऐतिहासिक काल से ही घोड़ों का उपयोग युद्ध तथा शान्ति दोनों के समय किया जाता रहा है. भारत, फारस तथा मिस्र में इनका पालन होता रहा है तथा परिवहन के साधन के रूप में इन्हें प्रशिक्षित किया जाता रहा है

घोड़े मनुष्यों से भी 20 लाख वर्ष पहले से पाये जाते रहे हैं. घोड़ों की आधुनिक नस्लें संभवतः पूर्व ऐतिहासिक पूर्वजों की संततियाँ हैं, जो पहले पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही अर्धगोलार्द्धों में पायी जाती रही हैं. पहला अश्वीय पूर्वज **योहिप्पस** लगभग 6 करोड़ वर्ष पूर्व (तृतीयक ईयोसीन युग का प्रारम्भ) उत्तरी अमेरिका में रहता था. ज्यों-ज्यों दलदलों का स्थान जंगल तथा घास के मैदान लेते गये त्यों-त्यों घोड़ों के स्वरूप में काफी अन्तर आता गया जैसे लम्बी टांगें, छोटे टखने और उठा हुआ सिर. इस वृद्धि का सबसे बड़ा अवगुण यह हुआ कि वे शत्रुओं से अपने को छिपा न सकते थे इसलिये उनमें दौड़ने की सामर्थ्य का काफी विकास हुआ. इस प्रकार अर्वाचीन घोड़े का विकास-क्रम वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप अनेक अनुकूलनों का प्रतिफल है.

आज घोड़ा, गण–**पेरिसोडेक्टाइला**, कुल–**एक्विडी**, तथा वंश–**इक्वस** लिनिअस से सम्बन्धित है. इस वंश में चार समूह हैं : धारीहीन देह, छोटे कान और संकीर्ण खुरों वाला समूह (**इक्वस**), धारीहीन देह, लम्बे कान और संकीर्ण खुरों वाला गर्दभ समूह (**ऐसिनस**), धारीदार देह और चौड़े कानों वाला ग्रीवी का जेब्रा समूह (**डोलि-कोहिप्पस**) और धारीदार देह, संकीर्ण कानों वाला, सिर और लम्बी गर्दन वाला जेब्रा समूह (**हिप्पोटिग्रिस**). इसमें से प्रथम दो समूह भारत में और अन्तिम दो समूह एशिया तथा अफ्रीका के अन्य भागों में पाये जाते हैं.

घोड़ों में दो स्पष्ट प्रकार होते हैं. उत्तरी वन जाति जो आज भी मंगोलिया के जंगली टट्टू का प्रतिनिधित्व करती है, प्रजेवाल्स्की घोड़ा, **इक्वस प्रजेवाल्स्की** पोलियाकोव कहलाता है, और गोबी मरुस्थल में पाया जाता है. आज भी संसार में पाये जाने वाले घोड़ों में असली जंगली जाति यही है. यह लगभग 12 मुट्ठी (एक मुट्ठी = 10.1 सेंमी.) ऊँचा होता है. सिर बेढंगा, अयाल छोटे तथा खड़े किन्तु ललाट केश-रहित होता है. इसका रंग फीका पीला होता है तथा थूथन हल्का और तंग और गधे जैसे पाँव होते हैं. सूचना है कि भारतीय जंगली गधा **इक्वस हेमिनस खुर** लेसन रणकच्छ (गुजरात) में पाये जाते हैं.

दूसरी जाति इ. हे. ओनागर बोड्डाएर्ट कैस्पियन तथा भूमध्य सागरीय इलाकों में पायी जाती हैं. यह पतली चमड़ी वाला, कम भारी, चलने में तेज, अधिक बुद्धिमान जानवर है तथा **इ. प्रजेवाल्स्की** की अपेक्षा गहरे रंग का होता है. कहा जाता है कि यह घोड़ा अरब वर्ब तथा तुर्क नस्लों का पूर्व ऐतिहासिक पूर्वज है. आजकल के भारतीय घोड़े भूमध्यवर्ती क्षेत्रों से आये हुये हैं.

समस्त विश्व में घोड़ों की लगभग 60 विभिन्न पालतू नस्लें हैं. इन सबकी संख्या यांत्रिक परिवहन के फलस्वरूप तेजी से गिरी है और आजकल घोड़ों का उपयोग खेल-कूद में बहुतायत से होता है. अमेरिका में विगत 35 वर्षों में घोड़ों की संख्या 2.5 करोड़ से घटकर 40 लाख हो गयी है. भारत में 1966 में घोड़ों तथा टट्टुओं की संख्या 11 लाख 48 हजार थी. भारत में 1966 में घोड़ों तथा टट्टुओं का वितरण सारणी 75 में दिया गया है.

परिवहन में यान्त्रिकीकरण के फलस्वरूप घोड़ा प्रजनन की व्यवस्था के पिछड़ जाने पर भारत में अब भी देशी नस्लों के कुछ कीमती घोड़े हैं जिनमें और आगे विकास करने तथा प्रवर्धन की क्षमता है. देशी नस्लों से उच्च कोटि के पोलो टट्टू, सवारी के घोड़े, तांगे में चलने वाले टट्टू और लद्दू घोड़ों की पूर्ति हो सकती है. देश के बहुत से इलाकों में, खासतौर से पहाड़ी तथा अर्धपहाड़ी इलाकों में, केवल ये ही परिवहन के काम आते हैं. आजकल भारतवर्ष में घोड़ों की 6 प्रमुख शुद्ध नस्लें मिलती हैं. इनके नाम हैं : **काठियावाड़ी या कच्छी, मारवाड़ी या मलानी, मणिपुरी, भूटानी या भूटिया, स्पिती और चुम्मारती. अरबी** तथा **थारोब्रेड** इंगलिश विदेशों से लायी गयी नस्लें हैं.

भारतीय नस्लें

काठियावाड़ी या **कच्छी** राजस्थान में पायी जाने वाली भारत की सर्वोत्तम नस्लों में से है. यह सुविधाजनक और बलिष्ठ है तथा

*सारणी 75 – भारत में 1966 में घोड़ों तथा टट्टुओं का वितरण**

(हजार में)

राज्य	संख्या	राज्य	संख्या
असम	43.848	पंजाब	36.326
आन्ध्र प्रदेश	48 896	पश्चिमी बंगाल	27.384
उडीसा	66.616	बिहार	115.878
उत्तर प्रदेश	229.845	मणिपुर	0.803
केरल	0.426	मध्य प्रदेश	150.042
गुजरात	70.403	महाराष्ट्र	101.004
जम्मू और कश्मीर	65.797	मैसूर	64.874
तमिलनाडु	17.140	राजस्थान	63.085
त्रिपुरा	1.774	हरियाणा	23.928
दिल्ली	5.165	हिमाचल प्रदेश	14.512
नागालैंड	0.508	अन्य	0.174
योग		1148.427	

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

अपनी चाल और गति के लिये प्रसिद्ध है तथा इनमे उष्णकटिबन्धीय गर्मी और तीव्र ठंड मे कार्य करने की क्षमता होती है. इसकी ऊँचाई 12–15 मुट्ठी (1.2–1.5 मी.) होती है तथा वक्ष परिधि 1.37–1.52 मी. होती है. यह मारवाड़ी नस्ल से अधिक मिलती-जुलती है. लगता है कि दोनों के पूर्वज अरब घोड़े साँड़ ही थे जो भारत के पश्चिमी किनारे पर जहाज के डूब जाने के कारण काठियावाड़ तथा बम्बई के जंगलों में रहने लगे. इस घोड़े का सिर अरबी घोड़े से मिलता-जुलता है. इसके खुर हँसिया के समान तथा कान झुके हुये होते है. रंग लालाभ-भूरा, कुम्मैत-भूरा, बादामी, धूसर, चितकबरा तथा कुछ क्रीम सा होता है. पालिताना अश्वशाला, गुजरात, जिसकी स्थापना 1860 मे हुयी थी, देश में काठियावाड़ी टट्टुओं के प्रजनन में भाग लेने वाली देश की सबसे पुरानी अश्वशाला है.

मारवाड़ी या मलानी राजस्थानी घोड़ा है जो मारवाड़, जयपुर, जोधपुर तथा उदयपुर में पाया जाता है. यह अत्यधिक साहसी और पुष्ट होता है तथा हर दशा में रहने की पर्याप्त शक्ति रखता है, इसकी चाल अच्छी होती है पर यह अनिश्चित स्वभाव का होता है. अधिकांश पशुओं का रंग लालाभ-भूरा तथा कुम्मैत होता है, लगभग 5% पशु क्रीम रंग के होते हैं. यह घोड़ा देखने में शाही तथा सुन्दर होता है और धार्मिक अवसरों पर इसकी अधिक मांग होती है. यह मोटे अनाजों तथा चारों पर अच्छी तरह पलते हैं. इसकी ऊँचाई 14–15 मुट्ठी (1.4–1.5 मी.) और भार लगभग 360 किग्रा. होता है. इस समय देश में यह परिवहन का एकमात्र तेज साधन है. कलाबाजी दिखाने के लिये सरकस के मालिक भी इसको प्रशिक्षित करते है.

मणिपुरी टट्टू कई शताब्दियों से मणिपुर रियासत में पाले जाते रहे है. यह नस्ल अपनी भव्यता, सहनशीलता तथा रफ्तार के लिये प्रसिद्ध है. कद छोटा होने पर भी पशु की देह सुगठित और समानुपाती होती है. यह दृढ़ और कभी न फिसलने वाला होता है. इसकी ऊँचाई 11–13 मुट्ठी (1.1–1.4 मी.) तथा देह का भार लगभग 295 किग्रा. होता है. इसका उपयोग पोलो खेलने, दौड़ में भाग लेने तथा लादने वाले पशु के रूप में किया जाता है. ये फौजी सामान ढोने वाले टट्टुओं के रूप में उपयोगी है. किन्तु जो पशुधन इस समय है उसके सुधार के लिये बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जा रहा है.

भूटानी या भूटिया नस्ल पंजाब से भूटान तक हिमालय पर्वत के निचले इलाकों में पायी जाती है. यहाँ प्रजनन का अधिकांश कार्य पहाड़ी जातियाँ करती है. घोड़े के मुख्य लक्षण है : देह गठी हुयी, मस्तक चौड़ा, गर्दन छोटी और मोटी, छाती चौड़ी, कंधे सीधे, कमर मजबूत, हड्डियाँ अच्छी, उदर उत्तम पसलीदार, पुट्ठे गोल मांसल, टाँगें स्थूल, बालदार और पूंछ लम्बी तथा गरदन के बाल लम्बे खड़े होते हैं. अच्छे टट्टू की ऊँचाई लगभग 13.0–13.2 मुट्ठी (1.31–1.33 मी.) और भार 270 से 360 किग्रा. तक होता है. बधिया टट्टुओं की संख्या अधिक होती है, जो सवारी करने तथा लादने के काम आते है.

स्पिती टट्टू काँगड़ा जिले के कुल्लू उपविभाग मे स्थित स्पिती घाटी में पाये जाते हैं. यह विशेषतया सहिष्णु तथा न फिसलने वाला प्राणी है. इसकी ऊँचाई लगभग 12 मुट्ठी (1.21 मी.) होती है. इसकी देह सुविकसित होती है और हड्डियाँ मजबूत होती हैं. इसकी टाँगों पर लम्बे मोटे बाल होते हैं. इनका रंग गहरा धूसर, लोहे जैसा धूसर या पिंगल होता है, कभी-कभी रंग कुमैत और काला भी मिलता है. क्रीम रंग अत्यन्त विरल है. यह नस्ल केवल ठण्डे भागों में वृद्धि करने में सक्षम है तथा प्रतिकूल अवस्थाओं को जैसे चारे की कमी, लम्बी यात्रा आदि भी सह सकता है. स्पिती इलाके के वासियों की आय का प्रमुख स्रोत टट्टू पालन है. इस नस्ल के टट्टुओं का आयात लाहुल में किया जाता है, जहाँ इसे सवारी तथा परिवहन के काम में लाया जाता है. यह कुल्लू घाटी तथा लद्दाख में एक पृथक् नस्ल मानी जाती है. इस पशु को अपेक्षित आकार का बनाये रखने के लिये अन्तःप्रजनन किया जाता है. व्यापारिक उद्देश्य से बछेड़े को चार वर्ष की आयु मे बधिया कर दिया जाता है. इनकी पूंछ नही काटी जाती क्योंकि प्रजनक इसे अलाभकर मानते हैं.

दूसरी जाति जिसे **चुम्मारती** कहते हैं तिब्बत की चुम्मारती घाटी से आयी है और किन्नौर जिले तथा हिमाचल प्रदेश के आस-पास के इलाकों मे पायी जाती है. स्पिती तथा चुम्मारती के शारीरिक गठन में बहुत कम अन्तर होता है (ऊँचाई, 1.27–1.29 मी.; लम्बाई, 1.34–1.36 मी.; और वक्ष परिधि, 1.34–1.42 मी.). इस नस्ल की घोड़ियों को ऑयरलैंडवासी आयातित **कोनेमारा** टट्टुओं से संकरित करते है.

विदेशी नस्लें

अरबी घोड़ा विदेशी नस्ल का है जिसका उपयोग अश्व प्रजनन के लिये भारत में बहुत पहले से होता आ रहा है. इस नस्ल के घोड़े बुद्धिमान होते हैं तथा इनमें अत्यन्त सहनशीलता होती है. शुद्ध नस्ल के अरबी घोड़ों का रंग कुम्मैत, धूसर, लालाभ-भूरा या भूरा होता है. ये सफेद या काले भी होते है. टांगों, चेहरे तथा नाक पर सफेद धब्बों का होना असामान्य नहीं है. उत्तम घोड़े की ऊँचाई 15 मुट्ठी (1.5 मी.) होती है. वयस्क अरबी घोड़ों का
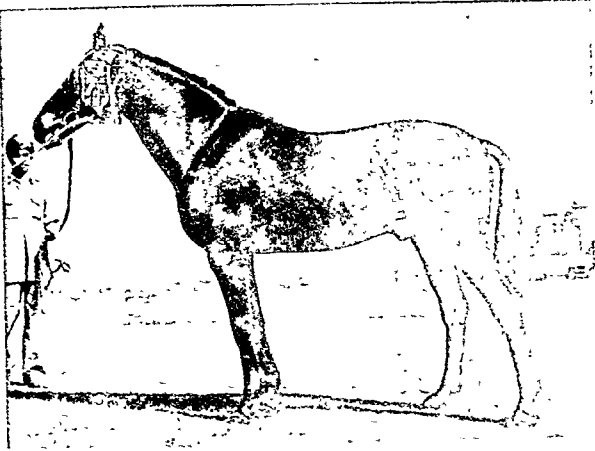
शुद्ध भारतीय घोड़ा
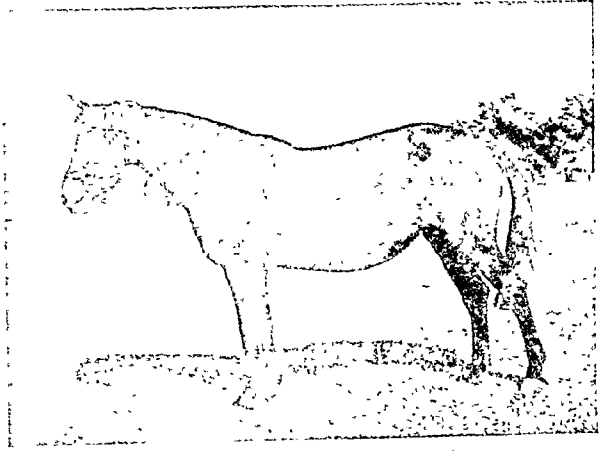
शुद्ध भारतीय अश्व प्रजनक घोड़ी
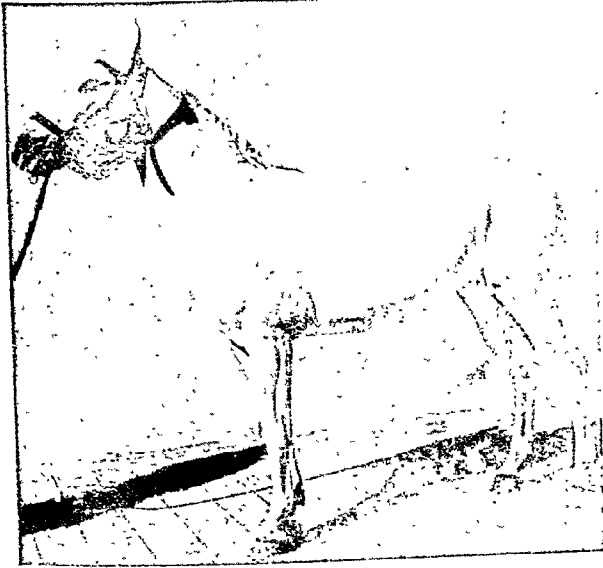
काठियावाड़ी घोड़ा साँड़
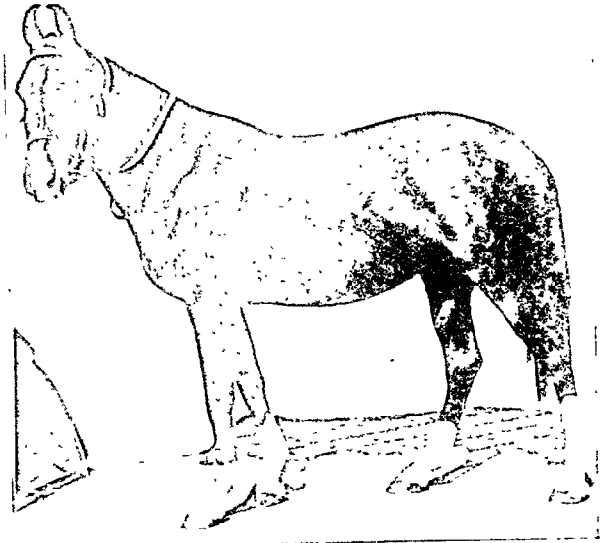
मारवाड़ी घोड़ी
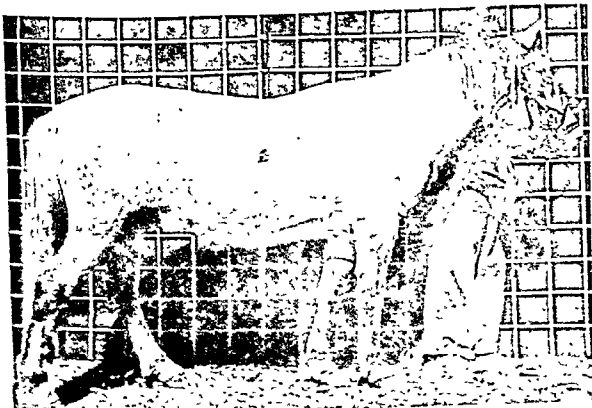
भूटिया घोड़ा साँड़

स्पिती घोड़ी

घोड़े और टट्टू

भार 385 से 454 किग्रा. होता है. अरबी घोड़े अन्य घोड़ों की नस्लों को सुधारने के लिये बीजू पशुओं का काम करते हैं. इन नस्लों को अरबी घोड़ों का स्वरूप, बुद्धि और सहनशीलता उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुयी है. भारत में मैसूर लैन्सर नामक एक प्रसिद्ध रेजिमेंट (सैन्य दल) थी. 17वीं शताब्दी से मैसूरी घोड़ों में बलिष्ठ अरबी पैतृक गुणों के होने का उल्लेख है जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सबसे पहले कुनीगल में फार्म स्थापित किया.

थारोब्रेड इंग्लिश नस्ल लगभग 65 वर्ष पूर्व भारत में ब्रिटिश सेना अधिकारियों द्वारा प्रविष्ट की गयी जिसका उद्देश्य घुड़सवार तथा सशस्त्र सैन्य के पशुओं का सुधार करना था. इसने अपनी कार्य कुशलता के उत्तम स्वरूप के कारण सभी नस्लों से बाजी मार ली है. यह एक समांग नस्ल है जो दीर्घकाल से कार्य कुशलता के लिये सतत चयन के परिणामस्वरूप विकसित हुयी है. यह घुड़दौड़ के लिये सर्वोत्तम होता है. 1750 में थारोब्रेड नस्ल इंगलैंड में एक पृथक् नस्ल मानी गयी थी तथा सामान्य अश्व पुस्तिका में इसे दर्ज किया गया था. थारोब्रेड नस्ल का सिर सुन्दर, चेहरा छोटा और सीधा और कंधे ढलवाँ होते हैं, इसकी ऊँचाई *15 से 16 मुट्ठी (1.5–1.6 मी.)* तथा भार 454 किग्रा. से भी अधिक हो सकता है. इसका रंग कुम्मैत और लालाभ-भूरा होता है. अन्य रंग भी पाये जाते हैं. चेहरे तथा टाँगों पर सफेद धब्बों का होना सामान्य है.

देश में **थारोब्रेड** नस्ल के पशुओं का आयात मुख्यतया यू. के., आयरलैंड, फ्रांस और ऑस्ट्रेलिया से किया जाता है. **थारोब्रेड** घोड़ों के साथ देशी नस्ल की घोड़ियों का संकरण कराने से भारतीय नस्लें उत्पन्न होती हैं.

प्रबन्ध

घोड़े अपने जीवन का 9/10 भाग अस्तबलों में बिताते है इसलिये इनकी अधिक देखरेख करनी चाहिये और जहाँ तक हो सके इन्हें आराम देना चाहिये. अस्तबलों को रोशनीदार, हवादार तथा वात प्रवाह से मुक्त होना चाहिये. खाद की नालियाँ ऐसी बनी हों कि अमोनिया वाष्प पशुओं के पास न फटके. अस्तबलों में घोड़ों को इधर-उधर घूम सकने के लिये स्थान होना चाहिये. चारादान तथा सूखी घास के रैक इस प्रकार से बने हों जिससे पशु आराम से चारा खा सकें. सोने के लिये घोड़ों के नीचे गेहूँ के सूखे भूसे की स्वच्छ बिछाली डाल देनी चाहिये.

घोड़ों की देह पर नित्यप्रति ब्रश और खरहरा करना चाहिये और चमड़ी की धूल, गन्दगी, पसीने तथा रूसी को रगड़ करके साफ करते रहना चाहिये. अयाल तथा पूंछ को नित्यप्रति धोना चाहिये तथा सँवारना चाहिये. खुरों की नियमित सफाई होनी चाहिये तथा जानवर को चंगा रखने के लिये टाँगों की मालिश करनी चाहिये. आवश्यकतानुसार घोड़े की देह के बालों को काट देना चाहिये जिससे कठिन कार्य के बाद पसीना आ जाने पर पशु को असुविधा न प्रतीत हो. घोड़ों को ठीक तथा सक्रिय रखने के लिये इन्हें हर 6–8 सप्ताह में एक बार ठीक से नाल बाँधना चाहिये. घोड़ों से दैनिक कार्य लेते रहने से उनकी शारीरिक दशा ठीक रहती है.

आहार

घोड़ों से जैसा काम लेना हो उसी के अनुसार अच्छी तरह खिलाने की आवश्यकता होती है. परिश्रम करने वाले घोड़ों को भारी पशुओं की अपेक्षा अधिक ऊर्जा प्रदायक चारों की आवश्यकता होती है. भारी घोड़ों को अधिक कच्चा चारा देना चाहिये. जो घोड़े बिना चबाये चारा निगलते हैं उन्हें पकाया घोड़चना (डालिकॉस बाइफ्लोरस लिनिअस) और राई की कुट्टी या गेहूँ का भूसा खिलाना चाहिये. इस देश में सभी आहार पदार्थों में से घोड़चना घोड़ों के लिये सर्वोत्तम है. यह स्थूल तिनका चारों के लिये उपयोगी प्रोटीन पूरक है. जिस प्रकार उत्तर भारत में चने (साइसर एरीटिनम लिनिअस) को खिलाया जाता है उसी तरह से दक्षिणी भारत में घोड़ों को घोड़चना खिलाने का रिवाज है. अधिक काम करने वाले, प्रशिक्षण में लगे, दौड़ने वाले तथा शिकारी घोड़ों को मौसम में इसके अतिरिक्त दाना खिलाया जाता है. उबलते पानी में चोकर के साथ अलसी उबाल कर ठंडा होने देते हैं तथा गुनगुना हो जाने पर खिलाते हैं. भूख कम होने पर घोड़ों को शीरा देना चाहिये.

ऊर्जा प्रदायक चारों के अतिरिक्त घोड़ों को अपना पाचन ठीक रखने के लिये तथा आवश्यक खनिजों की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में अच्छी सूखी घास, विरंजित हरे चारे और कुरमुरी घास की आवश्यकता होती है.

घोड़ों के लिये अतिरिक्त विटामिनों की ज्यादा आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि वे चारे से ही अपनी सभी आवश्यकतायें पूरी कर लेते हैं. नित्यप्रति की खुराक में थोड़ी-सी गाजर मिला लेने से वह इसके पाचन में उद्दीपक का कार्य करती है.

घोड़े को दिन में तीन या चार बार खिलाना चाहिये. चारे का अधिक भाग शाम को खिलाना चाहिये जिससे रात में चारे को पचाने के लिये पशु को पर्याप्त समय मिल सके. चारा-दाना देते समय किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ना चाहिये. यहाँ तक कि खरहरा करना तथा अस्तबल की सफाई भी छोड़ देनी चाहिये. इसकी सफाई बाद में करनी चाहिये. घोड़े ताजा पानी पीना पसंद करते हैं. चारा देने से पहले पानी पिलाना चाहिये.

परिश्रम करने वाले घोड़े को चराना शारीरिक क्रिया के हिसाब से ठीक नहीं है क्योंकि चारे में कार्बोहाइड्रेट की कमी हो जाने से इसकी कार्य-क्षमता घट जाती है. लेकिन गाभिन और बच्चे वाली घोड़ियों तथा दूध पीते बछेड़ों को चराना आवश्यक है.

प्रजनन

यद्यपि भारत में घोड़ों का प्रजनन बहुत पहले से चला आ रहा है किन्तु 1795 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन के पश्चात् ही विधिपूर्वक चालू हुआ. देशी नस्लों का सुधार करने तथा उनकी संख्या में वृद्धि करने के लिये भारत में घोड़ों के प्रजनन की दो पद्धतियाँ चालू की गयीं : अबंधित पद्धति तथा बंधित पद्धति.

अबंधित पद्धति—इस पद्धति के अन्तर्गत प्रजनन ऐच्छिक है. छावनियाँ बिना शुल्क लिये घोड़ियों को गाभिन करने के लिये अपने घोड़े उधार देती थीं और खुले बाजार से संतति खरीदती थीं.

बंधित पद्धति—प्रजनकों को निःशुल्क जमीन दी जाती थी तथा प्रजनन के उद्देश्य से घोड़ों तथा खच्चरों के लिये अनुदान दिये जाते थे. सेना छावनियाँ अपने घोड़े मैथुन के लिये निःशुल्क देती थीं लेकिन इस प्रजनन के 18 माह तक सन्तति पर उनका अधिकार होता था. इसके बाद प्रजनक उसे बेचने के लिये स्वतंत्र होता था. लेकिन अब ये दोनों पद्धतियाँ व्यवहार में नहीं हैं.

भूतपूर्व नरेशों के अश्व-पालन के निजी स्थान होते थे और इनमे से कुछ अभी तक काम कर रहे हैं. इनमे से भोपाल, मजरी, कुनीगल, हेमारघट्टा और काठियावाड़ी पालीताना के अश्व-पालन गृह प्रमुख हैं. इनमे से कुछ निरन्तर घुड़दौड़ के लिये घोड़े पैदा करते है.

देश में लगभग 36 अश्व फार्म हैं जो मैसूर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, पंजाब और उत्तर प्रदेश में हैं. कुछ प्रसिद्ध अश्व फार्मो के नाम हैं : मैसर्स पूना स्टड फार्म प्राइवेट लिमिटेड, पूना; यर्वदा स्टड और कृषि फार्म, पूना; महाराष्ट्र स्टड और कृषि फार्म, पूना; मंजरी स्टड फार्म प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई; दोआवा स्टड और कृषि फार्म, पिसावा, अलीगढ़; भोपाल स्टड और कृषि फार्म प्राइवेट लिमिटेड, भोपाल; सीवानिया स्टड फार्म, भोपाल; कोल्हापुर स्टड फार्म, कोल्हापुर और कुतब स्टड कृषि फार्म, नई दिल्ली. इन अश्व फार्मो से मुख्यतया दौड़ के लिये घोड़े तैयार किये जाते हैं. देश में घोडा-प्रजनन का सबसे पुराना केन्द्र भोपाल है और इसने घुड़दौड़ बाजार को सबसे बडा योगदान दिया है.

इस समय भारत सरकार का अश्व-प्रदायक और पशु चिकित्सा निदेशालय, रक्षा मंत्रालय का एकमात्र संगठन है जो भारत मे सर्वोत्तम प्रजनन कार्य कर रहा है. राज्यों के निजी प्रजनन केन्द्रों तथा अश्व फार्मो के माध्यम से यह निदेशालय रक्षा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उपयुक्त प्रकार के घोड़े तैयार करता है. इस निदेशालय ने खच्चर प्रजनन कार्य भी अपने हाथ ले रखा है. यह निदेशालय आयात किये गये शुद्ध रक्त के घोडों की सहायता से स्थानीय नस्लों में सुधार करता है. इस कार्य के लिये आधार भूत पशुओं का आयात यू. के., फ्रांस, इटली, पोलैंड, यूगोस्लाविया, अर्जेन्टाइना और ऑस्ट्रेलिया मे किया जाता है.

पिछले कुछ वर्षो से विभिन्न प्रान्तों मे पशु चिकित्सा विभागों ने घोडा तथा खच्चर प्रजनन मे रुचि लेनी प्रारम्भ की है. सरकारी पशुधन फार्म, हिसार (हरियाणा); हिंगोली स्टड (महाराष्ट्र); खच्चर प्रजनन केन्द्र, पशुलोक, ऋषिकेश (देहरादून); पहाडी टट्टू और खच्चर प्रजनन फार्म, जीओरी (हिमाचल प्रदेश) में कार्य चल रहा है.

आजकल घोडों के सुधार मे जो अन्य एजेन्सियाँ देश के विभिन्न भागों में कार्यरत हैं वे टर्फ क्लब और राष्ट्रीय घोडा प्रजनन समितियाँ तथा भारत की प्रदर्शनी समितियाँ हैं.

देशी नस्लों के सुधार का उद्देश्य नस्ल की सहनशक्ति बढाना है. ग्रामीण जनता परिवहन के लिये मुख्य रूप से पशुओं पर निर्भर है, अतः ऐसी भारतीय नस्ल को विकसित करने की आवश्यकता है जो सभी कार्यों के लिये उपयुक्त हो.

हिमाचल प्रदेश के पशु-पालन विभाग ने तीसरी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत किन्नौर के सीमावर्ती जिले मे घोडों तथा खच्चरों के प्रजनन की एक योजना सम्मिलित की थी. इस योजना का आधार स्टाक कोनेमारा, स्पिती और चुम्मारती घोडा नस्लों तथा गधा नस्लों का था.

प्रजनन के लिये घोडों की अधिक उपयुक्त नस्ल वह है जो सब प्रकार के दोषों से मुक्त हो और असली प्रकार की हो. यह आवश्यक नहीं कि उत्तम प्रजनक घोड़ी सवारी के लिये उत्तम सिद्ध हो, साथ ही प्रायः अच्छी शिकारी घोड़ी में वे गुण वर्तमान नहीं हो सकते जो अच्छी प्रजनक घोड़ी में पाये जाते है. नस्ल की अनवरत उत्तमता तथा उनके उच्च मानक को बनाये रखने के लिये उत्तम संतति रखना सर्वाधिक अपेक्षित है. प्रजनन उद्देश्य के लिये सर्वोत्तम वंश का मध्यम घोड़ा भाग्य से उत्पन्न सर्वोत्तम घोड़े से अधिक उपयोगी होता है.

घोड़ो में प्रजनन वर्ष की विशेष ऋतु तक सीमित रहता है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान मे परिवेश और जलवायु की दशाओं के अनुसार परिवर्तित होती रहती है. प्रजनन कार्य मई–अगस्त मे कराया जाता है जब पशु मद मे आते हैं. यह मदकाल औसतन दस दिन तक रहता है. एक नर, अपनी आयु के अनुसार 30–40 मादाओं के साथ संगम कर सकता है. जो पशु जून–जुलाई मे मैथुन करते हैं उनमें गर्भधारण दर उत्तम बतायी जाती है. मिलन के लिये सही समय ज्ञात करने तथा मादाओं को मद मे लाने के लिये सैनिक अश्व गृहो मे टट्टुओं का उपयोग किया जाता है. घोड़ियों की औसत गर्भावधि 335 दिन की होती है. जब मादाये एक मास के भीतर ही जनने वाली हो उन्हे विशेष प्रकार के बच्चा देने वाले कमरो (ठौर) में ले जाया जाता है. बच्चा देने के 5–13 दिन बाद मादाये पुनः मद मे आती हैं. 6 माह की आयु तक धीरे-धीरे दूध छुड़ा देना चाहिये.

रोग

घोड़े अन्तः तथा बाह्य दोनों ही प्रकार के परजीवियो के शिकार होते हैं. फ्लूक, फीता कृमि तथा गोल कृमि अन्तःपरजीवी हैं और मक्खियाँ, जू, टिक (चीचड़ी) और माइट बाह्य परजीवी हैं.

घोड़े के समस्त रोगों मे घोड़ों का दक्षिणी अफ्रीकी रोग अधिक भयंकर होता है. ये निस्यंदनीय विषाणु द्वारा उत्पन्न होता है. अप्रैल 1960 मे जयपुर (राजस्थान) में घोड़ों मे यह महामारी प्रथम बार फैली. शीघ्र ही यह रोग देश के अन्य क्षेत्रों मे फैला और इसके फलस्वरूप अश्व-धन की बडी क्षति हुयी. *17,800 घोड़े रोगग्रस्त हुये जिनमें से 16,162 मर गये. 1960* मे महाराष्ट्र और 1961 में मध्य प्रदेश, रोग की सर्वाधिक चपेट में रहा. मैसूर, राजस्थान, जम्मू और कश्मीर, आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में घोडे बडी संख्या में मरे.

रोग को निम्न लक्षणों से पहचाना जाता है : ज्वर रहना, अवत्वक ऊतकों का शोफ, नेत्र श्लेष्मला, कुछ उदरीय भागों में रक्तस्राव और शरीर गुहाओं में सीरम का एकत्र होना. फेफड़ों पर अधिक शोफ हो जाता है तथा वक्षगुहा मे सीरम एकत्र हो जाता है. दक्षिणी अफ्रीका मे इस रोग का मौसम होता है, यह अधिकतर गर्मी के महीनों मे तथा बरसात के मौसम में तभी फैलता है जब इसके रोगवाहक, विशेष रूप से कुलिसिड मच्छर, बहुतायत मे पाये जाते हैं. भारत में इसका हृदयी रूप ही देखने में आता है. इसके लक्षण हैं : ज्वर हो जाना तथा अवत्वक् शोफ, ऊतक शोफ तथा अधिनेत्रगुहा के ऊपर पलकों पर सूजन आ जाना, कभी-कभी ओठों तथा कपोलों पर भी शोफ हो जाता है. इसमे उग्र नेत्रश्लेष्मला शोफ हो जाता है तथा आंसू बहने लगते है. रोगग्रस्त जानवरों के पेट मे दर्द होता है जो उसके जल्दी-जल्दी लेटने तथा उठने से पहचाना जा सकता है. अत्यन्त कठिनायी से कष्ट पूर्वक सांस लेने के कारण जानवर की मृत्यु हो जाती है.

नियंत्रण के लिये रोगग्रस्त घोडों का विलगन या वध कर देना चाहिये. साथ ही स्वास्थ्यकर अवस्था में शवों को नष्ट कर देना चाहिये; रोगवाहक कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये पशुओं के
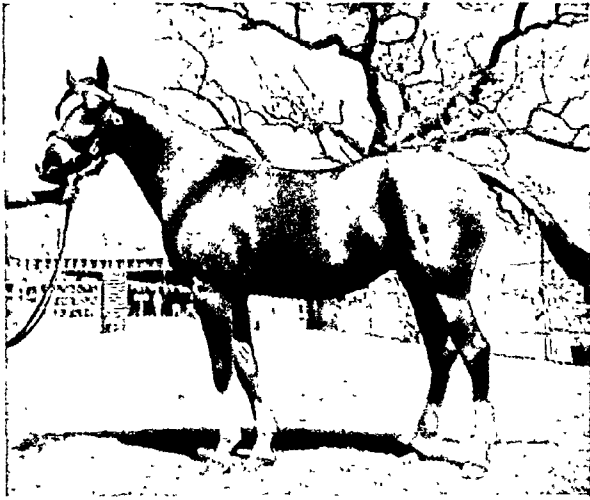
संकरित घोड़ी—रूसी × अरबी

संकरित घोड़ी—फ्रान्सीसी पर्वतीय तोपखाने में प्रजनित

देशी प्रजनित घोड़ा
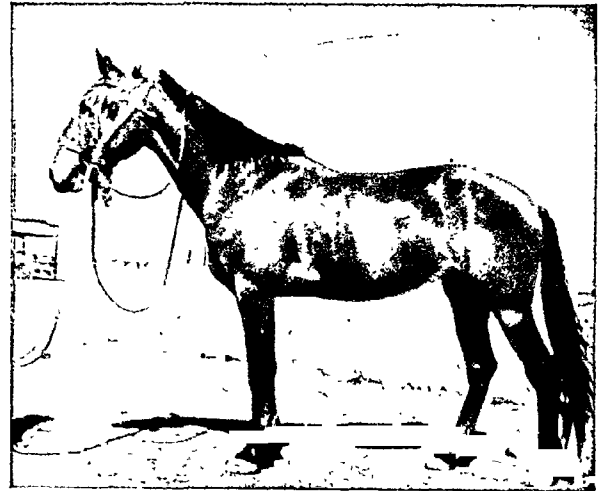
देशी प्रजनित घोड़ी

घोड़े : संकरित नस्लें

शरीर पर और पशुओं के आवासों में डी. डी. टी. का छिड़काव करना चाहिये. रोगग्रस्त पशुओं का घूमना बन्द कर देना चाहिये. रोकथाम के लिये घोड़ों को टीका लगाना अच्छा रहता है. भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर में उत्पादित बहुयोजी वैक्सीन लगाने से घोड़ों को इस रोग से 6 वर्ष की अवधि के लिये असंक्राम्यता प्राप्त हो जाती है किन्तु पशुओं को यह रोग न लगे इसलिये उन्हें यह टीका प्रतिवर्ष लगवा देना चाहिये.

आर्थिक महत्व – घोड़ा प्रजनन किसी भी प्रजनक के लिये कभी भी लाभदायक उद्योग नहीं रहा. ऐसी परिस्थितियों में इस उद्योग का संवर्धन एवं विकास अकेले सरकार ही कर सकती है. जिन देशों में घोड़ा प्रजनन में उन्नति दिखायी पड़ती है वहाँ उस राज्य की सरकार ने उद्योग को बढ़ाने में पर्याप्त धन व्यय किया है. उत्तर में दुर्गम पहाड़ी इलाकों में पहुँचने तथा मैदानों के सुदूर पिछड़े स्थानों में सुरक्षा तथा कम खर्चीले यातायात के साधन के रूप में घोड़ों की इतनी अधिक आवश्यकता है कि घोड़ों का नियोजित वैज्ञानिक प्रजनन अवश्यम्भावी बन गया है.

घोड़ा प्रजनन का उद्देश्य घुड़दौड़, घोड़ा-गाड़ी, सवारी करने वाले घोड़े तथा सैनिक घोड़ों की अच्छी किस्में तैयार करना है जिससे देश इन मदों में आत्मनिर्भर हो सके. घुड़दौड़ संसार में माना हुआ खेल है, और इससे घोड़ा प्रजनन उद्योग को अनेक प्रकार से सहायता मिलती है. इससे अच्छे गुणों वाले घोड़ों के लिये उत्तम बाजार भी तैयार होता है तथा प्रजनकों को नस्लों के सुधारने का प्रोत्साहन भी मिलता है.

घोड़ी के दूध में वसा अंश कम होने के कारण यह मानव दूध के लगभग समान है. इसे यदा-कदा ताजा परन्तु सामान्यता किण्वित दशा में ही प्रयोग किया जाता है. किण्वित उत्पाद कुमिस से दही नहीं बनता, यह चिकना होता है, स्वाद अम्ल जैसा और गन्ध अम्ल तथा ऐल्कोहल जैसी होती है. कहा जाता है कि कुमिस उत्तम पाचक है तथा इसका उपयोग फुफ्फुसी यक्ष्मा और चिरकारी जठरशोथ के उपचार में किया जाता है. जठर और ग्रहणी व्रणों, पेचिश और टाइफाइड आदि में भी इसका उपयोग किया जाता है. भारत में घोड़ों से प्रतिअलर्क टीका तैयार किया जाता है.

अनुसंधान और विकास

यांत्रिक परिवहन के सूत्रपात से घोड़ों का महत्व घटा है लेकिन उत्तरी सीमाओं पर सैनिकों तथा सामान को लाने-लेजाने तथा पहाड़ी इलाकों के सुधार के लिये घोड़ों की माँग बढ़ी है जिससे घोड़ों तथा खच्चरों के विकास-कार्यक्रम की आवश्यकता बढ़ गयी है क्योंकि पहाड़ी इलाकों में परिवहन के एकमात्र साधन ये ही पशु हैं. देश में पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में घोड़ा प्रजनन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था. तीसरी पंचवर्षीय योजना में पहाड़ी क्षेत्रों में एक प्रजनन फार्म और दस अश्व फार्म केन्द्रों की व्यवस्था करने का आयोजन था. चौथी पंचवर्षीय योजना काल में ऐसे ही पाँच फार्मों को व्यवस्थापित करने का प्रस्ताव है जिनमें से हिमाचल प्रदेश, पंजाब, जम्मू और कश्मीर, उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी क्षेत्र में प्रत्येक में एक-एक फार्म होगा. प्रत्येक फार्म का संबंध अनेकों अश्वशालाओं से होगा और प्रजनकों को गाभिन कराने की सुविधायें निःशुल्क प्रदान की जायेंगी.

गधे तथा खच्चर

गधे तथा खच्चर, घोड़ों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं परन्तु एक या दो छोटे-छोटे अन्तर हैं – जैसे, इनकी पिछली टाँगें रंच-भर भी लालाभ-भूरे रंग की नहीं होतीं जैसा कि घोड़ों में पिछली टाँगों पर खुरों के नीचे पाया जाता है, तथा आवाज श्वाँसरोधक रेंकने की होती है. गधों का गर्भकाल लगभग 12 माह का होता है जो घोड़ों से एक माह अधिक है. खच्चर वन्ध्य होते हैं.

गधे और खच्चर (गण–पेरिसोडैक्टाइला; कुल–इक्विडी) उत्तम भारवाही पशु हैं. ये भारत, मिस्र, सूडान, सोमालीलैंड, फारस और चीन के पहाड़ी भागों में भारी बोझा ढोने के काम में लाये जाते हैं. इनके आकार और प्रकार में बहुत अंतर पाया जाता है. सामान्यतया सेना में गधों का उपयोग लद्दू जानवरों के रूप में नहीं किया जाता. नर गधों का इस्तेमाल सामान्यतया खच्चर प्रजनन के लिये किया जाता है.

गधे

गधे कई प्रकार से जंगली गधों से भिन्न है. भारतीय जंगली गधा एकुअस हेमिनस खुर लेसन जेबरा-जैसा सुन्दर पशु है जो गुजरात राज्य में कच्छ के रन तथा लद्दाख तक ही सीमित पाया जाता है. इसकी स्कन्ध तक ऊँचाई 9 से 12 मुट्ठी (0.93–1.21 मी.) होती है, लेकिन पालतू गधे की ऊँचाई औसतन केवल 9.25 मुट्ठी (0.92 मी.) होती है. जंगली गधे का रंग पीठ से पूंछ की जड़ तक चमकीला पीला होता है. स्कन्ध, पीठ तथा बगलों से पुट्ठों तक का रंग बादामी होता है. कान छोटे, जेबरा के समान होते हैं. इसके विपरीत पालतू गधे का रंग काला-धूसर या मैला-भूरा और कान लम्बे होते हैं. पालतू गधे की तुलना में जंगली गधे का स्वर कर्कश होता है.

भारत में दो प्रकार के गधे सामान्य हैं : छोटा धूसर और बड़ा सफेद. पहले का रंग गहरा धूसर होता है तथा इसमें जेबरा के समान धारियाँ पायी जाती हैं. यह भारत के अधिकांश भागों में पाया जाता है. दूसरे का रंग हल्के धूसर से लगभग सफेद तक होता है और यह कच्छ में पाया जाता है. छोटे धूसर गधे की औसत ऊँचाई 0.81 मी. तथा बड़े सफेद गधे की 0.93 मी. होती है.

जंगली गधे न तो कभी पालतू गधी के साथ अन्तःप्रजनन करते हैं, न ही उनसे या किसी अन्य पालतू जानवरों के बीच मिलते-जुलते हैं. पालतू गधे वर्ष के किसी भी समय मैथुन करते हैं लेकिन जंगली गधे एक विशेष ऋतु (अगस्त-अक्टूबर) में ही मैथुन करते हैं. 11 मास की गर्भावधि के बाद बच्चे अगले वर्ष जुलाई–सितम्बर में पैदा होते हैं.

राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब, गुजरात और तमिलनाडु में गधों की काफी बड़ी संख्या मिलती है. भारत में गधों का राज्यवार

सारणी 76—भारत में 1966 में गधों का वितरण*
(हजारों में)

राज्य	संख्या	राज्य	संख्या
असम	1.897	पंजाब	66.392
आन्ध्र प्रदेश	67.450	पश्चिमी बंगाल	1.306
उड़ीसा	14.095	पाण्डिचेरी	0.177
उत्तर प्रदेश	196.745	बिहार	32.810
केरल	0.310	मध्य प्रदेश	54.659
गुजरात	111.785	महाराष्ट्र	65.891
चण्डीगढ़	0.156	मैसूर	48.657
जम्मू और कश्मीर	13.612	राजस्थान	199.673
तमिलनाडु	100.690	हरियाणा	69.625
दिल्ली	3.795	हिमाचल प्रदेश	4.625
	योग	1054.350	

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

वितरण सारणी 76 में दिया गया है. 1966 के आँकड़ों से पता चलता है कि 1961 की अपेक्षा उनकी संख्या में 3.8% की कमी हुयी.

गधे मूलतः लद्दू पशु हैं और ये पहाड़ों तथा मैदानों में दूर-दूर तक भारी बोझा ढोने के लिये काम में लाये जाते हैं. ये परिवहन के सस्ते और सर्वसुलभ साधन हैं, जिन्हें कामगर, धोबी, मकान बनाने वाले, कुम्हार, कसेरे आदि पसन्द करते हैं.

आहार और प्रबन्ध

गधों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देने की तथा थोड़े ही राशन की आवश्यकता होती है. ये घटिया चारे पर अच्छी तरह पल जाते हैं और वर्षा, ठंड में अनावरित रह सकते हैं. इस पशु के लिये मोटे तौर पर चारे की दैनिक आवश्यकता इस प्रकार है: दाना, 1.36–2.27 किग्रा.; चारा, 9.00–12.00 किग्रा. और भूसा, 4.54 किग्रा.

ये पशु आमतौर से समूह में यात्रा करते हैं और विशेष सहिष्णु तथा उपयोगी भारवाही पशु हैं. इनकी चाल लगभग 3 किमी. प्रति घण्टा है तथा ये दिन-भर में 24 किमी. या इससे अधिक रास्ता तै कर लेते हैं. सामान्यतया बच्चों को काम के लिये प्रयुक्त नहीं किया जाता. केवल वयस्क गधे अपने आकार तथा नस्ल के अनुसार 22 से 68 किग्रा. तक बोझा ले जाते हैं.

प्रजनन

भारत में सुसंगठित रूप से गधा-प्रजनन कार्य नहीं हुआ है. जहाँ तक संभव हो, नर तथा मादाओं को अलग-अलग रखना चाहिये. घटिया सन्तति जनने से रोकने के लिये अस्वस्थ गधों को बधिया करने की सलाह दी जाती है. फिर भी कतिपय मानक नस्लों के नर गधे इटली, स्पेन और फ्रांस से मुख्यतया खच्चर-प्रजनन के लिये मँगाये जाते हैं.

विगत अनेक वर्षों से भारत सरकार मैदानी गधों की नस्लों को सुधारने के लिये तथा अच्छे गुणों वाले खच्चरों के पालने के लिये कठिन प्रयास करती आरही है. प्रजनन कार्य के लिये नर गधों की पूर्ति की जाती है और अच्छे खच्चरों के लिये पुरस्कार दिये जाते हैं.

सारणी 77—भारत में 1966 में खच्चरों की संख्या का वितरण*

राज्य	संख्या	राज्य	संख्या
असम	661	नागालैंड	10,157
आन्ध्र प्रदेश	705	पंजाब	4,507
उड़ीसा	1,100	पश्चिमी बंगाल	595
उत्तर प्रदेश	27,365	बिहार	1.519
केरल	8	मणिपुर	2
गुजरात	703	मध्य प्रदेश	2,202
चण्डीगढ	27	महाराष्ट्र	1,316
जम्मू और कश्मीर	6,899	मैसूर	643
तमिलनाडु	745	राजस्थान	886
दादरा और नगर हवेली	50	हरियाणा	6,921
दिल्ली	1,276	हिमाचल प्रदेश	6,488
	योग	74,775	

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

खच्चर

खच्चर, घोड़ी तथा गधे के संकरण से उत्पन्न होते हैं. इनमें आकार, रफ्तार, ओज, शक्ति तो मादा के अनुसार तथा स्वरूप, प्रवृत्ति, सहिष्णुता, धैर्य, सहनशीलता, दीर्घजीविता, कठोरता और न फिसलने के गुण नर के अनुसार होते हैं. इनकी ऊँचाई 12 से 15 मुट्ठी (1.32–1.65 मी.) होती है. चार वर्ष की आयु में ये परिवहन के लिये तथा पांच वर्ष में कठिन कार्य के लिये तैयार हो जाते हैं.

सेना में दो प्रकार के खच्चर सामान्य उपयोग में आते हैं, इनके नाम हैं: सामान्य सेवा और पर्वतीय तोपखाने के लद्दू खच्चर. सामान्य सेवा के खच्चर के लिये सैनिक विनिर्देश इस प्रकार हैं: आयु, 4–18 वर्ष; ऊँचाई, 13–14.2 मुट्ठी (1.32–1.47 मी.); भार, 225–300 किग्रा.; और वक्ष परिधि, 1.47 मी. से कम नहीं. पर्वतीय तोपखाने के लद्दू खच्चर के लिये सेना विनिर्देश इस प्रकार है: आयु, 4–18 वर्ष, ऊँचाई, 14–14.3 मुट्ठी (1.42–1.50 मी.); पिण्डली न्यूनतम, 17.8 मिमी.; वक्ष परिधि, 1.63 मी. या अधिक, तथा भार, लगभग 350 किग्रा.

काठी को छोड़कर ले जाने वाले बोझे का भार प्रथम तथा द्वितीय प्रकार के खच्चरों में क्रमशः 73 तथा 145 किग्रा. है. बड़े भारी या द्वितीय प्रकार के खच्चर तोपों के ढोने के लिये आवश्यक हैं. पीठ की आकृति स्कंध प्रदेश से पुट्ठे तक सीधी होनी चाहिये. पीठ उभरी हुयी, पेशियों से भरी हुयी चौड़ी तथा शीर्ष पर समतल और छोटी, पर बोझा की काठी रखने के लिये पर्याप्त लम्बी होनी चाहिये.

भारत में खच्चरों की संख्या में लगातार वृद्धि होती रही है, 1966 की गणना से पता चलता है कि 1961 की संख्या में
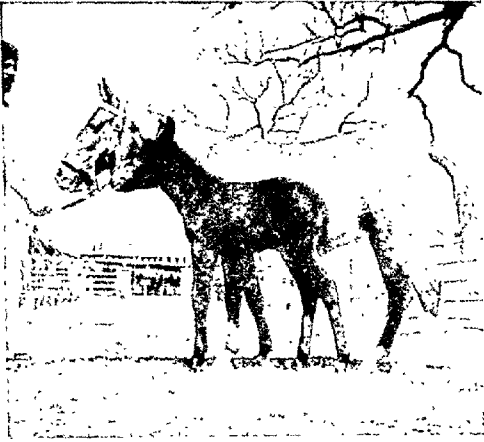
सामान्य सेवा के लिये भारतीय खच्चर प्रजनक घोड़ी बच्चे के साथ
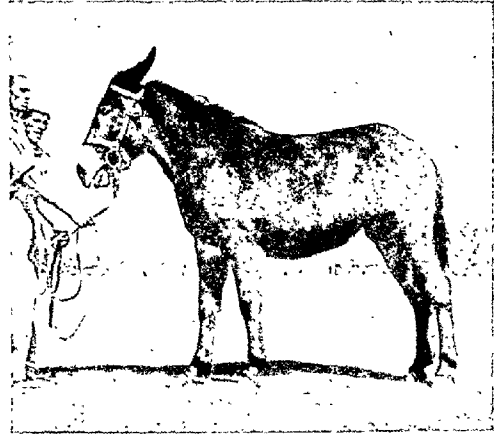
पर्वतीय तोपखाने का शिशु-खच्चर
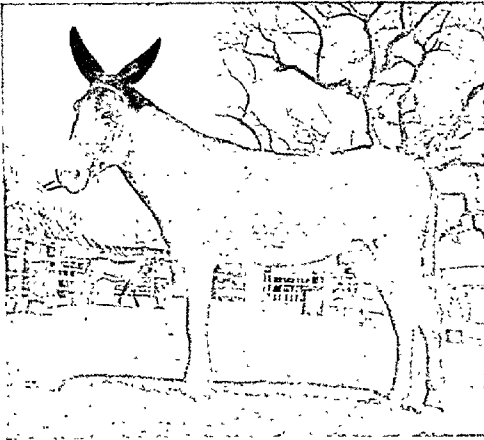
भारतीय गधा सांड़
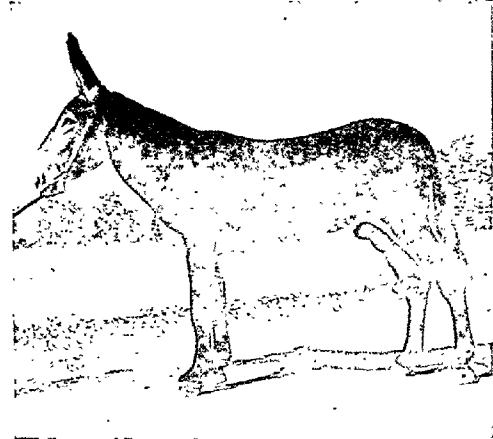
अमेरिकी गधा सांड़

गधे और खच्चर

41% की वृद्धि हुयी. भारत में खच्चरों का राज्यवार वितरण सारणी 77 में दिया गया है. उत्तर प्रदेश, पंजाब, जम्मू और कश्मीर, हरियाणा, नागालैंड तथा हिमाचल प्रदेश में खच्चरों की संख्या काफी है जबकि अन्य प्रान्तों में इनकी संख्या नगण्य है.

आहार और प्रबन्ध

घोड़ों की ही तरह खच्चरों को भी खिलाया जाता है. आहार की आवश्यक मात्रा जानवर के आकार पर निर्भर करती है, परंतु ये घोड़ों की अपेक्षा कम आहार पर रह सकते हैं और ये चारे की गुणता की बिल्कुल परवाह नहीं करते. भारत में खच्चरों के दैनिक आहार की मात्रा इस प्रकार है (किग्रा. में) : सूखा चारा या सूखी रिजका घास या भूसा, 5.4–9.0; दला हुआ चना, 1.1; दला हुआ धान या जौ, 1.4–2.5; चोकर, 0.9; और नमक, 14–28 (ग्रा.). तोप ढोने वाले, सिगनल सेवा में लगे तथा हल्का बोझा ढोने वाले खच्चरों को अधिक सूखी घास की आवश्यकता होती है, जबकि सैनिक परिवहन, लद्दू और भारवाही खच्चरों को अधिक दले धान या जौ की आवश्यकता होती है. प्रजननकारी पशुओं को नियमित अन्तराल से पर्याप्त आहार देना चाहिये.

खच्चरों के जत्थे बनाकर ऐसे स्थानों पर चरने के लिये प्रशिक्षित किया जा सकता है जहाँ चरने की सुविधायें उपलब्ध हों. ये ज्यादा पानी नहीं पीते और सामान्य रूप से प्यास सहन कर लेते हैं.

पैदल यात्रा के समय खच्चर या तो पीछे-पीछे चलते हैं या उन्हें हाँका जाता है. इनकी चाल प्रति घण्टा 5–6.5 किमी. होती है और ये एक दिन में 32–40 किमी. की दूरी तै कर सकते हैं. प्रशिक्षित करने पर ये तंग सड़कों तथा ऊँची पहाड़ियों पर सुरक्षा-पूर्वक भारी बोझा ले जाते हैं.

खच्चर अच्छे तैराक होते है. काफी गहरी धारा को हिल-हिल कर पार कर जाते हैं. खच्चरों के खुर अधिक न घिसें इसलिये घोड़ों की तरह उनमें भी नाल लगा देने चाहिये. एड़ी की और पाँवों के बढ़ने की आशंका रहती है अतः उचित अनुपात में रखने के लिये उन्हें काटते रहना चाहिये. खच्चरों को सदैव जंजीर में बाँधना चाहिये क्योंकि वे रस्सों को चबाकर नष्ट कर देते हैं.

प्रजनन

उत्तम प्रकार के खच्चर का प्रजनन नर और मादा के सतर्क चयन पर निर्भर है. मानक नस्लों के गधे तथा घोड़ी का संकर प्रजनन कराने पर पुष्ट खच्चर पैदा होते हैं.

भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय के रिमाउण्ट **तथा वेटेरिनरी सर्विस निदेशालय** ने खच्चर प्रजनन पर काफी ध्यान दिया है तथा सामान्य कार्यों के लिये और पहाड़ों पर सैनिक सामान ढोने के लिये खच्चरों की उपयुक्त नस्लें विकसित की गयी हैं. विदेशी खून का समावेश सहायक सिद्ध हुआ है. इस निदेशालय के अधीनस्थ इक्वाइन प्रजनन स्टड फार्मों ने उत्तम प्रजनन कार्य किया है. इस समय दो सैनिक स्टड फार्म हैं, जिनमें से एक सहारनपुर में तथा दूसरा बाबूगढ़ (उत्तर प्रदेश) में है, लेकिन ये अभी तक सेना की खच्चरों की आवश्यकता पूरी करने में असमर्थ रहे हैं.

भारत सरकार ने भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् तथा राज्यों के पशु-पालन विभाग की सहायता से चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारत में खच्चर प्रजनन के लिये व्यवस्था की है. देश में पांच अन्य इक्वाइन प्रजनन स्टड फार्म, जिनमें एक-एक हिमाचल प्रदेश, पंजाब, जम्मू और कश्मीर, उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी इलाके में प्रस्थापित किये जाने की संभावना है. इस योजना के अन्तर्गत गधा प्रजनन फार्म भी खोला जायेगा. प्रत्येक फार्म, प्रजनकों को निःशुल्क नरों की सुविधा प्रदान करेगा.

ऊँट

ऊँट विशालकाय एवं सहिष्णु पशु है. इसकी गर्दन और टाँगें लम्बी होती हैं और पीठ पर बड़ा कूबड़ होता है. ऊँट शुष्क क्षेत्रों में रहने के अभ्यस्त होते हैं, सूखा सह सकते हैं तथा बिना पानी के कई दिनों तक रह सकते हैं. ये ऐसे मोटे चारे भी खा लेते हैं जो अन्य शाकाहारी जानवरों के लिये उपयुक्त नहीं होते. ऊँटों का उपयोग अनेक प्रकार के कार्यों के लिये किया जाता है तथा कृषि, कर्षण और सूखे इलाके में परिवहन के लिये ये आर्थिक रूप से अत्यन्त अपरिहार्य होते हैं. ऊँट पशुधन का महत्वपूर्ण अंग हैं और गोपशु तथा भैंसों के बाद ही ये द्विकाजी पशु माने जाते हैं (देखें, भारत की सम्पदा, खण्ड 1, पृष्ठ 126–28).

ऊँट, गण–**आर्टियोडैक्टाइला**, कुल–**कैमेलिडी** तथा वंश–**कैमेलस** लिनिअस के सदस्य हैं. ये दो प्रकार के होते हैं : अरबी या एक कूबड़ वाले ऊँट (**कैमेलस ड्रोमेडेरियस** लिनिअस) और बैक्ट्रियायी या दो कूबड़ वाले तुर्किस्तानी ऊँट (**कै. बैक्ट्रिएनस** लिनिअस). अरबी तथा बैक्ट्रियायी इन दोनों में से कोई भी ऊँट अब जंगली अवस्था में नहीं पाया जाता है यद्यपि कुछ अर्धजंगली झुंड हैं जिन्हें पकड़ा नहीं जा सका. आजकल भारत में एक कूबड़ वाले ऊँट की एकमात्र जाति **कै. ड्रोमेडेरियस** ही पायी जाती है. यह महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि में पायी जाती है.

1966 की गणना के अनुसार विश्व-भर में ऊँटों की संख्या लगभग 46 लाख थी जिसमें से भारत में 10 लाख, सूडान तथा सोमाली लैण्ड में, प्रत्येक में 5 लाख तथा पाकिस्तान में 3.5 लाख ऊँट थे. शेष मध्य एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका के अन्य भागों में फैले हुये हैं. ऊँट-पालन में भारत प्रमुख देशों में से एक है. राजस्थान, हरियाणा और पंजाब में ऊँट काफी संख्या में पाये जाते हैं. उत्तर प्रदेश तथा गुजरात में भी अपेक्षाकृत अधिक संख्या में ऊँट पाये जाते हैं और वे विभिन्न कामों में लगे हुये हैं. 1966 की गणना के अनुसार भारत में ऊँटों की कुल संख्या में 13.8% की वृद्धि हुयी है. भारत में 1966 में ऊँटों का राज्यवार वितरण सारणी 78 में दिया गया है.

भारत में ऊँटों की अत्यधिक सघनता राजस्थान में गंगानगर जिले में है जहाँ इन्हें अधिकांशतः कृषि कार्यों के लिये पाला जाता है. इसके बाद चूरू तथा झुनझुनू जिलों के नाम लिये जा सकते हैं. जैसलमेर और बाड़मेर जिले (राजस्थान), हिसार (हरियाणा) और फिरोजपुर जिले (पंजाब) में ऊँटों की काफी

संख्या पायी जाती है. उत्तर प्रदेश के मेरठ तथा आगरा जिले और महाराष्ट्र के उत्तरी भागों में भी अच्छी संख्या में ऊँट पाये जाते हैं. कच्छ (गुजरात) में विशाल संख्या में ऊँट मिलते हैं. सुर्रा रोग के फैलने के कारण 1945 में राजस्थान में ऊँटों की संख्या कम हो गयी थी.

भारत में दो प्रकार के ऊँट पाये जाते हैं. यह वर्गीकरण उनके काम के आधार पर लद्दू ऊँट तथा सवारी ऊँट में किया जाता है.

बोझा ढोने वाले या लद्दू ऊँट बड़े तथा बलिष्ठ होते हैं और मैदानी तथा पहाड़ी भागों में समान रूप से काम करने के अभ्यस्त होते हैं. मैदानी ऊँट रेगिस्तानी या तटवर्ती (साहिली) किस्म के होते हैं. पहाड़ी किस्में गठीली होती हैं और इनकी टांगें छोटी होती हैं और मैदानी ऊँटों की अपेक्षा इनकी पेशी का विकास अधिक होता है. ये 300–375 किग्रा. तक बोझा लेकर प्रति घण्टा 3.5 किमी. की चाल से दिन-भर में 32 किमी. दूरी तै कर लेते हैं. ये 3 और 12 वर्ष के बीच सक्रिय रहते हैं.

सवारी के ऊँट हल्के होते हैं. इनका सिर छोटा, गर्दन पतली, पैर छोटे, छाती चौड़ी तथा पेशियाँ अच्छी तरह विकसित होती हैं. उत्तम सवारी के ऊँट बिना रुके 96–113 किमी. चले जाते हैं. ये 10–11 किमी. प्रति घण्टा की औसत चाल से कुछ दिनों तक प्रतिदिन 40 किमी. यात्रा कर सकते हैं. रेगिस्तानी ऊँट तीन प्रकार के होते हैं : बीकानेरी, जैसलमेरी और सिंधी.

भारत में पाये जाने वाले ऊँट की सबसे प्रमुख नस्ल बीकानेरी है. यह देश में अत्यन्त व्यापक है. लगभग 50% ऊँट इसी नस्ल के हैं, 25% में बीकानेरी खून होता है और बाकी अन्य प्रकार के ऊँट हैं.

बीकानेरी ऊँट अधिकतर बीकानेर कमिश्नरी के शुष्क रेतीले भागों में, मुख्यतः पश्चिमी और दक्षिणी इलाकों में पाये जाते हैं. जहाँ वर्षा बहुत ही कम तथा मौसमी होती है तथा वनस्पति के नाम पर छोटी-छोटी झाड़ियां पायी जाती हैं. इसका भार मैदानी ऊँट की अपेक्षा कम होता है और इसकी ऊँचाई 1.9–2.13 मी. होती है.

भारी ऊँटों का उपयोग बोझा ढोने तथा हल्के ऊँटों का उपयोग सवारी के लिये किया जाता है. ऊँट का उपयोग खेती के कामों में भी किया जाता है क्योंकि लगातार कठिन काम के लिये यह अधिक उपयुक्त है. इसमें अत्यधिक सहनशीलता पायी जाती है. अच्छा सवारी ऊँट प्रतिदिन 56 किमी. की चाल से 130–160 किमी. की दूरी तै कर सकता है और 224–261 किग्रा. तक बोझा ले जा सकता है.

इससे सम्बद्ध नस्ल झिपरा की है, जिसका आकार छोटा होता है तथा देह की गठन अच्छी होती है. यह राजस्थान में बीकानेर कमिश्नरी में पाया जाता है.

जैसलमेरी ऊँट राजस्थान के जोधपुर कमिश्नरी के जैसलमेर जिले में पाया जाता है. इसकी देह बीकानेरी ऊँट की अपेक्षा हल्की होती है तथा अंग अधिक सुस्पष्ट होते हैं. इसकी ऊँचाई 1.88–2.00 मी. होती है. इसका उपयोग मुख्यतया सवारी करने तथा हल्का बोझा ढोने में किया जाता है. बिना चारा तथा पानी के यह लम्बी दूरी (16 किमी. प्रति घण्टा की चाल से एक रात में 193 किमी.) चल सकता है. इसमें बीकानेरी ऊँट के बराबर या उससे अधिक सहन करने की क्षमता होती है.

सिन्धी ऊँट पाकिस्तान तथा सिंध प्रान्त के थारपारकर जिले से सटा राजस्थान की जोधपुर कमिश्नरी की सीमाओं पर अधिकतर पाया जाता है. यह शरीर में छोटा होता है और गर्दन कम मुड़ी हुयी तथा छोटी होती है. इसकी दो नस्लें पायी जाती हैं : साहरी या सवारी का ऊँट और लद्दू या बोझा ढोने वाला ऊँट. साहरी बहुत कुछ जैसलमेरी जैसा होता है जबकि लद्दू तटवर्ती या साहिली नस्ल जैसा होता है. राजस्थान में जो अन्य महत्वपूर्ण नस्लें काफी संख्या में मिलती हैं, उनके नाम हैं : **मारवाड़ी, जालौरी, मेवाड़ी, शेखावाटी** या **बागरी, मेवाती** और **कच्छी**.

मारवाड़ी ऊँट जैसलमेर और जालोर जिले तथा पाकिस्तान की ओर बाड़मेर जिले की सीमा को छोड़कर समस्त जोधपुर कमिश्नरी में पाया जाता है. इसके शरीर की बनावट काफी भारी होती है और शरीर के अंग लम्बे तथा सपिंड होते हैं. इसकी ऊँचाई 1.91–2.18 मी. होती है. यह तीन-चार दिनों तक 12 घण्टे में 80 किमी. की दूरी तै कर सकता है. मारवाड़ी ऊँट खेती तथा परिवहन दोनों में काम आते हैं तथा कभी-कभी इन पर सवारी भी की जाती है. **जालौरी** ऊँट, जो मारवाड़ी तथा जैसलमेरी दोनों का मिश्रण है, लूनी नदी के दक्षिण में पाये जाते हैं. इसका आकार मारवाड़ी ऊँटों की अपेक्षा छोटा होता है तथा टाँगें कम लम्बी होती हैं. इसका उपयोग कर्षण तथा सवारी दोनों के लिये किया जाता है.

मेवाड़ी (भिण्टा) ऊँट राजस्थान के समस्त उदयपुर और कोटा कमिश्नरियों में पाया जाता है. यह गठीला पशु है जो डील में अपेक्षाकृत छोटा और 1.8 मी. ऊंचा होता है. इसका उपयोग लद्दू जानवर के रूप में अधिकतर किया जाता है.

सारणी 78 – भारत में 1966 में ऊँटों का वितरण*

राज्य	संख्या
आन्ध्र प्रदेश	643
उत्तर प्रदेश	49,387
गुजरात	45,670
चण्डीगढ़	346
जम्मू और कश्मीर	2,303
तमिलनाडु	109
दिल्ली	2,212
पंजाब	1,18,522
बिहार	122
मध्य प्रदेश	19,384
महाराष्ट्र	1,935
मैसूर	986
राजस्थान	6,53,447
हरियाणा	1,32,384
हिमाचल प्रदेश	670
अन्य	52
योग	10,28,172

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

मारवाड़ी ऊँट

कच्छी ऊँट

सवारी ऊँट (बीकानेरी)
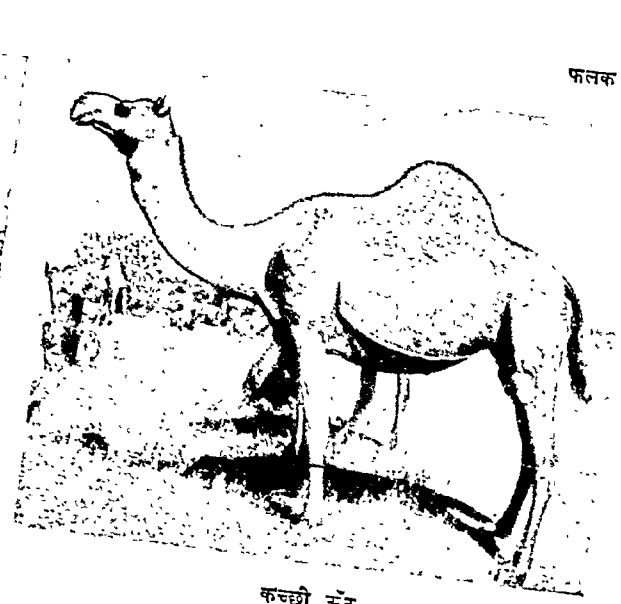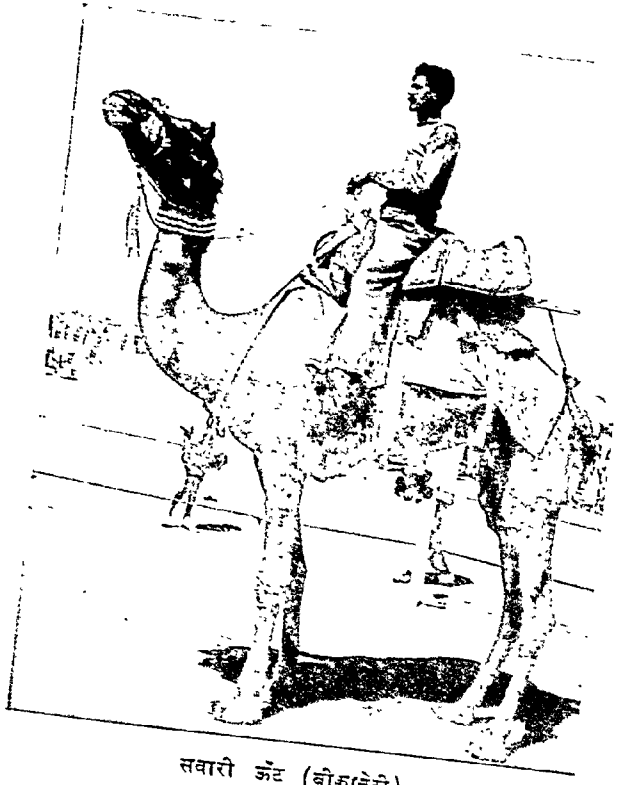
भारवाही ऊँट (बीकानेरी)

ऊँट

इस नस्ल को सुधारने के लिये इस इलाके के ऊँट प्रजनकों ने ऊँटनियों को गर्भित कराने के लिये मेवाड़ी नस्ल के ऊँटों का स्टड स्थापित किया है. संकर नस्लें देखने में अधिक अच्छी होती हैं और आकार में भी बड़ी होती हैं. इस क्षेत्र में लगभग 30% ऊँट सुधरी नस्ल के होते हैं.

शेखावाटी या **बागरी** ऊँट राजस्थान की जयपुर कमिश्नरी में सीकर तथा झुनझुनू जिलों में पाये जाते हैं. ये पंजाब में भी पाये जाते हैं. कुछ स्थानों में इन्हें राजस्थान से लाया जाता है. यह ऊँट शरीर में बड़ा किन्तु सहनशक्ति में बीकानेरी ऊँट से घटिया होता है. इसका उपयोग कृषि कार्यों, परिवहन तथा सवारी में किया जाता है.

मेवाती ऊँट राजस्थान में अलवर और भरतपुर जिलों में पाया जाता है. यह मजबूत जानवर है, इसके शरीर की बनावट भारी होती है, इसमें सहन-क्षमता अच्छी होती है, फलतः इसका प्रयोग बोझा ढोने, सवारी करने तथा खेत जोतने में किया जाता है.

कच्छी ऊँट कच्छ (गुजरात) में पाया जाता है. यह **मारवाड़ी** ऊँट से हल्का होता है.

तटवर्ती या **साहिली** ऊँट उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के ऐसे जिलों में पाये जाते हैं जहाँ नदियों तथा नहरों से पर्याप्त जलपूर्ति होती है. पशुओं की ऊँचाई 1.9–2.1 मी. होती है. ये भारी बोझा ढोते हैं. इनकी चाल मन्द होती है तथा ये 3 किमी. प्रति घण्टा की चाल से चलते हैं.

प्रबन्ध

ऊँटों का प्रबन्ध, उनकी नस्ल, स्थान तथा उनसे लिये जाने वाले कार्य के अनुसार बदलता रहता है.

ऊँटों को उपयुक्त तथा सामान्य सायबानों में रखना चाहिये, जो एक ओर से खुले हों तथा जहाँ धूप, वर्षा और लू से बचाव हो सके. जब ऊँटों को सेना के लिये रखा जाना है तो ऊँटों के लिये नियमित आवास बनाना आवश्यक हो जाता है. मदकाल के समय ऊँट सामान्यतः दुखदायी होते हैं और इसीलिये इस मौसम में नरों को मादाओं से पृथक् रखना चाहिये. जानवरों को लकड़ी से बनी नाक की खूटी, तथा सन या बकरी और ऊँट के बालों के मिश्रण से बनी नकेल से बाँधना चाहिये. ऊँटों को रोग से मुक्त तथा स्वच्छ बनाये रखने के लिये समय-समय पर खरहरा करना तथा सफाई करनी चाहिये. इन पर ऐसी जीन कसी होनी चाहिये जो इनकी पीठ तथा कूबड़ पर घाव उत्पन्न न कर दे. जुताई में प्रयुक्त ऊँटों पर भिन्न प्रकार का जुआँ प्रयुक्त होता है.

उन इलाकों में जहाँ जाड़े में अत्यधिक ठंड पड़ती है ऊँटों में मोटी रोमावलि बढ़ जाती है जिसे बसन्त में काट देना चाहिये. कम्बलों तथा अन्य गरम कपड़ों को बनाने के लिये बाल उत्तम कच्ची सामग्री हैं. ऊँट के बालों से बने कम्बल ऊनी कम्बलों की अपेक्षा गरम होते हैं. जंगली छोटे ऊँटों से उत्तम बाल प्राप्त किये जाते हैं. पंजाब के ऊँटों के बाल मार्च या अप्रैल में कतरे जाते हैं, प्रति ऊँट औसतन 0.90–1.35 किग्रा. बाल प्राप्त होते हैं, परन्तु ठण्डे देशों में 5.4 किग्रा. तक बाल मिल सकते हैं. ऊँट के बछेड़ों को मानसून आने तक नहीं कतरा जाता क्योंकि बालों से गरम हवा के झोकों से बचाव होता है. बाल कतरने के बाद, ठण्ड से बचाने के लिये रात में ऊँट के ऊपर कम्बल डाल देते हैं गरम इलाकों में ऊँटों के लम्बे बाल नहीं उगते, इसलिये बाल कतरने की आवश्यकता नहीं होती. एक बार बाल कतरने के बाद ऊँट की देह पर **तारामीरा** या सरसों का तेल मल देना चाहिये. तेल लगाने के 48 घण्टे बाद ऊँट की देह पर मिट्टी मल देनी चाहिये, इसे तीन दिन तक लगे रहने देना चाहिये. इसके बाद यह स्वयं ही गिर कर अलग हो जाती है. इससे त्वचा परजीवियों के आक्रमण से बचने में, विशेषतया जब जाड़ों में रोमावली काफी सघन हो जाती है, सहायता मिलती है.

आहार – काम न रहने पर ऊँट चर कर जीवन यापन करते हैं किन्तु जब भारी काम लिया जा रहा हो अथवा जब उन्हें खुले में छोड़ने की सुविधा न हो, तब उसे ठौर पर खिलाना चाहिये. चराने या ठौर पर आहार देने की पद्धति स्थान-स्थान पर पशु से लिये जाने वाले कार्य के अनुसार बदलती रहती है. गर्मियों में उसे झाड़ियों तथा पेड़ों से आवश्यक भोजन उपलब्ध हो जाता है लेकिन जाड़ों में पूरक आहार की आवश्यकता होती है.

देश में खिलाने की दो विधियाँ काम में लायी जाती हैं : बाड़ा बनाकर चरागाहों में चराना और ठौर पर आहार कराना (स्टाल फीडिंग). बाड़ा बनाने का अधिक चलन है, इसे पशु भी पसन्द करते हैं और इसमें खर्च भी कम होता है. परिवहन तथा कृषि कार्यों के लिये पाले गये ऊँट पूर्णतया या अंशतः ठौर पर आहार करते हैं. यदि चराई से काम नहीं चलता तो ठौर पर खिला कर पूर्ति की जानी चाहिये. जो पूरक आहार दिया जाय उसमें या तो हरा अथवा सूखा चारा या चारे के साथ दाना होना चाहिये. हरे चारे सामान्यतः गर्मियों में और सूखे चारे सर्दियों में दिये जाते हैं. चारे की निम्नलिखित फसलें दी जाती हैं : हरी मोठ (**विग्ना-एकोनिटिफोलियस**), मूंग (**वि. ऑरियस**), ग्वार (**सायमोप्सिस सोरैलिआयडीज़**), सैंजी (**मेलिलोटस पार्वीफ्लोरा**), तारामीरा (**एरुका-सटाइवा**), शफताल (**ट्राइफोलियम** जाति) और सरसों (**ब्रासिका कैम्पेस्ट्रिस**), ताजा चना, गेहूँ, जौ, मक्का और घास, वृक्षों की पत्तियाँ जैसे नीम (**अज़ैडिरेक्टा इंडिका**) और शीशम (**डाल्बर्जिया सीसू**); बबूल की फलियाँ तथा खेतों की घास-पात पूरक चरायी में काम आते हैं. सामान्यतया दिये जाने वाला सूखा चारा या तो पेड़ों या झाड़ियों की धूप में सुखायी गयी पत्तियाँ होती हैं या सरक्षित चारे की फसलें जैसे झरबेरी या पाला (**जिज़ीफस नुम्मुलेरिया**) या ज्वार (**सोर्घम वल्गेर**) के सूखे डंठल. गेहूँ, जौ, मोंठ, मूंग, चना और ग्वार के डंठलों तथा बीज चोलों से तैयार भूसे ऊँटों के लिये उत्तम सूखा चारा हैं और पंजाब में बहुतायत से खिलाये जाते हैं. कुट्टी बनायी गयी सूखी घास चारे के रूप में खिलायी जाती है.

जिन ऊँटों से कठिन काम लिया जाता है तथा जिन्हें चरने नहीं दिया जाता उन्हें ठौर पर खिलाया जाता है. इन्हें चारे के अतिरिक्त दाने की भी आवश्यकता होती है. मोटे चारे की दृष्टि से मटर का भूसा (मिसा भूसा) उत्तम सूखा चारा है. भारत में कई प्रकार के रातब जिनमें ज्वार, जई, सेम, बिनौला, मक्का तथा चोकर मिले होते हैं, ऊँटों को दिये जाते हैं, लेकिन दला हुआ चना उत्तम समझा जाता है. जिन ऊँटों को दाना अच्छा नहीं लगता, उन्हें कई दिनों तक ललचा करके स्वाद उत्पन्न कराया जाता है. भारत में काम करने वाले ऊँटों को प्रतिदिन ठौर पर खिलाये जाने वाले आहार की मात्रा इस प्रकार है (किग्रा. में) : ज्वार या दाना, 1.8; गेहूँ का भूसा, 9.0 या सूखा चारा, 13.5. चरने का उत्तम प्रबन्ध होने पर आहार में प्रतिदिन 1.8 किग्रा. दाना और 3.6 किग्रा. मोटा चारा रहना चाहिये.

प्रजनन

वर्ष के अधिक भाग मे ऊँट में मैथुन की इच्छा दबी हुयी रहती है. पशु केवल कुछ माह तक ही मद में रहते हैं. नर ऊँट 6 वर्ष से कम आयु मे लैंगिक रूप से परिपक्व नही होते. मोटे तौर से मदकाल अन्तिम आधे शरत् मौसम में, दिसम्बर से मार्च तक चलता है और अधिकांशतः पशु के आहार तथा कार्य पर निर्भर करता है. मौसम मे एक सांड़ ऊँट 30–50 ऊँटनियों से संगम कर लेता है तथा 22 वर्ष तक मैथुन करने योग्य बना रहता है.

ऊँटनी 4 वर्ष की आयु में गर्भधारण करने योग्य हो जाती है और 5 वर्ष की आयु में बच्चा जनती है. सामान्यतया ऊँटनियाँ 20 वर्ष की आयु तक बच्चा दे सकती है, परन्तु कुछ 30 वर्ष तक बच्चे देती रहती हैं. ऊँटनियों मे मद-चक्र सामान्यतया नवम्बर से मार्च तक चलता है, इसके लिये जनवरी और फरवरी उत्तम काल हैं. यदि मादा प्रथम समागम के 15–20 दिन पश्चात् तक अपनी पूछ नही उठाती तो इसे पुनः ऊँट के पास ले जाना चाहिये. मादा से एक बच्चा उत्पन्न होता है, गर्भावधि 11–13 माह की होती है तथा माँ बच्चे को एक वर्ष तक दूध पिलाती है. भारतीय ऊँटनियों मे गर्भपात सामान्य घटना है और यह सामान्यतया चारे की कमी या सुर्रा रोग के कारण होता है. लद्दू ऊँटो के प्रजनन के लिये सुन्दर नथुने, उभरी हुई आँखों और छोटे कान तथा ओंठों वाले सांड ऊँट का चयन करना चाहिये. सांड़ ऊँट 6 या 8 वर्ष का तथा विकसित कूबड़ वाला होना चाहिये. सिर छोटा तथा औसत लम्बाई वाली गर्दन पर ठीक से व्यवस्थित होना चाहिये. छाती गहरी, किन्तु चौड़ी नही होनी चाहिये तथा वक्ष के घेरे को कंधे की ऊँचाई से अधिक होना चाहिये. पिछले पैर सुविकसित होने चाहिये.

ऊँट प्रजनन मे राजस्थान अग्रणी है. इस राज्य में 300 या इससे अधिक ऊँटनियों के यूथ मिलते हैं. गंगानगर जिले के सिंचित क्षेत्र को छोडकर सम्पूर्ण बीकानेर कमिश्नरी में ऊँट प्रजनन होता है. सामान्यतया एक सांड़ प्रत्येक 50 ऊँटनियों पर रखा जाता है तथा उत्तम सांड़ चुनने मे सावधानी भी रखी जाती है. अच्छे सांड ऊँट का उपयोग करने के लिये कभी-कभी ऐसे दो या तीन ऊँटों के यूथ को मिला देते है. इस कमिश्नरी के पश्चिमी भाग में अधिक प्रजनन होता है.

जोधपुर कमिश्नरी का जैसलमेर जिला बीकानेरी मिश्रित नस्लों के प्रजनन के लिये प्रसिद्ध है. यहाँ पर चरने के लिये तमाम परती जमीन है और ऊँट-पालक अच्छी किस्म के ऊँट तैयार करने में काफी रुचि लेते है. जोधपुर, बाड़मेर, जालौर और नागौर जिलों मे भी ऊँट प्रजनन किया जाता है. अरावली पहाड़ियों की तलहटी में स्थित पाली और सिरोही जिलों में भी कुछ-कुछ प्रजनन कार्य किया जाता है.

उदयपुर कमिश्नरी में पहाड़ियों पर चरने की सुविधायें उपलब्ध है, जहाँ ऊँटों के यूथ पाले जा सकते है. लेकिन इस भाग में उत्तम नस्लें नही है. अतः स्थानीय जातियों को सुधारने के लिये जोधपुर कमिश्नरी से मानक सांड लाये जाते है. सूचना है कि उदयपुर तथा चित्तौड़गढ जिले में सघन प्रजनन चालू है.

सीकर, झुनझुनू और अलवर जिलों को छोड़कर शेष जयपुर कमिश्नरी में 50 ऊँटों के यूथ पाले जाते है. अनेक स्थानों पर सांड़ ऊँट भी रखे जाते है, और वे मादाओं को गाभिन करने के काम आते है.

राजस्थान राज्य की कोटा कमिश्नरी में ऊँटों के कुछ यूथ ऐसे है जिन्हें चरने की सर्वोत्तम सुविधा प्राप्त है. इस क्षेत्र में एक यूथ में 300 से भी अधिक ऊँटनियाँ रहती हैं.

ऊँट प्रजनन में कच्छ (गुजरात) का स्थान राजस्थान के बाद आता है. यहाँ चरने के लिये प्रचुर जमीन है जो प्रजनन कार्य के लिये अधिक उपयुक्त है. गुजरात राज्य के उत्तरी भाग में साबरकाँठा, बनासकाँठा और मेहसाना जिलों में प्रजनन कार्य सीमित है.

कुछ ऊँट-पालक (रेबड़िये), हरियाणा के रोहतक, करनाल, हिसार और गुड़गाँव जिलों तथा राजस्थान की सीमा से मिले हुये पंजाब के फिरोजपुर जिले में ऊँटों के पालने का कार्य करते हैं. लेकिन एक भी पालक के पास 15 से अधिक ऊँट नहीं रहते. ठीक यही दशा भटिंडा और महेन्द्रगढ़ जिलों में है.

उत्तर प्रदेश में चम्बल तथा यमुना नदी के किनारे-किनारे मेरठ, मथुरा और इटावा जिलों में जहाँ अच्छे चरागाह हैं थोड़ा-बहुत ऊँट-पालन किया जाता है.

रोग

गिल्टी रोग (पंजाब-शूल) ऊँटों का अतिसामान्य रोग है. देश के आर्द्र क्षेत्रों में लगभग 30% ऊँटों में यह रोग फैलता है. यह रोग **बैसिलस एंथ्रेसिस** द्वारा उत्पन्न होता है तथा इस रोग के आक्रमण के कुछ घण्टे बाद ही मृत्यु हो जाती है. संक्रमण, पानी या चारे से होता है, अतः सम्पर्क में आने वाले अथवा संक्रमित क्षेत्रों में चरने वाले समस्त ऊँटों को अलग-अलग रखना चाहिये.

निमोनिया ऊँटों का सामान्य रोग है जो विशेष रूप से पंजाब मे होता है तथा इससे भारी हानि होती है. यह प्रायः सुर्रा रोग से सम्बन्धित होता है.

मोरा सांसर्गिक इंफ्लुएंजा है और सामान्यतया पंजाब में ठण्डे मौसम में होता है. यह तेजी से फैलता है. इससे अनेक पशु मरते हैं. इसमें सल्फा ओषधियाँ प्रभावकारी होती हैं.

अलर्क (रेबीज) विशेषतया उत्तर प्रदेश में ऊँटों में पाया जाता है. राज्य के पशु-चिकित्सा विभाग से रोग के नियंत्रण के लिये निःशुल्क उपचार कराया जाता है.

ऊँट स्फोट (माता) अधिकांशतः एक वर्ष की आयु के ऊँटों में होता है और लगभग 70% बच्चे इस रोग के शिकार होते हैं. इसके किसी विशिष्ट रोगकारी जीव का पता नही चला है. ग्रस्त पशु सामान्यतः अच्छा हो जाता है. रोगनिरोधी टीका इस रोग की दवा है.

झूलिंग, ऊँट का सामान्य रोग है जो सामान्यतया ठण्डे मौसम में तथा कभी-कभी गरमी में होता है. यह रोग तेजी से फैलता है, इसमें चमड़ी पर रेशेदार गरम और कष्टदायक अर्बुद निकल आते है जो फूटकर पीव उत्पन्न करते है और फिर ताजे निशान पड़ जाते हैं. रोगकारी जीव अज्ञात है किन्तु यह कवकजन्य है. यह सम्पूर्ण पंजाब तथा कच्छ में भी फैलता है, परन्तु यह मरुस्थली इलाकों में शायद ही पाया जाता है. लगभग 20% ऊँट इस रोग के शिकार होते है. पहले संक्रमण में क्षतों पर पारे का लाल आयोडाइड लगाते है तथा तीन दिन बाद पोटैसियम परमैंगनेट के चूर्ण से पुनः पट्टी बाँध देते हैं. चार-चार दिन के अन्तर पर ऐसी तीन पट्टियाँ करने से घाव भर जाते है. इन क्षतों पर क्रियाज़ोल या कार्बोलिक अम्ल का उपयोग भी कारगर होता है.

सुर्रा या ट्रिपेनोसोमता ऊँटों मे होने वाला घातक संसर्गज रोग है जो **ट्रिपेनोसोमा इवान्सी** से उत्पन्न होता है. देश में लगभग 20% ऊँट इस रोग के शिकार होते हैं. इस रोग के कारण बहुत-सी ऊँटनियों का गर्भपात हो जाता है. सुर्रा रोग मानसून के मौसम (जुलाई–अक्टूबर) में अत्यधिक पायी जाने वाली खून चूसने वाली मक्खियों (**टैबेनिडी**) द्वारा एक पशु से दूसरे पशु तक ले जाया जाता है. यह रोग उग्र या चिरकारी हो सकता है. कभी-कभी यह तीन-चार वर्षों तक बना रहता है और कभी-कभी तुरन्त अच्छा भी हो जाता है. यदि रोगग्रस्त जानवरों को बिना उपचार के छोड़ दिया जाय, तो वे बहुत बड़ी संख्या में मर जाते हैं.

रोग-निरोधी तथा रोगहर दोनों ही साधन अपनाने होते हैं. भूतपूर्व जोधपुर रियासत मे 1945 में इस रोग का प्रकोप पराकाष्ठा पर था. उस समय एन्ट्रीपोल और एन्ट्रीसाइड जैसी ओषधियों का इस्तेमाल किया गया था. पहली अन्त:शिरा और दूसरी अवत्वक् इंजेक्शन द्वारा दी गयी. इस उपचार से न केवल रोग चला जाता है वरन् पुनःसंक्रमण की आशंका नहीं रह जाती.

ऊँट मे होने वाले अन्य संस्पर्शी रोग पशुप्लेग, लंगड़िया, गला-घोंटू, यक्ष्मा और टेटनस हैं. लेकिन ये बहुत कम होते हैं.

कुमरी (पेशियों की कँपकँपी), कापुली (शिरानाल शोथ), और संधिझिल्ली शोथ ऊँटों के असांसर्गिक रोग हैं

खाज, माइट से उत्पन्न होने वाला (रोगकारी जीव **सार्कोप्टीस कैमेली**) चमड़ी का रोग है, जो जानवरों की कार्य-क्षमता को कम कर देता है. रोग उन सभी स्थानों में जहाँ ऊँट रहते हैं पाया जाता है, लेकिन सूखे भागों मे अधिक पाया जाता है. राजस्थान के ऊँट इस रोग से अधिक प्रभावित होते हैं और कच्छ के सबसे कम. लगभग 30% ऊँटों की संख्या इस रोग से ग्रस्त होती है. इस रोग के नाशक जीवों के नियंत्रण में गैमेक्सेन प्रभावकारी है.

ऊँटों को प्रभावित करने वाले अन्य त्वचा रोग हैं : सस्पर्शी, ऊतकक्षय, छाजन, रूसी और अधिमांस. जू, टिक (चीचड़ी), घोड़े की मक्खी, घरेलू मक्खी और मच्छर, त्वचा के प्रमुख परजीवी हैं.

आर्थिक महत्व – देश के विभिन्न राज्यों में मृदा, जलवायु तथा वर्षा के अनुसार ऊँटों का उपयोग विभिन्न कार्यों के लिये किया जाता है. इनका उपयोग खेत जोतने, बोझा ढोने तथा व्यापार मे किया जाता है. गाड़ी चलाने, रहट द्वारा पानी खीचने, अनाज गहाने, तेल-घानी तथा देशी आटा-चक्की चलाने तथा गन्ने का रस निकालने में इनका उपयोग होता है. जिन इलाको मे परिवहन के अन्य साधन नही होते वहाँ ऊँटों का उपयोग परिवहन मे करते हैं.

रेतीले इलाको मे बैलों की जोडी की तुलना मे ऊँट अधिक लाभदायक होते हैं, ऐसे इलाको मे ये गाड़ी द्वारा डेढ़-गुना बोझा ढोते हैं. यदि जमीन मुलायम रहे तो सामान्यतया ऊँट 8 घण्टे में 0.5–0.6 हैक्टर जमीन जोत लेता है. यह पीठ पर 250 किग्रा. तथा गाडी से लगभग 555 किग्रा. बोझा ले जाता है.

देश की सुरक्षा मे ऊँटो का महत्वपूर्ण योगदान है. राजस्थान की रेतीली सीमा पर, जहाँ स्काउट तथा पुलिस के गश्ती दस्ते स्थायी रूप मे रखे जाते हैं वहाँ ऊँट ही परिवहन का महत्वपूर्ण साधन है. सुरक्षा सेवा मे ऊँटो का दस्ता महत्वपूर्ण लड़ाकू इकाई है.

ऊँट उत्पाद

ऊँटों से बाल, चमड़ी, मांस, कच्ची अस्थियाँ, दूध तथा खाद जैसे व्यापारिक उत्पाद प्राप्त होते हैं.

ऊँटों के बाल अपनी मृदुता, हलकेपन, टिकाऊपन और निम्न ऊष्मा चालकता के कारण अत्यन्त मूल्यवान समझे जाते हैं. बालों का संग्रह भारत में मई-जून में किया जाता है, जब ऊँटों में बाल गिराने का समय होता है अथवा उन्हें वर्षा में एक बार काटा जाता है. भारतीय ऊँटों की पीठ, गर्दन, टाँगों तथा जाँघों पर लम्बे बाल होते हैं. सामान्यत: पीठ के बाल नही काटे जाते. ठण्डे इलाकों में प्रति वर्ष प्रत्येक ऊँट से लगभग 5.4 किग्रा. बाल प्राप्त होते हैं परन्तु भारत मे प्रति पशु औसतन लगभग 900 ग्रा. बाल मिलते हैं.

ऊँटों में मिश्रित रोमावली पायी जाती है जिसमें ऊपर तो मोटे बाल रहते हैं और उसके नीचे ऊन जैसे बाल पाये जाते हैं. इन्हें कंघा करने की मशीन द्वारा स्थूल बालों (टाप्स) तथा छोटे रेशों (नॉइल्स) मे पृथक् कर लिया जाता है. बालों का व्यापारिक श्रेणीकरण मोटे बालों की उपस्थित मात्रा पर निर्भर करता है. सबसे अच्छे बाल किशोर ऊँटों से प्राप्त होते हैं.

मुलायम तथा उत्तम बालों से कम्बल, धुस्से तथा उत्तम कोटि के लबादे तथा ड्रेसिंग गाउन तैयार किये जाते हैं. ऊन में मिला-कर इनसे बुने हुये कपड़े तैयार किये जाते हैं. ऊँट के बालों से बने कम्बल ऊनी कम्बलों से श्रेष्ठ होते हैं. बकरी के बालों में मिलाकर इससे मोटे कपड़े तैयार किये जाते हैं जिनका उपयोग ऊँटों की जीन तथा बोरे बनाने में किया जाता है. मोटे बालों का उपयोग डोरी, रस्सी, तेल-घानी थैले तथा मशीन के पट्टे बनाने में किया जाता है. मोटे रेशों से बने बोरों का इस्तेमाल राजस्थान में चारा और दाना ले जाने के लिये किया जाता है. दाढ़ी के बालों का उपयोग चित्र बनाने के ब्रुशों में किया जाता है.

भारत मे ऊँट के बालों का अनुमानित राज्यवार वार्षिक उत्पादन सारणी 79 मे दिया गया है.

ऊँट के कच्चे बालों मे रेशा 75–85, वसा 4–5, रेत तथा धूल 15–25% होती है. रेशे व्यास (9–40 मा.) मे एक समान होते हैं. ऊँट के बालो का मूल्य उनकी लम्बाई, मृदुता, चमक तथा रंग पर निर्भर करता है. भारत मे प्राय: ऊँटो के बालो का रंग भूरा होता है. मुलायम तथा चमकदार बाल अधिक दाम पर बिकते हैं, गहरे रंगों के ऊँचे दाम मिलते हैं. मैदानों मे मौसमी दशाओं के कारण, ऊँटों से काटे गये बाल छोटे

सारणी 79 – भारत में 1961 में ऊँट के बालों का अनुमानित वार्षिक उत्पादन*

राज्य	(मात्रा टनों में)
उत्तर प्रदेश	14.53
गुजरात	4.40
पंजाब	95.10
मध्य प्रदेश	5.34
राजस्थान	242.52
योग	361.89

*विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

तथा रूक्ष होते हैं और अपेक्षाकृत कम दामों पर बिकते हैं. यह अनुमान लगाया गया है कि ऊँट के बालों के कुल उत्पादन का 50% निर्यात कर दिया जाता है.

ऊँट की खाल का उपयोग सन्दूक तथा सूटकेस बनाने में किया जाता है. इसका मुख्य उपयोग तेल या घी रखने के लिये बड़ी थैलियाँ (कुप्पा) बनाने में किया जाता है. इससे अच्छा चमड़ा नहीं बनता.

ऊँट का मांस चीमड़ तथा खुरदुरा होता है. यह स्वादिष्ट नहीं होता. इसकी आंत की भित्तियों का उपयोग छोटे-छोटे शोभाकारी फ्लास्कों के बनाने में किया जाता है. कूबड़ों से प्राप्त होने वाली चर्बी पिघला करके ग्रीज के रूप में काम में लायी जाती है. ऊँटों की ताजी हड्डियों से चूरा बनाया जाता है, जो एक उर्वरक है. 1961 के अनुमान के अनुसार राजस्थान, पंजाब, गुजरात और उत्तर प्रदेश से क्रमश: 1,321, 518,102 और 89 तथा अन्य प्रान्तों से 45 टन हड्डियाँ प्राप्त हुयी.

ऊँट पालकों के लिये ऊँटनी का दूध उपयोगी भोजन है, यह प्लीहा, जलशोथ और पीलिया रोगों की दवा है. दिन-भर में ऊँटनी से 10.8 किग्रा. दूध मिलता है. इस दूध में वसा कम परन्तु नाइट्रोजनी पदार्थ अधिक होते हैं. इसकी गन्ध चरबी जैसी होती है तथा जो इसका सेवन नहीं करते उनके लिये यह मृदुरेचक है. दूध से तैयार किये गये हलवे का आयात भारत में किया जाता है. कुमिस नामक किण्वित उत्पाद भी इससे बनाया जाता है.

रेगिस्तानी इलाकों में ऊँट के गोबर का उपयोग ईंधन की तरह किया जाता है. इसमें नौसादर पाया जाता है. इसकी खाद अन्य पशुओं की खाद से अच्छी होती है. इससे अच्छी उपज मिलती है.

अनुसंधान और विकास – देश में वैज्ञानिक रीति से ऊँटों को पालने के बहुत कम प्रयास हुये हैं. फलस्वरूप सारे देश में, यहां तक कि फौजी टुकड़ियों में भी दोगली या संकर नस्ल पायी जाती है. बीकानेरी ऊँट अपनी सहन-क्षमता और कृषि तथा परिवहन में उपयोगिता के कारण प्रसिद्ध है. जैसलमेरी नस्ल को चुनिंदा प्रजनन द्वारा सुधारा जा सकता है और इसका उपयोग अन्य राज्यों में श्रेणी-उन्नयन करने में किया जा सकता है. प्रजनन के लिये अच्छे सांड़ ऊँट सरलता से प्राप्त नहीं होते. इसीलिये भारत में ऊँट प्रजनन के लिये कृत्रिम वीर्यसेचन प्रारम्भ करने के लिये विस्तार से अध्ययन किया जा रहा है. प्रजनन, आहार और प्रबंध, तथा ऊँट के रोगों पर आवश्यक प्रेक्षण करने के लिये भारत सरकार ने बीकानेर में ऊँट प्रजनन फार्म की स्थापना की है. इस फार्म में 400 ऊँटों का यूथ रखा गया है तथा बीकानेरी ऊँटों की शुद्ध नस्ल प्राप्त करने के लिये प्रयत्न हो रहे हैं.

याक

याक, बास (पेफागम) ग्रुनियन्स लिनियस [हि.–बनचौर (जंगली), चौर गाय (पालतू)], (गण–आर्टिओडैक्टाइला, कुल–बोविडी) तिब्बत और मध्य एशिया के आस-पास के देशों का वासी है. यह जंगली अवस्था में हिमालय के अत्यधिक बीरान और ठण्डे क्षेत्रों में रहता है और अन्य स्तनियों की अपेक्षा अधिक ऊँचाई (4.3–6.0 किमी.) पर पाया जाता है. धूसर रंग के थूथन, सिर और गर्दन को छोड़कर इसका शेष शरीर गहरा भूरा या प्राय: काला होता है. पालतू याक का आकार छोटा होता है. इसके रंग में भिन्नता होती है. इसका रंग सफेद या चितकबरा होता है.

भारत में याक जम्मू और कश्मीर प्रान्त की लद्दाख घाटी में तथा हिमाचल प्रदेश की पंगी, चीनी, लाहूल और स्पिती घाटियों में और कुछ संख्या में उत्तर प्रदेश में गढ़वाल में पाया जाता है. मोटे तौर पर याकों की कुल संख्या 24,000 होगी. इनके संकर इससे दुगुने होंगे. भारत में 1966 में याक की संख्या के राज्यवार आंकड़े सारणी 80 में दिये गये हैं. लाभकारी पशु को सुरक्षित रखने के लिये सम्पापित फार्म न होने से याकों की संख्या कम होती जा रही है.

जंगली याक भारी डील का पशु है, इसका सिर नमित, कंधे ऊँचे उठे हुये, कमर सीधी तथा पैर छोटे और मजबूत होते हैं. इसके मोटे बाल पार्श्वों, छाती, कन्धों, जांघों तथा पूंछ की निचली आधी लम्बाई तक लटके रहते हैं और सींगों के बीच बालों का गुच्छा होता है तथा गर्दन पर लम्बे अयाल होते हैं. प्रौढ़ याक की ऊँचाई कंधे तक लगभग 1.67 मी. होती है और कभी-कभी 1.83 मी. तक हो सकती है. इसका भार 544 किग्रा. तक होता है. अच्छे सींगों की लम्बाई 6.4–7.4 सेमी. तक होती है. याकिनी प्रतिवर्ष औसतन 385.5 किग्रा. दूध देती है. गर्मियों में याक अक्सर छोटी झाड़ियाँ तथा घास के गुच्छे और नमकीन मिट्टी खाता है तथा पिघली बरफ पीता है. मैथुन का काल पतझड़ के अन्त में होता है. यह अप्रैल में बच्चा जनती है जब हरी घास से इसके चारे की पूर्ति हो जाती है.

सदियों से हिमालय की ऊँचाइयों पर याक का प्रजनन पालतू जानवरों के साथ इसका अन्त:प्रजनन कराकर होता रहा है. इसकी दो संकर नस्लें ज्ञात हैं : सींगदार (जो) और सींगरहित (जुम). ये दोनों शुद्ध संकर नस्लें हैं. पालतू याक शुद्ध नस्लों की अपेक्षा उच्च ताप सहन कर सकता है. ठंड सहन कर सकने, कठिन से कठिन पहाड़ी मार्ग में पैर न फिसलने तथा मोटे-मोटे चारे पर भी निर्वाह कर सकने के कारण यह मनुष्य के लिये अपरिहार्य है.

स्पिती और पंगी के पठारी इलाकों तथा घाटियों के उत्तरी भागों में याकों को प्रजनन के लिये पाला जाता है. याक सांड़ों का

सारणी 80 – 1966 में भारत में याकों की संख्या*

राज्य	संख्या
उत्तर प्रदेश	718
जम्मू और कश्मीर	13,562
हिमाचल प्रदेश	3 266
योग	17,546

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

उपयोग पहाड़ी गायों के संकरण में किया जाता है. हाल ही में याक गायों का उपयोग शुद्ध प्रजनन के लिये किया जाने लगा है. **वास** वंश के अन्य सदस्यों, जैसे कि जंगली भैंसा, बेन्टेंग, गायाल, जीबू और यूरोपीय गोपशुओं और याक में अंतःप्रजनन कराया जाता है. लेकिन भारत में अभी तक भैंसों के साथ कोई अन्तःप्रजनन नहीं किया गया.

संकर याकों के शरीर का आकार मध्यम होता है किन्तु जब उन्नत देशी नर याकों का प्रयोग किया जाता है तो ये कई प्रकार से अपने दोनों जनकों को पछाड़ देते हैं. वधिया किये जाने पर इनसे अच्छा मांस मिलता है और मांस तथा खाल के गुण याक से श्रेष्ठ होते हैं. ये संकर याक से बलिष्ठ तथा भारी बोझा ले जाने में समर्थ होते हैं, लेकिन इनमें सहन शक्ति कम होती है. इनके खुर मुलायम होते हैं और गरम जलवायु के लिये अधिक अनुकूल होते हैं. दूध उत्पादन में ये याक, गाय तथा कभी-कभी देशी पालतू गोपशुओं से भी बढ़ जाते हैं. संकर पशुओं के दूध में पालतू पशुओं के दूध से वसा की मात्रा अधिक होती है.

याक से दूध, मांस, खाल तथा ऊन प्राप्त होते हैं. यह मनुष्यों तथा सौदा के लिये परिवहन का काम देता है तथा जुताई के भी काम आता है. यदि याक न रहे तो वीरान हिमालयी इलाकों में यात्रा तथा व्यापार करना अत्यन्त दुस्साध्य हो जाय. याक का मांस तथा दूध मनुष्य के काम आते हैं. याक की खाल का उपयोग ऊँचाइयों पर रहने वाले ढीले जामे के रूप में करते हैं. इसके लम्बे बालों से कपड़े, चौंर तथा रस्सियाँ बनायी जाती हैं तथा तम्बुओं के ऊपर चढ़ाने के लिये खोल बुना जाता है. इसकी अस्थियाँ, सींग तथा खुर खाद के रूप में काम आते हैं.

पशुधन उत्पादों का रसायन

दूध तथा दूध के उत्पाद

सर्वोत्तम ज्ञात आहारों में से दूध एक है तथा इसका महत्व प्रागैतिहासिक काल से ही मनुष्यों को ज्ञात रहा है. प्राचीनकाल में सम्भवतः दूध की अधिकता के कारण दही और घी जैसे दूध उत्पादों का प्रयोग होता था. डेरी-उद्योग के विकास के साथ ही अब मक्खन, पनीर, बाष्पीकृत दुग्ध तथा दुग्ध-चूर्ण जैसे कृत्रिम उत्पाद तैयार किये और उपयोग में लाये जा रहे हैं. भारत में दूध की पर्याप्त मात्रा (लगभग 60%) दही, मक्खन, घी, खोआ, रबड़ी, छेना जैसे उत्पादों में परिवर्तित कर दी जाती है.

दूध, पशुओं की स्तनी ग्रन्थियों का स्राव होता है. यह सामान्यतः गाय अथवा भैंस से बच्चा जनने के कम से कम 72 घण्टे के बाद से अथवा खीस (पेउसी) रहित होने पर प्राप्त होता है. बकरी, भेड़, गधी, ऊँटनी तथा घोड़ियाँ अन्य दुग्ध-उत्पादक पशु हैं.

गायें और भैंसें भारत के प्रमुख दुधारू पशु हैं. बकरियों (सूरती नस्ल) तथा भेड़ों (काठियावाड़ी नस्ल) से भी कुछ दूध प्राप्त होता है. 1966 की पशुधन-गणना के अनुसार भारत में दुधारू पशुओं में से 2 करोड़ 10 लाख गायें तथा 1 करोड़ 47 लाख भैंसें थीं. कुल दूध आपूर्ति का लगभग 45% गायों से तथा लगभग 55% भैंसों से प्राप्त होता है. देश की दुधारू गायों तथा भैंसों की प्रमुख नस्लें इस प्रकार हैं :

गायें – **साहीवाल, हरियाना, मालवी, मेवाती, लाल सिन्धी, गिर, कांकरेज, खिल्लारी, थारपारकर, देवनी, रथ, डाँगी और अंगोल.**

भैंसें – **मुर्रा, नीली रावी, सूरती, जाफरावादी, मेहसाना, नागपुरी तथा भदावरी.**

गुणधर्म

दूध, श्वेत और अपारदर्शी द्रव है जिसमें वसा पायस के रूप में, प्रोटीन तथा कुछ खनिज पदार्थ कोलाइडी निलम्बन में तथा कुछ खनिज और विलेय प्रोटीनों के साथ लैक्टोस वास्तविक विलयन में विद्यमान रहते हैं. ताजे निकाले गये दूध का पी-एच मान 6.6 (परास 6.5–6.7) तथा अनुमाप्य अम्ल 0.12 से 0.15 % होता है. वास्तव में ताजे निकाले गये दूध में बहुत कम अम्ल रहता है और इसका पी-एच, कार्बन डाइऑक्साइड, सिट्रेट, केसीन इत्यादि की उपस्थिति के कारण उदासीन से कुछ कम रहता है. सम्पूर्ण दूध का विशिष्ट घनत्व सामान्यतया 15.5° पर 1.030–1.035 (औसतन 1.032) होता है. सम्पूर्ण दूध (अतिशीतित) का घनत्व —5.2° पर अधिकतम होता है तथा जैसे-जैसे ताप लगभग 40° तक बढ़ाया जाता है, घनत्व घटता जाता है. 20° पर दूध का अपवर्तनांक 1.3440 से 1.3485 के बीच रहता है. सम्पूर्ण दूध तथा इसके उत्पादों की विस्कासिता ताप एवं ठोस अवयवों की मात्रा और व्यासरण की दशा पर निर्भर करती है. सम्पूर्ण दूध की विस्कासिता 25° पर लगभग 2.0 सेन्टीप्वायज होती है और केसीन मिसेल तथा वसा गोलिकायें इसके लिये उत्तरदायी हैं. दूध का पृष्ठ-तनाव 20° पर 50 डाइन/सेंमी. होता है. इसकी पृष्ठ-सक्रियता इसमें उपस्थित प्रोटीनों, वसा, फॉस्फोलिपिडों तथा मुक्त वसा अम्लों से सम्बन्धित है. समांगीप्रकरण प्रक्रम से दूध का पृष्ठ-तनाव ठीक उसी प्रकार बढ़ता है जैसे ऊष्मा द्वारा जीवाणुनाशन बढ़ता है. दूध का हिमांक सामान्यतः –0.53° से –0.57° के बीच पाया जाता है और दूध में उपस्थित लेक्टोस तथा क्लोराइड हिमांक के अवनमन के लिये उत्तरदायी होते हैं.

संघटन

विभिन्न स्तनियों से प्राप्त दूध के अवयव लगभग एक ही होते हैं परन्तु उनकी मात्रा में काफी अन्तर पाया जाता है. सारणी 81 में विभिन्न स्तनियों का और सारणी 82 में विभिन्न दुधारू नस्लों के दूधों का पूर्ण संघटन प्रस्तुत किया गया है.

जल – दूध का अधिक भाग जल होता है, जो जाति एवं नस्ल के अनुसार 82 से 90% तक परिवर्तित होता रहता है. यह जल दूध के अन्य अवयवों के लिये संवाहक का कार्य करता है. दूध में जल की थोड़ी मात्रा लैक्टोस तथा लवणों से जलयोजित तथा प्रोटीन के साथ बन्धित भी रहती है.

वसा – वसा दूध का सबसे अस्थिर अंश है और यह निलम्बन में निम्न गलन बिन्दु वाले विभिन्न ग्लिसराइडों की छोटी-छोटी गोलिकाओं के रूप में (व्यास : गाय का दूध, 3–8μ; भैंस का दूध, 4–10μ) विद्यमान रहता है. वसा गोलिकाओं के आकार एवं

सारणी 81 – विभिन्न स्तनियों के दूधों का औसत संघटन* (%)

जाति	जल	वसा	प्रोटीन	कुल ठोस पदार्थ	वसा रहित ठोस	लैक्टोस	राख
मनुष्य	87.43	3.75	1.63	12.57	8.82	6.98	0.21
गाय	86.61	4.14	3.58	13.39	9.25	4.96	0.71
भैंस	82.76	7.38	3.60	17.24	9 86	5.48	0.78
बकरी	87.00	4.25	3.25	13.00	7.75	4.27	0.86
भेड़	80.71	7.90	5.23	19.29	11.39	4.81	0.90
ऊँटनी	87.61	5.38	2.98	12.39	7.01	3.26	0.70
घोड़ी	89.04	1.59	2.69	10.96	9.37	6.14	0.51
गधी	89.03	2.53	2.01	10.97	8.44	6.07	0.41

*Fundamentals of Dairy Chemistry, edited by B. H. Webb & A. H. Johnson, 1965.

सारणी 82 – भारतीय नस्लों की कुछ गायों, भैंसों, बकरियों तथा भेड़ों के दूधों का औसत संघटन* (%)

नस्ल	कुल ठोस पदार्थ	वसा	प्रोटीन	वसारहित ठोस	लैक्टोस	राख
गाय						
लाल सिन्धी	13.66	4.90	3.42	8.76	4.91	0.70
गिर	13.30	4.73	3.32	8.67	4.84	0.66
थारपारकर	13.25	4.55	3 36	8.70	4.83	0.68
साहीवाल	13.37	4.55	3.33	8.82	5.04	0.66
दोगली (संकर)	13.13	4.50	3.37	8.63	4.92	0.67
भैंस (मुर्रा)	15.75	6.56	3.86	9.19	5.83	0.70
बकरी (सूरती)	13.50	4.50	3.49	9.00	4.18	0.77
भेड़ (काठियावाड़ी)	16.30	6.04	4.84	10.26	4.99	0.81

*Basu *et al.*, *Rep. Ser.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 8, 1962.

संख्या में परिवर्तन होता रहता है. यह पशु की नस्ल तथा दूध दुहने की विधि पर निर्भर करता है. ज्यों-ज्यों दुग्धकाल बढ़ता जाता है, ये गोलिकायें छोटी तथा संख्या में और अधिक बढ़ती जाती हैं. हाथ की दुहाई की अपेक्षा मशीन द्वारा दुहाई से प्राप्त गोलिकायें समान आकार की होती हैं. समांगीकरण से वसा-गोलिकाओं का आकार छोटा हो जाता है. इससे भंडारण-अवधि में होने वाली पृथक्करण की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है.

दुग्ध-वसा का स्वाद अत्यन्त स्निग्ध होता है जिससे वसायुक्त दुग्ध उत्पादों में चिकनापन और स्वाद आ जाता है. दूध का 98 से 99% अंश मिश्रित ट्राइग्लिसराइडों से निर्मित है और इन ग्लिसराइडों का संयोग दूध की अपनी विशेषता होती है. दुग्ध-वसा में असंख्य ट्राइग्लिसराइड विद्यमान हो सकते हैं क्योंकि दूध में 64 वसा अम्ल पाये जाते हैं. सारणी 83 में विभिन्न पशुओं के दुग्ध-वसा के घटक अम्लों की सूची दी हुयी है. ब्यूटिरिक, कैप्रोइक,

सारणी 83 – कुछ दुग्ध वसाओं के घटक वसा अम्ल (भार %)*

अम्ल	भैंस†	गाय‡	बकरी†	भेड़†	ऊँटनी†	घोड़ी**
ब्यूटिरिक	4.1	4.0	3.0	3.3	2.1	0.4
कैप्रोइक	1.4	1.8	2.3	2.8	0.9	0.9
कैप्रिलिक	0.9	1.0	3.9	3.8	0.6	2.6
कैप्रिक	1.7	1.9	8.6	7.8	1.4	5.5
लॉरिक	2.8	2.2	4.6	5.4	4.6	5.6
मिरिस्टिक	10.1	12.9	11.5	12.2	7.3	7.0
पामिटिक	31.1	31.3	24.7	23.5	29.3	16.1
स्टीऐरिक	11.2	8.3	9.3	6.9	11.1	2.9
ऐराकिडिक	0.9	0.9	0.1	1.9	...	0.3
ओलीक	33.2	28.0	30.5	28.3	38.8 }	42.4
आक्टाडेकाडिनोइक के रूप में	2.6	3.8	1.5	4.1	3.8 }	
असंतृप्त C_{20-22}	...	0.7	...	...	...	5.1

*Hilditch & Williams, 159–60, 147.

**निम्नलिखित सूक्ष्म मात्रिक असंतृप्त घटक सम्मिलित हैं, डेसेनाइक, 0.9; डोडेसेनाइक, 1.0; टेट्राडेसेनाइक, 1.8; तथा हेक्साडेसेनाइक, 7.5%.

†गौण असंतृप्त अम्लों सहित. ‡निम्नलिखित सूक्ष्म मात्रिक असंतृप्त घटक सम्मिलित हैं : डेसेनाइक, 0.1; डोडेसेनाइक, 0.3; टेट्राडेसेनाइक, 1.2; तथा हेक्साडेसेनाइक, 1.6.

कैप्रिलिक तथा कैप्रिक अम्लों को उनके अधिक अनुपात में उपस्थित रहने के कारण उनकी तीव्र गन्ध तथा स्वाद से पहचाना जाता है. ये वाष्पशील अम्ल अन्य प्राकृतिक वसाओं में इतने बड़े अनुपात में नहीं पाये जाते. दूध में विषम कार्बन परमाणु संख्या तथा प्रशाखित शृंखला वाले अम्ल भी उपस्थित रहते हैं. दुग्ध वसा में वसा अम्लों की मात्रा पशु द्वारा ग्रहण किये चारे की किस्म तथा उसकी मात्रा, दुग्धकाल तथा पशु की नस्ल द्वारा प्रभावित हो सकती है. दुग्ध-वसा में कोलेस्टेरॉल पाया जाता है, इस प्रकार यह फाइटोस्टेरॉल युक्त वनस्पति वसाओं से भिन्न होता है. दूध में 0.2 से 1.0% फॉस्फोलिपिड उपस्थित रहते हैं. यथा, लेसिथिन, फॉस्फेटिडिल, सेरीन, फॉस्फेटिडिल इथेनॉलऐमीन, फॉस्फेटिडिल कोलीन, स्फिंगो-माइयेलिन तथा इनासिटॉल और सेरेब्रोसाइडेस. इनमें से कुछ फॉस्फोलिपिड घी को अधिक काल तक भंडारित रहने में प्रतिउपचायक का कार्य करते हैं.

प्रोटीन – दूध में उपस्थित कुल प्रोटीनों का लगभग 80% कैसीन होता है जो दूध का प्रमुख प्रोटीन है. इसके मस्तु (छेने का पानी) में उपस्थित लैक्टऐल्बुमिन तथा लैक्टोग्लोबुलिन शेष 20% पूरा करते हैं. कैसीन कम से कम तीन प्रोटीनों, α–, β– तथा γ–कैसीन का मिश्रण होता है. भैंस के दुग्ध-कैसीन में α–कैसीन 44.5, β–कैसीन 52.4 तथा γ–कैसीन 3.1% पाया जाता है, जबकि गाय के दुग्ध-कैसीन में इन अंशों की मात्रायें क्रमशः 54.5, 39.1 तथा 6.4% हैं.

कैसीन निकाल लेने के बाद दूध का बचा हुआ तरल अंश मस्तु (छाछ) कहलाता है. इसमें उपस्थित प्रोटीन मस्तु प्रोटीन

अथवा दुग्धसीरम प्रोटीन कहे जाते हैं. सीरम प्रोटीन में लैक्टैल्बुमिन तथा लैक्टोग्लोबुलिन रहते हैं. लैक्टैल्बुमिन में तीन पृथक् प्रोटीन होते हैं. α-लैक्टैल्बुमिन (22%), β-लैक्टोग्लोबुलिन (59%) तथा सीरम ऐल्बुमिन (6%). लैक्टोग्लोबुलिन में दो इम्यूनोग्लोबुलिन, यूग्लोबुलिन तथा स्यूडोग्लोबुलिन संघटित रहते हैं और ये सीरम प्रोटीनों का शेष 13% होते हैं.

उपर्युक्त प्रोटीनों के अतिरिक्त दूध में प्रोटियोस-पेप्टोन अंश भी सूक्ष्म मात्रा में पाया जाता है. गाय तथा भैंस के दूध के प्रोटियोस पेप्टोन के औसत मान क्रमश: 308.7 मिग्रा. तथा 282.5 मिग्रा./100 मिली. हैं.

दुग्ध प्रोटीनों में सभी आवश्यक ऐमीनो अम्ल पर्याप्त मात्रा में तथा संतुलित अनुपातों में विद्यमान रहते हैं. उनमें लाइसीन एवं वैलीन विशेषतया प्रचुर मात्रा में होते हैं जो अनाज के प्रोटीनों में सामान्यत: न्यून मात्रा में पाये जाते हैं. सम्पूर्ण दूध के प्रोटीनों में मुख्यत: कैसीन में सिस्टीन की कमी कुछ हद तक लैक्टैल्बुमिन द्वारा पूरी हो जाती है, क्योंकि इसमें ऐमीनो अम्ल की अधिकता होती है.

सारणी 84 – गाय के दूध तथा उसके उत्पादों के प्रोटीन निर्मायक आवश्यक ऐमीनो अम्ल*
(ग्रा./16 ग्रा. N)

स्रोत	आर्जिनीन	हिस्टिडीन	लाइसीन	ट्रिप्टोफेन	फेनिल एलानीन	मेथियोनीन	थ्रियोनीन	ल्यूसीन	आइसो-ल्यूसीन	वैलीन
सम्पूर्ण दूध	4.3	2.6	7.5	1.6	5.7	3.4	4.5	11.3	8.5	8.4
सम्पूर्ण दूध (सिन्धी नस्ल)	3.9	1.8	11.6	1.2	3.8	2.4	5.7	8.9	3.2	6.5
सम्पूर्ण दूध (दोगली नस्ल)	2.2	1.9	6.1	1.2	2.9	2.4	4.4	8.6	3.9	5.7
खीस	2.8	2.6	7.2	2.0	3.6	2.0	9.6	10.1	2.4	7.9
कैसीन	3.6–4.2	1.7–4.2	6.0–8.8	1.0–1.5	5.0–6.4	2.6–3.5	3.6–4.9	9.2–14.4	5.0–8.3	5.3–8.0
लैक्टैल्बुमिन	3.2–4.0	1.4–2.3	6.2–10.5	1.2–2.5	3.4–5.4	1.8–2.7	4.0–6.0	10.4–17.4	4.2–7.8	4.0–6.6
β-लैक्टोग्लोबुलिन	2.8–3.2	1.5–1.8	11.0–12.6	1.8–2.1	3.2–4.6	2.5–3.6	4.6–6.0	15.1–16.9	5.9–8.4	5.5–6.6
वाष्पीकृत दूध	3.2	2.5	7.2	1.4	4.9	1.9	4.6	10.0	7.2	6.4
दूध, सम्पूर्ण सूखा	3.5	2.4	8.1	1.4	4.6	2.2	4.8	11.8	6.5	6.2
मखनियाँ दूध, सूखा	3.0–3.1	2.3–3.3	7.3–8.3	1.0–1.4	4.5–5.4	2.1–2.5	4.1–4.5	9.3–10.6	6.0–7.3	5.9–6.0
पनीर (चेद्दर)	3.5	3.2	8.2	1.6	6.4	3.5	3.7	9.0	7.1	7.8
दही	1.5	1.9	5.7	1.2	3.0	1.8	5.9	10.2	3.2	6.2
मट्ठा या छाछ, सूखा	3.1	2.6	6.7	1.3	4.1	2.1	4.4	9.5	7.5	7.7
खोआ	3.1	2.0	5.8	1.2	3.4	2.2	4.9	9.9	3.2	6.1
दही का पानी, सूखा	1.8	1.2	4.7	0.6	3.0	1.2	4.7	7.1	5.9	4.7
मानव दुग्ध प्रोटीन†	4.3	2.8	7.2	1.9	5.6	2.2	4.6	9.8	7.5	8.8

*Kuppuswamy *et al.*, 132-35. †मानव दुग्ध प्रोटीन के ये मान तुलना के लिये दिये गये हैं.

सारणी 85 – भैंस के दूध तथा उसके उत्पादों के प्रोटीन निर्मायक आवश्यक ऐमीनो अम्ल*
(ग्रा./16 ग्रा. N)

स्रोत	आर्जिनीन	हिस्टिडीन	लाइसीन	ट्रिप्टोफेन	फेनिल एलानीन	मेथियोनीन	थ्रियोनीन	ल्यूसीन	आइसो-ल्यूसीन	वैलीन
संपूर्ण दूध, मुर्रा[1]	3.0	2.3	8.8	1.0	3.9	2.9	5.5	10.7	4.4	6.1
संपूर्ण दूध, मेहसाना[2]	3.4	2.0	7.0	1.4	4.6	2.8	4.6	9.5	5.7	5.4
संपूर्ण दूध, सूरती[3]	...	...	7.0	1.6	4.6	2.3	5.0	19.7	5.1	5.6
खीस[1]	3.8	2.3	6.6	1.9	3.9	1.8	9.0	8.2	2.6	7.7
कैसीन[1]	...	...	8.2	1.3	5.5	2.5	4.6	10.2	7.0	6.9
मखनियाँ दूध, सूखा[1]	3.1	2.1	9.1	1.2	3.4	2.9	6.0	10.1	3.4	7.6
दही[1]	1.7	1.7	7.9	1.1	2.7	1.6	4.8	9.6	2.8	6.2
खोआ[1]	2.3	2.0	8.0	1.2	2.9	2.1	4.1	10.8	3.4	6.7
दही का पानी[4] (छाछ)	...	..	9.5	1.1	5.3	2.6	3.9	8.7	5.3	4.1

[1]Venkateswara Rao & Basu, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954, **12**, 19, 21 22; [2]Joshi & Raj, *Indian J. Dairy Sci.*, 1954, **7**, 139; [3]Raj & Joshi, *J Sci. industr. Res.*, 1955, **14C**, 185; [4]Raj & Joshi, *Indian J. med. Res.*, 1955, **43**, 591.

लैक्टैल्बुमिन तथा β-लैक्टोग्लोबुलिन सभी आवश्यक ऐमीनो अम्लों के लिये भली-भाँति संतुलित रहते हैं. गाय के दूध तथा इसके उत्पादों के प्रोटीनों का आवश्यक ऐमीनो अम्ल संघटन सारणी 84 में दिया गया है.

भैंस, भेड़, बकरी, सुअरी तथा गधी के दूधों के प्रोटीनों के ऐमीनो अम्ल गाय के दुग्ध प्रोटीन के समान होते हैं. भैंस के दूध तथा इसके उत्पादों मे प्रोटीनों का आवश्यक ऐमीनो अम्ल संघटन सारणी 85 में तथा अन्य पशुओं के दुग्ध प्रोटीनों का सारणी 86 में दिया गया है.

गाय के दुग्ध-प्रोटीनों में सुपाच्यता, जैविक मान तथा वृद्धिप्रदायक-मान अधिक होते हैं और ये शिशुओं के पोषण के लिये माँ के दुग्ध-प्रोटीनों के समान होते हैं. फिर भी ऐसी सूचना प्राप्त है कि मनुष्यों के पोषण की अपेक्षा प्रायोगिक पशुओं के पोषण में इसका पोषक मान सम्पूर्ण अण्डे के प्रोटीनों से घटिया होता है. भैंस तथा बकरी दोनों के ही दुग्ध-प्रोटीनों का जैविक मान तथा सुपाच्यता लगभग उसी कोटि की होती है जैसी गाय के दुग्ध-प्रोटीनों की होती है, किन्तु बकरी के दुग्ध-प्रोटीनों का वृद्धिप्रदायक मान कम होता है. दूध तथा दुग्ध उत्पादों के जैविक मान तथा सुपाच्यता गुणक सारणी 87 में प्रस्तुत किये गये हैं.

प्रोटीन-रहित नाइट्रोजन पदार्थ – प्रोटीनों के अतिरिक्त दूध में ऐमीनो अम्ल, यूरिया, यूरिक अम्ल, क्रिएटिन, क्रिएटिनीन तथा हिप्यूरिक अम्ल जैसे प्रोटीन-रहित नाइट्रोजन पदार्थ भी पाये जाते हैं. दूध के कुल नाइट्रोजन का लगभग 5% प्रोटीन-रहित नाइट्रोजन होता है. गाय, भैंस, बकरी तथा भेड़ों के दूध के प्रोटीन-रहित नाइट्रोजन अवयवों के औसत मान सारणी 88 में दिये गये हैं.

कार्बोहाइड्रेट – दूध में उपस्थित शर्कराओं में लैक्टोस प्रमुख है. यह लैक्टिक अम्ल जीवाणुओं द्वारा शीघ्रता से किण्वित होकर लैक्टिक अम्ल उत्पन्न करता है जो दूध की खटास का मूल कारण है. लैक्टोस के अतिरिक्त गाय के ताजे दूध में मुक्त ग्लूकोस तथा गैलैक्टोस भी सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित रहते हैं. लैक्टोस, दूध तथा उत्पादों के पोषक मान मे सहायक होता है तथा कुछ दूध उत्पादों के गठन और मिश्रयता के लिये भी महत्वपूर्ण है. यह उच्च ताप पर गरम किये गये डेरी-उत्पादों को रंग तथा स्वाद प्रदान करता है. पनीर, दही, मक्खन जैसे संवर्धित डेरी उत्पादों के निर्माण में भी यह सहायक है.

खनिज – भारतीय गाय तथा भैंस के दूध में पाये जाने वाले खनिज सारणी 89 में दिये गये है. यद्यपि दूध में 1% से भी कम मात्रा में खनिज पाये जाते हैं, किन्तु वे समांगीकरण के पश्चात वसा गोलिकाओं की उष्मा स्थिरता तथा पिण्डीकरण को प्रभावित करते हैं.

दूध पथ्य, कैल्सियम का एक प्रमुख स्रोत है. सामान्यतया भैंस के दूध में गाय के दूध की अपेक्षा कैल्सियम, फॉस्फोरस तथा मैग्नीशियम अधिक रहता है. गाय के दूध की अपेक्षा भैंस के दूध मे कोलाइडी कैल्सियम की मात्रा अधिक और अकार्बनिक फॉस्फोरस की कम होती है. ऐसा उल्लेख किया गया है कि दूध में लोहा, तांबा, ऐलुमिनियम, बोरॉन, जस्ता, मैंगनीज, कोबाल्ट, आयोडीन, फ्लोरीन, मालिब्डेनम, निकेल, लीथियम, बेरियम, स्ट्रान्शियम, रोबिडियम तथा सिलिका भी उपस्थित रहते हैं. साधारण दूध में क्लोराइड तथा लैक्टोस का अनुपात प्राय: स्थिर रहता है. यह अनुपात, असाधारण दूध में विशेषकर थनैली रोग से पीड़ित पशु में, काफी बदला जाता है.

सारणी 86 – बकरी, भेड़ तथा गधी के दूधों के प्रोटीनों के निर्मायक आवश्यक ऐमीनो अम्ल*
(ग्रा. /16 ग्रा. N)

	बकरी	भेड़	गधी
आर्जिनीन	5.3	1.1	3.7
हिस्टिडीन	2.1	2.2	1.4
लाइसीन	9.5	5.4	7.9
ट्रिप्टोफेन	1.2	1.4	2.4
फेनिल ऐलानीन	3.7	3.9	2.0
मेथियोनीन	2.0	2.7	3.9
थ्रियोनीन	6.6	5.9	4.9
ल्यूसीन	8.4	10.0	8.9
आइसोल्यूसीन	2.6	3.1	3.5
वैलीन	4.2	6.5	4.6

*Venkateswara Rao & Basu, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954. **12**, 19.

सारणी 87 – दूध तथा दुग्ध उत्पादों के प्रोटीनों के पोषक मान* (%)

स्रोत	पोषण भार	जैविक मान	सुपाच्यता गुणांक
गाय का दूध			
सम्पूर्ण	10	75.6–82.8	88.3–94.8
	15	50.6	86.8
संघनित	...	84.6	98.8
वाष्पीकृत	...	89.4	91.8
सम्पूर्ण, सूखा	3	93.0	...
मखनियाँ, सूखा	5	89.0	90.0
	10	83.0	90.0
छेना	11	67.2	97.0
पनीर	8	76.0	100.0
दही	8	66.4	97.8
खोआ	10	68.7	89.9
दही के पानी का चूर्ण (बेलन द्वारा सुखाया)	...	81.8–83.5	74.9–81.3
कैसीन	...	89.0–94.7†	...
लैक्टैल्बुमिन	5	66.0	95.0
भैंस का दूध			
सम्पूर्ण	10	66.7	82.0
	15	53.9	82.4
बकरी का दूध			
सम्पूर्ण	10	67.7	85.5
	15	50.4	85.2

*Kuppuswamy *et al.*, 128–31; †मानव में उपापचय प्रयोगों द्वारा निर्धारित.

एंजाइम – दूध में पाये जाने वाले एंजाइमों में लिपेस, एरिल एस्टरेस, कोलीनएस्टरेस, क्षारकीय फॉस्फेटेस (पास्तुरीकरण के समय नष्ट हो जाता है, इसीलिये उसकी अनुपस्थिति पास्तुरीकरण की सफलता का अभिसूचक है), अम्ल फॉस्फेटेस (उष्मा-निरोधी परन्तु धूप में अस्थायी), जैन्थीन ऑक्सिडेस, लैक्टोपरऑक्सिडेस, प्रोटिएस, α–तथा β–ऐमिलेस, कैटेलेस (रोगग्रस्त स्तनों के दूध में अधिकता रहती है और इसीलिये असाधारण दूध की पहचान के लिये बुनियादी परीक्षण का काम करती है), एल्डोलेस, कार्बोनिक ऐनहाइड्रेस तथा सम्भवतः सेलुलेस, रोडोनेस तथा लैक्टेस सम्मिलित हैं.

विटामिन – दूध, थायमीन तथा राइबोफ्लैविन का एक अच्छा स्रोत है, इसमें अन्य विटामिन बी भी होते हैं. विटामिन बी की मात्रा, दुग्धकाल, पोषण, प्रबन्ध तथा ऋतु के द्वारा प्रभावित होती है. गाय का दूध विशेषकर, विटामिन ए तथा कैरोटीन का एक अच्छा स्रोत है. विटामिन ए की मात्रा गाय द्वारा खाये हुये चारे के प्रकार तथा आनुवंशिक कारकों द्वारा प्रभावित होती है. ग्रीष्म ऋतु में हरे चारे से इसकी मात्रा में वृद्धि होती है. सूचना है कि पशुओं को टोकोफेरॉल पिलाने से दूध में विटामिन ए की मात्रा बढ़ जाती है. दूध में विटामिन डी की मात्रा कम रहती है. यह पशुओं के चारे द्वारा प्रभावित होती है. ग्रीष्म ऋतु में हरे चारे से इसकी मात्रा में वृद्धि होती है. सूचना है कि पशुओं को टोकोफेरॉल पिलाने से दूध में विटामिन डी की मात्रा कम रहती है. यह पशुओं के चारे द्वारा प्रभावित होती है. दूध, विटामिन सी का एक अपर्याप्त किन्तु विटामिन ई का अच्छा स्रोत है. गायों को अन्तःशिरा, अन्तःपेशी और मुख द्वारा विटामिन ई देने से उनकी दुग्ध-वसा में विटामिन ई का स्तर बढ़ता है. कहा जाता है कि गायों के कोलेस्टेरॉल वसा में टोकोफेरॉल की मात्रा वर्षा में उच्चतम तथा ग्रीष्म एवं शरद ऋतुओं में कम और सूखे मौसम में अप्रभावित रहती है. गाय, भैंस, बकरी तथा भेड़ के दूध में विटामिन की मात्रायें सारणी 90 में दी गयी हैं.

गैस – आयतन के अनुसार दूध में लगभग 10% विलेय गैसें पायी जाती हैं जिनमें कार्बन-डाइऑक्साइड प्रमुख है. वायुमण्डल में खुला छोड़ देने पर दूध में नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन जैसी गैसें प्रवेश पा लेती हैं. गरम किये गये दूध में ऐल्बूमिन के अपघटन के कारण हाइड्रोजन-सल्फाइड तथा इसके संजातों की उपस्थिति भी सम्भाव्य है.

दूध का स्वाद – दूध का बढ़िया हल्का मीठा स्वाद इसमें उपस्थित लैक्टोस, वसा, प्रोटीन, लवण तथा कुछ अज्ञात पदार्थों के संयुक्त प्रभाव के कारण होता है. दूध में अवांछित स्वाद पशु द्वारा खाये गये चारे, दलहनी साइलेज तथा कुछ खरपतवार के कारण हो सकता है. जीवाणुओं की वृद्धि के कारण इसमें फलदार, भुसौरी, माल्टी अथवा अम्लीय स्वाद आ जाता है जब कि लाइपेस एंजाइम के कारण इसमें विकृत गंधिता हो जाती है. संसाधन के फलस्वरूप दूध में पकी हुयी गन्ध आ जाती है तथा ऑक्सीकारी अभिक्रियाओं के कारण तरल दूध में कार्डबोर्ड की तरह की, संपूर्ण सूखे दूध तथा घी में चर्बी की तरह की और अन्य डेरी-उत्पादों में धात्विक अथवा पेन्ट की तरह की गन्ध आने लगती है.

दूधों के संघटन में परिवर्तन – दूध का संघटन, पशु के व्यक्तित्व, नस्लीय परिवर्तनों, ऋतु परिवर्तन तथा मौसम, पशु की आयु तथा उसका स्वास्थ्य, चारे की प्रकृति, दुग्धकाल, पशु-अयन का अंग और दुहाई की विधि पर बदलता रहता है. दुग्धकाल में दूध की वसा

सारणी 88 – दूध के प्रोटीन-रहित नाइट्रोजन अवयव*
(मिग्रा. N/ 100 मिली.)

अवयव	गाय	भैंस	बकरी	भेड़
कुल नाइट्रोजन	526.20	597.70	591.70	753.60
प्रोटीन-रहित नाइट्रोजन	25.82	27.60	32.39	43.29
यूरिया	11.60	11.38	21.03	14.26
ऐमीनो अम्ल	4.04	5.13	5.37	9.60
क्रिएटिनीन	0.44	0.37	0.42	0.43
यूरिक अम्ल	0.54	0.24	0.20	0.19
क्रिएटिन	0.62	0.92	0.64	1.02
अमोनिया	0.26	0.26	0.25	0.29
अनिर्धारित नाइट्रोजन	8.32	9.30	4.48	17.50

*Venkatappaiah, M.Sc. Thesis, University of Bombay, 1951.

सारणी 89 – दूध का खनिज संघटन*
(प्रति 100 ग्रा.)

अवयव	गाय	भैंस
राख,%	0.77	0.84
कैल्सियम, मिग्रा.	136.30	186.80
फास्फोरस, मिग्रा.	99.85	130.10
लोहा, माग्रा.	111.00	132.00
क्लोराइड, मिग्रा.	120.00	90.00
साइट्रेट, मिग्रा.	210.00	220.00
सल्फेट, मिग्रा.	16.52	15.31
सोडियम, मिग्रा.	43.12	32.08
पोटैशियम, मिग्रा.	131.98	107.06
मैग्नीशियम, मिग्रा.	13.67	15.50
तांबा, माग्रा.	20.00	22.60
जस्ता, माग्रा.	1,124.00	1,336.00

**Annu. Rep. Indian Coun. agric. Res.*, 1965.

सारणी 90 – दूध में विटामिन की मात्रा*
(प्रति लीटर)

	गाय	भैंस†‡	बकरी	भेड़
विटामिन ए, अं. इ.	1,560.00	1,600.00	2,704.00	1,460.00
थायमिन, मिग्रा.	0.42	0.40	0.40	0.69
राइबोफ्लेविन, मिग्रा.	1.57	1.00	1.84	3.82
निकोटिनिक अम्ल, मिग्रा.	0.85	1.00	1.87	4.27
विटामिन बी, मिग्रा.	0.48	...	0.07	...
पैन्टोथेनिक अम्ल, मिग्रा.	3.50	...	3.44	3.64
बायोटिन, माग्रा.	35.00	...	39.00	93.00
फोलिक अम्ल, माग्रा.	2.30	...	2.40	2.40
विटामिन B_{12}, माग्रा.	5.60	...	0.60	6.40
विटामिन सी, मिग्रा.	16.00	10.00	15.00	43.00

*Kirk & Othmer, XIII, 515; †Nutritive Value of Indian Foods, 141; ‡मान प्रति किग्रा.

की मात्रा बदलती रहती है. इनकी मात्रा प्रसव के पश्चात् अधिक रहती है तथा दुग्धकाल के प्रथम माह में कुछ घट जाती है और शेष दुग्धकाल में लगातार बढ़ती जाती है. गाय के संध्या के दूध में सुबह के दूध की अपेक्षा वसा की मात्रा अधिक होती है. सूखे मौसम में दूध की मात्रा घटती ही जाती है, जिसके साथ वसा-रहित ठोस भी कम हो जाता है किन्तु वसा की मात्रा बढ़ जाती है. दूध के संघटन पर पशु के मदचक्र अथवा कामोत्तेजना का प्रभाव पड़ना वास्तविक किन्तु असंगत है. पशुओं के थनैला रोग के कारण उनके दूध के संघटन में अत्यधिक परिवर्तन होता है जिससे वसा और वसारहित ठोस की मात्रा घट सकती है. जब तक स्तन में सूजन न हो, दूध के संघटन पर खुरपका-मुंहपका रोग का प्रभाव नहीं पड़ता.

खीस – खीस एक गाढ़ा, सामान्यतः पीले रंग का लसीला द्रव होता है जो पशु की स्तनीय ग्रंथियों के स्रवण से बच्चा जनने के दिन से प्रथम कुछ दिनों तक प्राप्त होता है. यह चिपचिपा तथा अम्लीय होता है. यह तीव्र गन्ध, तीखे स्वाद तथा हल्के पीले रंग का और प्रचुर असंक्राम्य ग्लोबुलिन युक्त होता है. प्रसव के प्रथम तीन दिनों तक प्राप्त खीस उबालने पर अथवा साधारण ताप पर ही जम जाता है, क्योंकि इसमें गरमी पाकर जमने वाले प्रोटीनों की अधिकता रहती है. जैसे-जैसे दुग्धकाल बढ़ता जाता है, खीस की वसा तथा वसारहित ठोसों की मात्रा घटती जाती है और दुग्धकाल के प्रथम सप्ताह के अन्त तक यह मात्रा घट कर न्यूनतम हो जाती है. इसका संघटन प्रसव के कुछ ही घण्टों में बदल जाता है तथा जो संघटन सात दिन के पश्चात् रहता है वही दुग्धकाल की अधिकांश अवधि में पाया जाता है. गाय तथा भैंस के दूधों का संघटन, बच्चा जनने के प्रथम घण्टे तथा 48 घण्टों बाद क्रमशः इस प्रकार बदलता है : कुल ठोस, 26.54–15.63, 26.98–16.87; वसारहित ठोस, 20.46–9.99, 19.68–10.02; वसा, 6.1–5.6, 7.6–6.9; प्रोटीन, 16.46–4.67, 15.48–5.08; लैक्टोस (+राख), 4.00–5.32, 4.22–4.93%.

परिरक्षण

उष्णकटिबन्धी तथा उपोष्ण देशों में ताजे दूध को ठीक रखने में कई कठिनाइयाँ आ जाती हैं क्योंकि वहाँ के उच्च ताप के कारण दूध थोड़े ही समय तक मीठा रह पाता है. कभी-कभी दूध को बहुत दूर-दूर तक भेजना आवश्यक हो जाता है और दुग्ध उत्पादन की गन्दी परिस्थितियों के कारण दूध में जीवाणुओं की संख्या पहले से ही काफी अधिक हो जाती है. इन सूक्ष्म जीवों द्वारा संदूषण के कारण दूध में परिवर्तन आ जाता है जिससे यह उपयोग तथा डेरी उत्पादों के निर्माण के योग्य नहीं रह जाता. सूक्ष्म जीवों की वृद्धि के कारण दुग्ध तथा दुग्ध उत्पादों में लैक्टिक अम्ल (लैक्टोबैसिलसों द्वारा 3% तक), गैस (अम्ल निर्माण के साथ) बनते हैं. और दूध लसदार, चिपचिपा और क्षारयुक्त हो जाता है. कभी-कभी लाइपेस के द्वारा मक्खन-वसा का जल अपघटन, केसीन के प्रोटीन अपघटन के परिणामस्वरूप दूध का तिक्त स्वाद तथा रंगों में परिवर्तन भी सूक्ष्म जीवों द्वारा होते देखे जाते हैं. स्वस्थ अयनों से प्राप्त दूध में भी जीवाणु उपस्थित रहते हैं जिनमें माइक्रोकोकस अधिक तथा स्ट्रेप्टोकोकस और दंडाकार जीवाणु कम संख्या में पाये जाते हैं.

दूध को फार्म पर तथा परिवहन के समय उसके पास्तुरीकरण, जीवाणुनाशन, संघनन अथवा शुष्कित करते समय शीतित करके, तथा लवण और शर्करा डालकर परासरणी दाब में वृद्धि करके उसमें सूक्ष्म जीवों की वृद्धि के लिये प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं जिससे दूध के रख-रखाव के गुण में सुधार हो जाता है.

सूक्ष्मजीवों की वृद्धि को रोकने के लिये दूध का दुहने के पश्चात् शीघ्र ही 0–4° तक शीतित कर दिया जाता है, और जब तक इसे पुनः डेरी-संयन्त्रों में संसाधन के लिये न भेजा जाय तब तक इसी ताप पर रखा जाता है. डेरी-संयन्त्रों में दूध का संसाधन उसकी सफाई से अर्थात् अपकेन्द्री-निर्मलकारी की सहायता से तलछटों को पृथक करने से प्रारम्भ होता है. सफाई से न केवल तलछट वरन् दूध में उपस्थित कुछ श्वेताणु तथा जीवाणु भी पृथक हो जाते हैं.

हौज-पास्तुरीकरण के पहले दूध का समांगीकरण कर लिया जाता है. इसमें दूध को 60° पर गरम करके उसमें पाये जाने वाले लाइपेस एंजाइम को निष्क्रिय बनाकर, उच्च दाब द्वारा उसे एक छेद में से होकर पम्प किया जाता है. समांगीकरण करने से बड़े आकार की वसा गोलिकायें छोटी हो जाती हैं जिससे वे ऊपर आकर क्रीम की सतह नहीं बना पाती.

पास्तुरीकरण – पास्तुरीकरण से दूध में पाये जाने वाले सूक्ष्म रोग-वर्धक जीव नष्ट हो जाते हैं. इस विधि के अन्तर्गत दूध को एक निश्चित ताप पर निश्चित समय तक गरम किया जाता है. हौज-जैकेट का प्रयोग करके धारक विधि द्वारा अथवा "अल्प-अवधि-उच्च-ताप" (अ. अ. उ. ता. अथवा फ्लैश-पास्तुरीकरण) विधि के द्वारा दूध को पास्तुरीकृत किया जाता है. यह विधि बड़े पैमाने पर दूध के पास्तुरीकरण के लिये प्रयुक्त की जाती है. धारक विधि में दूध को 63° पर आधा घण्टा तक गरम करके उसे तुरन्त ठण्डा कर दिया जाता है. 'अल्प-अवधि-उच्च-ताप' विधि में दूध का लगातार पास्तुरीकरण चलता रहता है. इस विधि में कच्चे दूध को एक ओर से पम्प करके वांछित ताप पर निर्धारित समय तक गरम किया जाता है और तुरन्त ठंडा करके बोतलों में भर दिया जाता है. इस विधि में दूध को 72° पर 16 सेकेण्ड तक गरम करते हैं. पास्तुरीकरण से दूध में उपस्थित गोजातीय गुलिका बैसिलस तथा अन्य स्पोर न बनाने वाले रोगजनक जीवाणुओं के साथ-साथ अवांछित गन्ध तथा स्वाद उत्पन्न करने वाले अन्य जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं. कुछ जीवाणु-उत्पादक रोगजनक, जैसे, क्लास्ट्रीडियम बोटूलिनम तथा क्ला. पर्फ्रिजेन्स जो पास्तुरीकरण के द्वारा नष्ट नहीं होते वृद्धि करके विष उत्पन्न करने के पश्चात् ही हानि पहुँचाते हैं. सामान्य प्रशीतित संचयन के अन्तर्गत इन जीवाणुओं की वृद्धि रुक जाती है. 63° (अथवा अधिक) ताप पर क्यू-ज्वर उत्पादक जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं. पास्तुरीकरण से दूध के भौत-रासायनिक गुणधर्मों तथा पोषण मान पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता.

जीवाणुनाशन – जीवाणुनाशन द्वारा भी दूध को जीवाणु-मुक्त किया जा सकता है. दूध को बोतलों अथवा डिब्बों में भरकर 100° ताप पर भिन्न-भिन्न अवधियों तक गरम करके जीवाणुओं से रहित किया जाता है. यह निर्जर्मित दूध पास्तुरीकृत दूध की अपेक्षा काफी अधिक समय तक (लगभग एक सप्ताह तक) खराब नहीं होता.

पौष्टीकरण – विटामिन डी प्रचुर न होने से कभी-कभी दूध में विटामिन डी युक्त पदार्थों को डालकर उसकी मात्रा बढ़ायी

जाती है. दूध में विटामिन डी के स्तर को परावैंगनी किरणों के किरणन से भी बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि किरणन से 7-डिहाइड्रो-कोलेस्टेरॉल (प्रो-विटामिन डी) विटामिन डी$_1$ में बदल जाता है. किरणित किये गये यीस्ट को गायों को खिलाने से भी दूध में विटामिन डी की मात्रा बढ़ सकती है (डेरी-उद्योग में प्रयुक्त विभिन्न संसाधनों के विस्तृत विवरण के लिये देखें, With India—Industrial Products, pt III, 1-38).

दूध का अपमिश्रण

भारत में दूध के लिये वे ही वैधानिक मानक स्वीकृत हुये हैं जो विदेशों में हैं. इस सम्बन्ध में देश के कुछ ही भागों के आँकड़े उपलब्ध हैं. खाद्य अपमिश्रण निरोधक अधिनियमों के अन्तर्गत दूध की वैधानिक संघटन सीमायें (सारणी 91) दी गयी हैं और ऐसा दूध जो इन न्यूनतम सीमाओं तक नहीं पहुँचता उसे अपमिश्रित करार दिया जाता है.

दूध के घटकों के सामान्य स्तर में परिवर्तन के लिये उसमें या तो दुग्ध-चूर्ण मिलाया जाता है अथवा दूध से वसा पृथक् कर ली जाती है. बाजारों में दूध की आपूर्ति न हो सकने के कारण अपमिश्रण सामान्य हो गया है. हाल ही में राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान फार्म से प्राप्त दूध तथा स्थानीय ठेकेदारों से खरीदे गये दूधों के संघटन की तुलना की गयी है. परिणामों से यह ज्ञात हुआ है कि फार्म के दूध में वसा की मात्रा 6.3 से 8.2 तथा वसा-रहित ठोस की मात्रा 9.6 से 10.5% थी. बाजार के दूध में वसा 6.0–6.5% और वसारहित ठोस 9.0–9.5% निकला. बाजार के सभी नमूनों में 10–25% जल मिलाया गया था.

गायों तथा भैंसों के दूध के रासायनिक संघटन में अत्यधिक अन्तर होने के कारण, भैंस के दूध में पानी या मखनियाँ दूध की मिलावट करके उसे गाय का दूध कह कर बेचा जाता है. राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल में 'हंसा परीक्षण' नाम से एक परीक्षण विधि विकसित की गयी है जिसकी सहायता से गाय के दूध में 3% तक मिलाये गये भैंस के दूध का पता लगा लिया जाता है. भारत के विभिन्न राज्यों में इस परीक्षण का सफल प्रयोग किया गया है. गाय के दूध में मिलाये गये भैंस के 5% दूध तक की उपस्थिति का पता भी 'वर्ण प्रकाश लेखी' विधि द्वारा लगाया जा सकता है. दूध में अपमिश्रित जल, दूध को गाढ़ा करने वाले पदार्थ (जैसे शर्करा तथा स्टार्च) और मखनियाँ दूध और दुग्ध-चूर्ण की पहचान करने के भी परीक्षण ज्ञात हैं.

दूध तथा इसके उत्पादों के संघटन, सूक्ष्म जैविकीय गुण, पास्तुरीकरण की सफलता तथा प्रतिजैविकों, जीवनाशी पदार्थों अथवा रेडियो-सक्रियता से हुये संदूषण के निर्धारण के लिये उनके विभिन्न परीक्षण किये जाते हैं. दूध के तत्काल परीक्षण के लिये राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल में आवश्यक उपकरणों से लैस लकड़ी का एक बक्सा बनाकर मानकित किया गया है (IS: 3864–1966).

सारणी 91 – कुछ राज्यों में दूध के लिये (%) वैधानिक मानक*

राज्य	गाय का दूध		भैंस का दूध	
	न्यूनतम वसा	न्यूनतम वसारहित ठोस	न्यूनतम वसा	न्यूनतम वसारहित ठोस
पंजाब	4.0	8.5	6.0	9.0
महाराष्ट्र	3.5	8.5	6.0	9.0
उत्तर प्रदेश	3.5	8.5	6.0	9.0
बिहार	3.5	8.5	6.0	9.0
पश्चिमी बंगाल	3.5	8.5	6.0	9.0
तमिलनाडु	3.5	8.5	5.0	9.0
दिल्ली	4.0	8.5	6.0	9.0
गुजरात	3.5	8.5	6.0	9.0
उड़ीसा	3.0	8.5	5.0	9.0
असम	3.5	8.5	6.0	9.0

*Prevention of Food Adulteration Rules, 1955, as amended upto July, 1963.

दुग्ध-उत्पाद

पिछली शताब्दी में डेरी उद्योग में कई महत्वपूर्ण प्रगतियाँ हुयीं तथा इस अवधि में दूध के रसायन एवं जीवाणु-विज्ञान के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त किया गया है उससे न केवल दूध तथा दुग्ध उत्पादों के संसाधन का नियंत्रण हो सका है, बल्कि उसके आधार पर नये उत्पादों का निर्माण भी किया जाने लगा है. अन्य क्षेत्रों में की गयी प्रगतियों के फलस्वरूप डेरी उद्योग में और भी उन्नतियाँ हुयी हैं, जिनमें से प्रमुख हैं : प्रशीतन, पास्तुरीकरण, दूध रखने के यन्त्रों का विकास, परीक्षण विधियाँ, गुणता नियंत्रण, पशु प्रजनन तथा प्रबन्ध और मानव पोषण का ज्ञान. इन्हीं प्रगतियों के फलस्वरूप भारत की शहरी दुग्ध-आपूर्ति-परियोजनायें सम्भव हो सकी हैं. इसके साथ-साथ संसाधित पनीर, क्रीम, आइसक्रीम, संघनित दुग्ध, सूखा दूध, नवजात शिशु आहार इत्यादि का उत्पादन भी सम्भव हो सका है. भारत की बड़ी-बड़ी दुग्ध आपूर्ति परियोजनायें तथा दूध एवं विभिन्न दुग्ध-उत्पादों के उत्पादन का विस्तृत विवरण इसी ग्रंथ के गो तथा भैंस जातीय पशु नामक अध्याय में दिया गया है.

दूध के रख-रखाव में तथा द्रव रूप में इसकी बिक्री में कठिनाई होने के कारण अधिक दूध को ऐसे दुग्ध-उत्पादों में परिणित कर लिया जाता है जिन्हें काफी समय तक रखा तथा सुविधानुसार दूर-दूर तक बिक्री के लिये भेजा जा सकता है. देश में उत्पादित दूध का अधिकांश (60%) विभिन्न दुग्ध-उत्पादों में परिवर्तित कर लिया जाता है. इसका 2/3 भाग केवल घी के रूप में तथा शेष भाग दही और पनीर इत्यादि के रूप में और साथ ही साथ मिठाई बनाने के लिये खोआ, छेना, रबड़ी (खुले तसलों में शर्करा के साथ आंशिक जलवियोजन करने से प्राप्त थक्केदार क्रीम) के रूप में प्रयुक्त होता है.

भारत के कुछ प्रमुख दुग्ध-उत्पादों का रासायनिक संघटन सारणी 92 में दिया गया है.

दही – भारत में लगभग समस्त स्थानों पर दही प्रयोग में लाया जाता है. दही बनाने के लिये पूर्ण अथवा मखनिया दूध (वसा

सारणी 92 – कुछ दुग्ध उत्पादों का रासायनिक संघटन*

(खाद्य अंश के प्रति 100 ग्रा. पर)

उत्पाद	जल (ग्रा.)	प्रोटीन (ग्रा.)	वसा (ग्रा.)	कार्बोहाइड्रेट (ग्रा.)	खनिज (ग्रा.)	कैल्सियम (ग्रा.)	फास्फोरस (मिग्रा.)	लोहा (मिग्रा.)	विटामिन ए मान (अं. इ.)	थायमोन (मिग्रा.)	राइवोफ्लैविन (मिग्रा.)	निकोटिनिक अम्ल (मिग्रा.)	विटामिन सी (मिग्रा.)
मक्खन†	19.0	...	81.0	...	2.5	...	...	...	3,200	...	...	...	...
गाय का घी, ताजा, अधिक नमी युक्त	8.0	...	92.0	...	0	...	...	...	2,000	...	...	...	...
गाय का घी, ताजा, कम नमी युक्त	0.5	...	99.5	...	...	...	...	...	2.000	...	...	...	...
घी, भैंस का	100.0	...	100.01	...	...	...	...	...	900	...	...	...	...
दही‡	89.1	3.1	4.00	3.0	0.8	149	93	0.3	102	0.05	0 16	0.1	1
लस्सी (मट्ठा)	97.5	0.8	1.1	0.5	0.1	30	30	0.8	...	...	...	...	...
मखनियाँ दूध (द्रव)	92.1	2.5	0.1	4.6	0.7	120	90	0.2	...	...	...	0.1	1
मखनियाँ दुग्ध-चूर्ण (गाय का)	4.1	38.0	0.1	51.0	6.8	1,370	1,000	1.4	0	0.45	1.64	1.0	5
संपूर्ण दुग्ध-चूर्ण (गाय का)	3.5	25.8	26.7	38.0	6.0	950	730	0.6	1.400	0.31	1.36	0.8	4
संघनित मीठा गाय का दूध**	25.0	8.2	10.0	55.0	1.8	275	229	0.2	510	0.05	0.39	0.2	1.0
वाष्पित, साधारण गाय का दूध**	73.7	7.0	7.9	9.9	1.5	243	195	0.2	400	0.05	0.36	0.2	1.0
छेना (गाय के दूध का)	57.1	18.3	20.8	1.2	2.6	208	138	...	366	0.07	0.02	...	3
छेना (भैंस के दूध का)	54.1	13.4	23.0	7.9	1.6	480	277	...	...	...	...	...	...
पनीर	40.3	24.1	25.1	6.3	4.2	790	520	2.1	273	...	...	...	...
खोआ (संपूर्ण भैंस के दूध का)	30.6	14.6	31.2	20.5	3.1	650	420	5.8	...	...	...	...	...
खोआ (मखनियाँ भैंस के दूध का)	46.1	22.3	1.6	25.7	4.3	990	650	2.7	...	...	...	...	...
खोआ (संपूर्ण, गाय के दूध का)	25.2	20.1	25.9	24.8	4.0	956	613	...	497	0.24	0.41	0.4	...

*Nutritive Value of Indian Foods, 81-82, 117, 140-141; **Wu Laung *et al.*, Agric. Handb., U. S. Dep. Agric., No. 34, 1952, 39.

† इसमें विटामिन डी भी लगभग 40 अ. इ. / 100 ग्रा. रहता है. ‡ इसमें 32.0 मिग्रा. सोडियम तथा 130 मिग्रा. पोटैसियम भी प्रति 100 ग्रा. में पाया जाता है.

रहित दूध) को उबाल कर और उसे 37° तक ठंडा करके उसमें लगभग 2% संवर्ध (लैक्टिक अम्ल जीवाणु अथवा मिश्रित संवर्ध) डालकर भली-भाँति मिलाकर उसी ताप पर छोड़ दिया जाता है. अच्छे जामन का प्रयोग करने पर 6 से 10 घण्टे में 0.9–1.0% अम्लीयता का दही प्राप्त होता है. अच्छे दही के प्रमुख लक्षण हैं: स्वाद, गाढ़ापन, तथा दही का पानी न होना.

पश्चिमी बंगाल जैसे भारत के कुछ भागों में मीठा दही बनाया जाता है. इसके लिये वांछित स्वाद को ध्यान में रखते हुये दूध में लैक्टिक अम्ल जीवाणु संवर्ध डालने के पूर्व 14–25% चीनी मिलायी जाती है.

'खाद्य अपमिश्रण निरोधक अधिनियम', 1955 के अनुसार दही को या तो गाय अथवा भैंस के दूध को खट्टा करके बनाना चाहिये. चीनी तथा गुड़ के अतिरिक्त उसमें ऐसा कोई अवयव नहीं रहना चाहिये जो दूध में न पाया जाता हो.

मट्ठा (लस्सी) – मट्ठा या लस्सी भारत का एक सामान्य पेय है. दही को मथ करके वसा अलग कर ली जाती है और बचे हुये अम्लीय मट्ठे (लस्सी) को ऐसे ही अथवा उसमें शर्करा, क्रीम तथा सुगंधि मिलाकर प्रयोग में लाया जाता है. मखनियाँ दूध से बनाये गये दही से भी लस्सी तैयार की जाती है. भारतीय मानक संस्थान ने मट्ठे के चूर्ण के मीठे क्रीम का विनिर्देशन किया है. सूखे मट्ठे को पशु-आहार के रूप में तथा बेकरी उत्पादों में प्रयोग किया जा सकता है (IS: 5163-1969).

दही तथा लस्सी का संघटन सारणी 92 में दिया हुआ है.

संघनित दूध तथा वाष्पित दूध – सम्पूर्ण दूध से क्रीमसहित जल का कुछ अंश पृथक् करके और चीनी मिलाकर अथवा बिना चीनी डाले दूध को गाढ़ा करके 'संघनित दूध' तैयार किया जाता है. इसमें 'वाष्पित दूध' तो सम्मिलित रहता है परन्तु इसके अन्तर्गत 'सूखा दूध' तथा 'दुग्ध-चूर्ण' नहीं आते. 'खाद्य

अपमिश्रण निरोधक अधिनियम' के अनुसार इसमें शर्करा के अतिरिक्त कोई अन्य परिरक्षक नहीं रहना चाहिये. इसमें कम-से-कम 31% दूध के ठोस अवयव होने चाहिये जिसका 9% वसा के रूप में रहे. मखनियाँ दूध से भी, शर्करा डालकर अथवा शर्करा के बिना ही गाढ़ा बनाकर, संघनित दूध तैयार किया जा सकता है. इस मीठे दूध में वसासहित दूध के ठोस अवयवों की कुल मात्रा 26% तथा बिना शर्करा वाले संघनित दूध में 20% से कम नहीं रहनी चाहिये. संघनित दूध तैयार करने का मुख्य उद्देश्य द्रव दूध के आयतन को कम करके उसे दूर-दूर तक लाने-लेजाने और अधिक समय तक परिरक्षित रखने में सुभीता पैदा करना है. संघनित दूध को पानी से तनु करके सरलता से ताजा द्रव दूध बनाया जा सकता है. इसे नवजात शिशु-आहार, आइसक्रीम, बेकरी उत्पादों तथा मिठाइयाँ बनाने के लिये प्रयुक्त किया जाता है.

गाय के मीठे संघनित दूध तथा बिना शर्करा वाले वाष्पित दूध का संघटन सारणी 92 में दिया गया है.

दुग्ध-चूर्ण – दूध को कम ताप पर शुष्कित करके दुग्ध-चूर्ण या सूखा दूध बनाया जाता है जिससे पुनः द्रव दूध तैयार किया जा सकता है. दुग्ध-चूर्ण बनाने के प्रमुख उद्देश्य हैं : (1) दूध के ठोस अवयवों को लम्बी अवधि तक परिरक्षित करना; (2) दूर-दूर तक दूध के परिवहन व्यय में कमी लाना; (3) संकटकाल में अथवा दूध की कमी वाले क्षेत्रों में दूध की आपूर्ति करना; और (4) नवजात शिशु आहार तैयार करना.

बड़े पैमाने पर दुग्ध-चूर्ण तैयार करने के लिये फुहार अथवा रोलर-शुष्कन विधि अपनायी जाती है. समस्त दुग्ध-चूर्ण उत्पादन का लगभग 95% फुहार-शुष्कन विधि से ही प्राप्त किया जाता है. इस विधि के अन्तर्गत, पूर्व संघनित दूध को एक बड़े शुष्कन कक्ष में छिड़कते हैं. उसी समय कक्ष में गरम वायु भेजी जाती है जिससे दूध की छोटी-छोटी बूंदें तुरन्त सूखकर कक्ष के फर्श पर सूखे चूर्ण के रूप में गिरने लगती हैं.

फुहार-शुष्कन विधि द्वारा तैयार किये गये पूर्ण दुग्ध-चूर्ण का स्वाद फीका होता है, तथा बाद में वसा के ऑक्सीकरण के फलस्वरूप इसमें चर्बीदार तथा अवांछित गंध आ जाती है. इसीलिये इसकी डिब्बाबन्दी या तो नाइट्रोजन अथवा नाइट्रोजन और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के मिश्रण में की जानी चाहिये.

रोलर-शुष्कन विधि में, दूध को या तो ऐसे ही अथवा निर्वात कड़ाहों में संघनित करने के पश्चात् वाष्प द्वारा गरम धातु के बेलनों के ऊपर डाला जाता है. ये बेलन धीरे-धीरे घूमते तथा अन्दर से वाष्प द्वारा गरम होते रहते है. बेलनों पर, दूध की सूखी तह को खुरचने वाली धातु की पत्ती से अलग करके पीस लेने के बाद छान लेते हैं. काफी अधिक ताप पर सुखाये जाने के कारण बेलन-शुष्कन विधि द्वारा तैयार किये गये सूखे दूध की विलेयता फुहार-शुष्कन विधि द्वारा तैयार शुष्कित दूध की अपेक्षा कम होती है. रोलर-शुष्कन विधि द्वारा तैयार किये गये सूखे दूध को बिस्कुट, रोटी तथा शिशु-आहार बनाने के लिये प्रयुक्त करते हैं. फुहार-शुष्कन विधि द्वारा तैयार किया गया सूखा दूध जल में 99% तक विलेय होता है और इसे फिर से द्रव दूध बनाने के लिये काम में लाते हैं.

पूर्ण तथा मखनियाँ दूध से बनाये गये दुग्ध-चूर्णो का संघटन सारणी 92 में दिया गया है. ताजे बने हुये खुले रखे दुग्ध-चूर्ण में जल की मात्रा केवल 2–3% होगी. दुग्ध-चूर्णों का कणाकार

सारणी 93 – दुग्ध-चूर्ण के लिये आई. एस. आई. विनिर्देश*

	संपूर्ण दुग्ध-चूर्ण	मखनियाँ दुग्ध-चूर्ण
आर्द्रता (%), अधिकतम	3.0	3.5
कुल दुग्ध ठोस (%), न्यूनतम	97.0	96.5
विलेयता (%), न्यूनतम		
रोलर विधि से सुखाया	85.0	85.0
फुहार विधि से सुखाया	98.5	98.5
कुल राख (%), अधिकतम	7.0	9.0
वसा (%), न्यूनतम	26.0	1.5
अनुमाप्य अम्लता (लैक्टिक अम्ल के रूप में) (%), अधिकतम	1.0	1.25
जीवाणु संख्या/ग्रा. अधिकतम	50,000	50,000

* IS : 1165–1957.

5 तथा 1,000 माइक्रॉन के बीच होता है. फुहार-शुष्कन विधि द्वारा निर्मित दुग्ध-चूर्ण के कण गोलाकार होते हैं जबकि रोलर-शुष्कन विधि द्वारा तैयार किये गये दुग्ध के कणों का रूप और आकार निश्चित नहीं है.

दुग्ध-चूर्ण की विलेयता उसके गुणों की निर्देशक होती है. दूध को अधिक ताप पर सुखाना, सुखाने के पूर्व दूध की अम्लता तथा चूर्ण में उपस्थित अधिक नमी इसकी विलेयता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं.

दुग्ध-चूर्ण श्वेत अथवा हरी आभा लिये हुये श्वेत से लेकर हल्के क्रीम रंग का होना चाहिये तथा इसमें ढेले और भूरे अथवा काले रंग के धब्बे नहीं होने चाहिये. दुग्ध-चूर्ण धूल, वाह्य पदार्थों, परिरक्षकों, रजकों तथा हानिकारक या विषैले पदार्थों से मुक्त होना चाहिये. दुग्ध-चूर्ण के लिये स्थापित आई. एस. आई. के विनिर्देशन सारणी 93 में दिये गये हैं.

शिशु आहार – शिशु आहार या तो गाय अथवा भैंस के दूध या दोनों के मिश्रण को फुहार-शुष्कन अथवा रोलर-शुष्कन विधि द्वारा सुखाकर बनाया जाता है. दूध की वसा का अंश पृथक् करके उसमें विभिन्न कार्बोहाइड्रेट, जैसे सूक्रोस, डेक्सट्रोस तथा डेक्सट्रिन, माल्टोस और लैक्टोस तथा फॉस्फेट एवं सिट्रेट जैसे लवण और विटामिन ए, बी, सी, एवं लोहा तथा कैल्सियम मिलाकर दूध को परिवर्तित किया जा सकता है.

आनन्द दुग्ध संगठन (अमूल), भारत का पहला सहकारी संगटन है जिसने केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर के तकनीकी सहयोग से 1960 से ही शिशु-दुग्ध आहार बनाना आरम्भ किया. आरम्भ में इस कारखाने की दैनिक उत्पादन क्षमता 11 टन थी और इससे प्रतिवर्ष औसतन 2,540 टन शिशु-दुग्ध आहार तैयार किया जाता था. यह उत्पाद भैंस के ताजे दूध से भारतीय शर्तों के अनुसार अनुकूलन तथा मानकीकरण करने के पश्चात् बनाया जाता है और यह आयातित विदेशी शिशु आहार के समान होता है. आई. एस. आई. के विनिर्देशन के अनुसार इसमें प्रोटीन, 22%, वसा, 18.0% तथा दही तनाव, 3.5% पाया

जाता है. इस दुग्ध-चूर्ण में, भार के अनुसार 7 गुना जल मिलाकर फिर से शिशुओं के लिये आदर्श दूध प्राप्त किया जाता है जिसमें 2.75% प्रोटीन तथा 2.25% वसा रहती है. शिशु दुग्ध आहारों के संचयन गुणों पर सम्पन्न अन्वेषणों से यह ज्ञात हुआ है कि नाइट्रोजन के साथ डिब्बाबन्द दुग्ध-चूर्ण, वायु में डिब्बाबन्द चूर्ण की अपेक्षा दुगनी अवधि तक सुरक्षित रहता है. अमूल शिशु दुग्ध आहार में नमी, 3.0; कार्बोहाइड्रेट (लैक्टोस तथा शर्करा), 52.0; राख, 5.0, कैल्सियम, 1.0; फॉस्फोरस, 0.8; तथा लोहा, 0.004 ग्रा./100 ग्रा., विटामिन ए, 1,500 तथा विटामिन डी, 400 अं.इ. और विटामिन बी$_1$, 0.6; विटामिन बी$_2$, 1.0; नियासिनामाइड, 6.0; पिरिडॉक्सिन, 0.03; तथा विटामिन सी, 30.0 मिग्रा./100 ग्रा. पाये जाते हैं.

मुख्यतः शिशु दुग्ध आहार दुग्ध-चूर्ण से ही बनाये जाते हैं जिनमें स्टार्च तथा दुग्ध वसा के अतिरिक्त अन्य कोई वसा नहीं होनी चाहिये. आई. एस. आई. विनिर्देश के अनुसार शिशु दुग्ध आहार में नमी, $\ngtr$3.5; कुल दुग्ध ठोस, $\ngtr$20.0; कुल कार्बोहाइड्रेट (स्यूक्रोस, डेक्सट्रोस तथा डेक्सट्रिन, माल्टोस अथवा लैक्टोस को मिलाकर), $\nless$35.0; कुल राख, $\ngtr$8.5; HCl में अविलेय राख, $\ngtr$0.01; दुग्ध वसा, 10.0–28.0 तथा जल विलेयता, $\nless$85 (रोलर द्वारा शुष्कित), $\nless$98.5% (फुहार द्वारा शुष्कित); विटामिन ए, $\nless$1.500 अं. इ./100 ग्रा.; लोहा, $\nless$4.0 मिग्रा./100 ग्रा. जीवाणु संख्या/ग्रा., $\ngtr$50,000 तथा कॉलीफार्म संख्या/ग्रा., $\ngtr$10 (IS : 1547-1960) होनी चाहिये.

माल्ट सार तथा दूध के मिश्रण से रोलर अथवा फुहार-शुष्कन विधि द्वारा माल्टी दूध बनाया जाता है. यह बच्चों, अपाहिजों तथा स्वास्थ्य लाभ करने वालों के लिये आहार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. बहुत अच्छे स्वाद के साथ इसमें माल्टोस तथा डेक्सट्रिन जैसे सुपाच्य कार्बोहाइड्रेट भी रहते हैं. माल्टी दूध में कोकोआ चूर्ण मिलाकर इसे और भी स्वादिष्ट बनाया जा सकता है जिससे अत्यन्त स्वादिष्ट पेय भी बन सकता है. भारतीय मानक संस्थान ने माल्टी दुग्ध आहार तथा कोकोआ चूर्ण मिले हुये माल्टी दुग्ध आहार के लिये विनिर्देशन दिये हैं (IS : 1806-1961, 2003-1962).

क्रीम – क्रीम दूध का एक प्रमुख व्यापारिक उत्पाद है जो विदेशी बाजारों में काफी मात्रा में मिलता है जबकि भारत में इसे बनाकर तुरन्त प्रयोग कर लिया जाता है. कभी-कभी इसे घी बनाने के लिये व्यवहृत किया जाता है. इसके उत्पादन तथा उपभोग के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं.

क्रीम बनाने के लिये दूध को पराअपकेन्द्रीय पृथक्कारी में पेरा जाता है जिससे क्रीम तथा मखनियां दूध अलग-अलग हो जाते हैं. क्रीम, अधिक वसा वाला दूध है जिसमें वसा की मात्रा 50% तक पायी जाती है. इसे आइसक्रीम, मक्खन, तथा अनाजों के साथ और कॉफी में मिलाकर तथा मथकर दही-चीनी जैसे खाद्य बनाने के लिये काम में लाते हैं.

मक्खन – यह दो विधियों से तैयार किया जाता है: (1) क्रीम विधि, तथा (2) देशी विधि. क्रीम-मक्खन बनाने का मुख्य उद्देश्य अधिक वसायुक्त उत्पाद प्राप्त करना होता है जिसे सीधे रोटी, बिस्कुट इत्यादि के साथ प्रयोग में लाया जा सके. हस्तचालित एक ऐसी मक्खन-मथनी (ऊपर से नीचे पलटने वाली) बनायी तथा मानकीकृत की गयी है (IS : 2703-1964), जिससे एक बार में 10 या 20 किग्रा. मक्खन तैयार होता है. इस मक्खन में $\nless$ 80% दुग्ध-वसा तथा $\ngtr$ 16% जल होना चाहिये. इसमें 2.5% तक लवण मिलाया जा सकता है तथा अनाटो द्वारा इसमें रंग भी प्रदान किया जा सकता है. इसमें परिरक्षक मिलाना वर्जित है. मक्खन को स्वादिष्ट बनाने के लिये इसमें 40 अंश प्रति करोड़ अंश तक डाइऐसीटिल डाला जा सकता है.

देशी मक्खन केवल दूध, क्रीम, गाय अथवा भैंस के दूध की दही द्वारा बिना कोई लवण, रंग अथवा परिरक्षक डाले तैयार किया जाता है. इसे खाना बनाने अथवा घी बनाने के लिये प्रयोग में लाते हैं. इसमें जल 20% से अधिक तथा दुग्ध-वसा 76% से कम नहीं होनी चाहिये. इस मक्खन में उपस्थित कुल दही (0.7–1.0%) का 0.3–0.5% केसीन, तथा 0.15–0.25% तक लैक्टोस होता है. मक्खन में राख की मात्रा 0.012% रहती है.

मक्खन के नमूने एकत्रित करने की विधि तथा उसके भौतिक, रासायनिक एवं जीवाणुकीय परीक्षणों के लिये भारतीय मानक संस्थान ने विनिर्देशन दिये हैं (IS : 3507-1966).

घी (मक्खन तेल) – भारत में, साधारण ताप पर रखे गये मक्खन की संरचना ठीक नहीं रह पाती तथा वह शीघ्र ही खराब हो जाता है. इसीलिये इससे घी बना लिया जाता है. घी बनाते समय इसका जीवाणुनाशन हो जाता है जिससे यह सूक्ष्मजीवों अथवा रासायनिक क्रियाओं द्वारा संदूषण के कारण खराब नहीं होता. घी अनिवार्यतः मखनिया वसा है जो मक्खन अथवा क्रीम को गरम करके तथा खौलाकर इसमें से जल को पूर्णतया निकालने के पश्चात् प्राप्त होता है. भारत में अधिकांश घी, भैंस के दूध से तैयार किया जाता है. घी बनाने के लिये गाय के दूध का प्रयोग बहुत कम मात्रा में तथा भेड़ और बकरी के दूध का प्रयोग तो और भी कम मात्रा में किया जाता है. भारत में तैयार किये गये कुल घी का 4/5 भाग खाने की चीजों को पकाने अथवा तलने के लिये प्रयोग में लाया जाता है. शेष भाग हलवाइयों द्वारा मिठाई बनाने और कुछ मात्रा कच्ची ओषधियाँ बनाने, सुंघनी अथवा मालिश के लिये प्रयोग में लायी जाती है.

घी बनाने के लिये भारत में मुख्य रूप से दो विधियाँ अपनायी जाती हैं: क्रीम-मक्खन से, जो क्रीम को मथकर तथा यांत्रिक विधि से पृथक् किया जाता है; तथा देसी विधि से दही या मलाई को मथकर निकाले गये मक्खन से. अधिकांश उत्पादन देशी विधि से किया जाता है. क्रीम-मक्खन से घी बनाने का प्रचलन बड़ी डेरियों में है जहाँ बचे हुये मक्खन को घी में परिवर्तित कर लिया जाता है. ऐसे उत्पादों की बिक्री सीमित मात्रा में होती है. बिहार के कुछ भागों में, यांत्रिक विधि से पृथक् की गयी क्रीम से मक्खन की भाँति खौलाकर घी बनाया जाता है. क्रीम से बनाया गया घी बहुत अच्छा होता है तथा इस विधि से छोटे अथवा बड़े सभी तरह के उत्पादक घी का उत्पादन सुगमता से कर सकते हैं.

देशी विधि में, सबसे पहले गुनगुने दूध में (उबालने के बाद) पिछले दिन के मट्ठे अथवा दही को (2–10%) जामन के रूप में मिलाकर दही बनाते हैं. इस दही को मिट्टी अथवा पीतल के बर्तन में लकड़ी की मथानी से 20–30 मिनट तक मथा जाता है और जो मक्खन सतह पर आ जाता है उसे हाथ से मथानी में से विलग करके अंगुलियों के बीच में दबाकर संग्रह करते हैं. इस मक्खन को मध्यम तथा स्थायी आँच पर तब तक गरम किया जाता है जब तक उसका पूरा पानी समाप्त न हो जाय. विभिन्न स्थानों तथा परिस्थितियों में बनाये गये घी के गुणों में विविधता होती है. सोहे

सारणी 94 – विभिन्न नस्लों की गायों, भैंसों, बकरियों तथा भेड़ों के दूध से प्राप्त घी के गुण*

वैश्लेषिक स्थिरांक	गाय					मुर्रा भैंस	सूरती बकरी	काठियावाड़ी भेड़
	दोगली नस्ल (आयरशायर×सिंधी)	गिर	साहीवाल	सिंधी	थारपारकर			
ब्यूटिरो-अपवर्तनांकमापी (बी. आर.) सूचकांक, 40° पर	43.03	43.10	42.90	42.85	43.05	42.04	42.60	43.40
आर. एम. मान	27.26	26.42	26.60	27.00	29.20	32.54	26.35	32.82
पोलेन्स्की मान	1.75	1.72	1.80	1.70	1.94	1.41	5.30	2.67
कर्शनर मान	22.70	21.80	22.00	21.33	25.70	28.52	19.96	26.93
साबुनीकरण मान	227.00	227.10	227.30	227.18	230.30	230.09	229.30	231.60
आयोडीन मान	33.60	33.50	33.20	32.80	33.90	29.40	35.10	36.04
रंग (लॉवीवाण्ड पीत, इकाइयां / ग्रा.)	9.00	9.00	8.00	8.40	9.50	0.80	1.10	1.40
विटामिन ए (अं. इ./ग्रा.)	24.20	22.57	22.76	23.11	21.89	21.90	23.91	23.89

*Basu *et al., Rep. Ser., Indian Coun. agric. Res., No.* 8, 1962.

अथवा पीतल के बड़े कड़ाहों में रखकर तथा 70–85° पर गरम करके इस घी को परिष्कृत किया जाता है. गरम करने के पश्चात् उसे 2–5 घण्टों तक रख छोड़ा जाता है और फिर उपरिस्तर पर बने मल को अलग करके टिनों में भरकर ठण्डे स्थानों में दो दिन के लिये छोड़ दिया जाता है जिससे इसका समुचित क्रिस्टलीकरण हो जाय अथवा दाने बन जायँ.

देशी विधि, क्रीमरी मक्खन विधि तथा सीधे क्रीम से घी की उपलब्धि क्रमश: 86.6, 90.2 तथा 92.3% होती है.

घी की विशुद्धता तथा उसके गुणों की पहचान उसके भौत-रासायनिक लक्षणों से की जाती है. सारणी 94 में विभिन्न नस्लों की गायों, भैंसों, वकरियों तथा भेड़ों से प्राप्त घी के विश्लेषण स्थिरांकों के औसत मान दिये गये हैं. भैंस का घी ठोस रहने पर सफ़ेद तथा तरल अवस्था में हल्का पीला रहता है. हरे चारे के उपभोग से बरसात में भैंस के घी का रंग हरापन लिये होता है. गाय का घी पीलापन लिये हुये तथा बकरी और भेड़ का घी गहरे पीले रंग का होता है. गाय के घी का राइकर्ट मान अपेक्षाकृत कम तथा ब्यूटिरो अपवर्तनांक मापी (बी. आर.) मान अधिक होता है. भैंस के घी का राइकर्ट मान अधिक तथा बी. आर. मान कम होता है. बकरी तथा भेड़ दोनों के घी का पोलेन्सकी मान उच्च होता है.

घी का संघटन मुख्यत: उस दूध के संघटन पर निर्भर करता है जिससे घी बनाया जाता है. एक ही नस्ल के पशुओं में, आहार के अनुसार घी का संघटन प्रभावित होता है. अच्छे घी में सुहावनी गंध तथा रुचिकर स्वाद होना चाहिये तथा विकृतगंधिता और अन्य आपत्तिजनक गंध तथा स्वादों से मुक्त होना चाहिये. गाय तथा भैंस के घी का संघटन सारणी 92 में दिया गया है. गाय के घी में कैरोटीन तथा विटामिन ए की मात्रायें बहुत हद तक उनके आहार पर निर्भर करती हैं. पशुओं को कैरोटीनयुक्त आहार देने से घी में विटामिन ए की मात्रा बढ़ायी जा सकती है. घी में विटामिन ए की मात्रा काफी हद तक स्थिर रहती है किन्तु छ: माह तक भंडारन करने से इसकी मात्रा घटकर लगभग आधी हो जाती है और एक वर्ष तक भंडारित रहने पर पूरा विटामिन ए नष्ट हो जाता है. धूप में 30 मिनट तक तथा पराबैंगनी प्रकाश में केवल 10 मिनट तक खुला छोड़ देने पर घी का सम्पूर्ण विटामिन ए नष्ट हो जाता है.

ऐगमार्क विनिर्देश के अनुसार विभिन्न श्रेणियों के घी को सारणी 95 में दी गयी शर्तें पूरी करनी होती हैं.

खाद्य अपमिश्रण निरोधक अधिनियम 1955 (31 मार्च, 1962) के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में तैयार किये गये घी के निम्नलिखित मानक होने चाहिये : मुक्त वसा अम्ल (ओलीक अम्ल के रूप में), ≯ 3%, तथा जल, ≯ 0.3%. गुजरात में सौराष्ट्र तथा कच्छ और राजस्थान में जोधपुर मंडल, पश्चिमी बंगाल में विष्णुपुर क्षेत्र तथा मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कपास उगाने वाले क्षेत्रों में तैयार घी का ब्यूटिरो अपवर्तनांक मापी मान 40° पर 41.5–45.0 और शेष राज्यों के घी का यही मान 40.0–43.0 होता है. देश के विभिन्न भागों के घी का न्यूनतम राइकर्ट मान 21, 24, 26 अथवा 28 संस्तुत किया गया है. घी को बौडोइन परीक्षण नहीं देना चाहिये.

घी को अत्यधिक अपमिश्रित किया जाता है तथा इसके सामान्य अपमिश्रक हाइड्रोजनीकृत वनस्पति तेल (वनस्पति) हैं. वनस्पति उत्पाद नियंत्रक (भारतीय गजट, अक्टूबर 21, 1950, एस. आर. ओ., 780) द्वारा प्रकाशित आदेश के अनुसार हाइड्रोजनीकृत वसा की पहचान सुगम हो गयी है. तदनुसार हाइड्रोजनीकृत वनस्पति तेल में कच्चे अथवा परिशोधित तिल के तेल की मात्रा 5% से कम नहीं होना चाहिये. अन्तिम उत्पाद में इसका पता बौडोइन परीक्षण द्वारा लगाया जा सकता है. इस परीक्षण में घी तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (आ. घ., 1.19) के 1 : 1 मिश्रण में से 10 मिली. लेकर उसमें 6–8 बूंद 2% ऐल्कोहलीय फरफ्यूरॉल मिलाकर भली-भाँति हिलाया जाता है. घी में हाइड्रोजनीकृत तेल होने पर वह लाल हो जायेगा और यह रंग 10 मिनट तक बना रहेगा.

घी में अपमिश्रित वनस्पति वसाओं का पता फाइटोस्टेरॉल ऐसीटेट परीक्षण द्वारा भी लगाया जा सकता है. यह परीक्षण

सारणी 95 – ऐगमार्क घी के भौत-रासायनिक लक्षण

स्थिरांक	गाय का घी	भैंस का घी	विशेष	सामान्य
बी. आर. पाठ्यांक, 40° पर	40 5–42 5	40.5–42.5	40.5–42.5	40.5–52.5
जल (%), अधिकतम	0 5	0 5	0.5	0.5
आर एम. मान	26–28	≮30	≮28	≮28
पोलेन्स्की मान	1 5–2 5	1.0–1.75	1.0–2.0	1.0–2.0
कर्शनर मान	20–25	≮25	...	..
मुक्त वसा अम्ल (% ओलीक अम्ल), अधिकतम	1.5	1.5	1.5	2.5
गलन विन्दु, अधिकतम	34°	34°	34°	34°

टिप्पणी : फाइटोस्टेरॉल ऐसीटेट तथा बौडोइन परीक्षण परिणाम नही देते.

इस तथ्य पर आधारित है कि घी में कोलेस्टेरॉल पाया जाता है तथा वानस्पतिक वसाओं में फाइटोस्टेरॉल और उनके ऐसीटेट का गलन विन्दु भिन्न-भिन्न होता है. अतः यदि घी से प्राप्त स्टेरॉल ऐसीटेट का गलन विन्दु 115° से अधिक हो तो यह समझना चाहिये कि वानस्पतिक वसायें मिली हुयी हैं. लेकिन इस परीक्षण से घी में मिलायी गयी पशु-चर्बियो की पहचान नही हो पाती.

मक्खन-वसा अथवा घी में विकृतगंधिता तीन प्रकार से आती है ब्यूटिरिक, कीटोनी तथा ऑक्सीकारी ब्यूटिरिक विकृतगंधिता फफूंदियो की क्रिया के द्वारा उत्पन्न मुक्त ब्यूटिरिक अम्ल के कारण उत्पन्न होती है जबकि ऑक्सीकारी विकृतगंधिता सामान्यतया घी को लम्बी अवधि तक रखे रहने पर ऑक्सीजन अथवा वायु से क्रिया करके उत्पन्न होती है. मुक्त अम्लता मे ताम्र जस्ता तथा निकेल जैसी धातुओ की सूक्ष्म मात्रा के सदूषण से तथा प्रकाश मे खुला रखने मे घी का ऑक्सीकरण उत्प्रेरित होता है जिसके फलस्वरूप उसमे मछली जैसी या तेल जैसी तथा चर्बी जैसी घटिया गंध आने लगती है अत यह आवश्यक है कि बहुत कम अम्लता वाला घी तैयार किया जाये उसे धातुओं के सदूषण से बचाया जाये तथा प्रकाश मे बचाने के लिये उसे टिन के डिब्बो मे बन्द करके रखा जाये

घी बनाते समय अवशेष के रूप मे एक तलछट बच जाती है जिसकी वार्षिक उपलब्ध मात्रा 45 लाख किग्रा. तक आंकी गयी है. यह तलछट हल्के से लेकर गाढे भूरे रग की होती है. यह दुग्ध वसा, प्रोटीन और राख का अच्छा स्रोत है. गाय तथा भैंस के दूधो से बने मक्खन के घी अवशेषों का सघटन क्रमशः इस प्रकार मिला है : जल, 14 4, 13.4, वसा, 32.4, 33 4; प्रोटीन, 36.0, 32 6; लैक्टोस, 12 0, 15 4; तथा राख, 5.2, 5.2%. घरो में तैयार किये गये घी-अवशेष को या तो पकाये गये चावल में मिलाकर अथवा रोटियो पर लगाकर खाया जाता है, किन्तु बडे पैमाने पर घी बनाने वाले केन्द्रो पर इसे यो ही फेंक दिया जाता है. राष्ट्रीय डेरी अनुसधान सस्थान, बगलोर स्थित दक्षिणी क्षेत्रीय केन्द्र ने यह प्रदर्शित किया है कि इन अवशेष से हल्के भूरे रग का एक खाद्य पेस्ट बनाया जा सकता है जो खाने के पदार्थों में लगाने तथा चाकलेट और टाफियां बनाने के काम आ सकता है.

छेना – छेना, अम्ल-स्कंदित सामान्य दूध का एक महत्वपूर्ण उत्पाद है जिसे रसगुल्ला और संदेश नामक प्रमुख भारतीय मिठाइयो के बनाने के लिये प्रयुक्त किया जाता है. इसे आशिक रूप से मक्खन निकाले गये अथवा पूर्ण मखनिया दूध मे खट्टे दही के पानी, नीबू के रस अथवा सिट्रिक अम्ल जैसे अम्लीय पदार्थ डालकर तैयार किया जाता है. ये अम्लीय विलयन उबलते हुये दूध मे डाले जाते है. दही के पानी को मलमल के कपड़े द्वारा छान देते हैं तथा अवक्षेप के बचे हुये दही के पानी को भी निचोड कर अलग कर देते हैं. यह उत्पाद, पश्चिमी देशो में बनाये जाने वाले पनीर जैसा होता है. गाय तथा भैंस के दूध से बनाये गये छेने का सघटन सारणी 92 में दिया गया है. छेना मे ≮15% वसा नही रहनी चाहिये तथा इसमें स्कदन के लिये प्रयुक्त पदार्थो के अतिरिक्त ऐसे एक भी अवयव नही रहने चाहिये जो दूध मे न पाये जाते हों.

पनीर – दूध के स्कदित करने के पश्चात दही के पानी को छान देने पर बचा अवशेष पनीर होता है. इसमे वसा तथा प्रोटीन की प्रतिशतता अधिक तथा जल और जल-विलेय अवयवो की मात्रा दूध की अपेक्षा कम होती है. पनीर बनाने तथा पकाने के लिये कई प्रकार की रासायनिक, एजाइमी, सूक्ष्म-जैविक तथा भौतिक विधियाँ काम मे लायी जाती हैं. दूध के स्कदन के लिये रेनिन एजाइम अथवा रेनिन और अम्ल (सामान्यतः प्रवर्तक सवर्ध द्वारा उत्पन्न लैक्टिक अम्ल) का प्रयोग करके पनीर बनाते हैं. सभी प्रकार के पनीरो के पकने के लिये कुछ सप्ताहो से लेकर दो वर्ष तक का समय आवश्यक होता है पकने से पनीर मे सुगध तथा स्वाद आ जाता है.

पनीर की बहुसख्यक किस्मे होती हैं परन्तु उनमे से अधिकतर दो दर्जन विशिष्ट किस्मो के रूपान्तर हैं. अधिकाश पनीर गाय के दूध से बनाये जाते हैं परन्तु प्रमुख किस्म **राकफोर्ट** भेड के दूध से बनती है. बकरी के दूध मे भी कई प्रकार के पनीर तैयार किये जाते है. बनावट के आधार पर पनीरो को कठोर (चेड्डार, स्टिल्टन, स्विस इत्यादि), कोमल (ब्रिक तथा लिम्बर्गर) तथा मध्यम (कमेमबर्ट) किस्मो में वर्गीकृत किया जा सकता है. इनका पक्वन करने वाले जीवाणुओ (**लैक्टोबेसिलाई**) और फफूंदियों (**पेनिसिलियम राकफोर्टाई**) जैसे सूक्ष्म जीवो के अनुसार भी पनीरो को वर्गीकृत किया जाता है.

कठोर किस्म की पनीरो के विशेषतायें हैं : कम नमी का होना तथा काफी दिनो तक परिरक्षित रहना. इन्हे समाधित पनीर के बनाने के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है. कोमल पनीरो में नमी की बहुलता होती है तथा बनाने के बाद तुरत उपभोग करने के ही उद्देश्य से इन्हे बनाया जाता है.

कुटीरो में बना पनीर कोमल तथा असमाधित होता है जिसमें 80% तक जल रहता है. यह पास्तुरीकृत मखनिया दूध से बनाया जाता है तथा यह बनाने के तुरन्त बाद ही प्रयोग के उपयुक्त रहता है और इसको काफी समय तक पकाना अनिवार्य नही होता. यह दो सप्ताह से अधिक समय तक अच्छा नही रह पाता.

पनीर, पश्चिमी देशो का प्रमुख आहार है किन्तु भारत मे इसका उपयोग नही किया जाता, क्योंकि इसको बनाने के लिये पशु जामन (रेनेट) काम में लाया जाता है. विगत कुछ वर्षो से ही समाधित पनीर का उत्पादन व्यापारिक स्तर पर हो रहा है तथा इसका वार्षिक उत्पादन लगभग 500 टन ही है. भारत के प्रमुख पनीरों को दो किस्मों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

सारणी 96 – विभिन्न प्रकार के पनीरों का संघटन*

पनीर	वसा	प्रोटीन	लैक्टोस	जल
कुटीर या घरों में तैयार	4.0–4.9	12.7–21.0	0.2–1.1	71.0–79.9
स्विस	30–34	26–30	3–5	30–34
चेड्डार	30–37	21–26	3–7	32–44
राकफोर्ट	31–34	19–24	5–7	37–41
ब्रिक	28–34	20–24	2–5	40–43
अमूल (संसाधित)†	32.5	25.0	...	38.0

*V. B. Singh, 162. †अमूल, आनन्द से प्राप्त सूचना.

कठोर (चेड्डार, चेदाम तथा गोदा, इत्यादि), तथा कोमल (पनीर, सूरती पनीर, बन्डल, अमेरिकी कुटीर पनीर, इत्यादि). भारत में राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल द्वारा भैंस के दूध को ब्रिक, करनाल (चेड्डार के समान) तथा संसाधित पनीर उत्पादन के काम में लाया जाता है. पहले भैंस का दूध पनीर बनाने के लिये अच्छा नहीं माना जाता था क्योंकि भैंस के दूध से बने पनीर में लम्बी अवधि तक पक्वन करने के बाद भी बढ़िया स्वाद-गन्ध लाना कठिन रहता था. ब्रिक तथा करनाल पनीर 6–7 सप्ताह के पक्वन के बाद प्रयोग लायक हो जाते हैं. राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल, तथा आनन्द मिल्क यूनियन, आनन्द द्वारा बनाये जाने वाले संसाधित पनीर, आयातित गाय के दूध से बनाये पनीर के तुल्य होता है.

पनीर अधिक सुपाच्य होता है तथा यह प्रोटीन, वसा, कैल्सियम और अनेक अन्य विटामिनों का उत्तम स्रोत है (सारणी 92). *विभिन्न प्रकार के पनीरों के प्रमुख अवयव सारणी 96 में दिये* गये हैं. कठोर तथा संसाधित पनीरों के लिये आई. एस. आई. विनिर्देशन क्रमशः इस प्रकार हैं (शुष्क भार के आधार पर) : जल, ≯43; ≯ 45; दुग्ध वसा, ≮42, ≮40; तथा लवण (मिलाया गया NaCl), ≯3, ≯3% (IS : 2785–1964).

खोआ – खोआ आंशिक रूप से सुखाया गया दुग्ध-उत्पाद है जो दूध को शीघ्रता से वाष्पीकृत करके प्राप्त किया जाता है. इसे तब तक सुखाते हैं जब तक उसमें ठोस की मात्रा 70–75% नहीं रह जाती. खोआ ऐसे भी खाया जाता है किन्तु इसका उपयोग मिठाइयाँ बनाने के लिये मुख्यत: किया जाता है. गाय तथा भैंस के दूध में खोआ की मात्रायें क्रमशः 18.3 तथा 21.0% होती हैं. गाय तथा भैंस के खोये का संघटन सारणी 92 में दिया गया है. खोआ का सामान्य अपमिश्रक धान्यों का आटा है. सामान्य ताप पर खोआ औसतन 7–9 दिनों तक ठीक रहता है किन्तु 13° पर भंडारन करने अथवा चीनी डालने पर यह 30 दिनों तक टिका रह सकता है.

आइसक्रीम – आइसक्रीम, दूध का जमा हुआ उत्पाद है जिसका भारत में काफी व्यापार होता है. यह उत्तम दुग्ध उत्पाद है जो पोषक होता है तथा समुचित भंडारन दशाओं में लम्बी अवधि तक परिरक्षित किया जा सकता है. आइसक्रीम में विभिन्न दुग्ध ठोसों की अलग-अलग मात्रायें पायी जाती हैं तथा इसमें शर्करा तथा सुगन्ध और रंगप्रदायक पदार्थ डाले जाते हैं. स्वादिष्ट बनाने तथा चिकनाहट प्रदान करने के लिये इसमें पूर्ण दूध, मीठी क्रीम तथा अलोना मक्खन मिश्रित किया जाता है. सीरम ठोसों अथवा वसा-रहित ठोसों की आपूर्ति, दूध, क्रीम, मखनियाँ दूध तथा पूर्ण दुग्ध-चूर्ण और संघनित दूध के रूप में की जाती है. उत्पादों में दृढ़ता प्रदान करने के लिये जिलेटिन तथा सोडियम एल्जिनेट जैसे स्थायीकारी डाले जाते हैं. आइसक्रीम में अनेक प्रकार के स्वाद प्रदायक पदार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं जिनमें सबसे अधिक वैनीला का प्रयोग होता है. कई प्रकार के फलों को मिलाने से आइसक्रीम में उन्हीं फलों का स्वाद आ जाता है. देशी आइसक्रीमों में कुल्फी (नट आइसक्रीम) तथा मलाई की बरफ (जमाया हुआ मीठा दूध तथा मलाई) सामान्य हैं.

आइसक्रीमों के संघटन में काफी भिन्नता पायी जाती है. इनमें भार के अनुसार ठोस पदार्थों की मात्रा 36% तथा दुग्ध-वसा 10% से कम नहीं होनी चाहिये, किन्तु यदि उनमें फल अथवा नट या दोनों ही मिले हों तो दुग्ध-वसा की मात्रा भार के अनुसार 8% से कम नहीं रहनी चाहिये. इसमें किसी प्रकार के स्टार्च, मधुरता प्रदायक कृत्रिम पदार्थ अथवा अन्य बाह्य पदार्थ नहीं रहने चाहिये. मखनिया दूध से निर्मित आइसक्रीम में दुग्ध वसा के अतिरिक्त दुग्ध-ठोसों की मात्रा 8.5% से कम नहीं होनी चाहिये. मिश्रित आइसक्रीम, संघटन में, आइसक्रीम के समान ही होती है, अन्तर केवल इतना ही होता है कि मिश्रित आइसक्रीम में स्टार्च अथवा अन्य अहानिकारक पूरक रह सकते हैं किन्तु वसा और कुल दुग्ध ठोस पदार्थों की मात्रा आइसक्रीम की निर्धारित मात्रा के अनुसार ही होनी चाहिये.

दूध तथा दुग्ध-उत्पादों के पोषण मान

पूर्ण दूध एक संतुलित सम्पूर्ण आहार है तथा पोषण की दृष्टि से यह अकेले ही पोषण का काम कर सकता है. यदि वसा तथा वसा-विलेय विटामिनों की कमी को पूरा कर दिया जाय तो मखनियाँ दूध भी (अर्थात् वह दूध जिसमें से वसा निकाल ली गयी हो) सम्पूर्ण आहार का काम कर सकता है.

कई प्रकार के संसाधन करते समय दूध में समान्यतया रासायनिक अथवा भौतिक परिवर्तन होते हैं जिससे उसके पोषण मान पर प्रभाव पड़ सकता है. उपभोग करने के पूर्व बहुधा दूध को उबाला जाता है. उबालने से दूध के कुछ तत्वों का आंशिक ह्रास हो सकता है और उसका पोषण मान घट जाता है. गाय तथा भैंस के दूधों को उबालने के कारण उनके पोषण मान में हुयी कमी को जानने के उद्देश्य से जो परीक्षण किये गये हैं उनसे यह पता चला है कि कच्चे तथा उबाले हुये दोनों ही प्रकार के दूधों को आहार के रूप में अकेले देने पर चूहों की वृद्धि-दर सामान्य रही.

दुग्ध-वसा – दुग्ध-वसा पूर्ण रूप से पच जाती है. अन्य पशु-वसाओं तथा वनस्पति-वसाओं की अपेक्षा दुग्ध-वसा के पोषण मान पर काफी शोध कार्य हुआ है. जब दुग्ध-वसा को चावल जैसे आहार में मिलाकर उपयोग में लाते हैं तो यह अन्य वसाओं से उत्तम बैठती है. विकृतगंधी दुग्ध-वसा के प्रयोग से चुहियों की प्रजनन क्षमता तथा पोषण क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है.

गाय का घी, अन्य पशु वसाओं तथा वनस्पति वसाओं की अपेक्षा अधिक सुपाच्य होता है. उदर में चार घण्टे पचने के पश्चात गाय के घी की आपेक्षिक अवशोषण-दर अन्य पशु वसाओं

तथा हाइड्रोजनीकृत वसाओं की अपेक्षा अधिक रहती है. कृत्रिम आहारों में 5% तक गाय का घी मिलाकर खिलाने से चूहों की वृद्धि अन्य वसायें देने की अपेक्षा कुछ अच्छी रहती है. किन्तु सार्थक अन्तर नहीं प्राप्त होते.

दूध तथा दुग्ध उत्पादों में कोलस्टेरॉल रहने के कारण इन्हें ऐथिरोकाठिन्य रोग का कारण बताया गया है. यद्यपि शरीर में संश्लिष्ट कोलस्टेरॉल की मात्रा, दूध या दुग्ध-उत्पादों से गृहीत कोलस्टेरॉल की सामान्य मात्रा से 10 से 20 गुनी अधिक होती है. दूध में कुछ ऐसे रक्षक पदार्थ पाये जाते हैं जो धमनी भित्तियों में कोलस्टेरॉल का निक्षेपण नहीं होने देते और धमनी भित्तियों द्वारा हानी रोगों के विरुद्ध प्रतिरोध में सहायक बनते हैं.

प्रोटीन – दूधों के प्रोटीन पोषणता में परिपूर्ण माने जाते हैं. उनमें सभी आवश्यक ऐमीनो अम्लों की पर्याप्त मात्रायें विद्यमान रहती हैं. घटिया चावल-आहारों में मिलाये जाने के लिये ये उत्तम पूरक का काम करते हैं. ये विभिन्न दलहनों, आलू, मक्का, रागी तथा गेहूँ के प्रोटीनों के लिये भी पूरक का काम करते हैं.

दुग्ध-उत्पादों के प्रोटीनों में उपस्थित आवश्यक ऐमीनो अम्ल तथा उनके पोषक मान सारणी 84, 85 और 87 में दिये गये हैं

छेना, दही तथा खोआ जैसे दुग्ध-उत्पाद चावल जैसे घटिया आहार के साथ पूरक सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं. दही के पानी (छाछ) में प्राप्य प्रोटीनों से अनाजों के प्रोटीनों की, विशेषतया गेहूँ के प्रोटीनों की, कमी पूरी हो जाती है. मट्ठे तथा मक्का या गेहूँ के प्रोटीनों में और पनीर तथा गेहूँ के प्रोटीनों के मध्य पारस्परिक पूरक सम्बन्ध प्रदर्शित किये जा चुके हैं.

पकाने पर कच्चे केसीन के जैविक मान तथा सुपाच्यता गुणांकों में सुधार होने की सूचना है. मनुष्यों के पकाये हुये केसीन का पोषक मान गेहूँ के ग्लुटेन तथा मूंगफली के प्रोटीनों से अधिक गोमांस के प्रोटीनों के लगभग समान और अण्डे के प्रोटीन से घटिया होता है फिर भी इसकी पुष्टि नहीं हो पायी है कि लैक्टैल्युमिन मनुष्यों के लिये केसीन से अच्छा होता है या नहीं. दही के पानी (छाछ) के प्रोटीन का वृद्धिकारक मान चाहे वे ऊष्मा द्वारा स्कंदित हों, अपोहित किये गये हों अथवा लौह-जटिलों (फेरिलैक्टिन) के रूप में हों, सदैव उच्च होता है.

यद्यपि मखनियाँ दूध तथा दही के प्रोटीन के पोषण मान पर फुहार-शुष्कन विधि से सुखाने पर नाममात्र का ही प्रभाव पड़ता है, परन्तु बेलन-शुष्कन से हानिकारक प्रभाव पड़ता है. कच्चे, वाष्पित अथवा संघनित दूधों के प्रोटीनों का पोषण मान लगभग समान होता है, किन्तु सान्द्रण करते समय लाइसीन की कुछ हानि हो जाती है. खोआ के प्रोटीनों का जैविक मान तथा सुपाच्यता, दुग्ध प्रोटीनों की अपेक्षा कम होती है क्योंकि ऊष्मा-संसाधन के फलस्वरूप खोये के आर्जिनीन और लाइसीन की मात्रा घट जाती है. फिर भी खोआ के प्रोटीनों का वृद्धिकारी मान दुग्ध प्रोटीनों के बराबर ही होता है.

कई अन्वेषणों से यह ज्ञात हुआ है कि ताजे तथा किण्वित दूधों के पोषक मान में कोई विशेष अन्तर नहीं होता. एक प्रतिवेदन के अनुसार दही के प्रोटीनों का जैविक मान दूध के प्रोटीनों की अपेक्षा सम्भवतः इसलिये कम होता है क्योंकि उसको खट्टा बनाते समय उसके आर्जिनीन, लाइसीन तथा मेथियोनीन का ह्रास हो जाता है. परन्तु उनके वृद्धिकारी मान में कोई अन्तर नहीं आता.

लैक्टोस – दूध में उपस्थित लैक्टोस शरीर द्वारा अवशोषित न होकर रक्त प्रवाह में पहुँचने तथा शरीर द्वारा प्रयुक्त होने के पूर्व ग्लूकोस तथा गैलैक्टोस शर्कराओं में विखण्डित हो जाता है. लैक्टोस के अम्लीय किण्वन हो जाने से कैल्सियम तथा फॉस्फोरस का अच्छी तरह उपयोग होता है. इसके अतिरिक्त, लैक्टोस से उत्पन्न गैलैक्टोस, बालकों में मस्तिष्क की प्रमुख संरचना इकाइयों के सेरेब्रोसाइडों के संश्लेषण में तथा तंत्रिकाओं के मज्जा-आच्छदों में प्रयुक्त हो सकता है. जब दूध को दही में बदल दिया जाता है तो लगभग 40% तक लैक्टोस कम हो जाता है और उसकी अम्लता में भी वृद्धि हो जाती है.

वसा-विलेय विटामिन – दूध में प्राय विटामिन ए तथा कैरोटीन दोनों ही पर्याप्त स्थायी हैं परन्तु दूध के पास्तुरीकरण के समय उनकी कुछ मात्रा नष्ट हो जाती है. दूध का जीवाणुनाशन अथवा वाष्पीकरण करने के लिये उसे अधिक गरमाने के कारण 35% तक विटामिन ए नष्ट हो जाता है. अलोने मीठे क्रीम-मक्खन की अपेक्षा नमकीन पाचित-क्रीम-मक्खन में विटामिन ए की हानि अधिक होती है. यह हानि संचयन में हुयी त्रुटियों के फलस्वरूप चर्बी, तेल और मछली की तरह गन्ध तथा विकृतगंधिता के उत्पन्न हो जाने के कारण होती है. भैंस की दुग्ध-वसा में पाया जाने वाला विटामिन ए गाय की दुग्ध-वसा के विटामिन ए की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है. यदि संचयन के समय मोम लगे परतदार कागज के डिब्बों का प्रयोग किया जाता है तो प्रकाश के कारण होने वाले विटामिन ए की हानि रुक जाती है.

पनीर बनाने के लिये उसका पक्वन करते समय भी विटामिन ए की कुछ मात्रा नष्ट हो जाती है. विटामिन ए का लगभग 17% गाढ़े जीवाणुनाशित दूध के संसाधन के समय नष्ट हो जाता है, उसके पश्चात् 6 माह के भीतर ही सामान्य ताप पर संग्रहीत दूध के 10% विटामिन ए की और हानि हो जाती है. अतः ऊष्मा-संसाधित दुग्ध-उत्पादों को, विशेषतया जब इन्हें नवजात शिशुओं के आहार के लिये प्रयोग में लाना हो तो, इनमें अलग से विटामिन ए मिला देना चाहिये.

भारतीय परिस्थितियों में, दुग्ध-उत्पादों के निर्माण तथा संचयन के समय वसा विलेय विटामिन की हानि अपेक्षाकृत ज्यादा होती है. अतः उत्पादों के पोषण मान में सुधार लाने के लिये इनमें विटामिनों का पौष्टीकरण आवश्यक हो जाता है.

जल-विलेय विटामिन – ऊष्मा उपचार तथा भंडारन अवधि में होने वाला ऑक्सीकरण ही वे प्रमुख कारण हैं जिनसे दूध में पाये जाने वाले जल-विलेय विटामिनों का ह्रास एवं विनाश होता है. ऊष्मा उपचार के द्वारा थायमीन की भी कुछ मात्रा नष्ट हो जाती है. पास्तुरीकरण के समय इसका 10% तक तथा जीवाणुनाशन करते समय 30–50% तक विनाश होता है. वाष्पित दूध तथा खोआ, रबड़ी इत्यादि देशी दुग्ध-उत्पादों को बनाते समय दूध में उपस्थित विटामिन बी$_6$ की भी प्रचुर मात्रा नष्ट हो जाती है. दूध को लगभग दो घण्टे तक धूप में खुला छोड़ देने पर भी इसका 15–46% विटामिन बी$_6$ नष्ट हो जाता है.

पास्तुरीकरण, जीवाणुनाशन तथा वाष्पित दूध बनाते समय निकोटिनिक अम्ल तथा राइबोफ्लैविन अधिक स्थायी रहते हैं.

दूध विटामिन बी$_{12}$ का एक उत्तम स्रोत है.

खनिज – दूध को 65° पर 30 मिनट तक गरम करने से विलेय कैल्सियम की मात्रा में 20% और एक घण्टे तक उबालने पर 40% की कमी होती है. सामान्य संचयन के लिये अथवा रबड़ी,

खोआ इत्यादि देशी दुग्ध-उत्पादों को बनाने के लिये प्रयुक्त संसाधनों के समय बाहरी संदूषण के द्वारा दूध में लोहे की माता काफी बढ़ जाती है. दूध की ऑक्सीकृत स्वाद-गंध, तथा मक्खन और सम्पूर्ण दुग्ध-चूर्ण की चर्बी तथा मछली-जैसी सड़ी महक संग्रह अथवा संसाधन के समय क्रीम अथवा दूध में ताम्र आ जाने के कारण होती है.

पशुओं द्वारा आहार में ग्रहण की गयी बढ़ती हुयी खनिजों की माता से दूध में मैंगनीज, ताम्र तथा कोबाल्ट की माता पर कोई लक्षित प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु आयोडीन अथवा फ्लोरीन की मातायें उनके आहार में ली गयी माता से सुगमता से प्रभावित हो जाती हैं.

दुग्ध उपजात

दूध के संघटकों का या तो प्रत्यक्ष पृथक्करण द्वारा अथवा उनमें रासायनिक या सूक्ष्मजैविकीय परिवर्तन लाकर इससे कई उपजात तैयार किये जा सकते हैं. लैक्टोस, केसीन तथा लैक्टैल्बुमिन को प्रत्यक्ष रीति से पृथक् किया जा सकता है. रासायनिक विधियों से दूध से प्राप्त सोडियम और कैल्सियम केसीनेट को आहार के रूप में प्रयोग किया जाता है. अम्लों अथवा एंजाइमों द्वारा केसीन का जल-अपघटन करके अधिक ऐमीनो अम्ल वाले उत्पादों तथा आहारों में मिलाने के लिये विशिष्ट स्वादों अथवा विभिन्न सूक्ष्म-जीवों के संवर्धन के लिये प्रयुक्त माध्यम के लिये नाइट्रोजन का एक स्रोत प्राप्त किया जा सकता है.

लैक्टोस – दूध से केसीन, पनीर अथवा छेना बनाने के पश्चात् बचे हुये छाछ से लैक्टोस तैयार किया जाता है. छाछ, यदि पहले से अम्लीय नहीं है तो इसे अम्लीय बनाकर तथा उबाल आने तक गरम करके छान लिया जाता है; स्वच्छ द्रव को निर्वात कड़ाह में 60° ताप पर तब तक सान्द्रित करते हैं जब तक उसमें ठोस की माता 60% नहीं हो जाती. इसके पश्चात् इसे क्रिस्टलन के लिये छोड़ देते हैं. क्रिस्टलों के पहले घान को जल निष्कर्षक में ले जाते हैं और अस्थि-कोयला की उपस्थिति में पुन: क्रिस्टलित करके इसे परिशुद्ध कर लिया जाता है. बंगलौर के राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान में छोटे पैमाने पर लैक्टोस तैयार करने की एक समुचित विधि का मानकीकरण किया जा चुका है. छाछ से 2.8–3.0% अपरिष्कृत लैक्टोस प्राप्त होता है.

लैक्टोस में सुक्रोस की अपेक्षा मिठास प्रदान करने की क्षमता 1/6 है किन्तु जल में अल्प विलेय होने के कारण उत्पादों को तैयार करने में इसका कम प्रयोग होता है. लैक्टोस को पथ्य आहारों तथा ओषधि निर्माण में भी प्रयोग किया जाता है. पेनिसिलिन के उत्पादन में माध्यम के अवयव के रूप में इसकी विशेष उपयोगिता है. व्यापारिक लैक्टोस के आई. एस. आई. विनिर्देशन इस प्रकार हैं : लैक्टोस, ≮ 90.0; नाइट्रोजन, ≯ 0.05; वसा, ≯ 2.5; अम्लता, परीक्षण पुष्टि के अनुसार: कुल राख, ≯ 1.5%; सीसा, ≯ 25 भाग प्रति लाख भाग में, आर्सेनिक, ≯ 10 भाग प्रति लाख भाग में और विशिष्ट घूर्णन, 52.0–52.6° (IS : 1000-1959).

केसीन – सम्पूर्ण मखनियाँ दूध का चयनात्मक अवक्षेपण करके तथा छाछ अलग करने के पश्चात् अवक्षेप को धोकर और सुखाकर खाद्य केसीन तैयार किया जाता है. केसीन लगभग श्वेत अथवा पीत-श्वेत-पीत रंग का होता है. यह उत्तम पोषक प्रोटीन है तथा प्रोटीनयुक्त आहारों को तैयार करने के लिये व्यवहार में लाया जाता है. प्राकृतिक खट्टा (लैक्टिक) केसीन, प्लाईवुड तथा चाय की पेटियों के उद्योगों में प्रयुक्त सरेस तैयार करने के काम आता है. यह केसीन लैक्टिक अम्ल जीवों में उत्पन्न अम्लता द्वारा मखनियाँ दूध के केसीन का अवक्षेपण करके प्राप्त किया जाता है. हमारे देश में केसीन केवल कुटीर-उद्योग के रूप में तैयार किया जाता है.

खाद्य केसीन तथा सरेस बनाने के लिये प्रयुक्त प्राकृतिक खट्टे (लैक्टिक) केसीन के लिये आई. एस. आई. के विनिर्देशन क्रमश: निम्नलिखित हैं : नमी, ≯ 10.0, ≯ 12; वसा (शुष्क भार के आधार पर), ≯ 1.5, ≯ 2.0; नाइट्रोजन (शुष्क भार के आधार पर), ≯ 14.5, ≯ 14.0; कुल अम्लता (0.1 N NaOH, मिली./ग्रा.), 6-14. ≯ 10.5; मुक्त अम्लता (0.1 N NaOH मिली./ग्रा.), ≯ 5.6; कुल राख (शुष्क भार के आधार पर), ≯ 2.5, ≯ 4.0; तथा अम्ल-अविलेय राख (शुष्क भार के आधार पर), ≯ 0.1%; खाद्य केसीन की जीवाणु संख्या, ≯ 50,000; कोलीफार्म संख्या, ≯ 10 ; तथा फफूँदी संख्या, ≯ 50/ग्रा. (IS : 1167-1965, 850-1957).

संपीडित केसीन को कैल्सियम, सोडियम तथा पोटैशियम केसीनेट जैसे क्षारकीय धातु केसीनेटों में परिवर्तित किया जा सकता है. सोडियम केसीनेट को नवजात शिशु तथा अपाहिजों के आहारों में प्रयुक्त किया जाता है जबकि फेरिक केसीनेट बलवर्द्धक तथा रक्त परिशोधक है. इसका बिस्मथ लवण एक पूतिरोधी मरहम-पट्टी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. शुष्क केसीन को केसीन के जलअपघट्य बनाने के लिये भी उपयोग में लाते हैं जिसके लिये प्रयुक्त प्रोटीन अपघटक एंजाइमों में ट्रिप्सिन, पैपेन, पैंक्रिएस तथा फफूँदी अथवा जीवाण्विक एंजाइमें सम्मिलित हैं.

छाछ के उपजात

छाछ प्रोटीन – पनीर अथवा केसीन बनाते समय प्राप्त छाछ में लैक्टोस, लवण तथा प्रोटीन (जिसमें लैक्टोग्लोबुलिन प्रमुख है) पाये जाते हैं जिन्हें पृथक् करके मनुष्य तथा पशु-आहारों में प्रयोग किया जाता है. छाछ को उबालकर तथा प्रोटीनों का स्कंदन करके शुद्ध प्रोटीन (जिसका व्यापारिक नाम लैक्टैल्बुमिन है) प्राप्त किया जाता है. पोषक उत्पादों को बनाने के लिये इसका जल-अपघटन किया जा सकता है.

लैक्टोबैसिलस बुल्गेरिकस का प्रयोग करके सूक्ष्मजैविकी विधि द्वारा छाछ से लैक्टिक अम्ल प्राप्त किया जा सकता है. छाछ से ऐल्कोहलीय पेय तैयार करने के प्रयत्न भी किये जा रहे हैं जिसमें वर्ट, छाछ-मदिरा तथा पौष्टिक छाछ सम्मिलित हैं. छाछ से यीस्ट बनाने के भी प्रयास हुये हैं. यीस्ट को वर्धित करने के लिये छाछ में पोषक तत्व मिला लिये जाते हैं. इसके लिये अमोनियम सल्फेट, डाइपोटैशियम फॉस्फेट तथा 0.1–0.5% यीस्ट निष्कर्ष का प्रयोग किया जाता है. प्रति लीटर छाछ से 13–23 ग्रा. यीस्ट प्राप्त होता है.

छाछ से कई तरह के अन्य पदार्थ भी तैयार किये जा सकते हैं. इनमें राइबोफ्लैविन तथा विटामिन B_{12}, ऐसीटोन तथा ब्यूटेनाल, छाछ का सिरका, लैक्टोबायोनिक अम्ल तथा अधिक वसा वाले यीस्ट प्रमुख हैं. छाछ का सिरका (जिसमें 4.5–6.0% अम्ल हो) बच्चों तथा अनियमित पाचन वाले व्यक्तियों के लिये अत्यन्त उपयोगी बताया गया है. खाद्य उद्योगों के लिये लैक्टोबायोनिक

अम्न अत्यन्त उपयोगी है तथा कैल्सियम लैक्टोबायनेट (जिसमें 70% लवण हो) ओषधियों में कैल्सियम का एक प्रमुख स्रोत सिद्ध हुआ है. यह यीस्ट वसा अर्गोस्टेरॉल तथा स्टेरॉल का एक उत्तम स्रोत है.

छाछ को छाछ-पनीर बनाने के लिये भी आधारस्वरूप प्रयुक्त किया जाता है. इसे लैक्टिक अम्ल जीवाणु, पेनिसिलियम राकफार्टाई, स्ट्रेप्टोकोकस डाइऐसीटिलैक्टिस इत्यादि के संवर्धन-माध्यम के लिये भी प्रयोग में लाने की सलाह दी गयी है. त्वेकुमिस जैसे किण्वित डेरी उत्पादों में छाछ के उपयोग की संस्तुति की गयी है. लैक्टोबैसिलस बुल्गैरिकस द्वारा किण्वन तथा परवर्ती संसाधन से छाछ से रोमन्थी पशुओं के लिये उपयोगी पशु-आहार तैयार किया जाता है.

मांस तथा मांस के उत्पाद

गाय, भैंस, भेड़, मेमना, बकरी, सुअर तथा कुक्कुटादि से साफ किये हुये प्राप्त गोश्त को मांस कहते हैं. मुर्गे-मुर्गी के मांस का वर्णन कुक्कुट पालन के अन्तर्गत अलग से दिया गया है. गोपशुओं, भेड़ों तथा सुअरों के मांस को क्रमशः बीफ (गोमांस), मटन (भेड़-बकरी का मांस) तथा पॉर्क (सुअर का मांस) कहा जाता है. सभी मांसों में कुछ न कुछ वसा पायी जाती है तथा पॉर्क में वसा की मात्रा अधिक होती है. वसा या तो बाह्य आवरण के रूप में पेशी-तन्तुओं के साथ मिली रहती है या अन्तःकोशिकीय निक्षेप के रूप में पायी जाती है. पेशी ऊतक में चरबीरहित मांस होता है, बीफ या मेमनों का मांस गहरा लाल और छोटे बछड़ों के मांस और पॉर्क का रंग हल्का गुलाबी होता है.

प्रत्येक पशु से प्राप्त प्रसाधित मांस की मात्रा मुख्य रूप से उनके सजीव (जिंदा) भार, आकार तथा नस्ल और स्थलाकृतीय एवं जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों पर निर्भर करती है. सजीव भार के आधार पर भारतीय बीफ पशुओं से औसतन 35 से 45%, भेड़ और बकरियों से लगभग 4% तथा सुअरों से 60–65% प्रसाधित मांस प्राप्त होता है.

मृत पशु की लाश को बगली तथा पुट्ठों में विभक्त करने के पश्चात् परम्परानुसार अनेक उपखंडों में काट लिया जाता है. बड़े खंडों को सामान्यतया जोड़ों के पास से काटा जाता है. बहुत हद तक मांस की महत्ता इन्हीं खंडों के आकार तथा दिखाव-बनाव पर निर्भर करती है. काटे गये खण्डों की किस्म लाश के भार, प्रकार तथा श्रेणी के अनुसार होती है. विभिन्न बीफ तथा भैंसे के खण्डों के अन्तर्गत पुट्ठे का मांस, कमर का खण्ड, बगली, पसली, वर्गाकार काटे गये अग्रभाग, छाती का मांस, पिंडली तथा गोल टुकड़े आते हैं. मटन तथा बकरी के मांस में टांगें, कमर, अग्रभाग, छाती, पिंडली तथा कंधों के खण्ड काटे जाते हैं. पॉर्क के टुकड़ों में पुट्ठा (खाल सहित अथवा बिना खाल का), कंधा, कमर, कटिलम्बिनी पसलियों का अग्रभाग तथा कमर का पश्च भाग काट कर रखे जाते हैं.

प्रसाधित मांस के अतिरिक्त लाश के कुछ और भाग तथा अंग जिन्हें छिछड़ी कहते हैं मांस के रूप में बेचे जाते हैं. खाद्य छिछड़ी में जीभ, अग्न्याशय, गुर्दा, हृदय, यकृत, अंतड़ी (पशु के प्रथम तथा द्वितीय आमाशय-रुमेन तथा जालिका) तथा पूछ सम्मिलित रहते हैं जबकि अखाद्य छिछड़ी में खाल, बाल, हड्डियाँ, सींग और खुर प्रमुख हैं. रक्त तथा मांस और वसा के अन्य छीजन भी खाद्य और अखाद्य दोनों ही पदार्थों के रूप में प्रयोग में लाये जाते हैं.

मांस की किस्म तथा गुणता

ताज़ा मांस सामान्यतः हल्के गुलाबी रंग का, कड़ा और सूक्ष्म कणों वाला, मखमल की तरह चिकना तथा रसीला होता है. वसा पूरे मांस में अच्छी तरह वितरित रहती है. मांस की अच्छाई अनेक कारकों पर निर्भर करती है: पशु की नस्ल, लिंग, आयु तथा वध्य पशु का आहार और लाश की खाल उतारने, उसको प्रसाधित करने तथा रख-रखाव की विधि. आयु की वृद्धि के साथ-साथ मांस मोटे कणों वाला शुष्क तथा रेशेदार, चिपचिपा और गाढ़े रंग का होता जाता है. मांस में सुहावनी और ताजी महक होनी चाहिये तथा इसकी वसा, ठोस हाथी दांत की तरह सफ़ेद होनी चाहिये किन्तु श्लिपीय तथा जलीय नहीं होनी चाहिये.

नये स्वस्थ पशुओं का मांस, वृद्ध तथा दुर्बल पशुओं की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट होता है लेकिन अत्यन्त कम उम्र के पशुओं का मांस काफी मृदुल और जलीय होता है. उसमें स्वाद नहीं होता. ऐसी सूचना है कि सर्वोत्तम मांस प्राप्त करने के लिये भेड़, बकरियों तथा सुअरों की आयु छः माह से एक वर्ष तक तथा गो-पशुओं की आयु एक वर्ष से तीन वर्ष तक होनी चाहिये. बधिया किये हुये तथा मोटे पशुओं का मांस वृद्ध तथा दुर्बल पशुओं की अपेक्षा बढ़िया किस्म का होता है. भारत में मटन अधिकांशतः भेड़ों से प्राप्त होता है. नयी भेड़ों से प्राप्त मांस अच्छी किस्म का होता है. वृद्ध भेड़ों का मांस गाढ़े रंग का रुक्ष तथा कम स्वादिष्ट होता है. मांस प्राप्त करने के लिये मेमनों तथा बकरी के बच्चों की लाश का मानक भार 3.5–4.5 किग्रा. तथा मटन और बकरियों के गोश्त के लिये उनकी लाश का मानक भार 7–9 किग्रा. होता है.

गोमांस चमकीला, गाढ़े चेरी-लाल रंग का, महीन दानेदार तथा मखमली होता है. यह संगमरमर के रंग जैसी वसा से ढका रहता है. ताजे गोमांस में एक हल्की विशिष्ट गंध होती है. वृद्ध तथा निम्नकोटि के पशुओं से प्राप्त मांस बहुधा गाढ़े रंग का रुक्ष रेशेवाला तथा शुष्क होता है और इसकी वसा अपेक्षाकृत अधिक पीली होती है.

भैंस का मांस गोमांस की अपेक्षा अधिक लालाभ भूरे रंग का तथा कम और मोटे रेशे वाला होता है. विरले ही उपभोक्ता भैंस के मांस तथा बीफ (गोमांस) में पहचान कर पाते हैं. भैंस के मांस तथा वसा की गंध कस्तूरी की गंध जैसी होती है तथा बीफ की वसा की अपेक्षा अधिक श्वेत, शुष्क तथा कम चिपचिपी होती है.

मटन हल्के से लेकर ईंटिया-लाल रंग का चमकीला तथा झिलमिलाता हुआ होता है. इसमें मध्यम सुदृढ़ता, गाढ़ापन लिये हुये श्वेत, कठोर और स्वच्छ वसा होती है, जो अधिक मात्रा में त्वचा के नीचे की पेशियों तथा गुर्दों के चारों ओर पायी जाती है. वसा गंधहीन और चर्बी की तरह होती है जो शीघ्र जम कर खस्ता और सुदृढ़ हो जाती है (IS : 887–1968). मटन के टुकड़े छोटे होते हैं तथा बिना चरबी का मांस श्वेत, भुरभुरा और पपड़ीदार वसायुक्त चमकीला गुलाबी होता है.

बकरी के मांस तथा मटन को एक दूसरे की उपस्थिति में पहचान पाना कठिन होता है. परन्तु बकरी का मांस गहरे रंग का, लक्षणिक गन्धयुक्त तथा अपेक्षाकृत स्थूल गठन का होना है तथा हो सकता है कि इसकी सतह पर बाल चिपके रहें. इसमें वसा कम

होती है और उसका रंग पीताभ होता है तथा मटन वसा की तरह यह जमकर सुदृढ़ नहीं होती है.

पॉर्क का रंग पशु की आयु तथा उसकी पोषण परिस्थितियों और शरीर के जिस भाग का गोश्त है उसके अनुसार बदलता रहता है. कभी-कभी एक ही लाश में फीके तथा गाढ़े दोनों रंग की पेशियाँ देखी गयी हैं. यह गोश्त सुदृढ़ तथा सूक्ष्म दानों वाला, संगमरमरी तथा हल्की लाल आभा लिये हुये धूसर-गुलाबी रंग का होता है. इसकी वसा बिलकुल श्वेत तथा बीफ और मटन की अपेक्षा अधिक तेलयुक्त और चर्बीदार होती है. गोश्त की त्वचा जितनी सुदृढ़, चिकनी तथा बिना शिकन वाली होगी पॉर्क उतना ही अच्छी किस्म का होगा.

भारतीय मानक संस्थान ने बीफ तथा भैंस के गोश्त के लिये (IS : 2537–1963), मटन तथा बकरे-बकरी के मांस के लिये (IS : 2536–1963) तथा पॉर्क और सुअर के गोश्त के लिये (क्रमश: IS : 1723–1960 : 2476–1963) विनिर्देशन निर्धारित किये हैं. लाश के जिन विभिन्न गुणों के आधार पर मांस का श्रेणी-निर्धारण किया जाता है वे हैं : रचना (सामान्य बनावट, लाश अथवा टुकड़ों की रूपरेखा), परिसज्जा (वसा की किस्म, मात्रा, रंग तथा वितरण) तथा गुणता (मोटाई, सुदृढ़ता और रेशों तथा संयोजी ऊतकों की मजबूती). लाश के भार (35–45 किग्रा. और 45–55 किग्रा.) के अनुसार पॉर्क को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है.

ऊँट का मांस स्थूल दानेदार, मोटा और घटिया मिठास लिये हुये होता है. इसमें जल 80% तथा बहुत कम मात्रा में वसा पायी जाती है किन्तु ग्लाइकोजन विद्यमान रहता है.

परिरक्षण तथा संसाधन

मांस बहुत जल्दी खराब हो जाता है अतः समुचित संसाधन तथा संग्रहण के द्वारा ही इसे ताजा रखा जा सकता है. खराब हो जाने पर मांस लसदार या चिपचिपा और गहरे भूरे रंग का हो जाता है तथा इसकी गंध और स्वाद अप्रिय लगने लगते हैं. जब पशु का वध किया जाता है तो उसमें शव-काठिन्य (पेशियों का कठोरीकरण तथा संकुचन) आ जाता है; साथ ही उसमें लैक्टिक अम्ल और अन्य अम्ल (ग्लाइकोजन ऊतकों से) उत्पन्न होने लगते हैं और ऊष्मा निकलती है. 24 घण्टों में इस क्रिया के अधिकतम सीमा पर पहुँचने के पश्चात् शव-काठिन्य में धीरे-धीरे उतार आने लगता है तथा पेशियाँ पुनः कोमल और ढीली हो जाती हैं. शव-काठिन्य के पश्चात् जो परिवर्तन होते हैं वे प्रशीतन ताप पर मन्द हो जाते हैं.

जिन विभिन्न कारणों से मांस खराब होता है उनमें सूक्ष्म-जीव, वायु, प्रकाश तथा एंजाइम हैं, जिनमे से सूक्ष्म-जीव प्रमुख हैं. मांस में उपस्थित अधिसंख्यक जीवाणुओं के कारण उसका स्वाद घटिया होने लगता है, रंग उड़ने लगता है तथा अन्त में अपघटन हो जाता है. फफूँदियों के विकास के फलस्वरूप मांस में इनकी आपत्तिजनक वृद्धि दिखायी पड़ती है तथा ये अवांछित गंध और गन्ध-स्वाद उत्पन्न करती हैं. वायु के प्रभाव से मांस में रंगहीनता, वसीय ऊतकों में विकृतगंधिता तथा निर्जलीकरण हो जाता है. प्रकाश में खुला रखने पर मांस के वर्णक फीके पड़ जाते हैं, विकृतगंधिता बढ़ती है, साथ ही साथ मांस ऊतकों में उपस्थित एंजाइम जल-अपघटनीय परिवर्तन लाते हैं.

प्रशीतन तथा हिमीकरण, संसाधन, धूमन, निर्जलीकरण, डिब्बाबन्दी तथा किरणन जैसी कई विधियों का प्रयोग करके मांस का परिरक्षण किया जाता है. भारत में व्यापारिक मात्रा में मांस का परिरक्षण नहीं किया जाता यद्यपि विकसित देशों में इसे व्यापक पैमाने पर अपनाया जाता है. कुछ स्थानों पर केवल पॉर्क को हैम, बेकन तथा गुलमा जैसे विभिन्न उत्पादों के रूप में परिरक्षित तथा संसाधित किया जाता है.

प्रशीतन तथा हिमीकरण – भारत में अधिकतर कच्चे मांस को ताजा ही बेच दिया जाता है और सामान्यतः अधिक मात्रा में इसका भंडारन नहीं किया जाता, जबकि पश्चिमी देशों में मांस तथा उसके उत्पादों को लम्बी अवधि तक संचयन के लिये शीतित भंडार व्यापक मात्रा में उपलब्ध हैं. ग्रीष्म ऋतु में कभी-कभी मांस को बरफ में 12–36 घंटे तक संचित किया जाता है. केवल बड़े-बड़े नगरों में ही यांत्रिक प्रशीतन की सहायता ली जाती है. प्रशीतन के फलस्वरूप लाश की ऊष्मा शीघ्रता से कम हो जाती है और इससे शव-काठिन्य क्रिया मन्द पड़ जाती है तथा उसमें अनुकूलतम परिरक्षक गुण आ जाते हैं.

मांस के हिमांक (–2.2°) से ऊपर द्रुतशीतन तापों पर उसके संचय को 'प्रशीतन संचयन' तथा हिमांक से निम्न तापों पर संचयन को 'हिमीकृत संचयन' कहा जाता है. –1.0° से +1.5° ताप तथा 88–92% आपेक्षिक आर्द्रता लाशों के द्रुतशीतन की अनुकूलतम परिस्थितियाँ हैं. मांस को लम्बी अवधि तक संचित करने के लिये हिमीकृत संचयन का प्रयोग किया जाता है और इसके लिये –23° से –18° उपयुक्त ताप है. मांस को सम्पूर्ण लाश के रूप में तथा बड़े अथवा उपभोक्ताओं के लिये काटे गये छोटे टुकड़ों के रूप में संचित किया जा सकता है. हिमीकरण करने के पूर्व इसे रेशेदार गत्तों में लपेट कर अथवा लकड़ी के बक्सों में रखकर पैक कर दिया जाता है. ब्लास्ट-हिमीकरण तथा पट्टिका-हिमीकरण दो ही विधियाँ आजकल व्यापारिक स्तर पर हिमीकरण के लिये अपनायी जा रही हैं. पहली विधि का उपयोग बीफ के टुकड़ों तथा छोटी लाशों जैसी अनियमित आकृति वाली वस्तुओं के लिये किया जाता है तथा नियमित आकार की वस्तुयें दूसरी विधि द्वारा हिमीकृत की जाती हैं. इन दोनों विधियों द्वारा पदार्थों का हिमीकरण शीघ्रता से हो जाता है तथा ये विधियाँ प्रशीतित मांस का वायु में –10° से –15° पर मन्द गति से हिमीकरण करने से अच्छी हैं क्योंकि पिघलने पर विलेय पोषक तत्वों के टपक कर बह जाने से होने वाली हानि तथा उपभोक्ता द्वारा की जाने वाली आपत्तियाँ, तीव्र-हिमीकृत मांस में बहुत कम होती हैं. हिमीकृत मांस तथा मांस उत्पादों को –18° पर निम्नलिखित अवधियों तक संचित किया जा सकता है : बीफ, 6–18; मेमना, 6–16; बछड़े का मांस, 4–14; पॉर्क, 4–12; कटलेट बीफ, 4–6; पॉर्क गुलमा, 2–6; धूमित हैम तथा बेकन, 4 और बीफ यकृत, 2–4 माह.

संसाधन – मांस पकाने के लिये सामान्यतः चार विधियों का प्रयोग किया जाता है. ये हैं : मीठा-अचार बनाना, शुष्क लवण संसाधन, शुष्क-संसाधन तथा अन्तःक्षेपण संसाधन.

हैम तथा इसके टुकड़ों का अधिकतर मीठा-अचार संसाधित किया जाता है जिसके अन्तर्गत मांस को लवण, लवण-जल, शर्करा अथवा अन्य मिठास देने वाले पदार्थों तथा थोड़े से सोडियम नाइट्रेट के साथ मिश्रित करके बड़ी-बड़ी जलरोधी टंकियों में रखकर 2–4.5° ताप पर 15–45 दिनों के लिये छोड़ दिया जाता है.

लवण तो ऊतकों में से जल निकाल कर उन्हें कठोर तथा शुष्क बना देता है, किन्तु शर्करा उन्हें मुलायम बनाती है तथा लवणों की रुक्षता को उदासीन करके उत्पाद के स्वाद में सुधार लाती है. सोडियम नाइट्रेट मांस के आकर्षक लाल अथवा गुलाबी रंग को बनाये रखने में सहायक है.

शुष्क-लवण विधि में लवण को मांस के ऊपर रगड़कर तथा चारों तरफ नमक रखकर इसका चट्टा लगा दिया जाता है. इसका प्रयोग बड़े तथा भारी टुकड़ों के परिरक्षण के लिये किया जाता है.

शुष्क-संसाधन जो बेकन के परिरक्षण के लिये व्यवहृत किया जाता है, लवण, शर्करा और सोडियम नाइट्रेट को मांस की परतों के बीच में छिड़क कर उसे बिना दबाये जलरोधी बर्तनों में पैक कर दिया जाता है. मिश्रण में निकलने वाले रस के द्वारा ही मांस स्वयं धीरे-धीरे पक जाता है.

अन्तःक्षेपण अथवा "धमनीय" विधि में संसाधन के लिये प्रयुक्त अवयवों के विलयन को खोखली सुइयों में भरकर, पुट्ठों तथा कंधों की खुली हुयी धमनियों में डालकर दाब द्वारा प्रवेश करा दिया जाता है. इस विधि से संसाधन करने में बहुत कम समय लगता है.

मांस तथा उसके उत्पादों के परिरक्षण के लिये प्रयुक्त एवं मान्य कुछ प्रमुख योगशील पदार्थ, ऐस्कार्बिक अम्ल, आइसो-ऐस्कार्बिक अम्ल तथा उसके लवण, ब्यूटिलीकृत हाइड्रॉक्सी एनिसोल, अमोनियम हाइड्रॉक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक, लैक्टिक, फॉस्फोरिक तथा टार्टरिक अम्ल, स्टीऐरिल सिट्रेट, क्लोरटेट्रासाइक्लिन, ऑक्सीटेट्रा-साइक्लिन इत्यादि हैं. ओज़ोन तथा कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और कुछ रंजक पदार्थ भी योगशील पदार्थों के रूप में प्रयोग किये जाते हैं.

धूमन – हैम तथा बेकन जैसे मांसों को संसाधन के साथ-साथ धूमित भी किया जाता है. संसाधित टुकड़े धूमन के पहले जल का छिड़काव करके धो लिये जाते हैं. मांस का धूमन न केवल परि-रक्षी का कार्य करता है वरन् प्रशीतन के बिना ही उत्पादों के संचयन गुणों में सुधार भी करता है और उत्पादों को विशिष्ट स्वाद भी प्रदान करता है. धूमन-गृहों में गैस बर्नरों अथवा लकड़ी के धुयें द्वारा ऊष्मा पहुँचाकर धूमन किया जाता है. धूमन ताप सामान्यतः 46° के नीचे ही रखा जाता है. धूमन अवधि तथा ताप, उत्पाद के अनुसार बदलते रहते हैं. बेकन को सामान्यतया 55° ताप पर 18–24 घण्टे तक धूमित किया जाता है. संसाधित बेकन के धूमन से प्राप्त उत्पाद में एक विशिष्ट धुयेंदार गंध तथा हल्का और मीठा स्वाद होता है. भारतीय मानक संस्थान ने धूमित बेकन के विनिर्देशन दिये हैं (IS: 2475-1963). धूमित तथा संसाधित हैम का स्वाद मीठा और रुचिकर होता है.

धूप में सुखाना – द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश (विशेषकर आगरा जिले में) भैंस के मांस की छिपटियों को लवण तथा पोटैशियम नाइट्रेट से रंजित करके लगभग चार दिनों तक धूप में सुखाकर मांस (वर्मा मांस या बिल्टांग) की काफी मात्रा तैयार की जाती थी. बलूचिस्तान के कुछ भागों में दुम्बा मांस (मोटी पूँछवाली भेड़ों से प्राप्त) को हल्की आँच पर तब तक गरम करते हैं जब तक उसका रंग लाल न हो जाय, फिर टुकड़ों के ऊपर अर्गफोटिका की जड़ों तथा लवण का मिश्रण लगाकर उन्हें धूप में सुखा दिया जाता है.

निर्जलीकरण – मांस, विशेषतया बकरे के मांस, के निर्जलीकरण के लिये कई कारखाने स्थापित किये गये हैं. मांस की फाँकों को 10% लवण विलयन में तीन मिनट तक डुबोने के पश्चात् उन्हें ट्रे में फैलाकर 63–68° ताप वाली निर्जलीकारी सुरंगों में 8–10 घण्टे तक सुखाया जाता है. देखने में पत्रकों की तरह लगने वाली इन सूखी फाँकों में लवण लगाकर टिन के डिब्बों में पैक करके सील कर दिया जाता है. टिनों में एक छोटा-सा छेद करके उन्हें एक गरम कक्ष (71°) में 3 घण्टे तक रखने के पश्चात् छेद बन्द कर दिये जाते हैं. पशुवध करने से लेकर निर्जलीकरण तक के सम्पूर्ण प्रक्रम में 22 घण्टे लगते हैं. निर्जलीकृत मांस में कुछ कमियाँ रहती हैं अतः उपभोक्ता इसे कम पसंद करते हैं.

डिब्बाबन्दी – बिना प्रशीतन किये ही परिरक्षण के लिये मांस को सर्वप्रथम डिब्बों में बंद कर देते हैं जिससे जीवाणुनाशन के लिये उन्हें उच्च ताप पर काफी गरम करना पड़ता है. संयुक्त राज्य अमेरिका में कई प्रकार के मांस उत्पादों की डिब्बाबंदी की जाती है. डिब्बाबंदी किये जाने वाली वस्तुओं में बीफ के टुकड़े प्रमुख हैं. इसके अतिरिक्त हैम, पॉर्क (कंधा, कमर तथा अन्य टुकड़े), मटन इत्यादि की भी डिब्बाबंदी की जाती है. नवजात शिशु आहारों के लिये विशेष रूप से विभिन्न शाक-भाजियों और मांसयूष के साथ मिलाकर कई प्रकार के मांसों की डिब्बाबंदी की जाती है. जीवाणुओं के विनाश के लिये आवश्यक ताप और समय, उत्पाद की प्रकृति, उसके पी-एच मान, संसाधन के लिये प्रयुक्त लवणों की उपस्थिति तथा डिब्बों के आकार और रूप पर निर्भर करते हैं. कुछ उत्पादों को गरम अवस्था में ही डिब्बों में पैक कर दिया जाता है तथा अन्यों को ठण्डा ही. डिब्बों पर लेबल न लगाना पड़े, इसके लिये रोगन लगे अथवा बिना रोगन वाले या अश्ममुद्रित डिब्बों को काम में लाया जा सकता है. डिब्बाबंदी करने के पूर्व कभी-कभी मांस को पकाया या संसाधित किया जाता है जिससे इसे डिब्बे में इस प्रकार भरा जा सके कि डिब्बे में भरी वस्तुयें भली-भाँति दिखायी पड़ें. प्राथमिक पक्वन के पश्चात् मांस से वसा, उपास्थियों, अस्थियों इत्यादि को अलग करके और यदि आवश्यकता हुयी तो इसे छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर डिब्बों में बंद और निर्वात अवस्था में सील करके विसंक्रमित कर दिया जाता है. भारतीय मानक संस्थान ने डिब्बाबन्द मटन तथा बकरे के मांस के लिये विनिर्देशन प्रस्तुत किये हैं (IS : 3044–1965).

किरणन – किरणन द्वारा मांस का प्रतिरक्षण सर्वथा नवीन विधि है. किरणन की दो तरह की विधियाँ ज्ञात हैं : अन-आयन-कारी (सूक्ष्म-तरंगों, अवरक्त तथा पराबैंगनी विकिरणों का प्रयोग) तथा आयनकारी (कैथोड तथा गामा विकिरणों का प्रयोग). प्रथम विधि में विकिरणों की वेधक क्षमता कम होने से वसा में ऑक्सीकारी विकृतगंधिता उत्प्रेरित होती है और मांस के रंजक पदार्थ विरंजित होने लगते हैं. इनका जीवाणुनाशी प्रभाव केवल 2600 Å के विकिरणों द्वारा ही होता है. दूसरी विकिरणन विधि को 'शीत-जीवाणुनाशन' विधि भी कहा जाता है. इसमें किसी प्रकार की ऊष्मा उत्पन्न हुये बिना ही सूक्ष्म जीव मर जाते हैं परन्तु इससे वसा में क्षय तथा विकिरण के कारण अरुचिकर गंध आ जाती है. जीवाणुनाशन के लिये विकिरण की जितनी मात्रा प्रयुक्त होती है उसकी अपेक्षा प्रशीतन, प्रतिजैविकों तथा रसायनों के साथ कम ही मात्रा में विकिरण अधिक व्यावहारिक बनाये जाते हैं.

उपयोग तथा संघटन

उपयोग

रसोई में पकाने जैसे उपयुक्त उपचार के बाद मांस में एक रुचिकर स्वाद-गंध आ जाती है जिससे आमाशयी स्रावों का उद्दीपन होता है और वह सुगमता से पच भी जाता है. मांस के पतले खण्डों को शुष्क ऊष्मा द्वारा और मोटे खण्डों को नमी की उपस्थिति में गरम करके पकाते हैं. न्यून ताप पर पकाने में समय अधिक लगता है, पकाते समय छीजन भी कम होता है और जो उत्पाद मिलता है वह रसदार होता है. मांस को उच्च ताप की अपेक्षा न्यून ताप पर पकाने से उसका रंग भूरा नहीं पड़ता. मांस को सामान्यत: प्याज, हरे पदार्थ तथा मसालों के द्वारा संसाधित करके कई प्रकार से खाया जाता है. इसका उपयोग पुलाव बनाने (चावल के साथ पकाये जाने पर) तथा भून कर और तल कर, टिक्की, कटलेट जैसे व्यंजन तैयार करने के लिये भी किया जाता है. यह शोरबा, कढ़ी और सैंडविच बनाने में भी प्रयुक्त होता है. भारतीय मानक संस्थान ने कढ़ीयुक्त मांस तथा बकरे के मांस के लिये विनिर्देशन तैयार किये हैं (IS: 3044–1965). कीमा से कोफ्ता, कबाब, दम तथा पट्टी इत्यादि बनाये जाते हैं.

भारत में उत्पादित मांस को अधिकतर ताजा पकाकर खाने के लिये व्यवहार में लाया जाता है. केवल पॉर्क, मटन और बीफ की थोड़ी मात्रायें विभिन्न प्रकार के उत्पादों के रूप में संसाधित तथा प्रतिरक्षित की जाती हैं. उपर्युक्त खण्ड तथा जोड़ केवल वहाँ-वहाँ पर मिल सकते हैं जहाँ-जहाँ की अधिकांश जनसंख्या पाश्चात्य विधि से तैयार मांस, यथा भुना मांस, चाप, टिक्की आदि अधिक पसन्द करती है. बीफ, मटन तथा बकरे का मांस अधिकतर स्थानों पर वैसे ही बेचा जाता है. लाश को पहले प्रमुख अंगों के अनुसार, फिर खाद्य अंशों के अनुसार काट कर ढेरों में मिश्रित करके सिझाते और पकाते हैं.

उपलब्ध आँकड़े बताते हैं कि मांस का उपभोग ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरों में अधिक होता है. भारत की अधिकांश जनसंख्या भावनात्मक तथा कुछ अन्य विचारों के कारण गोमांस (बीफ) नहीं खाती. पॉर्क को यूरोप तथा अमेरिका में अत्यन्त सुस्वादु भोजन माना जाता है फिर भी भारत में अभी तक प्रचलित नहीं हो सका है.

भारत में 1960–61 में मांस का अनुमानित उत्पादन इस प्रकार था : बकरे का मांस, 35.5; मटन, 17.3; भैंस का मांस, 14.3; बीफ, 9.4; पॉर्क, 4.7; ग्रंथियाँ, 5.6, सिर और पैर, 13.2%. फिर भी जितना मांस उपलब्ध है उससे केवल 20% माँग ही पूरी हो जाती है.

संघटन

मांस उच्च कोटिक तथा शीघ्र पाच्य प्रोटीनों, वसा, फॉस्फोरस, लोहा, विटामिन ए तथा बी–विटामिनों का अच्छा स्रोत है. इसमें पाये जाने वाले विशिष्ट पोषक तत्वों की अपेक्षित मात्रा यथेष्ट संतुलित रहती है. मांस के छिछड़ों में (पशुओं के यकृत, गुर्दा, हृदय तथा जिह्वा में) प्रोटीनों तथा विटामिनों की मात्रा विशेषतया अधिक होती है. यकृत के खण्डों में विटामिन ए विशेषतया अधिक होता है (सारणी 97).

सारणी 97 – विभिन्न प्रकार के मांसों के खाद्य भागों का संघटन*

	गोमांस-पेशी	भैंस का मांस (कन्धे की पट्टियाँ)	बकरे का मांस	बकरे का यकृत	बकरे की मांसपेशी	भेड़ का यकृत	सुअर की मांसपेशी
जल, %	74.3	78.7	74.2	76.3	71.5	70.4	77.4
प्रोटीन, %	22.6	19.4	21.4	20.0	18.5	19.3	18.7
वसा, %	2.6	0.9	3.6	3.0	13.3	7.5	4.4
कार्बोहाइड्रेट, %	...	...	...	...	...	1.3	...
खनिज, %	1.0	1.0	1.1	1.3	1.3	1.5	1.0
कैल्सियम, मिग्रा./100 ग्रा.	10	3	12	17	150	10	30
ऑक्सैलिक अम्ल, मिग्रा./100 ग्रा.	25	...	...	...	7	...	...
फॉस्फोरस, मिग्रा./100 ग्रा.	190	189	193	279	150	380	200
लोह, मिग्रा./100 ग्रा.	0.8	...	...	...	2.5	6.3	2.2
सोडियम, मिग्रा./100 ग्रा.	52	...	...	...	33	73	...
पोटैशियम, मिग्रा./100 ग्रा.	214	...	...	...	270	166	...
विटामिन ए, अं. इ./100 ग्रा.	60	...	...	...	31	22,300	0
थायमीन, मिग्रा./100 ग्रा.	0.15	...	...	...	0.18	0.36	0.54
राइबोफ्लेविन, मिग्रा./100 ग्रा.	0.04	...	...	...	0.27	1.70	0.09
निकोटिनिक अम्ल, मिग्रा./100 ग्रा.	6.4	...	...	...	6.8	17.6	2.8
विटामिन सी, मिग्रा./100 ग्रा.	2	...	...	...	...	20	2

*Nutritive Value of Indian Foods, 80–81, 115–16, 140.

पशु की जाति जिसमे मांस के टुकड़े काटे गये हों, वध के पूर्व पशु का चराने के कारण मोटापन, खांडा करने तथा कतरने और संसाधन विधियों के प्रत्यक्ष प्रभाव और उपभोग के समय प्रयुक्त पकाने की विधियों पर, मांस का संघटन निर्भर करता है. दुर्बल मांस में नमी और प्रोटीनों की मात्रा अधिक तथा स्थूल या अत्यन्त स्थूल मांस में प्रोटीन और नमी की मात्रा कम रहती है किन्तु वसा अधिक पायी जाती है. ताजे मांस के टुकड़ों के खाद्य भाग (1 सेंमी. मोटे वसा आवरण वाले मध्यम श्रेणी के खण्ड) तथा पतली पेशियों वाले मांस के संघटन के औसत मान क्रमशः इस प्रकार हैं : नमी, 62, 70; प्रोटीन, 17, 20; वसा, 20, 9; तथा राख 1, 1%; ऊष्मा मान, 250, 160 कै./100 ग्रा. विभिन्न मांसों के खाद्य भागों का संघटन सारणी 97 में और मांस के विशिष्ट खण्डों तथा उनके उत्पादों का अनुमानित संघटन सारणी 98 में प्रदर्शित है. विभिन्न अंगों के मांस तथा उनकी दुर्बल कटी हुयी पेशियों का संघटन एक-जैसा होता है.

बकरी के मांस तथा बकरी के मस्तिष्क, हृदय, यकृत, फेफड़ों

सारणी 98 – मांस के विशिष्ट खंड तथा मांस उत्पादों का संघटन*
(प्रति 100 ग्रा.)

मांस की किस्म	जल (ग्रा.)	प्रोटीन (ग्रा.)	वसा (ग्रा.)	राख (ग्रा.)	कैल्सियम (मिग्रा.)	फास्फोरस (मिग्रा.)	लोह (मिग्रा.)
गोमांस							
पसली	59.0	17.4	23.0	0.8	10	149	2.6
कमर	57.0	17.4	25.0	0.8	10	134	2.5
पृष्ठ भाग	55.0	16.2	28.0	0.8	9	131	2.4
आंतें	69.0	19.5	11.0	1.0	11	180	2.9
अग्रभाग	65.0	18.6	16.0	0.9	11	167	2.8
सुअर का मांस							
कमर या चाप	58.0	16.4	25.0	0.9	10	186	2.5
टांगें (ताजी)	53.0	15.2	31.0	0.8	9	168	2.3
मेमना							
चाप	51.9	14.9	32.4	0.8	9	138	2.2
टांग	63.7	18.0	17.5	0.9	10	213	2.7
कंधा	58.3	15.6	25.3	0.8	9	155	2.3
बछड़े का मांस							
कमर	69.0	19.2	11.0	1.0	11	207	2.9
आंतें	70.0	19.5	9.0	1.0	11	200	2.9
कंधा	70.0	19.4	10.0	1.0	11	199	2.9
अंगों का मांस (बीफ)							
मस्तिष्क	78.0	10.4	8.6	1.4	16	330	3.6
हृदय	77.0	16.9	3.7	1.1	9	203	4.6
गुर्दा	75.0	15.0	8.1	1.1	9	221	7.9
यकृत	70.0	20.0	3.5	1.4	7	358	6.6
जीभ	68.0	16.4	15.0	0.9	8	199	6.9
मांस उत्पाद							
गोमांस का कीमा	55.0	16.0	28.0	0.8	9	128	2.4
सूखा गोमांस	48.0	34.3	6.3	11.6	20	404	5.1
संसाधित गोमांस	54.2	15.8	25.0	5.0	9	125	2.4
टांगें (संसाधित एवं धूमित)	42.0	16.9	35.0	5.4	10	136	2.5
सुअर की पीठ और टांगें (संसाधित)	20.0	9.1	65.0	4.3	13	108	0.8
सुअर का गुलमा (ताजा)	41.9	10.8	44.8	2.1	6	100	1.6
सुअर या गोमांस का गुलमा (संसाधित)	60.0	14.2	20.5	2.7	8	100	1.5
कीमा (संसाधित)	62.0	14.8	15.9	3.3	9	112	2.2

सारणी 99 – कुछ पशु ऊतकों एवं उनके छिछड़ों के प्रोटीनों का ऐमीनो अम्ल संघटन*
(ग्रा./16 ग्रा. नाइट्रोजन)

ऐमीनो अम्ल	यकृत	गुर्दा	मतिष्क	केरोटिन	मांस की चर्बी का खाद	मांस की छोजन	सम्पूर्ण वीफ रक्त**	रक्त-चूर्ण
आर्जिनीन	6.6	6.3	6.6	10.7	5.9	7.0	4.2	3.7
हिस्टिडीन	3.1	2.7	2.8	1.0	2.7	2.0	5.9	4.9
लाइसीन	6.7	5.5	6.5	3.2	7.2	7.0	8.0	8.8
टाइरोसीन	4.6	4.8	4.1	5.1	2.9	3.2	3.8	3.7
ट्रिप्टोफेन	1.4	1.7	1.6	1.4	0.7	0.7	1.5	1.3
फेनिल ऐलानीन	6.1	5.5	5.8	3.7	5.1	4.5	6.2	7.3
सिस्टीन	1.4	1.5	1.8	10-17	...	1.0	1.8	1.8
मेथियोनीन	3.2	2.7	3.0	1.0	...	2.0	1.5	1.5
थ्रिओनीन	4.8	4.6	5.8	7.2	3.0	4.0	6.6	6.5
ल्यूसीन	8.4	8.0	7.4	10.0	7.7	8.0	15-20	12.2
आइसोल्यूसीन	5.6	5.6	5.1	5.0	2.7	6.3	2.0	1.1
वैलीन	6.2	5.3	4.8	6.0	5.4	5.8	5-6	7.7

*Block & Mitchell, *Nutr. Abstr. Rev.*, 1946-47, 16, 249; **Kuppuswamy *et al.*, 158-59.

और गुर्दों के समान् वकरी के मांस के छिछड़े, जिनका भारत में प्रचुर माता में उपयोग होता है, उनके संघटन के औसत मान सारणी 100 में दिये गये हैं.

नाइट्रोजनी अवयव

चाहे जिस जाति के स्तनी पशु हों उनके पेशी ऊतकों में 21–22% प्रोटीन (शुष्क भार के आधार पर 73–88%) पाया जाता है. वीफ के विभिन्न अंगों में प्रोटीन की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है. मस्तिष्क अंग में 10.6 तथा यकृत में 23.7% प्रोटीन रहता है.

मांस के प्रमुख प्रोटीनों को पेशी प्रोटीन, संयोगी ऊतक प्रोटीन तथा रक्त प्रोटीन में वर्गीकृत किया जा सकता है. पेशी प्रोटीनों में ग्लोबुलिन जटिल ऐक्टोमायोसिन अधिक मात्रा में पाया जाता है जो पेशियों के संकुची गुणधर्मों का नियामक है. इसमें ऐक्टिन तथा मायोसिन दो प्रकार के प्रोटीन सन्निहित रहते हैं. कुल पेशी प्रोटीनों में मायोसिन (अणुभार, 8,50,000) 38% तथा ऐक्टिन 13% पाया जाता है. ऐक्टिन दो रूपों में रहता है : जी-ऐक्टिन नामक एकलक रूप तथा एफ-ऐक्टिन (रेशेदार) बहुलक रूप. पेशी ऊतकों में थोड़ी माता कोलैजेन रेटिकुलिन तथा इलैस्टिन की भी पायी जाती है जिनमें संयोगी ऊतक प्रोटीन, श्वसन रंगद्रव्य मायोग्लोबिन, न्यूक्लियो प्रोटीन, एंजाइम तथा अन्य प्रोटीन यौगिक उपस्थित रहते हैं. कोलैजेन त्वचा तथा नसों, अस्थियों और संयोगी ऊतकों के त्वचीय भाग के प्रमुख संघटक है और इलैस्टिन स्नायुओं का मुख्य घटक हैं. केराटिन ऐसे प्रोटीन हैं जो बालों, सींगों तथा खुरों में पाये जाते हैं.

मांस, प्रोटीन, लाइसीन तथा मेथियोनीन के अच्छे स्रोत हैं. चाहे जिस पशु जाति, खण्ड अथवा अंग से प्राप्त किया जाय, मांस प्रोटीनों के निर्मायक ऐमीनो अम्लों की माता बिलकुल स्थिर होती है. फिर भी, जिस प्रोटीन में संयोगी ऊतकों की माता अधिक हो, उनमें प्रोलीन, हाइड्रॉक्सी-प्रोलीन तथा ग्लाइसीन की अधिकता रहती है तथा ट्रिप्टोफेन और टायरोसीन की न्यूनता रहती है. विभिन्न प्रकार के प्रोटीनों का ऐमीनो अम्ल संघटन सारणी 101 में दिया गया है. तुलनार्थ चूजों की पेशियों, अण्डों तथा दूध के प्रोटीनों के मान भी साथ-साथ दिये हुये हैं. वीफ प्रोटीनों में सिस्टीन की न्यूनता रहती है तथा घोड़े के मांस के प्रोटीनों में से ट्रिप्टोफेन न्यून होता है. पशु ऊतकों तथा मांस के छिछड़ों के प्रोटीनों का ऐमीनो अम्ल संघटन सारणी 99 में प्रदर्शित है.

मांस के प्रायः सम्पूर्ण प्रोटीन पचनीय (98–100%) होते हैं, उनका जैविक मान भी अधिक होता है. विभिन्न स्तरों में गृहीत मांस तथा मांस उत्पादों के प्रोटीनों के सुपाच्यता गुणांक तथा जैविक मान सारणी 102 में दिये गये हैं. खोजों से यह पता चला है कि पूरक प्रोटीनों के बिना केवल मांस प्रोटीनों की पर्याप्त माता देते रहने से जीवों की समस्त दैहिक क्रियायें तथा सामान्य वृद्धि सुचारु रूप से चलते रहते हैं. अध्ययनों से यह भी पता चला है कि वृद्धि के लिये वीफ प्रोटीन, मत्स्य प्रोटीन के समान अनुकूल है. वीफ प्रोटीन, यद्यपि सम्पूर्ण अण्डे के प्रोटीनों से कुछ घटिया है, परन्तु केसीन, गेहूँ के ग्लुटेन तथा मूंगफली के प्रोटीनों से उत्तमतर होता है. मटर, अण्डा तथा खाद्यान्न प्रोटीनों के लिये मांस प्रोटीन पूरक के रूप में महत्व रखता है.

संसाधन, पकायी, डिब्बाबन्दी, हिमीकरण, निर्जलीकरण, किरणन तथा प्रतिजैविकी जैसी अभिक्रियाओं के द्वारा मांस प्रोटीनों के पोषण मानों पर पड़ने वाले प्रभावों का व्यापक अध्ययन किया गया है. व्यापारिक स्तर पर संसाधन तथा मांस उत्पादन के लिये प्रयुक्त विधियाँ सामान्यतया उसके पोषण मानों को प्रभावित नहीं करतीं. डिब्बाबन्दी के लिये ऊष्मा-संसाधन का ऐमीनो अम्लों की माता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, फिर भी अत्यधिक ऊष्मा-संसाधन नहीं करना चाहिये, यदि निम्न तापों पर मांस का निर्जलीकरण प्रभाव नहीं पड़ता.

सारणी 100 – विहार तया उत्तर प्रदेश से प्राप्त वकरे के मांस तया उसके छिछड़े का औसत संघटन*

	मांस	हृदय	यकृत	फेंफड़ा	गुर्दा	मस्तिष्क
जल, %	74.6–77.6	76.8–79.6	64.6–74.3	77.8–79.7	77.6–79.7	73.8–77.1
वसा, %	1.0–2.8	3.3–5.8	3.2–13.8	1.5–2.7	1.8–3.1	9.3–11.0
प्रोटीन, %	18.8–20.1	14.6–17.2	18.5–21.3	14.6–17.3	15.5–16.6	9.6–12.5
खनिज पदार्थ, %	0.66–1.15	0.72–0.97	0.98–1.70	1.10–1.46	0.95–1.41	0.76–1.57
कैलोरी मान, कै./100 ग्रा.	90–108	93–120	108–205	79–95	82–98	135–152
कुल लोहा, मिग्रा./100 ग्रा.	6.6–12.0	13.7–15.8	18.7–39.1	16.7–21.8	13.3–21.1	6.4–10.2
आयननीय लोहा, मिग्रा./100 ग्रा.	1.05–1.27	1.55–1.66	1.8–1.95	1.02–1.12	2.3–2.59	0.43–0.53
कैल्सियम, मिग्रा./100 ग्रा.	10.2–23.0	6.9–25.1	7.0–21.6	8.6–18.3	10.9–34.4	9.1–26.0
फॉस्फोरस, मिग्रा./100 ग्रा.	190–270	170–270	250–400	200–250	230–380	210–380
थायमीन, माग्रा./100 ग्रा.	63.6–148.4	...	...	...	...	...
निकोटिनिक अम्ल, मिग्रा./100 ग्रा.	0.43–0.98	...	...	...	...	...
ऐस्कार्विक अम्ल, मिग्रा./100 ग्रा.	...	...	8.78–9.90	8.80–9.89	...	10.12–10.61

*Sen Gupta, *J. Indian chem. Soc., industr. Edn*, 1951, **14**, 134.

सारणी 101 – विभिन्न मांस प्रोटीनों का ऐमीनो अम्ल संघटन

(कच्चे प्रोटीन का % मान)

ऐमीनो अम्ल	गोजातीय[1] मांस	सुअर का[1] मांस	मेमना[1] का मांस	घोड़े का[2] मांस	संसाधित[1] मांस	संयोजी ऊतक (कोलैजन)[1]	चूजों की पेशियाँ[2]	सम्पूर्ण अण्डे का प्रोटीन[2]	गाय के सम्पूर्ण दूध का प्रोटीन[2]
आर्जिनीन	6.6	6.4	6.9	6.3	6.6	7.6	7.1	6.4	4.3
हिस्टिडीन	2.9	3.2	2.7	3.6	2.8	0.7	2.3	2.1	2.6
आइसोल्यूसीन	5.1	4.9	4.8	6.3	4.9	1.9	...	8.0	8.5
ल्यूसीन	8.4	7.5	7.4	8.0	7.4	3.6	...	9.2	11.3
लाइसीन	8.4	7.8	7.6	8.7	7.4	4.0	8.4	7.2	7.5
मेथियोनीन	2.3	2.5	2.3	3.2	2.2	0.7	3.2	4.1	3.4
फेनिल ऐलानीन	4.0	4.1	3.9	5.9	4.0	3.6	4.6	6.3	5.7
थ्रियोनीन	4.0	5.1	4.9	4.4	3.9	2.0	4.7	4.9	4.5
ट्रिप्टोफेन	1.1	1.4	1.3	1.5	1.0	0.0	1.2	1.5	1.6
वैलीन	5.7	5.0	5.0	5.8	5.2	0.9	...	7.3	8.4
ऐलानीन	6.4	6.3	6.3	...	6.4	...	...	...	...
ऐस्पार्टिक अम्ल	8.8	8.9	8.5	...	9.1	...	...	...	...
सिस्टीन	1.4	1.3	1.3	1.0	1.5	...	1.3	2.4	1.0
ग्लूटैमिक अम्ल	14.4	14.5	14.4	...	12.9	...	...	...	...
ग्लाइसीन	7.1	6.1	6.7	...	8.0	...	...	2.2	2.3
प्रोलीन	5.4	4.6	4.8	...	5.2	...	...	...	...
सेरीन	3.8	4.0	3.9	...	4.2	...	...	...	...
टाइरोसीन	3.2	3.0	3.2	3.9	2.9	1.1	4.3	4.5	5.3

[1]Science of Meat and Meat Products, 198; [2]Block & Mitchell, *Nutr. Abstr. Rev.*, 1946-47, 16, 249.

सारणी 102 – मांस प्रोटीनों के पोषण मान*

मांस की किस्म	पोषण स्तर (%)	जैविक सुपाच्यता मान (%)	गुणांक (%)
ताजा मांस			
गोजातीय			
सम्पूर्ण	...	68.0	97.6
आँतें	10	78.1	99.6
पसली	10	78.0	98.0
टिक्की	...	84.0†	97.0†
सुअर का मांस			
खस्सी	...	74.0	100.0
कमर	10	79.0	100.0
संसाधित मांस			
गोजातीय			
शुष्कित	10	68.6	97.3
निर्जलीकृत	10	...	97.1
उबाला हुआ	7	60.0	98.6
आटोक्लेवित	...	59.0	98.5
भूना हुआ	...	76.9	98.9
शुष्कित तथा वसा निकाला हुआ व्यापारिक	2-5	69.4	99.0
बकरे का शुष्कित मांस	10	60.4	95.2
भैंस का शुष्कित मांस	10	59.5	94.7
निर्जलीकृत सुअर का मांस	10	...	98.2
ग्रंथियाँ तथा छिछड़े			
गोजातीय			
हृदय	10	74.0	100.0
गुर्दा	10	77.0	99.0
यकृत	10	77.0	98.0
शुष्कित यकृत	5	57.0	88.0
जिलैटिन	10	25.0	96.0

*Kuppuswamy *et al.*, 152-54.

† मानवीय उपापचय प्रयोगों द्वारा निर्धारित.

मांस के समस्त नाइट्रोजन का 8–14% अप्रोटीन नाइट्रोजन के रूप में रहता है. मांस में उपस्थित अप्रोटीन नाइट्रोजनी पदार्थों में मुक्त ऐमीनो अम्ल, ग्लूटाथायोन, क्रिएटीन, प्यूरीन तथा कार्नोसीन क्षारक, यूरिया और फ्लेविन सम्मिलित हैं.

कार्बोहाइड्रेट – ताजे पेशी मांसों में अनिवार्यतः कार्बोहाइड्रेट ($<1\%$) नहीं रहता. कई अंगों के मांसों में ग्लाइकोजन तथा ग्लूकोस (4% तक) की कुछ मात्रा पायी जाती है.

खनिज अवयव – मांस लोह का अच्छा स्रोत है और यह यकृत, जीभ तथा गुर्दे में अधिक मात्रा में पाया जाता है. मांस फॉस्फोरस का भी अच्छा स्रोत है परन्तु इसमें कैल्सियम नहीं रहता. विभिन्न अंगों के मांसों में खनिजों की मात्रा पेशी मांसों की अपेक्षा अधिक रहती है. कुछ मांसों तथा मांस उत्पादों में खनिज अवयवों की मात्राओं का संकलन सारणी 103 में दिया गया है. मांस में उपस्थित सूक्ष्म-मात्रिक तत्वों में ऐलुमिनियम, मैंगनीज़, तांबा, जस्ता, सीसा, टिन, कोबाल्ट और आयोडीन (बीफ में 0.03–0.04 तथा बछड़े के मांस में 0.025–0.038 मिग्रा./किग्रा.) रहते हैं. पकाने तथा संसाधन करने से मांस की खनिज मात्रा एवं उनकी उपलब्धि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता.

विटामिन – मांस बी-विटामिनों का उत्तम स्रोत है. सुअर जैसे मांसदायी पशुओं के आहार में उपस्थित विटामिनों का प्रभाव उनसे प्राप्त मांस की विटामिन मात्रा पर पड़ता है परन्तु रोमन्थी पशुओं में ऐसा नहीं होता क्योंकि उनके प्रथम आमाशय में बी-विटामिनों का संश्लेषण होता है. किसी विशिष्ट जाति के पशुओं के मांस के विभिन्न खण्डों में बी-विटामिनों की मात्रा में अधिक अन्तर नहीं रहता किन्तु जाति बदलने पर मात्रायें बदलती रहती हैं. पॉर्क के ताजे खण्डों में अन्य लाल मांसों की अपेक्षा कई गुना थायमीन होता है. एक ही जाति के पशु के विभिन्न अंगों के मांसों में विटामिन की मात्रायें अलग-अलग होती हैं किन्तु विभिन्न पशुओं के किसी एक विशेष अंग के मांस में विटामिनों की मात्रा समान होती है. विभिन्न ताजे कटे अंगों के मांसों की विटामिन मात्रायें सारणी 104 में प्रदर्शित की गयी हैं. बी-विटामिनों के अतिरिक्त अंग मांस विटामिन ए, डी, ई, तथा के, के भी अच्छे स्रोत हैं परन्तु पेशी मांसों में इन विटामिनों की मात्रा नगण्य होती है.

संसाधित तथा डिब्बाबन्द मांसों में थायमीन, राइबोफ्लैविन और निकोटिनिक अम्ल, विटामिनों की मात्रा, मांस के प्रकार तथा उत्पाद के ऊष्मा-संसाधन की मात्रा पर निर्भर करती है. संसाधन के फलस्वरूप थायमीन की आंशिक हानि के अतिरिक्त अधिकांश विटामिनों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता. मांस उत्पादों में अभिग्रहीत थायमीन की मात्रा, आयनकारी किरणनों द्वारा उपचारित मांस में 40% से लेकर हल्के संसाधन तथा धूमित उत्पादों में 85% तक होती है. संसाधित मांस उत्पादों का औसत थायमीन अभिग्रहण मान 75% होता है. डिब्बाबन्दी में थायमीन अभिग्रहण न्यूनतम रहता है. संसाधन तथा पकायी के समय राइबोफ्लैविन तथा निकोटिनिक अम्ल का विनाश अपेक्षाकृत कम होता है और उनकी हानि भी नगण्य होती है. आयनकारी किरणन द्वारा मांस का निर्जलीकरण करने पर 25% राइबोफ्लैविन नष्ट हो जाता है. यदि मांस में बी-विटामिनों का संरक्षण करना है तो यह आवश्यक होगा कि हिमीकृत मांस के हिमद्रावण तथा पकायी के समय बूंद-बूंद करके टपकने वाले द्रव को फेंका न जाय क्योंकि इसमें ताजे मांस में पहले से उपस्थित बी-विटामिनों का 10-15% अंश बना रहता है.

रंजक पदार्थ – मांस का रंग प्रदान करने वाला मायोग्लोबिन नामक रंजक पदार्थ विभिन्न रासायनिक रूपों में पाया जाता है. यह एक जटिल प्रोटीन है जिसका एक अंश प्रोटीन (ग्लोबिन) का तथा दूसरा पेप्टाइड-रहित अंश हीम का होता है जिसमें लोह का एक परमाणु और पारफिरिन रहते हैं. ताजे मांसों में उपस्थित मायोग्लोबिन तथा उसके ऑक्सीकृत रूपों के आपेक्षिक अनुपात के अनुसार ही उत्पाद का रंग गहरा बैंगनी अथवा चमकीला लाल निश्चित होता है. ताजे मांस में एक अज्ञात लाल रंजक पदार्थ भी पाया जाता है जो पकाने पर भूरा नहीं पड़ता. मांस के अन्य पेशी रंजक पदार्थों में साइटोक्रोम भी सूक्ष्म मात्रा में पाया जाता है.

एंजाइम – मांस में पाये जाने वाले एंजाइम पशुओं की वृद्धि तथा मांस के पक्वन के समय होने वाले परिवर्तनों में महत्वपूर्ण योगदान

सारणी 103 – मांस उत्पादों के खाद्य भागों में उपस्थित खनिज*

आहार	सोडियम	पौटैसियम	कैल्शियम	मैग्नीशियम	लोहा	ताँबा	फॉस्फोरस	गंधक	क्लोरीन	अम्ल संतुलन अणु तुल्यांक /100 ग्रा.
गोमांस, हिमीकृत, कच्चा	74	350	8.0	25.0	3.7	0.2	200	215	74	13.7
मस्तिष्क, बछड़े का, उबाला हुआ	147	270	16.0	13.3	2.0	...	355	132	167	20.7
मस्तिष्क, भेड़ का, उबाला हुआ	170	268	10.8	17.8	2.2	...	339	129	144	17.7
टाँग, सुअर की, कच्ची	(1,120)	345	14.2	15.6	1.2	...	104	174	(1,770)	7.6
हृदय, सुअर का, कच्चा	80	300	5.7	19.7	4.8	...	76	198	113	11.3
गुर्दा, भेड़ का, कच्चा	250	254	13.3	15.8	11.7	0.3	254	166	295	15.7
यकृत, सुअर का, कच्चा	85	319	5.1	23.3	13.0	...	372	228	102	24.8
भेड़ का मांस, चाप, कच्चा पतला	91	350	12.6	27.2	1.7	0.2	195	208	84	12.1
सुअर का मांस, कच्चा	45	400	4.3	26.1	1.4	...	223	258	49	17.2
गोमांस, गुलमा, तला हुआ	(1.130)	255	21.2	16.6	4.1	0.2	168	163	(1,770)	12.9
सुअर का मांस, गुलमा, तला हुआ	(999)	205	19.7	14.9	3.3	0.2	141	95	(1,390)	3.6

*McCance & Widdowson, 34-45.

नोट : कोष्ठकों में दी गयी संख्यायें यह सूचित करती हैं कि भोजन तैयार करने में सामान्य लवण अथवा सोडियम बाइकार्बोनेट का प्रयोग हुआ है.

सारणी 104 – कुछ अंगों के ताजे मांस में विटामिनों की मात्रा*

अंग	थायमीन (मिग्रा./100 ग्रा.)	राइबोफ्लेविन (मिग्रा./100 ग्रा.)	निकोटिनिक अम्ल (मिग्रा./100 ग्रा.)	विटामिन वी$_6$ (मिग्रा./100 ग्रा.)	पैन्टोथेनिक अम्ल (मिग्रा./100 ग्रा.)	बायोटिन (माग्रा./100 ग्रा.)	फोलिक अम्ल (मिग्रा./100 ग्रा.)	विटामिन वी$_{12}$ माग्रा./100 ग्रा.)	विटामिन ए(अं इ./100ग्रा.)	विटामिन सी(मिग्रा./100मिग्रा.)
गोजातीय										
मस्तिष्क	0.12	0.22	3.6	0.16	2.5	6.1	0.01	4.7	...	18
हृदय	0.24	0.84	6.6	0.29	2.3	7.9	0.11	9.7	30	6
गुर्दा	0.28	1.9	5.3	0.39	3.4	92.0	0.04	28.0	1,200	13
यकृत	0.23	3.3	14.0	0.74	7.3	100.0	0.08	65.0	44,000	31
फेफड़ा	0.11	0.36	4.0	0.07	1.0	5.9	...	3.3	...	...
बछड़े का यकृत	0.21	3.1	16.0	0.30	...	...	...	...	22,000	36
नये बछड़े का यकृत	0.52	3.3	16.0	0.30	6.0	75.0	0.05	...	...	...
सुअर										
मस्तिष्क	0.16	0.28	4.3	...	2.8	18.0	...	2.8	...	18
हृदय	0.31	0.81	7.3	0.35	2.5	18.0	...	2.4	30	6
गुर्दा	0.26	1.9	8.6	0.55	3.1	130.0	...	6.6	130	13
यकृत	0.25	3.0	14.0	0.51	6.6	85.0	0.07	23.0	14,000	23
फेफड़ा	0.09	0.27	3.4	...	0.9	...	...	...	...	...
मेमना										
मस्तिष्क	0.15	0.26	3.7	...	2.6	...	...	7.3	..	18
हृदय	0.31	0.86	4.6	...	3.0	...	...	5.2	...	...
गुर्दा	0.38	2.2	6.8	...	4.3	...	...	26.0	1,200	13
यकृत	0.29	3.9	12.0	0.37	8.1	130.0	...	35.0	50,000	33
फेफड़ा	0.11	0.47	4.7	...	1.2	...	...	5.0	...	...

*Science of Meat & Meat Products, 202.

करते हैं. विभिन्न अंगों के ऊतकों में एंजाइमों की विशेष रूप से अधिकता पायी जाती है. विभिन्न जाति के पशुओं से प्राप्त मांसों के प्रमुख एंजाइम प्रोटियेस, न्यूक्लिएस, ग्लाइ-ऑक्सैलेस, ऐस्पजिनेस, लिपेस, ऐमिलेस, ग्लाइकोजनेस, ग्लुकोसाइडेस, ऐल्कोहलेस, फॉस्फेटेस, फॉस्फोएस्टरेस, कैटालेस, ऐल्डिहाइड्रेस तथा डिहाइड्रोजनेस हैं.

वसा – बीफ, भेड़ तथा पॉर्क की वसायें क्रमशः बीफ चर्बी, मटन चर्बी और लार्ड (सुअर की चर्बी) नाम से ज्ञात हैं और इनके गुण तथा संघटन सारणी 105 में दिये गये हैं. मांस वसा में बहु-असंतृप्त ऐराकिडिक अम्ल पाया जाता है जिसकी मात्रा विभिन्न जातियों के पशुओं के मांसों में बदलती रहती है. पॉर्क वसा की पथ्य वसा का संघटन असंतृप्त वसा अम्लों की मात्रा को प्रभावित करता है. सामान्यतः पॉर्क में उपस्थित असंतृप्त वसा अम्लों की मात्रा बीफ तथा मटन वसा की अपेक्षा अधिक होती है. पशु वसा के असाबुनीकृत पदार्थों में कोलेस्टेरॉल रहता है. मांस वाले पशुओं की मस्तिष्क-वसा में 2–3% कोलेस्टेरॉल पाया जाता है किन्तु लार्ड तथा चर्बी में इसकी मात्रा 0.5% से भी कम रहती है.

अन्य अवयव – मांस तथा मांस उत्पादों में उपस्थित अन्य अवयवों में, फॉस्फोरसी कार्बनिक पदार्थ, जैसे न्यूक्लियोटाइड, लेसिथिन, सेफेलिन, हेक्सोस-फॉस्फोरिक अम्ल, क्रिएटिनिन-फॉस्फोरिक तथा जैसे आर्जिनीन-फॉस्फोरिक अम्लों सहित फॉस्फैजन; कार्बनिक अम्ल जैसे लैक्टिक, सक्सिनिक, फ्यूमैरिक, आक्सैलिक, ऐसीटिक तथा प्रोपियोनिक अम्ल; और इनासिटॉल सम्मिलित हैं.

मांस विषाक्तता – मांस विषाक्तता होने पर मिचली, वमन, अतिसार या दस्त, सिर दर्द, चक्कर तथा दुर्बलता जैसे सामान्य लक्षण प्रकट होते हैं. पॉर्क खाने से खस्सी सुअर के अल्प-वसीय मांस में उपस्थित ट्रिकिनी परजीवियों द्वारा ट्रिकिनेसिस नामक गंभीर रोग हो सकता है. विषाणु मांस को पकाने पर भी नष्ट नहीं हो पाते. अतः पशुओं में पाये जाने वाले पूयकारी और अन्य रक्तपूयता तथा विषायन जैसे जीवों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियाँ भी भयावह हैं. अयन के स्ट्रेप्टोकोकसी तथा साल्मोनेला के द्वारा संदूषणों से मांस में विषाक्तता उत्पन्न हो सकती है. गर्भ, क्षीणता, अपरिपक्वता, थकान, घाव और चोट, ज्वर इत्यादि जैसी अन्य शारीरिक दशायें भी पशु मांस को मानव उपभोग के लिये हानिकर बनाती हैं.

सारणी 105 – पशु वसाओं के गुण तथा संघटन*

स्थिरांक	गोमांस की चर्बी	बकरे के मांस की चर्बी	सुअर की चर्बी
ग. बिं.	40–48°	44–51°	33–46°
अनुमाप	40–47°	43–48°	32–43°
आयो. मान (विज)	40–48	35–46	53–77
साबु. मान	190–99	192–97	190–202
संघटन, %			
लारिक	0.1	..	रंच
मिरिस्टिक	3.0	2.0	1.0
पामिटिक	29.0	25.0	28.0
स्टीयेरिक	20.0	30.0	13.0
ऐराकिडिक	...	0.8	...
मिरिस्टोलीक	0.5	...	0.2
पालमिटोलीक	2.0	...	3.0
ओलीक	42.0	39.0	46.0
लिनोलीक	2.0	4.0	6.0
लिनोलेनिक	0.5	...	0.7
ऐराकिडोनिक	0.1	...	2.0

* Blanck, 552.

मांस-उत्पाद तथा उनके सम्पाक

पश्चिमी देशों की तुलना में भारत में, विभिन्न संसाधनों द्वारा कई प्रकार के मांस उत्पाद तथा सम्पाक तैयार करना सर्वथा नवीन उपलब्धि है. कुछ सुअर-बाड़ों में हैम, बेकन तथा गुलमा जैसे संसाधित मांस-उत्पाद तैयार किये जाते हैं. इस समय कुछ संगठित इकाइयों द्वारा मांस तथा मांस के हैम, बेकन, पॉर्क, कढ़ी, कुक्कुट मांस जैसे उत्पाद तैयार किये जा रहे हैं. 1962, 1963, 1964 तथा 1965 के वर्षों में इन संसाधित मांस-उत्पादों की मात्रा क्रमशः 1,375, 1,800, 2,5 0 तथा 3,000 टन रही. इन उत्पादों में पॉर्क, बेकन, गुलमा तथा मांस के भारतीय सम्पाक, जैसे कीमा, कोफ्ता, पुलाव, इत्यादि सम्मिलित हैं. संगठित बड़ी इकाइयों के अतिरिक्त सम्पूर्ण देश में अन्य कई छोटी-छोटी इकाइयाँ फैली हुयी हैं जो 100–150 टन मांस और इनके सम्पाक तैयार करती हैं.

देश के कुछ स्थानों पर युद्धकाल में बकरी के मांस के निर्जलीकरण के लिये कुछ कारखाने चालू किये गये थे किन्तु माँग न होने से उन्हें बन्द कर देना पड़ा. मटन के कुछ उत्पाद (2 टन) 1948–49 में नागपुर में तैयार किये जाते थे. असम में मटन की कुछ मात्रा धूप में सुखाकर तथा नीबू के साथ अचार बनाकर काम में लायी जाती है. बीफ (पुट्ठा) की भी कुछ मात्रा प्रतिरक्षित की जाती है.

गुलमा अथवा सॉसेज – गुलमा ताजे अथवा संसाधित विखण्डित मांस से बनता है जिसमें मसाला, जल, मखनियाँ सूखा दूध अथवा अन्य अवयव मिलाकर भेड़, सुअर या पशुओं की थैली (ओझड़ी) में रखा जाता है. गुलमा ताजा, धूमित और/या पकाया हुआ, अर्ध-शुष्क और शुष्क होता है. ताजा गुलमा, ताजे मांस विशेषकर पॉर्क से बनाये जाते हैं. यह बहुत शीघ्र खराब हो जाता है. फ्रैंकफर्टर, बोलोन, बर्लिनर, पोलिश इत्यादि ऐसे धूमित तथा पकाये हुये गुलमा उत्पाद हैं जो व्यापक रूप से तैयार किये जाते हैं. धूमित तथा पकाये हुये गुलमे तैयार करने के लिये मांस को पहले संसाधित किया जाता है. अर्ध-शुष्क गुलमा-सम्पाकों में सलामी, कर्वेलाट तथा पेप्परोनी उत्पादों के नाम आते हैं.

पॉर्क गुलमा तैयार करने के लिये, पॉर्क में पॉर्क-वसा, मसाले, पूरक (अनाजों की भूसी, आलू का आटा, इत्यादि) तथा शर्करा मिलाकर इन्हें पशुओं की थैली में भर दिया जाता है. भारतीय मानक संस्थान द्वारा ताजे तथा डिब्बाबन्द पॉर्क गुलमा के लिये विनिर्देशन निश्चित किये गये हैं (IS: 3060 तथा 3061–1965). इसमें वसासहित मांस ≮ 80% होना चाहिये. कुछ भारतीय पॉर्क तथा मटन गुलमों का सन्निकट विश्लेषण सारणी 106 में प्रस्तुत है.

सारणी 106 – कुछ भारतीय गुलमों का अनुमानित संघटन*

गुलमा	जल	प्रोटीन	वसा	राख
सुअर के मांस का गुलमा				
ताजा	51.7	12.1	23.7	2.8
पकाया हुआ	60.1	13.9	15.5	...
बकरे के मांस का गुलमा				
ताजा	64.5	10.6	17.5	3.5
पकाया हुआ	63.0	12.6	17.1	2.5
डिब्बाबन्द गुलमा				
संसाधित	49.9	13.2	28.3	..

*केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर के डा. वी. पण्डा द्वारा भेजे गये आँकड़े से प्राप्त.

मांस उद्योग के उपजात

मांस उद्योगों के उपजातों को खाद्य तथा अखाद्य दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है. खाद्य उपजातों में वसा (चर्बी तथा लार्ड), ताँत, आहार-नलियाँ, ग्रंथियाँ, रक्त तथा बांडी पूंछ आती हैं और अखाद्य उपजातों मे खाल तथा त्वचा, ऊन, बाल, शूक, हड्डियाँ, बेकार मांस, सींग तथा खुर प्रमुख हैं. विकसित देशों की तरह भारत में मांस उद्योग के उपजात व्यापारिक स्तर पर प्रयुक्त नहीं किये जाते हैं. ग्रामीण क्षेत्रों में रक्त, लीद, सींग, हड्डियाँ इत्यादि तो फेंक ही दिये जाते हैं किन्तु नगरों मे स्थित बूचड़खानों में भी इन उपजातों को ठीक से एकत्र नहीं किया जाता.

खालें तथा ऊन उन प्रमुख उपजातों में से हैं जिन्हें प्रयोग में लाया जाता रहा है. ऊन के विस्तृत विवरण के लिये इसी पुस्तक का "भेड" अनुभाग देखना चाहिये. मांस उद्योग के अन्तर्गत खाल तथा त्वचा, हड्डियाँ, रक्त, वसा, आहार-नालियाँ, ग्रंथियाँ जैसे उपजातों की उपलब्धि, उत्पादन तथा उनके उपयोग से सम्बन्धित विस्तृत विवरण इसी पुस्तक के **गो तथा भैंस जातीय पशु** अनुभाग में प्रस्तुत किया गया है.

वसा – गुरदे के चारों ओर पायी जाने वाली, परितन्त्रिकीय तथा पीठ और पुट्ठों के वसामय तन्तुओं में संगृहीत तथा भंडारित पशु वसायें उद्योगों में उपयोगी है. सुअर की चर्बी तथा अच्छी श्रेणी की चर्बी खायी जाती है और निम्नकोटि की वसा, साबुन, अपमार्जक तथा स्नेहक इत्यादि के बनाने में प्रयुक्त की जाती है. वील्क, लाशों से प्राप्त ओलिओस्टाक नामक अन्तः-वसा उच्च कोटि की अखाद्य चर्बी है. ग्रीज निम्नकोटि की अखाद्य चर्बियाँ हैं जो मृदुल अगाढ़ता युक्त होती हैं. इन्हें बैलों और भेड़ों (अस्थि-ग्रीज) की हड्डियों अथवा ऊन से प्राप्त किया जा सकता है. ऊन ग्रीज (लेनोलिन), कच्चे ऊन में (20–30%) पाया जाने वाला एक मोमीला पदार्थ है (लार्ड, चर्बी तथा अन्य पशु वसाओं की विस्तृत जानकारी के लिये देखें **भारत की सम्पदा-प्राकृतिक पदार्थ**, चतुर्थ खण्ड–'पशु वसा तथा तेल').

वध हुये पशुओं के तन्तुओं से वसा निकालने के लिये वसा निष्कर्षण विधि प्रयोग में लायी जाती है. इसके अन्तर्गत वसा कोशिकाओं को तोड़फोड़ कर वसा निकालने के लिये तन्तुओं को या तो ऐसे ही (शुष्क निष्कर्षण) अथवा जल या भाप के साथ (आर्द्र निष्कर्षण) 40–60° पर गर्म किया जाता है.

पशु वसाओं में पामिटिक, स्टीऐरिक तथा ओलीक अम्लों के साथ ही मिरिस्टिक तथा हेक्साडेसीनायक अम्ल की अल्प मात्रायें तथा कुछ अन्य अम्लों की अत्यल्प मात्राओं का सामान्य मिश्रण पाया जाता है. ये वसायें, वसा-विलेय ए, डी तथा ई विटामिनों की आपूर्ति भी करती हैं. इन्हें मांस के साथ खाया जाता है तथा खाना पकाने, मिठाई और घी में मिलावट करने के लिये भी प्रयोग मे लाया जाता है. चर्बियों को साबुन, मोमबत्ती तथा ग्रीज बनाने, चमड़े को सख्त करने तथा खेल-कूद और वस्त्र उद्योगों में प्रयोग में लाया जाता है. निम्नकोटि की चर्बियों को स्नेहक की तरह काम में लाते हैं. लेनोलिन अनेक शृंगार तथा सौन्दर्य प्रसाधनों तथा घाव भरने वाली क्रीमों का आधार है.

भारत में पशु वसाओं के कुल आकलित उत्पादन (1958–59 अवधि में) का 74% वध किये पशुओं से तथा शेष मरे हुये गोपशुओं और भैंसों से प्राप्त होता है. वध किये विभिन्न पशुओं से प्राप्त वसाओं की प्रतिशतता इस प्रकार थी : गोपशु, 8.0; भैंस, 11.8; भैड़ तथा बकरी, 71.8; तथा सुअर, 8.4.

आहार-नलियाँ – इसके अन्तर्गत खिलाये गये चारे, आसंजित वसा, अवपंक इत्यादि से मुक्त पशुओं की सूखी छोटी आँतें आती है. इन्हें व्यास के अनुसार श्रेणीबद्ध करके, छल्लों में लपेट कर निर्यात किया जाता है. भारत में पशुओं से प्राप्त आहार-नलियों का 85% तो केवल वध की गयी भेड़ों तथा बकरियों से प्राप्त होता है और शेष मात्रा गोपशुओं, भैंसों तथा सुअरों से मिलती है.

भेड़-बकरियों से प्राप्त आहार-नलियों (व्यास, सामान्यतया >18 मिमी.) को शोधित लवण में परिरक्षित करके विदेशों को निर्यात किया जाता है जहाँ इसे गुलमा बनाते समय थैलियों के रूप मे प्रयोग करते है (IS : 1981–1962). सुअरों से प्राप्त आहार-नलियों को भी इसी कार्य के लिये प्रयुक्त किया जाता है. गोपशु, बकरी, सुअर तथा भेड़ से प्राप्त थैलियां (शुष्क तथा आर्द्र गुलमा की) के संसाधन की एक विधि केन्द्रीय चर्म अनुसंधान संस्थान, मद्रास द्वारा पेटेण्ट की गयी है (भारतीय पेटेण्ट सं. 90469, 1963). कुछ स्थानों पर पशु आँतें भी खायी जाती हैं. पशुओं की बहिष्कृत आहार-नलियों से रैकेट, संगीत वाद्यों के तार तथा ऊन और कपास को धुनकने के लिये देशी ताँतें बनायी जाती हैं. बम्बई की एक फर्म ने शल्यक ताँत बनाने का एक कारखाना स्थापित किया है. वध किये गये पशुओं की ग्रसिकाओं को कभी-कभी बेच दिया जाता है, किन्तु पशु थैलियों की कुछ मात्रा गुलमा बनाने के लिये निर्यात की जाती है. पशुओं को वध करने के पश्चात् उनके उदर तथा आँतों में बचे हुये आहारों तथा अर्धपाचित भोजन को सड़ने तथा किण्वन के लिये छोड़ देते हैं जिससे अच्छी खाद प्राप्त होती है.

ग्रंथियाँ – इस देश में वध किये हुये पशुओं से प्राप्त अधिकांश ग्रंथियाँ मांस के साथ ही खायी जाती हैं. गोपशुओं तथा भैंसों के अण्डाशयों और अण्ड-ग्रंथियों को बहुधा फेंक दिया जाता है. यकृत बहुत ही पोषणयुक्त होता है. इसमें विटामिन ए और बी की प्रचुर मात्रा पायी जाती है (सारणी 104). भारत में ग्रंथियों का कुल अनुमानित उत्पादन का 80% से अधिक वध की गयी भेड़ों तथा बकरियों से प्राप्त होता है, और शेष, गोपशुओं, भैंसों

तथा सुअरों से मिलता है. भारत में ग्रंथियों के एकत्रण और संचयन की पर्याप्त सुविधायें नहीं हैं. अतः ग्रन्थियों की थोड़ी ही मात्रा तमिलनाडु, मैसूर, पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र तथा दिल्ली में ओषधियों के निर्माण के लिये प्रयोग की जाती है.

भारत में ग्रंथियों से तैयार होने वाले उत्पादों में ऐड्रिनैलिन, पीयूषिका, यकृत तथा थाइराइड ग्रंथियों के निष्कर्ष तथा पित्त-लवण प्रमुख हैं. परीक्षण के तौर पर इन्सुलिन भी तैयार किया जाता रहा है. ग्रंथियों के विभिन्न उत्पादों को तैयार करने की विधियों, उनके गुणधर्मों तथा दैहिक क्रियाओं के विस्तृत विवरण के लिये अन्यत्र देखें (With India – Industrial Products, pt IV, 95–108).

रक्त – पशुओं के शरीर भार का 8% रक्त होता है. गोपशुओं, भैंसों तथा सुअरों का रक्त चमकीला लाल तथा भेड़ और बकरियों के रक्त के रंग की अपेक्षा कुछ गाढ़ा होता है. वध किये हुये प्रत्येक पशु से प्राप्त औसत रक्त की मात्रा इस प्रकार है: गोपशु से 9–11 किग्रा.; भेड़-बकरियों से 1.5 किग्रा.; तथा सुअरों से 2–3 किग्रा. भारत में बूचड़खानों से रक्त एकत्रित करने की समुचित सुविधायें प्राप्त नहीं हैं. इस देश में अनुमानित रक्त उत्पादन का 75% से भी अधिक केवल भेड़-बकरियों से मिलता है.

बूचड़खानों से प्राप्त रक्त को 4–5 घण्टे तक उबालकर और धूप में अथवा वाष्प-शुष्कन विधि द्वारा सुखाकर भूरे रंग के चूर्ण में संसाधित किया जा सकता है. रक्त में नाइट्रोजन अधिक होने से इसे या तो ऐसे ही या खली अथवा चूर्ण के रूप में या कम्पोस्ट के रूप में मिट्टी में डाला जा सकता है. इसके चूर्ण को (प्रोटीन की मात्रा 80%) कॉफी, चाय अथवा रबर के बागानों में या कृषि फार्मों पर उर्वरक के रूप में उपयोग किया जा सकता है. इसे पशुओं को खिलाने में, उद्योगों में और ओषधियों के निर्माण के उपयोग में ला सकते हैं. रक्त-चूर्ण का संघटन इस प्रकार है: नमी, 6.8; प्रोटीन, 84.5; राख, 5.2; कैल्सियम, 0.28; तथा फॉस्फोरस, 0.28%; राइबोफ्लैविन, 0.11 मिग्रा.; नायसिन, 2.25 मिग्रा.; पैण्टोथेनिक अम्ल, 0.24 मिग्रा.; तथा विटामिन बी$_{12}$, 0.99 माग्रा./100 ग्रा. रक्त का ऐमीनो अम्ल संघटन सारणी 101 में प्रदर्शित है. ल्यूसीन, लाइसीन तथा हिस्टिडीन जैसे ऐमीनो अम्ल पशु-रक्त से तैयार किये जा सकते हैं. कभी-कभी भेड़, बकरी तथा सुअरों के रक्त को मसालों के साथ तला जाता है, चावल के साथ उबाला जाता है अथवा आटे में मिलाकर रोटियाँ बनायी जाती हैं. सुअरों के रक्त को भी गुलमा बनाने के काम में लाते हैं.

संसाधित रक्त एल्बुमिन को प्लाइवुड चिपकाने, वस्त्रों तथा कागज की रँगाई और रँगाई के पहले चमड़े की सफाई के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है. रक्त-फिब्रिन से पेप्टोन तैयार किया जा सकता है.

पुच्छ-केश – पशुओं की पूंछ के बाल दो प्रकार के होते हैं: एक तो कतरे और दूसरे उपाड़े हुये. पहले प्रकार के बाल जीवित पशुओं की पूंछ से मिलते हैं तथा ये मरे हुये और मारे गये पशुओं की पूंछों से प्राप्त दूसरे प्रकार के बालों की अपेक्षा अधिक चमकदार होते हैं. गोपशुओं तथा भैंसों की पूंछों के बालों का अधिकांश विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है. केवल कुछ ही मात्रा इस देश में ब्रश बनाने के काम आती है. विहार के कुछ भागों में इसकी थोड़ी-सी मात्रा से रस्सियाँ बनायी जाती हैं.

मांस-चूर्ण – मांस-चूर्ण अथवा छीजन पशु ऊतकों के सूखे अवशेषों का सूक्ष्म चूर्ण होता है जिसमें बाल, खुर, सींग, खाल, रक्त-चूर्ण, उदर-अवयव इत्यादि होते हैं. जिनमें फॉस्फोरस 4.4% से अधिक होता है. वे उत्पाद मांस-चूर्ण तथा अस्थि-चूर्ण या छीजन कहलाते हैं. मांस-चूर्ण उर्वरक बाल, सींग, खुर तथा उदर अवयव सूखे हुये पशु ऊतक अवशेषों का महीन चूर्ण होता है जो वाष्पन अथवा शुष्क-निष्कर्षण विधि या दोनों की मिश्रित विधि से वसा निकाल करके प्राप्त किया जाता है. ये सभी उत्पाद अच्छे खाद अथवा पशु और कुक्कुटों के आहार होते हैं. मांस तथा अस्थि-छीजन और मांस उर्वरकों के संघटन क्रमशः इस प्रकार के हैं: आर्द्रता, 4.4, 6.6; प्रोटीन, 51.0, 61.0; वसा, 11.8, 8.1; राख, 28.4, 20.7; कैल्सियम, 10.0, 6.0; तथा फॉस्फोरस, 5.0, 3.0%. मांस-छीजन तथा उर्वरक प्रोटीनों का ऐमीनो अम्ल संघटन सारणी 101 में दिया हुआ है.

खाल तथा चर्म – खाल अथवा चर्म या त्वचा तीन विशिष्ट अथवा अध्यारोपित परतों की बनी होती है. ये परतें हैं: बाह्य-त्वचा (कुल मोटाई का 1–2%), त्वचा या चर्म (कुल मोटाई का 98%) जिसमें चर्म निर्मायक पदार्थ पाये जाते हैं तथा पतला अधस्त्वचीय या गोश्त स्तर. खालें तथा त्वचायें मुख्यतया प्रोटीन की बनी होती हैं (कुल ठोस पदार्थ का 90–95%; ताजे भार का 35%). इनमें सूक्ष्म मात्रा में लिपिड, मोम, कार्बोहाइड्रेट, खनिज लवण इत्यादि भी रहते हैं. खालों तथा त्वचाओं के गुणों को कई कारक प्रभावित करते हैं, जैसे, पशु की आयु तथा लिंग, पशु के रहने के स्थान की समुद्रतल से ऊँचाई, वहाँ की जलवायु तथा प्राप्त चारा आदि.

भारत में उत्पादित खालों का अधिकाधिक अंश चर्मशोधन या अर्ध-चर्मशोधन के पश्चात् चर्म के रूप में प्रयुक्त होता है. केवल कुछ प्रतिशत उत्पाद से रस्सियाँ, ताँत, ढोलक और अन्य वाद्य यंत्र बनाये जाते हैं. ग्रामीण चर्मशोधक अधिकतर सुखी खालों (80%) तथा मरे हुये पशुओं की नम-लवणीयित खालों (20%) को काम में लाते हैं. वे इस चमड़े से चप्पलें तथा देशी जूते बनाते हैं.

इस देश में उत्पादित कुल बकरी तथा भेड़ की खालों का 36% तो कच्चा ही निर्यात कर दिया जाता है (अधिकतर बकरी की खाल), 55% शहरी एवं ग्रामीण चर्मशोधकों द्वारा संसाधित त्वचा में परिवर्तित कर दिया जाता है, 2.5% ग्रामीण चर्मशोधशालायें उपयोग कर लेती हैं. 6.0% आधुनिक चर्मशोधकों द्वारा बढ़िया चमड़ा बनाने में तथा 0.4% कच्ची अवस्था में रस्सी तथा वाद्य यंत्र बनाने के लिये प्रयुक्त होता है. त्वचाओं से अनेक प्रकार के कार्य लिये जाते हैं तथा परिसज्जित वस्तुओं की किस्म के अनुसार उन्हें बाल सहित अथवा बिना बाल के प्रयोग किया जाता है. बाल रहित चमड़े के उत्पादन की माँग अधिक है. शोधित त्वचाओं से जूते, बटुए, थैली या झोले, धौंकनी, साँभर-चर्म इत्यादि प्रमुख उत्पाद निर्मित होते हैं. मेमनों तथा बकरी के बच्चों के चमड़ों की अत्यधिक मात्रा निर्यात कर दी जाती है, तथा संसाधित और शोधित लोमचर्म की थोड़ी-सी मात्रा दस्ताने, कोट तथा टोपी जैसी फैन्सी वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त की जाती है.

अस्थियाँ – पशुओं की हड्डियों तथा उनके उत्पादों को कृषि तथा उद्योग दोनों में प्रयोग किया जाता है. पश्चिमी देशों के विपरीत, भारत में उपलब्ध हड्डियों का अधिक भाग मृत पशुओं से मिलता

है. गोपशुओं, भैंसों, घोड़ों, टट्टुओं तथा ऊँटों की हड्डियाँ व्यापारिक महत्व की हैं जबकि भेड़ों तथा बकरियों की अस्थियों को मांस के साथ बेच दिया जाता है जो मांस खाने के बाद फेंक दी जाने से बेकार हो जाती है.

भारत में एकत्र की जाने वाली हड्डियों का अधिकांश हड्डी पीसने वाली चक्कियों द्वारा पिसी अस्थि, अस्थि पेय्य तथा हड्डी का चूरा बनाने के काम आती है. इसकी कुछ मात्रा बटन, कंघा, पत्रकर्तक, खिलौने इत्यादि तैयार करने के लिये प्रयोग की जाती है. अधिकांश मिलें, पिसी हड्डियों तथा पेय्यों को निर्यात के उद्देश्य से हड्डियों की पिसायी करती हैं. पिसी हड्डियों को (लम्बाई में 0.5–5.0 मिमी.) गोंद तथा लेई बनाने के लिये भी व्यवहृत करते हैं. अस्थि-पेय्यों (लम्बाई में 0.25–0.50 मिमी.) को उर्वरक के रूप में प्रयोग किया जाता है. इस देश में इसकी कुछ मात्रा इस्पात के तलकठोरीकरण के लिये भी प्रयोग में लायी जाती है. हड्डी का चूरा (< 0.25 मिमी.) अकेले अथवा मिश्रित करके उर्वरक के रूप में प्रयोग किया जाता है. यह कच्चा तथा वाष्पित दो तरह का होता है जिनमें दूसरा भारत में कम होता है. आई. एस. आई. विनिर्देशन के अनुसार कच्चे तथा वाष्पित हड्डी के चूरे में क्रमशः नमी, ≯ 8.0, ≯ 7.0; कुल फॉस्फेट (P_2O_5 के रूप में), ≮ 20.0, ≮ 22.0 (शुष्क भार के आधार पर); उपलब्ध फॉस्फेट (P_2O_5 के रूप में), ≮ 8.0, ≮ 16.0 (शुष्क भार के आधार पर); तथा कुल N, ≮ 3.0 % पाया जाता है.

कैल्सियम तथा फॉस्फोरस बहुल होने के फलस्वरूप हड्डी का चूरा पशु आहार में खनिज पूरक की तरह इस्तेमाल किया जाता है (IS: 853 – 1956; 1014 – 1956; 1942 – 1961). इसे हड्डियों को दाब के अन्तर्गत भाप द्वारा वसाविहीन करके तथा जीवाणुनाशन करके प्राप्त करते हैं. इसमें (शुष्क भार के आधार पर) Ca. ≮ 32.0; P ≮ 15.0; फ्लोरीन, ≯ 0.06; तथा अम्ल अविलेय राख, ≯ 1.0% पायी जाती है.

अस्थियों से प्राप्त अन्य उत्पादों में अस्थि-कोयला, अस्थि की चर्बी, ऑस्सीन तथा डाइकैल्सियम फॉस्फेट के नाम लिये जा सकते हैं. अस्थि-कोयले को गन्ने का रस साफ करने के लिये व्यवहृत करते हैं. अस्थि-चर्बी साबुन बनाने तथा स्नेहक के रूप में प्रयोग की जाती है. ऑस्सीन को लेई बनाने के लिये तथा डाइकैल्सियम फॉस्फेट को उर्वरक और ओषधियों में प्रयुक्त किया जाता है.

सरेस तथा जिलेटिन – सरेस तथा जिलेटिन पशुओं की हड्डियों तथा संयोगी ऊतकों में पाये जाने वाले कोलैजन के जल-अपघटनीय उत्पाद हैं. सरेस अशुद्ध जिलेटिन होता है और मुख्यतया आसंजक के रूप में प्रयोग किया जाता है. जिलेटिन में जेल-शक्ति अधिक होती है, हल्के रंग की होती है तथा आहार, ओषधियों और फोटोग्राफी फिल्मों में प्रयोग की जाती है. सरेस को सामान्यतया खालों के गोश्त तथा कतरनों से कुटीर उद्योगों द्वारा ही बनाया जाता है. इसे कभी-कभी पिसी हड्डी के एक उपजात, अस्थि नसों से भी बनाया जाता है. भारत में हड्डियों से सरेस नहीं बनाया जाता. अस्थियों तथा कच्ची खालों से सरेस और जिलेटिन तैयार करने के लिये राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला, पूना द्वारा एक प्रायोगिक संयन्त्र विधि निकाली गयी है (भारतीय पेटेण्ट सं. 45583, 1951; 49033, 1953). भारत में जिलेटिन व्यापारिक मात्रा में तैयार नहीं किया जाता. अधिकतर इसका आयात किया जाता है. सरेस और जिलेटिन के उत्पादन सम्बन्धी विस्तृत विवरण अन्यत्र मिलेंगे (With India – Industrial Products, pt IV, 141–49).

सींग तथा खुर – भैंस के कठोर तथा चौरस सींगों को कंघा, चाकू के हत्थे, सुंघनी के बक्से, बटन, खिलौने तथा फैन्सी वस्तुयें बनाने के काम में लाते हैं. शहरी क्षेत्रों में गोपशुओं तथा भैंसों के सींगों और खुरों को पात्रों में वाष्पित करके तथा पीसकर चूर्ण बना लेते हैं. इनके चूर्ण में 15% नाइट्रोजन पायी जाती है और इसे चाय तथा कॉफी के बागानों में खाद के लिये प्रयोग किया जाता है.

गाय-भैंस-खुर तेल एक वसीय तेल है जो पशुओं अथवा भेड़ों के खुरों को जल में उबालकर और मथकर प्राप्त किया जाता है. यह पीले रंग का होता है और इसमें ओलीक अम्ल की अधिकता (65%) रहती है. चमड़े के संसाधन में इसका अत्यन्त महत्व है.

शूक (कड़े बाल)–शूकों में वे तारदार बाल आते हैं जो सुअरों तथा खस्सियों की पीठ तथा घुटनों से प्राप्त होते हैं. उनकी कोखों अथवा बगलों और उदर पर उगे हुये बाल बहुत छोटे तथा व्यापारिक दृष्टि से बेकार होते हैं. शूकों को तरह-तरह के ब्रुश बनाने, गहनों की पालिश करने, क्रिकेट की गेंदों को लपेटने और उन पर आवरण हेतु तथा जूतों के तल्लों की सिलाई के लिये प्रयोग किया जाता है.

भारत में 1960–61 अवधि में 3.8 लाख टन शूकों का उत्पादन हुआ (1 करोड़ 50 लाख रु. के मूल्य का) और इसका अधिकांश निर्यात कर दिया गया. शूक उत्पादक प्रमुख राज्य उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पंजाब हैं, तथा कानपुर और जबलपुर इसके सबसे बड़े व्यापार केन्द्र हैं. भारतीय मानक संस्थान ने विभिन्न गुणों, किस्मों एवं श्रेणियों वाले शूकों के लिये विनिर्देशन प्रस्तुत किये हैं (IS : 1844–1962).

विपणन और व्यापार

भारत के पशुधन की उन्नति और संरक्षण के लिये विकास कार्यक्रम बनाने से पहले यह नितान्त आवश्यक है कि देश के पशुधन और उनके उत्पादों की प्रभावशाली और सक्षम विपणन व्यवस्था की जाये. अपर्याप्त विपणन सुविधायें, व्यापार सम्बन्धी आँकड़ों के संग्रहण और संचारण के लिये सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली का अभाव और यातायात की कठिनाइयों ने पशुधन और उनके उत्पादों के समुचित विपणन में सबसे अधिक गतिरोध उत्पन्न किया है. इन बाधाओं को दूर करने और पशुधन उद्योग को उचित रूप से व्यवस्थित करने के लिये भारत सरकार ने तीसरी पंचवर्षीय योजना काल में उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश, पंजाब, सौराष्ट्र और पश्चिमी बंगाल में विपणन केन्द्र स्थापित किये हैं.

ये विपणन केन्द्र मुख्य ग्राम खण्डों में सहकारी आधार पर नस्ल दूध के विक्रय की व्यवस्था करेंगे और उनकी खपत वाले क्षेत्रों के निकट स्थित खण्डों को आर्थिक और अन्य प्रकार की सहायता

देंगे. जो मुख्य ग्रामखण्ड तरल दूध की खपत के क्षेत्रों से दूर होंगे वहाँ ये केन्द्र दुग्ध-उत्पादों के सहकारी विपणन को प्रोत्साहन देंगे. वर्तमान मण्डियों का नियमन करने के साथ ये केन्द्र पशुधन और उनके उत्पादों, जैसे खाल, चमड़ा, ऊन, बकरी और सुअर के बाल आदि के विपणन की सुविधा के लिये सहकारी मण्डियों की व्यवस्था करेंगे. ये केन्द्र विपणन संबंधी सर्वेक्षण करेंगे, मण्डियों के समाचार प्रसारित करेंगे तथा उत्पादकों को वैज्ञानिक और अच्छी विपणन विधियों तथा माल को श्रेणीबद्ध करने की रीतियों को अपनाने के सम्बन्ध में सलाह देंगे.

पशुधन

गोपशु और भैंसें

गायों, बैलों और भैंसों की बिक्री भार ढोने, दूध और मांस के लिये की जाती है. भारवाही पशुओं का उपयोग केवल कृषि कार्यों में ही नहीं किया जाता वरन् उनसे पुर खींचने, घानियों में तेल पेरने, चक्कियाँ चलाने और गाड़ी खींचने का भी काम लिया जाता है. अनेक राज्यों में पशु-वध पर नियंत्रण होने के कारण वध किये जाने वाले वृन्द की माँग सीमित है. यह माँग कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास जैसे शहरों में अपेक्षतया अधिक है.

विपणन की विधियाँ – पशुओं को इकट्ठा करके उनको इधर-उधर बेचने का काम सामान्यतः पशु प्रजनक, फेरी लगाने वाले और थोक व्यापारी करते हैं. पशु प्रजनक दो प्रकार के होते हैं: एक पेशेवर (जैसे गुजरात के रेबारी) जिनका मुख्य काम पशुओं का प्रजनन और पोषण है; और दूसरे कृषक, जो पशुओं को मुख्यतः कृषि कार्यों के लिये पालते हैं. अधिकांश प्रजनक अपने पशु स्वयं ही बेचते हैं. फेरी लगाने वाले पशु प्रजनकों में कुछ बंजारे होते हैं जो घूमते रहने के समय पशुओं को खरीदते और बेचते रहते हैं और वे पशु व्यापारी हैं जो गाँव, कस्बों और शहरों के वासी होते हैं. इस वर्ग के पशु व्यापारी देश-भर के पशुओं के एकत्रण और वितरण का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं. देश में पशुओं के विपणन के लिये थोक व्यापारी बहुत ही कम हैं.

जीवित पशुओं को साधारणतया समय-समय पर लगने वाले पशु-मेलों में बेचा जाता है. नागपुर स्थित विपणन और निरीक्षण निदेशालय द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष में लगभग 140 पशु-मेले लगते हैं. ये मेले मैसूर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु और बिहार में सामान्य हैं. छोटे-छोटे मेलों में गाय-बैलों की संख्या 200 और बड़े मेलों में एक लाख तक होती है. बड़े मेले राजस्थान में अजमेर के निकट पुष्कर, हरियाणा में जहाजगढ़ (रोहतक), बिहार में सोनपुर और उत्तर प्रदेश में बटेश्वर में लगते हैं. साप्ताहिक और अर्ध-साप्ताहिक हाट भी लगते हैं जो साधारणतया एक दिन तक रहते हैं और वे अधिकांशतः भारत के पूर्वी और दक्षिणी भागों में लगते हैं. इन तरह के हाटों की संख्या लगभग 325 है और इनमें 20 से 500 तक पशु इकट्ठे होते हैं. कस्बों और शहरों में दूध देने वाले, भारवाहक और वध योग्य पशुओं के हाट नियमित रूप से प्रतिदिन अथवा निश्चित दिनों पर लगते हैं. अधिकांश पशु मेलों का आयोजन स्वायत्त संस्थायें, ग्राम पंचायतें अथवा निजी संस्थायें करती हैं. कस्बों और शहरों में यह आयोजन सामान्यतया नगर पालिकाओं द्वारा किया जाता है.

नियमित हाट – उत्पादन-विक्रेताओं को उचित मूल्य दिलाने की दृष्टि से असम, पश्चिमी बंगाल, केरल तथा जम्मू और कश्मीर के सिवाय अन्य सभी राज्यों में पशु-हाटों सहित, पण्यद्रव्य हाटों की व्यवस्था के वैधानिक नियम बनाये गये हैं. बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर और मध्य प्रदेश में जो कृषि उत्पाद हाट अधिनियम लागू किया गया है उसमें पण्यद्रव्य अधिसूचित अनुसूची में पशुधन और उनके उत्पाद भी सम्मिलित हैं. उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा बनाये गये अधिनियमों की अनुसूची में पशुधन और उनके उत्पाद भी सम्मिलित हैं. पंजाब का अधिनियम केवल पशु-पालन उत्पादों पर ही लागू होता है, पशुधन पर नहीं, क्योंकि पशुओं के मेलों के नियमन के अलग से नियम हैं. 'मद्रास मार्केट्स एक्ट' की अनुसूची में पशुधन और पशुधन उत्पादों का समावेश नहीं है. आन्ध्र प्रदेश के केवल तेलंगाना क्षेत्र में पशुधन और पशुधन उत्पादों का नियमन है जहाँ पर 'हैदराबाद ऐग्रिकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट' लागू होता है.

मवेशियों के हाटों का नियमन अभी हाल में लागू हुआ है और अभी तक पाँच राज्यों के 67 हाटों का नियमन हो चुका है. ये हैं: आन्ध्र प्रदेश में 2; गुजरात में 12; महाराष्ट्र में 40; मध्य प्रदेश में 3; और उड़ीसा में 10. मैसूर सरकार भी मवेशियों के हाटों को नियमित करने की सोच रही है.

नियमित हाटों की व्यवस्था हाट समितियाँ करती हैं. इनके सदस्यों में उत्पादक-विक्रेताओं के, व्यापारियों के, सहकारी समितियों और सरकार के नामजद प्रतिनिधि होते हैं. हाटों का सभी व्यापार हाट समितियों के कर्मचारियों की देखरेख में होता है. ये ही कर्मचारी पशु प्रजनकों और व्यापारियों को हाटों के संबंध में सूचनायें देते रहते हैं. इन हाटों के भीतर पशु-चिकित्सा संबंधी सुविधायें भी उपलब्ध की जाती हैं.

निर्यात और आयात – देश में गोजातीय पशुओं की इतनी भारी संख्या होते हुये भी भारत में गायों, बैलों और भैंसों का निर्यात व्यापार आर्थिक महत्व का नहीं है. 1964–65 में समाप्त होने वाले पाँच वर्षों में गोजाति का वार्षिक निर्यात 1963–64 में शून्य और 1961–62 में 834,861 रु. के भीतर रहा. इनको आयात करने वाले देश थे: फिलीपीन्स, ब्राजील और श्रीलंका. भारत में प्रजनन के लिये भी आयात किया गया. 1967–68 में विभिन्न देशों से लगभग 15 लाख रु. के मूल्य के 200 बैल और 45 गायें आयातित की गयीं.

मूल्य निर्धारण – देश में मवेशियों के संबंध में मानक स्थापित न किये जाने के कारण हाटों में उनका मूल्य निर्धारण खरीददार की पसन्द या पशु पसन्दगी पर निर्भर करता है. भारवाही पशुओं के मूल्य निर्धारण में उनकी नस्ल, आयु, स्वभाव, रंग, स्थान और ऋतु महत्वपूर्ण होती हैं. दुधारु पशुओं का मूल्य उनकी दूध देने की क्षमता, आयु, नस्ल, ब्यांत काल, शारीरिक गठन, स्वभाव, रंग, स्थान और ऋतु के अनुसार निर्धारित किया जाता है. इसी प्रकार वध योग्य पशुओं का मूल्य मांस के गुण तथा अपेक्षित उपलब्धि और खाल की दशा पर निर्भर करता है.

मवेशियों के व्यापार में 'प्रति मुंड' सबसे अधिक प्रचलित इकाई है. 'प्रति जोड़ी' का चलन केवल भारवाही पशुओं पर लागू होता है. केवल वध किये जाने वाले ढोर झुण्डों में बेचे जाते हैं.

विभिन्न नस्लों में अन्तर होने के कारण पशुधन की हाट श्रेणियों और वर्गों की समुचित व्याख्या नहीं हो पायी है. अतः

उनके मूल्यांकन के मानक न केवल एक हाट से दूसरे हाट में अपितु एक ही हाट के एक खरीददार से दूसरे खरीददार में बदलते रहते हैं.

दुधारू गायों और भैंसों का उनके दुग्धकाल में मूल्य अधिक रहता है. 1967-68 में हरियाणा से प्राप्त दरों के अनुसार गायों का मूल्य 500–700 रुपये मुर्रा भैंसों का मूल्य 900–1200 रुपये था. इन हाटों में बैल भी ऊँचे दामों पर बेचे जाते हैं. एक हरियाना बैल का मूल्य लगभग 600–850 रुपये तक होता है.

भेड़ें और बकरियाँ

बिक्री से पहले भेड़ों और बकरियों की छटनी मानक हाट वर्गों अथवा श्रेणियों में नहीं की जाती. खरीददार प्रत्येक पशु को खरीदने से पहले एक-एक करके परखता है. भेड़ों और बकरियों के मूल्य पर जिन बातों का सामान्य प्रभाव पड़ता है, वे हैं : उनका मांस, दूध देने की क्षमता, नस्ल, आयु, लिंग, गुणता, स्थान और ऋतु. साधारणतया बकरे का मूल्य अधिक होता है, क्योंकि अधिकांश मांस-प्रेमी भेड़ के बजाय बकरे का मांस पसंद करते हैं, फिर बकरे का चमड़ा भी महँगा बिकता है.

भेड़ों और बकरियों का निर्यात बाजार भी है. 1966–67 में 408,600 रुपये के मूल्य की 6,800 भेड़ें और मेमने तथा 82,200 रुपये के मूल्य के 15,400 बकरे और बकरी के बच्चे भारत से बाहर भेजे गये. भारत में कुछ मुख्य विदेशी नस्लों का आयात प्रजनन कार्यों के लिये समय-समय पर किया जाता है. 1966–67 के वर्ष में 28,000 रुपये के मूल्य की 1,200 भेड़ें और मेमने तथा 2,35,000 रुपये के मूल्य के 6,500 बकरे और बकरी के बच्चों का विभिन्न देशों से आयात किया गया.

विदेश व्यापार में अन्य मवेशियों में सुअरों, घोड़ों और खच्चरों को कुछ महत्व प्राप्त है. विगत वर्षों में इनका निर्यात तो नहीं हुआ है किन्तु नस्ल में सुधार करने के लिये थोड़ा आयात (1966–67 में 35,000 रुपये के मूल्य के लगभग 80 विदेशी नस्ल के सुअरों का) हुआ. 1960–61 तथा 1963–64 में क्रमश: 5,62,900 रुपये के लगभग 400 घोड़ों और 12,84,000 रुपये के 800 खच्चरों का आयात हुआ.

पशुधन उत्पाद

भारत की पशुधन सम्पदा में न केवल जीवित पशु ही आते हैं वरन् इनमें व्यापारिक महत्व के उन उत्पादों का भी समावेश है जो वे अपने जीवनकाल में और फिर मरने के बाद भी प्रदान करते हैं. इनमें दूध सबसे महत्वपूर्ण उत्पाद है जिसका उपयोग इसी रूप में या अन्य उत्पादों के रूप में जैसे घी, मक्खन, पनीर आदि बनाकर किया जाता है. पशुओं से प्राप्त होने वाले अन्य उत्पादों में मांस, खाल, हड्डियाँ, सींग, खुर, और मांस उद्योग के सह-उत्पादों में आँत, ग्रंथि आदि महत्वपूर्ण हैं. भेड़ों से प्राप्त ऊन का और सूअरों से प्राप्त शूकों का अत्यधिक व्यापारिक मूल्य है.

दूध तथा दुग्ध-उत्पाद

दुग्ध उत्पादकों के लिये तरल दूध की बिक्री अत्यन्त लाभदायक होती है अत: अधिक से अधिक मुख्य ग्रामखण्डों में उसके सहकारी विपणन की व्यवस्था के यत्न किये जाते हैं. इसी उद्देश्य से मुख्य ग्रामखण्डों के आस-पास विपणन के लिये सहकारी समितियों की व्यवस्था की जा रही है. दूध को एकत्रित करने और उसको बेचने की व्यवस्था के लिये जितने उपकरण आवश्यक होते हैं उनकी खरीददारी के लिये इन समितियों को आर्थिक सहायता दी जाती है. इन क्षेत्रों के दुग्ध उत्पादकों को अच्छे दुधारू पशु खरीदने के लिये उदारतापूर्वक तकावी ऋण दिया जाता है. इन क्षेत्रों की अच्छी दुधारू गायों के बछड़ों को राज्यों के पशु-पालन विभाग खरीद लेते हैं और फिर वे उनका उपयोग ऐसे क्षेत्रों में करते हैं जो मुख्य ग्रामखण्डों के अन्तर्गत नहीं आते. ऐसे खण्डों में, जो तरल दूध की खपत क्षेत्रों से दूर होते हैं, घी, मक्खन, खोआ आदि जैसे दुग्ध उत्पादों के विपणन की व्यवस्था सहकारी आधार पर की जाती है. मुख्य ग्रामखण्ड स्थापित करते समय डेरी और दुग्ध संभरण योजना वाले क्षेत्रों को अधिक मान्यता दी जाती है ताकि इन खण्डों में उत्पादित दूध को इन योजनाओं के द्वारा अच्छे प्रकार से बेचा जा सके.

व्यावहारिक रूप से भारत में जितना दूध होता है, सारा देश के भीतर ही खर्च हो जाता है. ताजी दूध-क्रीम, सम्पूर्ण दूध (वाष्पित अथवा संघनित) और शिशुओं या दुर्बल व्यक्तियों के दुग्धाहार की अत्यल्प मात्रायें निर्यात की जाती हैं. इसके विपरीत, देश में इन वस्तुओं की कमी होने के कारण इनका आयात भारी मात्रा में विदेशों से किया जाता है (सारणी 107).

दूध की माँग के अनुसार देश में दूध के मूल्यों में कमी-बेशी होती रहती है. शहरी क्षेत्रों में तरल दूध की माँग अधिक होने से गाँवों की अपेक्षा यहाँ दूध का भाव ऊँचा रहता है. कुछ स्थानीय कारण भी दूध के मान को प्रभावित करते हैं, जैसे दुधारू

सारणी 107 – भारत में दूध और दुग्ध-उत्पादों का आयात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

वर्ष	दुग्ध क्रीम (शुष्कित)		मखनिर्या दूध (वाष्पित)		संपूर्ण दूध (शुष्कित)		पनीर और दही		घी	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	18,294	1,02,763	20,29,633	80,24,563	20,80,428	1,08,52,904	32,413	2,57,053	11,44,400	90,30,862
1968–69	12,64,953	57,60,604	7,37,854	33,28,065	13,09,818	48,39,217	33,830	2,88,344	15,49,327	1,19,47,296
1969–70	9,59,195	42,57,321	4,24,572	18,19,889	24,85,782	1,06,47,086	48,964	4,11,274	34,42,603	4,37,95,111
1970–71	63,534	6,70,871	20,79,501	1,06,20,427	3,91,552	15,19,328	52,599	4,42,152	40,90,239	2,25,93,618
1971–72	43,144	3,51,324	...	...	20,84,665	1,06,82,890	30,471	2,79,135	28,00,226	1,79,10,674

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India–Imports, 1968-72.

सारणी 108 – भारत से घी का निर्यात*

वर्ष	घी	
	मात्रा (किग्रा.)	मूल्य (रुपये)
1967–68	13,516	1,51,172
1968–69	16,120	1,86,170
1969–70	15,467	1,83,505
1970–71	17,817	1,84,752
1971–72	1,77,019	16,72,052

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India—Exports 1968-72.

पशुओं की नस्ल और दूध देने की क्षमता, चरागाहों की सुविधा, चारे और परिवहन पर व्यय और ऋतु सम्बन्धी परिवर्तन. पीने वाले दूध का मूल्य दुग्ध-उत्पाद बनाने के लिये बिकने वाले दूध की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक रहता है. गायों और भैंसों के दूध अलग-अलग बेचे जा सकते हैं, किन्तु वे बहुधा मिलाकर बेचे जाते हैं. जहाँ बकरी का दूध अधिक मात्रा में पैदा होता हे वहाँ उसे भी गाय-भैंस के दूध में मिलाया जा सकता है. 1965–66 में बम्बई के बाजारों में दूध का औसत भाव 1.39 रु. प्रति लीटर था जबकि वही दूध दिल्ली में 'दिल्ली दुग्ध योजना' द्वारा 1969 में 1.16 रु. प्रति लीटर के भाव पर बेचा गया. किन्तु कलकत्ते में दूध का औसत मूल्य अधिक अर्थात् 1967–68 में 2.00 और 3.00 रु. प्रति लीटर के बीच रहा.

घी – देश के अधिकाश दुधारू जानवर गाँवों में रहते हैं इसलिये किसानों के लिये घी उद्योग एक सहायक उद्योग के रूप में विशेष महत्वपूर्ण बन जाता है. दूरस्थ भागों में अतिरिक्त दूध से घी निकाल लिया जाता है, क्योंकि उसको बिगड़ने से बचाने का यही सबसे अच्छा उपाय है.

घी बनाने वाले घी को गाँवों में लगने वाले साप्ताहिक अथवा अर्ध-साप्ताहिक मेलों में या मण्डियों में बेच देते हैं. अतिरिक्त घी की 50% से अधिक मात्रा फेरी लगाने वाले घी विक्रेताओं द्वारा बेची जाती है.

देश में अधिकांश घी भैंस के दूध से निकाला जाता है, गाय का दूध इस काम के लिये बहुत कम इस्तेमाल होता है लेकिन बाजारों में बिकने वाला घी अधिकांशत. दोनों के घी का मिश्रण होता है. बाजार में घी की परख उसके बाह्य गुणों, जैसे सुगंध, रूप-रंग और स्वाद के द्वारा की जाती है. व्यावसायिक दृष्टि से घी को उसके उत्पादन क्षेत्रों के आधार पर वर्गीकृत और नामांकित किया जाता है.

घी के भौत-रासायनिक स्थिरांकों में मौसम, पशु की नस्ल, चारा और दूध देने की अवस्था आदि के अनुसार काफी अन्तर पाया जाता है. घी की शुद्धता के संबंध में कोई मान्य मानक न होने के कारण इसके अन्तर्राज्यीय व्यापार को बहुत धक्का लगा है. आवश्यक खाद्य पदार्थ होने के कारण सबसे पहले घी को ही कृषि उत्पाद (श्रेणीकरण और नामांकन) अधिनियम के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध किया गया. यह अधिनियम 1937 में [बनकर लागू हुआ. ऐगमार्क के अन्तर्गत घी को श्रेणीबद्ध करके इसकी शुद्धता और गुणता का निश्चय हो जाता है और उत्पादक को अच्छे दाम मिल जाते हैं. इस अधिनियम के अन्तर्गत घी को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है : विशिष्ट (लाल लेबिल); सामान्य (हरा लेबिल); और मानक (कत्थई लेबिल). घी की ये तीन श्रेणियाँ उसमें प्राप्य मुक्त वसा अम्लों के आधार पर की जाती हैं. ऐगमार्क घी को पैक करने वाले सुधरी हुयी घी परिष्कारशालाओं का प्रयोग करते हैं.

1967–68 से 1970–71 के बीच भारत से अल्प मात्रा में घी का निर्यात किया गया (सारणी 108). 1964–65, 1966–67 और 1967–68 में कुछ मात्रा में घी बाहर से भी मँगाया गया. 1965–66 में बम्बई में घी (पोरबंदर) का औसत मूल्य 1,013.6 रु. प्रति क्विंटल रहा. इन्हीं वर्षों में दिल्ली में घी का दाम 1,100–1,175 रु. प्रति क्विंटल था, जबकि 1973 में यही 1,500 रु. प्रति क्विंटल हो गया.

मक्खन – दूध के अन्य उत्पादों में मक्खन का बड़ा महत्व है, चाहे वह देशी हो या क्रीम से निकाला हुआ हो. अनुमान है कि 1961 में 88,000 टन मक्खन तैयार किया गया जिसमें से 90% से अधिक देशी मक्खन और शेष क्रीम का मक्खन था. मक्खन के उत्पादन के लिये पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और गुजरात राज्य महत्वपूर्ण हैं. शहरों में दैनिक उपयोग के लिये क्रीम-मक्खन की अधिक माग रहती हे. देशी मक्खन से घी बना लिया जाता है.

उपभोक्ताओं के लिये नियमित रूप से शुद्ध मक्खन उपलब्ध कराने की दृष्टि से क्रीम-मक्खन को ऐगमार्क के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध किया जाता हे. आजकल मक्खन का निर्यात प्रायः नगण्य है. 1965–66 में मक्खन का औसत मूल्य बम्बई में 850.40 रु. प्रति क्विंटल और दिल्ली में 1,000 रु. प्रति क्विंटल था, किन्तु 1969 में यह बढकर 1,240 रु. प्रति क्विंटल हो गया.

मांस और मांस उत्पाद

मास अधिकतर ताजा इस्तेमाल में लाया जाता है. मास और मास उत्पादों की माँग शहरों में अधिक रहती है, इसलिये मांस का व्यापार मुख्यत: कस्बों और शहरों तक ही सीमित है. देश में एकत्रित करने की शीघ्रगामी और दूरस्थ स्थानों तक पहुँचाने के लिये वातानुकूलित परिवहन की सुविधायें न होने के कारण मास का बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं किया जाता.

1963–64 तक मास और मास के सभी प्रकार के उत्पादों का कुछ निर्यात विदेशी मण्डियों में किया जाता रहा हे किन्तु उसके बाद से इन उत्पादों का निर्यात निरन्तर घटता रहा हे. तब तक गाय और बछड़े का धूमित, लवणित और सुखाया हुआ मास, भेंड अथवा मेमने का धूमित, लवणित और सुखाया हुआ मास और सुअर मास, हैम, गुलमा की थोड़ी मात्रा निर्यातित की जाती रही. बाद के वर्षों में केवल भेड और बकरे का मास और गुलमा का ही निर्यात किया गया. बाहर से मँगाये जाने वाले मास में सलामी के अलावा मटन, बेकन, हेम, पॉर्क (लवणित, डिब्बाबंद, आदि) और सभी प्रकार के गुलमों तक ही व्यापार सीमित रहा. मास और मास-उत्पाद सबंधी आँकड़े सारणी 109 और 110 में क्रमश: दिये गये हैं.

मास के मूल्य को निर्धारित करने में मास की किस्म, उसका ताजापन और उसकी गुणता, चुने हुये टुकड़े और जोड तथा उसकी

सारणी 109 — मांस और मांस उत्पादों का निर्यात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	भेड़ और बकरी का मांस		मेंढक का मांस, हिमिकृत		कछुवे का मांस, हिमिकृत		मांस और अंतें		कछुवे का मांस, शुष्कित	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	425	1,980	6,99,522	71,15,427	290	1,094	5,537	16,439	1,302	38,010
1968–69	2,130	8,927	5,01,365	57,40,078	...	...	15,494	1,15,124	1,379	52,174
1969–70	5,694	28,061	9,51,598	1,38,64,225	...	...	88,102	2,93,238	2,337	14,974
1970–71	26,049	1,03,542	23,99,725	2,94,75,207	7,254	51,918	1,54,489	6,69,972	3,333	97,761
1971–72	2,05,352	5,64,382	13,08,861	1,25,31,221	...	...	1,68,681	4,93,897	2,987	78,927

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India—Exports, 1968–72.

सारणी 110 — भारत में मांस और मांस उत्पादों का आयात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	सुअर का लवणित और शुष्कित मांस (गोश्त, बाजू और पुट्ठे)		अन्य मांस और खाद्य अंतें (शुष्कित)		मांस निष्कर्ष रस		डिब्बाबन्द गुलमा	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	1,222	13,814	639	7,793	52	495	269	5,493
1968–69	3,503	50,139	2,923	32,009	247	1,905	20,267	1,51,775
1969–70	620	8,327	13,421	1,33,291	.	...	142	1,334

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India—Imports, 1968–70.

मांस और मस्मरण ऐसे कारक हैं जिन पर उसका मूल्य निर्भर करता है. गाँवों की अपेक्षा शहरों में मांस का दाम अधिक होता है.

1967 में मांस का औसत बिक्री मूल्य (प्रति किग्रा.) केरल के कुयानुकुलम में 2.25 रु. और मद्रास में 5.50 रु. के बीच था, जबकि बकरे के मांस का दाम नई दिल्ली (सुभर बाजार) में 4.25 रु. और मद्रास में 6.50 रु. था.

उपोत्पाद

खाल और चमड़ा—ग्रामीण क्षेत्रों में खाल और चमड़े का संग्रह चमार करते हैं. वे उन्हें बाद में फेरी वालों या थोक विक्रेताओं के हाथ बेच देते हैं. खाल और चमड़े की मुख्य मंडियाँ कलकत्ता, कानपुर, लखनऊ, मद्रास, विजयवाड़ा, बैंगलोर, बम्बई, जालंधर और दिल्ली में हैं.

बछड़ों और भैंसों की कच्ची खालों को कमा करके निर्यात किया जाता है. ऐसी खालों का व्यापारिक नाम पूर्वी भारत का कमाया चमड़ा (ईस्ट इण्डिया टैन्ड लैदर) है. 1967–68 और 1971–72 में खालों और चमड़े के आयात-निर्यात सम्बन्धी आँकड़े सारणी 111 और 112 में क्रमशः दिये हुये हैं.

1965–66 में खाल और चमड़े के थोक विक्रय के औसत मूल्य इस प्रकार थे : कच्ची खाल (रु./क्विटल) : चमड़ा (रु./100 टुकड़े)—गाय की खाल (गीली-लवणित), 624.3; भैंस की खाल (गीली-लवणित), 229.9; बकरे की खाल, 608.6; और भेड़ की खाल, 580.6.

अस्थियाँ—कच्ची हड्डियों और हड्डी के चूरे के निर्यात पर प्रतिबंध लगा हुआ है. केवल पीसी हुयी हड्डी के छोटे टुकड़े और हड्डी की स्नायुओं का ही विदेशों को निर्यात किया जाता है. 1967–68 से 1971–72 में हुये अस्थियों का निर्यात सारणी 113 में दिया हुआ है.

सींग और खुर—भारत से 1967–68 से 1971–72 के बीच सींग, खुर और अन्य उत्पादों का निर्यात सारणी 114 में दिया गया है. अनुमान है कि देश में प्राप्य सींग और खुरों की समस्त मात्रा का दो-तिहाई एकत्र ही नहीं हो पाता.

अंतड़ियाँ (गट)—पशुओं की अंतड़ियाँ, मुत्राशय मूत्राशय और कण्ठनाल गुलमा बनाने के लिये विदेशों में भेज दिये जाते हैं. 1964–65 में गायों, बैलों और भैंसों की थैलियाँ जिनका मूल्य लगभग 26 लाख रु. था, भारत से विदेशों को भेजी गयीं.

सारणी 111 – भारत से खाल और चमड़े का निर्यात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	1967–68		1968–69		1969–70		1970–71		1971–72	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
चर्म										
अन्य गोपशु चर्म	67,278	516	92,854	7,58,119	1,38,377	10,54,898	10,077	71,720	24,306	1,69,873
भैंस चर्म, क्रोम-टैनित, असज्जित	1,713	22,493	63,878	5,36,868	1,31,988	12,16,189	66,862	7,11,013	6,00,993	42,51,090
भैंस चर्म, टैनित किन्तु असज्जित	2,50,044	22,04,760	5,51,925	56,05,796	3,85,094	39,00,827	1,85,856	16,13,330	4,41,953	39,54,898
खालें										
भेड़ों की खाल, ऊन सहित	2,722	1,18,982	1,291	1,67,030	...	...	215	13,200	4,671	2,00,224
भेड़ों की खाल ऊन रहित	18,317	1,78,184	16,379	2,63,542	58,684	7,08,346	7,289	1,39,874	2,125	35,795
मेमने की खाल	3,925	4,98,786	1,291	1,67,030	1,682	2,04,743	873	1,00,530	758	56,463
बकरी की खाल	2,42,195	62,65,953	4,67,513	47,13,516	9,40,410	1,44,10,073	7,01,729	78,30,043	1,20,822	18,95,598
बकरी की खाल, लवणित	63,66,715	6,12,36,183	42,72,800	3,82,78,703	51,26,278	5,84,78,356	30,80,236	2,69,90,105	2,715	39,050
बकरी की खाल, संसाधित	150	5,920	45,912	8,11,133	20,332	4,21,125	44,277	8,64,765	51,492	17,43,150

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India—Exports, 1968-72.

सारणी 112 – भारत में खालों तथा चर्म का आयात*

(मात्रा: टन; मूल्य : हजार रु.)

	1967–68		1968–69		1969–70		1970–71		1971–72	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
चर्म										
भैंस चर्म	1,748.7	5,987.6	2,867.1	10,674.8	2,592.7	9,264.6	3,013.7	10,609.2	2,525.9	9,974.4
गोपशु चर्म	391.5	1,802.4	610.8	2,337.0	540.7	2,103.9	481.3	2,421.9	401.6	2,014.7
अन्य	505.2	2,361.4	672.1	2,909.6	806.4	3,654.7	246.7	1,208.9	111.6	705.6
खाल										
भेड़ और मेमना,										
ऊन सहित	45.5	88.2	2.0	3.6	43.8	83.6	4.0	10.7	1.4	10.0
ऊन रहित	82.2	183.1	55.4	120.0	222.4	300.7	62.6	134.7	53.9	76.9
बकरी										
लवणित	16.3	121.2	17.4	202.4	25.1	112.3	27.0	154.4	9.2	54.7
संसाधित	39.1	490.7	15.8	62.7	42.7	280.6	2.8	11.3	5.5	19.4

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India—Imports, 1968–72.

सारणी 113 – भारत से अस्थियों का निर्यात*

(मात्रा : हजार टन; मूल्य : हजार रु.)

	पिसी हुयी हड्डी		हड्डी का चूरा		अन्य	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	74,967.6	51,624.7	2,970.9	1,585.4	2,070.8	1,437.8
1968–69	65,546.9	37,748.8	2,271.0	1,073.0	10,081.1	5,886.2
1969–70	65,922.8	39,131.8	3,179.8	1,838.9	5,812.0	3,434.8
1970–71	66,671.8	43,050.8	2,320.4	1,389.8	7,204.7	4,696.4
1971–72	66,302.4	51,058.3	4,390.6	2,807.8	6,032.0	4,736.7

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India–Exports, 1968–72.

फरवरी 1965 से भारत सरकार ने पशुओं की थैलियों को निर्यात करने से पहले उनके श्रेणीकरण और परीक्षण को अनिवार्य बना दिया है. 'ऐग्रीकल्चरल प्रोड्यूस (ग्रेडिंग एण्ड मार्केटिंग) एक्ट' के अन्तर्गत निर्यात के लिये सभी थैलियों को श्रेणीबद्ध करके 'ऐगमार्क' से चिह्नित करना आवश्यक कर दिया है.

पूंछ के बाल – 1961 में अनुमानतः 288 टन बाल (गायों, बैलों, भैंसों की पूंछों से) प्राप्त हुये जिनमें से 30 टन पश्चिमी जर्मनी, इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस को भेजे गये.

ऊन और बाल – भारत में उत्पन्न किया जाने वाला अधिकांश ऊन व्यापारिक दृष्टि से मोटी श्रेणी का होता है. इसमें से केवल 15% वस्त्र उद्योग के उपयुक्त होता है. देश में ऊनी वस्त्र बनाने वाली मिलों की आवश्यकता-पूर्ति के लिये अच्छे किस्म की प्रचुर ऊन (वार्षिक आयात लगभग 11,000 टन) विदेशों से मँगायी जाती है (सारणी 115 और 116).

कुटीर उद्योग में ऊन से मुख्यतः कम्बल (कुल उत्पाद का 31.8%), कालीन और फर्श पर बिछाने की दरियाँ (22.2%),

सारणी 114 – भारत से सींग, खुर तथा अन्य उत्पादों का निर्यात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	भैंसों के सींग		सींग चूर्ण		खुर चूर्ण		खुर, पंजे, ऐसे ही अन्य उत्पाद	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	3,74,712	4,56,186	5,06,789	3,57,355	4,23,969	3,09,089	6,32,260	4,36,692
1968–69	5,16,334	5,54,326	7,43,663	4,54,158	4,44,225	2,77,664	9,82,860	6,07,397
1969–70	5,05,777	5,10,577	2,66,047	1,81,774	1,52,267	1,04,762	8,84,994	5,85,715
1970–71	5,82,998	4,86,978	5,64,952	4,13,506	2,62,686	1,87,121	4,81,914	3,79,694
1971–72	2,97,625	2,74,669	2,71,470	2,45,036	3,39,130	3,06,123	5,95,505	4,49,109

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India–Exports–1968–72.

सारणी 115 – भारत में ऊन का आयात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	1967–68		1968–69		1969–70		1970–71		1971–72	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
आस्ट्रेलिया	11,412	1,15,757	2,40,699	45,86,084	...	...	58,435	10,75,720	7,34,925	1,07,99,151
ब्रिटेन	26,023	2,86,801	3,524	31,467	49,809	5,43,027	...	...	...	...
जापान	...	...	...	...	...	...	...	...	2,26,636	29,89,238
योग	37,435	4,02,558	2,44,223	46,17,551	49,809	5,43,027	58,435	10,75,720	9,61,561	1,37,88,389

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India—Imports, 1968-72.

सारणी 116 – भारत में ऊन का आयात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	भेड़ों और मेमनों की ऊन ग्रीज युक्त		भेड़ों और मेमनों की ऊन ग्रीज़ रहित	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	1,17,64,077	11,14,14,773	1,09,479	13,32,377
1968–69	1,20,65,584	10,38,73,114	24,685	2,27,127
1969–70	1,82,80,957	16,38,86,102	75,084	9,11,174
1970–71	1,88,44,719	14,96,16,199	1,39,892	13,08,201
1971–72	1,68,40,579	11,73,71,705	52,567	4,67,494

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India–Imports, 1968–72.

सारणी 117 – भारत से ऊन तथा पशु बालों का निर्यात*

(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	ऊन (वूल टाप)		ऊन की रद्दी		ऊन तथा पशु-बाल	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	241	6,065	416	2,288	23,821	1,31,051
1968–69	54,069	6,85,060	...	...	52,187	1,67,005
1969–70	47,953	5,92,320	...	...	44,361	50,772
1970–71	62,012	8,67,681	...	...	1,34,762	1,86,876
1971–72	...	...	...	...	41,669	52,465

*Monthly Statistics of Foreign Trade in India–Exports, 1968–72.

धागा (4.3%) और अन्य वस्तुयें (7.8%), जैसे शाल, ट्वीड, पट्टू, फेल्ट आदि बनाये जाते हैं. फर्श पर बिछाने की दरियों के उद्योग में टैनरी तथा मोटे ऊन की बड़ी मात्रा का उपयोग होता है.

1961 में ऊनी वस्त्र बुनने वाली मिलों ने कुल 76 लाख किग्रा. ऊन का उपयोग किया. इसमें से एक-तिहाई ऊन का स्रोत देशज था. 1962 से इन मिलों ने देशी कच्चे ऊन की खरीद बढ़ा दी. देश में कुटीर उद्योग और वस्त्र उद्योग में प्रयुक्त विभिन्न श्रेणी के ऊनों की विशिष्टियाँ भारतीय मानक संस्थान ने निर्धारित कर दी हैं (IS : 2900–1964).

भारत में ऊन और बाल की महत्वपूर्ण मण्डियाँ (राज्यवार) इस प्रकार है : कालिम्पोंग, रायगंज और कलकत्ता (पश्चिमी बंगाल); गया और सासाराम (बिहार); बम्बई और पूना (महाराष्ट्र); राजकोट, अंकलेश्वर, बड़ौदा और हारीज (गुजरात); मद्रास, सलेम, वल्लाजपेट और तिरुचिरापल्ली (तमिलनाडु); अमृतसर (पंजाब); फाजिल्का, पानीपत (हरियाणा); कुल्लू (हिमाचल प्रदेश); हल्द्वानी, टनकपुर, रामनगर, देहरादून, आगरा, झांसी, मथुरा और इटावा (उत्तर प्रदेश); बंगलौर, कोलार और रायचूर (मैसूर); श्रीनगर (जम्मू और कश्मीर); एलूरु, अडोनी, हैदराबाद और वारंगल (आन्ध्र प्रदेश).

श्रेणीकरण – फरवरी 7, 1965 में भारत सरकार ने एक योजना द्वारा ऊन के श्रेणीकरण को अनिवार्य कर दिया. ऊन श्रेणीकरण और अंकन नियमों के अनुसार कच्चे ऊन को श्रेणीबद्ध किये बिना भारत से बाहर नहीं भेजा जा सकता. 1937 के 'ऐग्रीकल्चरल प्रोड्यूस (ग्रेडिंग एण्ड मार्किंग) एक्ट' के अन्तर्गत ऊन सम्बन्धी नियम बनाये गये हैं और समय-समय पर उनमें सुधार होते रहे हैं. ऊन श्रेणीकरण और अंकन नियमों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के ऊनों के गुणों की व्याख्या की गयी है, उनकी मानक श्रेणियाँ निर्धारित की गयी हैं और ऊन को पैक करने और अंकित करने की विधियाँ दी गयी हैं. मानक विशिष्टियाँ निर्धारित करते समय ऊन की किस्म, रंग, सफाई और सामान्य स्वरूप पर ध्यान दिया जाता है. भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार द्वारा यह योजना शासित होती है. निरीक्षण अधिकारी भेजे जाने वाले प्रत्येक माल की परीक्षा करते है और प्रत्येक ढेर में से विश्लेषण के लिये नमूने 'ऊन परीक्षण हाउस बम्बई' को भेजे जाते हैं. यदि उनके विश्लेषण के परिणाम निर्धारित मानक के अनुसार होते हैं तो उन पर रंग आदि को दर्शाते हुये गाँठ पर ऐगमार्क का ठप्पा लगा दिया जाता है. जब तक गाँठ पर ऐगमार्क का ठप्पा नहीं होता और उसके साथ ऐगमार्क श्रेणीकरण का प्रमाणपत्र नहीं रहता तब तक माल का निर्यात नहीं होने दिया जाता. ऊन को निर्यात करने के लिये श्रेणीबद्ध करके वेष्टित करने के सम्बन्ध में भारतीय मानक संस्थान ने विशिष्टियाँ तैयार की हैं (IS : 11–1963; 2156–1962).

श्रेणीकरण योजना लागू करने से पहले अधिकांश निर्यातित माल लिवरपूल भेजा जाता था और वहाँ प्रत्येक छः हफ्ते के अन्तर पर सार्वजनिक नीलाम द्वारा बेच दिया जाता था किन्तु ऐगमार्क श्रेणीकरण लागू हो जाने के बाद से माल को सीधा बेचने में स्पष्ट वृद्धि हुयी है और लिवरपूल की मार्फत माल की बिक्री घट गयी है. इस योजना को लागू करने से पहले इंगलैंड को वार्षिक निर्यात देश के कुल निर्यात का 60% होता था, किन्तु अब यह 30% से कुछ ही ऊपर है.

निर्यात–1950 से ऊन का निर्यात 'कोटा विधि' से किया जाने लगा है. हर वर्ष कोटे दिये जाते हैं. इसका उद्देश्य देशी उद्योग को संरक्षण प्रदान करना और कच्चे ऊन के स्थान पर आधे तैयार माल के निर्यात की नीति को समान रूप से प्रोत्साहन देना है. 1971–72 में अंत होने वाले पाँच वर्षों में भारत से जिन देशों को प्रतिवर्ष ऊन निर्यात किया जाता रहा है उसका ब्योरा सारणी 117 में दिया गया है. भारत से कुल वार्षिक निर्यात का अधिकांश भाग रूस (39.5%), यू. के. (34.3%) और अमेरिका (12.7%) को भेजा गया. ऊन के साथ बकरे के बाल (अंगोरा के अतिरिक्त) और बालों की पट्टियों का भी निर्यात किया गया (सारणी 118).

सुअर के बाल

सुअर से प्राप्त होने वाले मुख्य उपोत्पादों में से केवल उसके शूकों का ही निर्यात विदेशों को किया जाता है. भारत में ये बाल आमतौर से गाँवों और शहरों के आस-पास के स्थानों में पाले जाने वाले जीवित सुअरों से वर्ष में एक-दो बार नोच कर इकट्ठे किये जाते हैं. मरे हुये या काटे गये सुअरों के भी शूक

सारणी 118 – भारत से ऊन और बकरे के बालों का निर्यात*
(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	भेड़ और मेमने का ऊन, ग्रीज युक्त		भेड़ और मेमने का ऊन ग्रीज रहित		बकरे के बाल	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1967–68	56,90,516	3,34,96,347	35,52,617	2,29,82,625	27,14,671	58,45,802
1968–69	48,51,991	2,36,07,689	39,55,542	2,50,71,280	39,44,893	70,75,977
1969–70	29,29,737	1,48,17,335	44,46,517	2,65,00,822	38,87,505	66,73,714
1970–71	16,82,464	97,43,156	52,51,108	3,13,79,438	46,57,223	71,09,850
1971–72	28,52,729	1,72,18,547	24,52,359	1,69,34,058	39,87,507	65,80,531

*Monthly Statistics of the Foreign Trade in India—Exports, 1968–72.

सारणी 119 – भारत से खस्सी सुअर, सुअर और वराह के शूकों का निर्यात*
(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रुपये)

	1967–68		1968–69		1969–70		1970–71		1971–72	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
अफगानिस्तान	..	...	...	...	...	...	...	...	1,000	5,880
अमेरिका	22,618	48,73,083	4,758	9,09,724	3,691	4,60,747	2,428	2,85,183	3,264	3,75,950
आस्ट्रिया	..	...	...	...	...	...	198	7,600	...	...
इटली	...	...	...	...	...	...	652	57,212	670	24,034
चेकोस्लोवाकिया	2,806	2,19,013	...	...	...	...	...	...	...	...
जर्मन गणराज्य	16,966	11,26,195	12,230	9,65,370	6,758	6,55,278	7,289	6,45,384	13,538	12,94,772
जर्मन फेडरल रिपब्लिक	5,256	73,541	11,240	3,23,917	5,509	3,70,135	8,916	3,79,596	5,934	1,52,404
जापान	620	1,47,547	130	7,800	800	41,712	600	36,553	353	15,052
डेनमार्क	...	...	...	...	...	...	...	...	1,048	1,25,320
नीदरलैंड	2,700	2,68,639	4,677	4,73,709	3,363	2,82,991	519	53,171	3,838	3,72,366
न्यूजीलैंड	...	...	...	...	...	...	...	...	446	58,883
फ्रांस	1,248	2,60,789	1,560	30,714	1,808	45,145	4,282	89,030	300	32,000
बर्मा	...	...	...	...	28	4,131	...	...	...	...
ब्रिटेन	83,378	1,02,26,992	84,990	85,41,932	67,720	64,29,136	35,135	31,34,045	67,536	62,78,124
संयुक्त अरब गणराज्य	..	...	...	...	800	1,40,311	...	...	...	120
हंगरी	...	...	578	14,837	8,989	3,92,225	7,672	3,49,596	4,028	1,55,258
हांगकांग	...	...	...	...	20	800	...	...	...	...
योग	1,35,592	1,71,95,799	1,20,163	1,12,68,003	99,486	88,22,611	67,691	50,37,370	1,02,399	89,26,530

*Monthly Statistics of the Foreign Trade in India—Exports, 1968–72.

नोच कर निकाल लिये जाते हैं. कुछ शूक मध्य प्रदेश में और पंजाब के जंगलों में पाये जाने वाले वनैले और अर्ध-वनैले सुअरों के भी इकट्ठे किये जाते हैं. दार्जिलिंग नामक अच्छी किस्म के शूक हिमालय की तराइयों में पाये जाने वाले सुअरों से एकत्र किये जाते हैं.

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बिहार महत्वपूर्ण शूक-उत्पादक क्षेत्र हैं. कानपुर, जबलपुर, आगरा, जौनपुर और बरहज सँवारे हुये शूकों की सबसे बड़ी व्यापारिक मण्डियाँ हैं. इनको संग्रह करने की अन्य मण्डियाँ हैं : महाराष्ट्र में अमरावती और नागपुर, मध्य प्रदेश में कटनी, बिहार में संथाल परगना और पश्चिमी बंगाल में कलकत्ता, दार्जिलिंग और कालिम्पोंग हैं. इनको जहाजों में लादने का प्रमुख बन्दरगाह बम्बई है.

विश्व की मण्डियों में सुअर के बाल भेजने वाले प्रमुख देशों में भारत एक है. 1968–72 में समाप्त होने वाले पाँच वर्षों में

सारणी 120 – भारत में सुअर के शूकों का औसत मूल्य*
(रुपये/किग्रा.)

कानपुर नाप/श्रेणी	1962–63 सफेद	 काला/धूसर	1963–64 सफेद	 काला/धूसर	1964–65 सफेद	 काला/धूसर	1965–66 सफेद	 काला/धूसर
छोटे	13.48	11.80	11.90	9.70	11.75	4.25	5.35	3.06
50.8 मिमी.	31.43	27.48	44.83	31.16	50.58	34.33	38.60	13.73
76.2 मिमी.	78.26	62.78	98.16	75.50	127.50	82.08	109.89	73.50
101.6 मिमी.	119.41	101.76	124.66	109.16	142.17	103.66	147.85	113.16
127.0 मिमी.	173.43	151.91	151.66	149.41	175.50	145.33	168.70	149.00
152.4 मिमी.	176.43	173.28	173.66	166.58	220.33	171.66	220.33	170.83
पचमेल	50–70		50–85		52–80		55–85	
नम्बेरो	...		...		82–135		90–150	
कलकत्ता	58.55		63.08		85.75		102.40	

*उप-वरिष्ठ विपणन अधिकारी, काष्ठ, सुअर-शूक और बकरा-बाल श्रेणीकरण योजना, कानपुर; खाद्य और कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), विपणन और निरीक्षण निदेशालय, नागपुर से प्राप्त आँकड़े.

भारत ने जितना शूक भेजा है उसकी वार्षिक तौल और मूल्य सारणी 119 में दिये गये हैं. देश में जितना शूक एकत्र किया जाता है उसका औसतन 66% विदेशों को भेज दिया जाता है और शेष देश के भीतर इस्तेमाल होता है. भारतीय बालों को आयातित करने वाले मुख्य देश यू. के., अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी और जापान हैं.

श्रेणीकरण – सुअरों से नोच लेने के बाद शूकों को पहले धोया जाता है और फिर सुखाया जाता है. सूखने के बाद उन्हें रंग और किस्म के अनुसार अलग-अलग छाँटकर हर किस्म और रंग के बालों को उनकी लम्बाई के अनुसार पुन: छाँटा जाता है. यह लम्बाई अधिक से अधिक 153 मिमी. और कम से कम 51 मिमी. होती है. 51 मिमी. से कम लम्बे शूकों को छोटा माना जाता है. किन्हीं भी क्रमागत लम्बाइयों के बीच 6.35 मिमी. का अन्तर रहता है. छँटाई करने के बाद हर माप के बालों को अलग-अलग मुट्ठों में बाँध लिया जाता है. इनका व्यास 51 मिमी. से अधिक नहीं होता. इन्हें निर्यात करने के लिये लकड़ी के डिब्बों में बंद कर दिया जाता है. भारतीय शूक तीन विभिन्न रंगों में मिलते हैं: सफ़ेद, धूसर और काले. इनके अतिरिक्त उन्हें तीन और श्रेणियों में वर्गीकृत करते हैं: अति कठोर, कठोर और अर्ध-कठोर, और मुलायम.

निर्यात के लिये बालों के गुणों में सुधार लाने के लिये भारत सरकार ने ऐगमार्क योजना के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से बालों के श्रेणीकरण करने की योजना 1954 में लागू की. 1937 के 'ऐग्रीकल्चरल प्रोड्यूस (ग्रेडिंग एण्ड मार्किंग) एक्ट' के अन्तर्गत, 1962 में 'ब्रिस्टल ग्रेडिंग और मार्किंग (एमेण्डमेण्ट) रूल्स' बनाये गये जिनके अन्तर्गत बिना श्रेणीकरण किये किसी भी प्रकार के शूक बाहर नहीं भेजे जा सकते. 'ब्रिस्टल ग्रेडिंग और मार्किंग रूल्स' के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के बालों के गुणों की व्याख्या, उनकी मानक श्रेणियों का निर्धारण और शूकों को डिब्बों में भरने और डिब्बों के अंकन की विधियाँ दी गयी हैं. मानक विशिष्टियाँ निर्धारित करते समय बालों की किस्म, उनके रंग, लम्बाई, लीखों और अन्य विजातीय पदार्थों से मुक्त होने पर ध्यान दिया जाता है. निर्यात के लिये आये हुये सभी माल की परीक्षा की जाती है, निर्धारित मानक विशिष्टियों के अनुरूप होने पर उसे उचित ढंग से वर्गीकृत करके प्रत्येक बक्से पर ऐगमार्क का लेबुल लगाया जाता है. बाद में प्रत्येक बक्से के माल के नमूनों की फिर जाँच की जाती है.

निर्यात – ऐगमार्क श्रेणीकरण योजना लागू करने से पहले देश का 70 से 80% निर्यातित माल लन्दन में तिमाही नीलामी में बेच दिया जाता था किन्तु अब अनिवार्य श्रेणीकरण लागू हो जाने से अमेरिका तथा यूरोप को, विशेष रूप से माल की सीधी बिक्री, लगातार बढ़ती जा रही है. पिछले वर्षों में कुल निर्यात का 60% से भी कम माल यू. के. भेजा गया (सारणी 119). सीधी बिक्री के कारण भारत से निर्यात करने वालों को सुविधा हो गयी है. उनको निर्यात पर खर्च कम होने के अतिरिक्त बीच का समय बच जाने के कारण माल का मूल्य जल्दी मिल जाता है. इसके अतिरिक्त लन्दन में गोदाम के और उससे संबंधित अन्य खर्चों में तथा नीलाम के खर्च आदि में भी बचत हुयी है. देश में शूकों का सामान बनाने वाले व्यवस्थित उद्योग भी अपनी आवश्यकतानुसार ऐगमार्क विशिष्टियों के अन्तर्गत श्रेणीकृत शूकों को खरीदते हैं.

मूल्य – शूकों का मूल्य उनकी लम्बाई पर निर्भर करता है. शूक जितने ही लम्बे होते हैं उनका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है. भारत में सुअर के बालों के औसत मूल्य (श्रेणी के अनुसार) 1962–63 से 1965–66 में सारणी 120 में दिये गये हैं.

कुक्कुट पालन

देश की अर्थव्यवस्था मे कुक्कुट पालन का महत्वपूर्ण स्थान है और इसके प्रति मनुष्य की रुचि आदि काल से रही है. विश्व-भर की वर्तमान कुक्कुट नस्लो का पूर्वज कहलाने वाला सुप्रसिद्ध लाल जगली मुर्गा, **गैलस गैलस** (लिनिअस) का आदि स्थान भारत और इसके निकटवर्ती देश है. एशियायी कुक्कुट नस्लो की उत्पत्ति **असील** अथवा **मलय** मुर्गे से वतायी जाती है. विशिष्ट कुक्कुट पालन तथा उत्पादन का विकास आज से 2,000 वर्ष पूर्व इटली मे हुआ.

पिछले 25 वर्षों में विश्व के अनेक भागो मे कुक्कुट पालन व्यवसाय में भारी वृद्धि हुयी और अब यह एक व्यावहारिक उद्यम वन गया है. अधिकाश देशो मे कुक्कुट पालन कृषको के लिये आय का स्रोत और जीविका का साधन समझा जाता है. एक छोटे कुक्कुट-पालन गृह के लिये अधिक भूमि और वडी पूँजी की आवश्यकता नही होती और इससे अच्छा लाभाश प्राप्त होता है. प्रथम विश्व युद्ध के वाद विश्व के कई देशो मे कुक्कुट पालन मे व्यापक परिवर्तन हुये वताये जाते हैं.

1966 मे भारत मे 11.512 करोड कुक्कुटादि पक्षी थे जो 1961 की सख्या 11.425 करोड से 0 84% अधिक है. भारत मे प्रति 100 व्यक्ति पीछे 25 चूजे आते है जबकि डेनमार्क मे यही सख्या 540, कनाडा मे 373, सयुक्त राज्य अमेरिका मे 286, ब्रिटेन मे 179 तथा अन्य यूरोपीय देशो मे 150–200 है एक भारतीय मुर्गी वर्ष-भर मे केवल 60 अण्डे देती है, जो ससार की 130 अण्डों की ऐसी ही औसत क्षमता की आधे मे भी कम है सयुक्त राज्य अमेरिका मे वार्षिक औसत उत्पादन प्रति अण्डे देने वाले पक्षी पर 210 अण्डे हैं भारत मे प्रति व्यक्ति को साल भर मे 12 अण्डे नसीव होते है जवकि यह सख्या सयुक्त राज्य अमेरिका मे 295, कनाडा मे 282, आयरिश गणराज्य मे 281 और पश्चिमी जर्मनी मे 249 है. विभिन्न प्रकार के कुक्कुटों से प्राप्त तैयार मास के आधार पर भारत मे प्रति व्यक्ति कुक्कुट मास की वार्षिक खपत लगभग 131 ग्रा है जवकि सयुक्त राज्य अमेरिका मे यही 13.18 किग्रा और अन्य यूरोपीय देशो मे 2.47–5.95 किग्रा. है. यह मात्रा पोषण सलाहकार समिति द्वारा सस्तुत 84 ग्रा. मास तथा आधा अण्डा प्रतिदिन प्रति व्यक्ति के सन्तुलित आहार से बहुत कम है. भारत सरकार के मन्त्रिमण्डल सचिवालय के साख्यिकीय विभाग के सशोधित अनुमान के अनुसार 1960–61 मे तत्कालीन मूल्यों के आधार पर कुक्कुटादि, अण्डो तथा अण्डे उत्पादो से प्राप्त आय पशुधन से प्राप्त होने वाली 66.91 करोड की कुल आय की 4 2% थी.

फसल उत्पादन मे भी कुक्कुटादि का पर्याप्त योगदान है. कुक्कुट-गृह का कचरा और वीट आदि 9-12 मास की अवधि पूर्ण हो जाने तक सन्तुलित कार्वनिक खाद वन जाता है जिसमें नाइट्रोजन 3%, फॉस्फोरस 2% और पोटैश 2% होता है. अनुमान है कि यदि 40 पक्षियो को घास-फूस मे पाला जाये तो एक साल मे इस प्रकार की 1 टन सन्तुलित खाद प्राप्त होगी जो धान अथवा मक्के के एक हेक्टर, जई (**सोर्घम**) के दो हेक्टर अथवा तरकारी उपजाने के लिये 0.5 हेक्टर के खेतो के लिये पर्याप्त होगी.

कुक्कुट पालन के अन्तर्गत विविध पक्षियो जैसे, मुर्गी, वत्तख, हस, पीरू और गिनी मुर्गो का पालन सम्मिलित है, किन्तु भारत मे मुर्गियो को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है. ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था मे कुक्कुट पालन को विशेष स्थान प्राप्त है क्योकि यह किसानो के लिये अतिरिक्त आय का एक सुलभ साधन वन जाता है. इस पर आरम्भिक तथा इसके अनुरक्षण पर आवर्तक दोनों ही प्रकार के खर्चे कम लगते है, जिन्हे साधारण किसान आसानी से कर लेता है. भारत मे कुक्कुट पालन हाल ही तक एक ग्रामीण कुटीर उद्योग माना जाता रहा है. पिछले दशक में इसमे वडी तेजी से वृद्धि हुयी है. अव पिछवाडों में 3–12 पक्षी वाले छोटे-छोटे पालन-गृह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो और गैर सरकारी सस्थानो द्वारा स्थापित अनेक अण्डज उत्पत्तिशालाओ की सहायता से आधुनिक और वैज्ञानिक विधियों द्वारा सचालित होने वाले वडे व्यापारिक पालन-गृहो मे वदले जा रहे है.

भारत मे अधिकाश कुक्कुट सकर जाति के अथवा अज्ञात किस्मो के है जिन्हे सामूहिक रूप से देशी नस्लो के नाम से जाना जाता है विकास योजनाओ के अन्तर्गत आयातित विदेशी नस्लें ग्रामीण क्षेत्रो मे कुल पक्षियो की 3% और शहरी क्षेत्रो मे 10–15% हैं. सारणी 121 मे 1966 के आँकडो के आधार पर भारत में कुक्कुटो की सख्या (राज्यानुसार) पृथक्-पृथक् दी गयी है. 1966 की पशु गणना के अनुसार भारत मे कुक्कुटो की सख्या 11.512 करोड आँकी गयी जो विश्व-भर की कुक्कुटो की सख्या की लगभग 10% है. भारत की कुल कुक्कुट सख्या का 89% मुर्गे-मुर्गियाँ, 8.4% वत्तख तथा शेष हस और पीरू पक्षी हैं. सारणी 122 में भारत मे 1966 की गणना पर आधारित (राज्यवार) कुक्कुटो का वितरण दिया गया है. इस सख्या की लगभग 34% (3.9 करोड) मुर्गियाँ थीं जिनसे प्रतिवर्ष 37.5 करोड़ रु. के मूल्य के 225 करोड अण्डे प्राप्त होते थे.

1961 तक कुक्कुटो की सख्या मे हर 5 वर्ष में 23% तक की वृद्धि हुयी किन्तु इसके वाद ऐसी कोई वृद्धि नही हुयी. हाँ,

सारणी 121 – भारत में 1966 में मुर्गियों, मुर्गों और चूजों की संख्या*

(संख्या हजार में)

राज्य	मुर्गियाँ	मुर्गे	चूजे
अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह	28.3	11.9	51.2
असम	2,065.3	949.5	4,426.9
आंध्र प्रदेश	4,991.0	1,917.9	7,403.6
उड़ीसा	2,137.3	955.6	4,249.7
उत्तर प्रदेश	1,698.4	493.4	1,465.6
केरल	4,870.6	1,370 3	3,346.3
गुजरात	989.9	266.8	1,060.1
चण्डीगढ़	6.7	1.3	5.1
जम्मू तथा कश्मीर	806.4	287.8	345.9
तमिलनाडु	3,948.5	1,790.0	4,888.1
त्रिपुरा	161.4	88.1	298.5
दिल्ली	79.7	8.2	47.6
पंजाब	650.8	187.6	770.6
पश्चिमी बंगाल	2,994.2	2,121.1	2,330.8
पांडिचेरी	47.0	11.4	44.6
बिहार	3,023.4	1,415.5	5,806.5
मणिपुर	118.5	80.1	387.6
मध्य प्रदेश	1,967.5	536.5	3,047.5
महाराष्ट्र	5,007.2	1,158.1	3.671.6
मैसूर	3,039.5	1,223.8	3,903.4
राजस्थान	350.3	166.0	343.7
हरियाणा	209.6	48.5	217.8
हिमाचल प्रदेश	108.3	38.8	58.8
लक्षद्वीप, मिनिकोय और अमीनदीवी द्वीप समूह	7.3	2.3	
योग	39,307.1	15,130.5	48,101.5

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India,1972.

सारणी 122 – भारत में 1966 में कुक्कुटादि की संख्या*

(संख्या हजार में)

राज्य	संख्या
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	98.7
असम	10,984.5
आंध्र प्रदेश	14,714.7
उड़ीसा	7,698.0
उत्तर प्रदेश	3,771.0
केरल	9,909.0
गुजरात	2,324.4
चण्डीगढ़	13.3
जम्मू और कश्मीर	1,534.8
तमिलनाडु	11,225.9
त्रिपुरा	663.4
दादरा और नगरहवेली	39.1
दिल्ली	137.4
नागालैंड	438.2
पंजाब	1,680.1
पश्चिमी बंगाल	12,818.2
पांडिचेरी	107.1
बिहार	10,849.4
मणिपुर	622.7
मध्य प्रदेश	5,738.9
महाराष्ट्र	9,902.0
मैसूर	8,276.8
राजस्थान	864.6
लक्षद्वीप और मिनिकोय द्वीप समूह	18.5
हरियाणा	479.4
हिमाचल प्रदेश	206 6
योग	1,15,116.5

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

अधिक अण्डे देने वाले पक्षियों की संख्या अवश्य बढ़ी है जिससे देश में अण्डों के उत्पादन में वृद्धि हुयी है. अनुमान है कि 128.2 करोड़ रु. के मूल्य के 512.8 करोड़ अण्डे प्रतिवर्ष उपलब्ध होते हैं. भारत में कुक्कुटों की संख्या प्रति वर्गमील (2.6 वर्ग किमी.) 104 है. संख्या का परिसर गुजरात में 28 से केरल में 607 तक है.

पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु, बिहार तथा आन्ध्र के लिये ये मान क्रमश: 245, 225, 184 तथा 153 हैं. भारत में प्रति व्यक्ति कुक्कुटादि की उपलब्धि 0.28 है जबकि डेनमार्क में यही 6.98, नीदरलैण्ड में 4.44, कनाडा में 4.26, सोवियत संघ में 2.37, ब्रिटेन और फ्रांस में 2.16 और संयुक्त राज्य अमेरिका में 2.00 है. भारत में प्रति व्यक्ति तथा प्रति वर्ग किलो मीटर कुक्कुटादि की उपलब्धि (राज्यानुसार) सारणी 123 में दी गयी है.

ग्रामीण क्षेत्रों और फार्मों में अब भी 3–10 तक की संख्या में पक्षी पाले जाते हैं. अनेक पालने वाले किसानों के पास 100 से 500 तक अण्डा देने वाले पक्षी हैं और वे इनसे प्राप्त आय से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं. भारत में व्यापारिक पैमाने पर 10,000–50,000 की संख्या में भी कुक्कुट पाले जाते हैं. शुद्ध नस्ल का संग्रह प्राप्त करने के ध्येय से दिल्ली, कामलाही (हिमाचल प्रदेश), भुवनेश्वर (उड़ीसा), बंगलौर (मैसूर) और बम्बई (महाराष्ट्र) में क्षेत्रीय फार्म खोले गये हैं.

भारत में मुर्गियों की 2 या 3 शुद्ध नस्लें मूलरूप में पायी जाती हैं और यहां सर्वत्र पाली जाने वाली मुर्गियां अधिक अण्डे देने वाली नहीं होती हैं. अधिकांश भारतीय मुर्गियों की किस्में अज्ञात कुल की हैं. उन्नत मुर्गियों की संख्या इनकी कुल संख्या की 1.4% है. कुछ विदेशी नस्लें जैसे कि ह्वाइट लेगहार्न, रोड आइलैण्ड रेड, और बार्ड प्लाइमाउथ रॉक के मुर्गों की सहायता से भारतीय मुर्गियों के अण्डों के आकार तथा इनके उत्पादन में वृद्धि के लिये तेजी से सुधार लाने में सफलता मिली है.
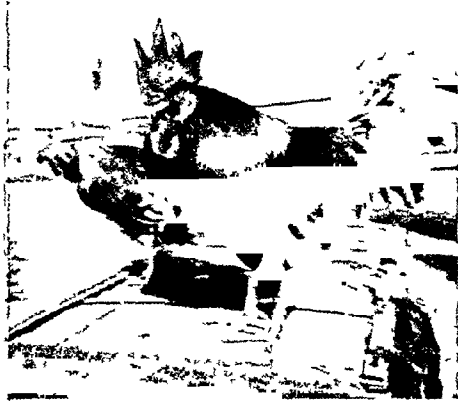
ब्राउन लेगहार्न

सफेद लेगहार्न

लाइट ससेक्स
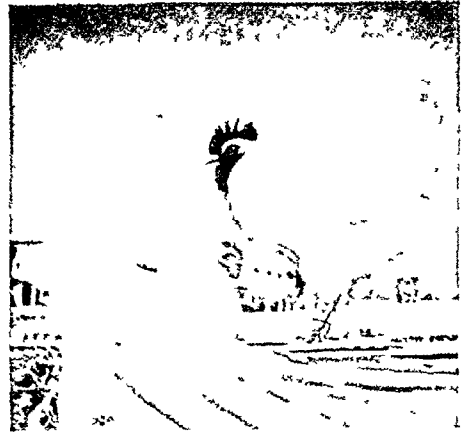
सफेद प्लाइमाउथ रॉक
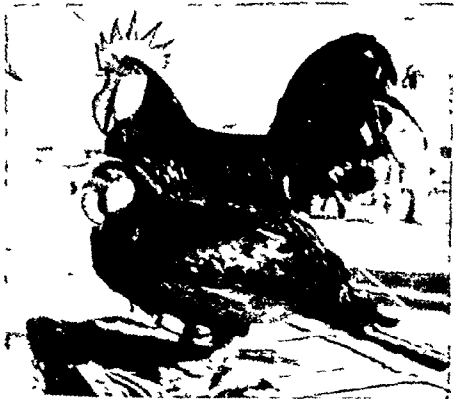
काला मिनोरका
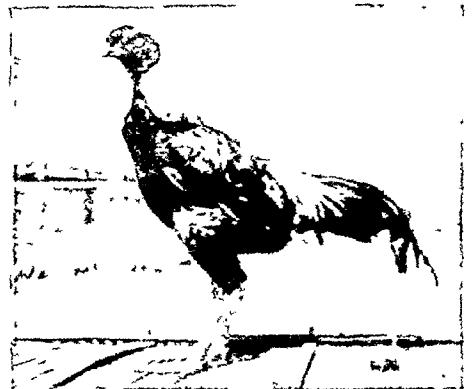
असील

अण्डा और मांस-उत्पादक कुक्कुट नस्लों के प्रकार

सारणी 113 – भारत में प्रति वर्ग किलोमीटर तथा प्रति व्यक्ति *कुक्कुट की उपलब्धि**

राज्य	जनसंख्या /वर्ग किमी.	कुक्कुट संख्या /वर्ग किमी.	कुक्कुट संख्या /व्यक्ति
असम	59.6	55.0	0.95
आन्ध्र प्रदेश	130.4	58.9	0.45
उड़ीसा	112.3	41.9	0.37
उत्तर प्रदेश	246.2	11.2	0.44
केरल	432.7	233.5	0.54
गुजरात	110.0	10.8	0.10
तमिलनाडु	258.1	86.5	0.34
पंजाब	165.8	18.5	0.11
पश्चिमी बंगाल	396.5	132.7	0.33
बिहार	265.8	70.8	0.27
मध्य प्रदेश	72.7	21.5	0.20
महाराष्ट्र	127.7	35.0	0.27
मैसूर	122.3	49.2	0.41
राजस्थान	58.5	1.9	0.04
औसत	143.5	40.0	0.28

*आर्थिक एवम् साँख्यिकी निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली.

देश में कुक्कुटादि के विकास के लिये चल रही योजनाओं से यह विदित हुआ है कि *अण्डों का उत्पादन बढ़ाने के लिये विदेशी* नस्लें बहुत उपयुक्त हैं. ये नस्लें भारत की जलवायु और वातावरण के अनुकूल बन चुकी हैं. एफ. ए. ओ.; यू. एन. आई. सी. ई. एफ.; और यू. एस. ए. आई. डी. जैसी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें, उपकरण, अच्छी नस्लों के पक्षी तथा तकनीकी जानकारी देकर भारत में कुक्कुटादि के अनुसंधान तथा विकास में सहयोग कर रही हैं. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने इस कार्य के लिये बड़े पैमाने पर अनेक अखिल भारतीय समन्वित योजनाओं का प्रतिपादन किया है. भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसंधानशाला, इज्जतनगर, में कुक्कुटादि के विभिन्न पहलुओं पर अनुसंधान के लिये एक पूरा विभाग ही है. कुक्कुट-पालन करने वाले प्रमुख राज्यों में कुक्कुटादि के रोगों की अन्वेषण योजनायें कार्यान्वित हैं. अब कुक्कुटों के जीवाणुवीय, विषाणुकीय तथा परजीवी रोगों से सम्बन्धित व्यावहारिक कठिनाइयों के आँकड़े प्राप्त करना सुलभ हो गया है. अनेक राज्यों में कई स्थायी परियोजनायें चालू हैं जिनसे पालन-गृहों और राज्य अनुसंधान केन्द्रों के बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो चुका है.

सुव्यवस्थित प्रबन्ध, सफाई और रोग नियन्त्रण, आहार और पोषण पर अनुसंधान, प्रजनन के उन्नत तरीकों और बाजार की सुविधाओं के कारण कुक्कुट पालन व्यवसाय में तेजी से वृद्धि हुयी है. प्रशीतन आदि के प्रयोग, संसाधन की उन्नत विधियों और उत्तम वितरण के कारण अण्डों तथा कुक्कुटादि उत्पादों में वृद्धि हुयी है. एक सुयोजित कुक्कुट-पालन-गृह से 9–12 सप्ताह में मांस की और 24 सप्ताह में अण्डों की आशा की जा सकती है. उत्तम कोटि की मुर्गी से कम से कम इतने अण्डे प्राप्त होने चाहिये कि उसके आहार और अनुरक्षण का व्यय निकाल देने पर उससे 10 रु. वार्षिक लाभ हो. कुक्कुट पालन, चाहे छोटे या बड़े पैमाने पर हो, इससे पालक को लाभ ही होता है. कुक्कुटादि की अर्थ-व्यवस्था से पता चलता है कि यदि एक-एक अण्डे देने वाले पक्षी पर आरम्भिक व्यय 15 रु. किया जाय (नये चूज़े प्रजनन हेतु छोड़ दिये जायें) तो इससे एक वर्ष में 94–124 रु. तक की आय होती है. मांस के लिये पाले जाने वाले चूज़ों से प्रति चूज़ा 1.50 रु. आय होती है. एक तिमाही में प्रति चूज़ा 80–90 पैसे लाभ होता है. यह देखा गया है कि कुल उपलब्ध अण्डों में से यदि 25% बेच दिये जायें अथवा इनसे बच्चे निकलने दिये जायें तो ऐसा पालन लाभदायक सिद्ध होता है.

कुक्कुट नस्लें

अधिकांश आधुनिक कुक्कट नस्लों की उत्पत्ति भारत, ब्रह्मा, श्रीलंका तथा अन्य दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के देशी लाल जंगली मुर्ग गलस गैलस (लिनिअस) से मानी जाती है. भारतीय लाल जंगली मुर्ग अधिकतर देश के उत्तरी और दक्षिण-पूर्वी भागों में और धूसर किस्में दक्षिणी तथा पश्चिमी भागों तक ही सीमित हैं. विभिन्न नस्लों तथा प्ररूपों के क्रमविकास का कारण पक्षति (पर), रंग, आकार, माप, कलंगी संरचना, लोलकी आदि में विभिन्नता लाने के लिये *किया गया* चयनात्मक प्रजनन है. मुर्गों की लड़ाई का खेल इनको दक्षिण-पूर्वी एशिया में पालतू बनाने तथा इन्हें अन्य स्थानों पर फैलाने में बहुत सहायक हुआ है.

पालतू मुर्गियाँ दो प्रकार की होती हैं: (1) देशी, (2) विदेशी अथवा उन्नत. पहली में अधिकतर स्थानीय मुर्गियाँ आती हैं जबकि दूसरी में वे सभी मुर्गियाँ आती हैं जो देशी नस्लों के सुधार के लिये आयात की गयी हैं.

देशी नस्लें

देशी चूज़ों (**टेनिस, नेकेड नेक, पंजाब ब्राउन, घागस, लोलाब, कारकनाथ, कश्मीर फैवरोला, टिटरी, बसरा, तेलिचेरी, डांकी और कालाहस्ती**) के आकार और माप में अधिक भिन्नता पायी जाती है, यहां तक कि छोटे से छोटे झुण्ड में भी अनेक तरह के रंग और गठन देखे जाते हैं. भारत की कुक्कुट संख्या में ऐसे झुण्डों का मुख्य स्थान है किन्तु अण्डे देने वालों के रूप में महत्व नहीं है. तथापि देशी मुर्गियाँ अच्छी अण्डे सेने वाली, चारा ढूंढने वाली और दक्ष माँ होती हैं. **असील, चित्तागोंग और घागस** लगभग शुद्ध देशी नस्लें हैं. असील भारत की सर्वविदित वास्तविक अथवा विशुद्ध नस्ल है जो अपनी सहनशक्ति और लड़ाकू गुणों के लिये प्रसिद्ध है. शुद्ध असील आक्रमणशील पक्षी है. ऊर्ध्वाधर तथा तेजस्वी ठवन वाले इस पक्षी की चोंच दृढ़ और मोटी, कलँगी छोटी एवं मटराकार, माथा छोटा किन्तु आँखों के बीच चौड़ा, चेहरा लम्बा और कुछ-कुछ पतला, शरीर गोलाकार और छोटा, सीना चौड़ा और पंख गँठे हुये तथा पूंछ छोटी और लटकती हुयी होती है. यह रंग में काला, श्वेत, इस्पाती-नीला, काला-लाल मिश्रित,

लाल और चित्तीदार होता है. मुर्गे का भार 4–4.5 किग्रा. तक और मुर्गी का 3.2–3.6 किग्रा. तक होता है. मुर्गियाँ अच्छी अण्डे देने वाली नहीं होतीं.

इस नस्ल के शुद्ध पक्षी अब दुर्लभ हैं. अब इन्हें आन्ध्र प्रदेश, मैसूर और उत्तर प्रदेश के लखनऊ और रामपुर जिलों के कुछ शौकीन लोग ही पालते हैं. अन्य क्षेत्रों में अधिकतर असील तथा अन्य स्थानीय प्रकारों के संकर: **नहूरी** (श्वेत), **हैदराबाद पीला** (लाल), **याखुद** (काला और लाल), **धूमर** (नीली धूल), **टीकर** (भूरा काला), **जावा** (झालरदार), **पटेडा** (इकहरी कलँगी वाला), **कावराल** (दढ़ियल), इत्यादि मिलते हैं.

असील एक उत्तम खाद्य पक्षी है, जिसमें मांस की मात्रा अधिक होती है और यह स्वादिष्ट और सुरस होता है. मन्द वृद्धि और न्यून जनन-क्षमता के कारण इस नस्ल को खाद्य पक्षी के रूप में व्यापारिक पैमाने पर नहीं पाला जा सकता किन्तु उससे संकरण के परिणामस्वरूप अन्य पक्षियों में सहनशक्ति का विकास तथा उनके मांस की कोटि में सुधार आता है.

चटगाँव अथवा **मलय**, मूलत. मलाया प्रायद्वीप की देशी नस्ल है जो चिटगाँव (पाकिस्तान) में बहुतायत से पाली जाती है, और भारत के पूर्वी क्षेत्रों में भी पायी जाती है. इस नस्ल के पक्षी आकार में बड़े, हृष्ट पुष्ट और साहसी होते हैं. मुर्गे का भार 3.5–4.5 किग्रा. तथा मुर्गी का 2.5–4.0 किग्रा. होता है. मुर्गी अच्छी अण्डा देने वाली किन्तु बुरी माँ होती है. इन पक्षियों का सिर छोटा, चोंच लम्बी और रंग में पीली, कलँगी इकहरी और छोटी, आँखें श्वेत अथवा आपीत श्वेत, सीना चौड़ा, शरीर मांसयुक्त और गठीला, कन्धे चौड़े, पीठ पूँछ की ओर ढालू, पूँछ छोटी, टाँगें रंग में पीली और पंखरहित, पक्षति छोटी और घनी और रंग पंखों पर सुनहरे धब्बों से युक्त श्वेत होता है.

चटगाँव पक्षियों में वृद्धि तेजी से होती है और यह आदर्श खाद्य पक्षी माना जाता है. इसका मांस बहुत स्वादिष्ट होता है.

घागस – बड़ी और साहसी नस्ल है जिसका भारत में तेजी से ह्रास होता जा रहा है. इस नस्ल के अच्छे नमूने आन्ध्र और मैसूर राज्यों के खानाबदोशों के पास पाये जाते हैं. यह नस्ल यूरोपीय नस्लों (फेवेरोला) के समरूप है, किन्तु इनकी टाँगें पंख-रहित होती हैं. इनमें कलँगी इकहरी, मटराकार और छोटी, शरीर वर्गाकार और बड़ा, रंग में सूखी घास जैसा, भूराभ काला अथवा धूसर, लोलकियाँ और चंचुशृंग छोटे, ग्रीवा पतली, गला ढीला, उभरा हुआ, टाँगें अपेक्षाकृत लम्बी, रंग में धूमिल पीली अथवा हरी होती हैं. घागस अच्छा भक्ष्य पक्षी है. मुर्गी अच्छी सेने वाली, अण्डे देने वाली और दक्ष माँ होती है.

बसरा – यह देशी मुर्गियों की एक छोटी नस्ल है जो गुजरात और महाराष्ट्र में, विशेषतया बम्बई के निकटवर्ती क्षेत्रों में थोड़ी संख्या में पायी जाती है. इन पक्षियों का शरीर अण्डे देने वाले पक्षियों के अनुरूप होता है. ये तेजस्वी, सतर्क, भारी शरीर और हल्के पंखों वाले पक्षी हैं. इस नस्ल के पक्षियों की विशिष्टता उनकी अर्ध-प्यालाकार कलँगी, सिर पर पंखों का एक गुच्छा और धूसर रंग की टाँगें हैं. इनके शरीर के रंगों में अधिक विभिन्नता पायी जाती है. मुर्गी कम अण्डे देने वाली होती है. पठोर भार में 2 किग्रा. तक होता है.

विदेशी नस्लें

विदेशी अथवा उन्नत नस्लें अपेक्षाकृत आधुनिक नस्लें हैं जिनका हाल ही में आयात हुआ है और अब ये देश के विभिन्न भागों में पाली जाती हैं और वहाँ के वातावरण की अभ्यस्त हो चुकी हैं. पहले-पहल यूरोपवासी भारत में इन्हें लोकप्रिय बनाने के लिये अपने साथ अपने देशों से अच्छे-अच्छे मुर्गे भी लाये थे. अब ये नस्लें सरकारी और गैर सरकारी व्यापारिक पालन गृहों में बड़े पैमाने पर पाली जाती हैं. अण्डों के उत्पादन में वृद्धि अथवा मांस की कोटि में सुधार लाने के लिये अनेक केन्द्रों में इनकी आनुवंशिक संरचना में सुधार लाने के लिये अनुसंधान किये जा रहे हैं. ग्रामीण अज्ञात कुल की (देशी) नस्लों को उन्नत करने के लिये भी इन विदेशी नस्लों का उपयोग किया जा रहा है. विदेशी नस्लें चार विभिन्न श्रेणियों की हैं: एशियाई, अमेरिकी, अंग्रेजी और भूमध्यसागरीय. एशियाई नस्लों को छोड़कर अन्य सभी का व्यापारिक महत्व अधिक है. एक मान्य श्रेणीकरण के अनुसार पक्षियों के 200 प्ररूपों की 50 नस्लों की विभिन्न 12 श्रेणियाँ हैं. विदेशी नस्लों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है:

एशियाई (भारतीय नस्लों के अतिरिक्त) श्रेणी की तीन मुख्य नस्लें **ब्रह्मा**, **कोचीन** और **लंगशान** हैं. ये नस्लें अपने उत्तम कोटि के मांस के अतिरिक्त भूमध्यसागरी नस्लों के साथ नये प्ररूपों और नई नस्लों के विकास का केन्द्र बनी हुयी हैं. इस समूह के मुर्गों में वयस्कता देर से आती है, ये चारा ढूंढने में विशेष समर्थ नहीं होते किन्तु अण्डा सेने के लिये लगातार बैठे रह सकते हैं. इन पक्षियों की टाँगों पर पंख रहते हैं और इनके अण्डों पर भूरे खोल रहते हैं.

ब्रह्मा नस्ल के पक्षी सर्वाधिक पाले जाते हैं. इनकी उत्पत्ति ब्रह्मपुत्र क्षेत्रों में पाये जाने वाले धूसर चटगाँव मुर्गों से बतायी जाती है. शरीर भरा हुआ, जिस पर पंख ढीले किन्तु अधिक होते हैं. कलँगी मटराकार, टाँगों और पदांगुलियों पर पंख इस नस्ल की विशेषतायें हैं. पक्षति रंग में हल्की, काली अथवा पाण्डु होती है. मुर्गे का भार 5.4, मुर्गी का 4.3, पट्ठे का 4.5 तथा पठोर का 3.6 किग्रा. होता है.

कोचीन – चीन के शंघाई जिले की देशी नस्ल है जो पहले शंघाई मुर्गी भी कही जाती थी. भारी शरीर वाले इस मुर्गे की टाँगें पंखों से भरी हुयी, सीना झुका हुआ और मादा की पूँछ आधार पर गद्दीदार रहती है. इनमें कलँगी इकहरी और पक्षति रंग में पाण्डु-श्वेत, काली अथवा तीतरीय होती है. भार में मुर्गा 4.9, मुर्गी 3.8, पट्ठा 4.0 और पठोर 3.2 किग्रा. होती है.

लंगशान – चीन के लंगशान जिले की देशी, अपेक्षाकृत छोटी नस्ल है. इन पक्षियों का शरीर छोटा किन्तु गहन, टाँगें लम्बी और पूँछ पंखमय होती है. ये इकहरी कलँगी और समानुपाती शरीर के मनोहर पक्षी हैं. पक्षति का रंग श्वेत अथवा काला होता है. भार में मुर्गा 3.9, मुर्गी 3.4, पट्ठा 4.6 और पठोर 3.0 किग्रा. होती है.

अमेरिकी पक्षियों की 11 नस्लें हैं जिनमें सर्वाधिक लोकप्रिय **प्लाइमाउथ रॉक**, **वियनडोट**, **रोड आइलैण्ड रेड** और **न्यू हैम्पशायर** हैं. ये सभी नस्लें संयुक्त राज्य अमेरिका में छोटे किन्तु फुर्तीले भूमध्यसागरी मुर्गे और बड़ी आलसी एशियाई मुर्गी से संकरण के फलस्वरूप विकसित हुयी बतायी जाती हैं.

अमेरिकी नस्लें आकार में भूमध्यसागरीय और एशियाई नस्लों के बीच की होती हैं. ये पूर्वी भारी नस्लों की अपेक्षा जल्द किन्तु भूमध्यसागरीय नस्लों की अपेक्षा देर में वयस्क बनती हैं. ये आहार ढूंढने में समर्थ और अण्डा सेने वाली और तेजी से मोटाने वाली होती हैं. इनकी टाँगें पंखरहित और रंग में पीली होती हैं. इनकी लोलकियाँ रंग में लाल और इनके अण्डों का खोल भूरा होता है.

सभी अमेरिकी नस्लों को दो प्ररूपों में बाँटा जाता है : सामान्य तथा दुकाजी. ये दोनों अण्ड उत्पादन तथा मांस के लिये महत्वपूर्ण हैं. पट्ठों के मांस का मूल्य अण्डा तथा मांस देने वाले पक्षियों की अपेक्षा अधिक मिलता है. इनमें उत्तम प्रकार के दस्सी मुर्गे बनते हैं. अमेरिकी नस्लें अन्य नस्लों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं और साधारण किसान अथवा कुक्कुट पालक की हर प्रकार की आवश्यकता पूरी करती हैं.

प्लाइमाउथ रॉक बड़े आकार, उत्तम कोटि के मांस तथा अण्डे देने की क्षमता के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका की सर्वाधिक लोकप्रिय नस्ल है. इस नस्ल के 6 प्ररूपों में से **बार्ड प्लाइमाउथ रॉक** भारत में अधिक प्रसिद्ध है. भारत में इस नस्ल के मुर्गे भारतीय देशी मुर्गियों को उन्नत बनाने के लिये उपयुक्त सिद्ध हुये हैं. इस प्ररूप के पक्षियों में कलँगी इकहरी, शरीर लम्बा किन्तु गहन तथा सीने की हड्डी बड़ी होती है. पक्षति का रंग धूसर श्वेत होता है. पंखों पर आरपार, सीधी, समान मोटाई की काली धारियाँ त्वचा तक बनी रहती हैं. मादा की अपेक्षा नर पक्षियों का रंग उत्तरोत्तर प्रजनन में हल्का पड़ता जाता है. मुर्गे का सामान्य भार 4.2 किग्रा. और मुर्गी का 3.2 किग्रा. होता है.

संकीर्ण धारियों वाले **बार्ड प्लाइमाउथ रॉक** पक्षियों का प्रजनन आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी है. अधिक संकीर्ण धारियों के लिये प्रजनन कराये गये कुलों के पक्षियों में वृद्धि धीमी पड़ जाती है, छोटे पक्षियों के तन पर पंख कम रहते हैं तथा वयस्क पक्षियों के पंख और पूँछ दोषपूर्ण होने लगते हैं. **बार्ड प्लाइमाउथ रॉक** नस्ल के पक्षी साधारण ग्रामीण नस्लों को सुधारने के लिये उत्तम हैं. अन्य अमेरिकी नस्लें **ह्वाइट, बफ, सिलवर पेन्सिल्ड, पार्टरिज, कोलम्बियन** और **ब्लू** हैं. इन में श्वेत प्ररूप अपनी अण्डे देने की क्षमता और कबाबी मांस उत्पादन के लिये लोकप्रिय हैं. भारत में इस नस्ल का आयात हाल ही में किया गया है और यह लाभकारी सिद्ध हुयी है.

वियनडोट कुक्कुट, ललित लोच से युक्त तथा अपेक्षाकृत गोल और ढीले पंखों से युक्त शरीर के होते हैं. इनके पंख भूमि की ओर झुके होते हैं. इन पक्षियों की पीठ छोटी, कलँगी दन्तुर और त्वचा रंग में पीली होती है. सामान्य कार्यों के लिये यह अच्छी नस्ल है और मांस उत्पादन के लिये अधिक उपयोगी है. यदि इसका पालन भलीभाँति किया जाय तो यह किस्म काफी अण्डे देने वाली भी बन सकती है. भार में मुर्गा 3.8, मुर्गी 3.0, पट्ठा 3.4 और पठोर 2.5 किग्रा. होते हैं. **ह्वाइट, बफ, सिल्वर लेस्ड, गोल्डन लेस्ड, पार्टरिज, सिल्वर पेन्सिल्ड, कोलम्बियन** और **ब्लैक**, इस नस्ल की अन्य किस्में हैं.

रोड आइलैण्ड रेड भारत की बहुत ही लोकप्रिय नस्ल है. इस नस्ल की मुर्गियाँ अच्छी अण्डे देने वाली और उत्तम कोटि की मांस उत्पादक हैं. यह सभी नस्लों में सर्वाधिक सहिष्णु है तथा जलवायु के विषम परिवर्तनों को भी सहन कर लेती हैं. मुर्गियाँ उत्तम कोटि की अण्डे देने वाली होती है और इनके अण्डे का खोल भूरा होता है. पालन-गृहों में सरकारी, गैर सरकारी तथा व्यापारिक पैमाने पर इस नस्ल के झुण्ड पाले जाते हैं.

इस नस्ल की दो किस्में हैं: इकहरी कलँगी वाली तथा दन्तुर कलँगी वाली. केवल कलँगी की रचना को छोड़कर दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता. इकहरी कलँगी वाले कुक्कुट अधिक लोकप्रिय होते हैं.

इन पक्षियों का शरीर आयताकार और गठीला, सीना आगे की ओर उभरा हुआ, पीठ सपाट, टाँगें और पाँव साधारणतः गहरे पीले अथवा लाल और चोंच भी लाल होते हैं. पक्षति भड़कीली चमकदार तथा रंग में काली अथवा भूराभ-लाल होती है. कुछ में पाण्डु, श्वेत अथवा भूरी भी होती है. इनकी लोलकियाँ और आँखें लाल होती हैं. **रोड आइलैण्ड ह्वाइट** नस्ल, **रोड आइलैण्ड रेड** की भाँति लोकप्रिय नहीं है. भार में मुर्गा 4.0, मुर्गी 3.0, पट्ठा 3.5 तथा पठोर 2.5 किग्रा. होती है.

न्यू हेम्पशायर अपेक्षाकृत एक नई नस्ल है जिसका आयात भारत में अमेरिका से हाल ही में किया गया है. इस नस्ल के कुक्कुट अपनी सहिष्णुता के लिये प्रसिद्ध हैं. यह **रोड आइलैण्ड रेड** समूह से सम्बन्धित सामान्य नस्ल है. ये पक्षी आकार में **रोड आइलैण्ड रेड** कुक्कुटों के बराबर किन्तु अपेक्षाकृत कम आयताकार होते हैं. यह नस्ल कुछ ही वर्षो में तेज वृद्धि, तीव्र परिपक्वता, जननक्षमता तथा सेने की क्रिया आदि के कारण लोकप्रिय बन गयी है. इनकी पक्षति रंग में लालाभ-भूरी और कलँगी इकहरी होती है. मुर्गियाँ अच्छी अण्डे देने वाली और अण्डे भूरे खोलों वाले होते हैं. भार में ये पक्षी **रोड आइलैण्ड रेड** के बराबर होते हैं.

अंग्रेजी श्रेणी के पक्षियों की 6 नस्लें, **ससेक्स, ओर्पिंगटन, आस्ट्रालोर्प, कोर्निश, डारकिंग** तथा **रेड कैप** हैं. ये सभी उपयोगी नस्लें हैं तथा उत्तम कोटि के मांस उत्पादन के लिये प्रसिद्ध हैं. कोर्निश को छोड़कर अन्य सभी नस्लों के पक्षियों की त्वचा श्वेत तथा लोलकियाँ लाल होती हैं. **डारकिंग** और **रेड कैप** को छोड़कर अन्य सभी नस्लों की मुर्गियाँ भूरे खोल वाले अण्डे देती है.

प्रारम्भ में ससेक्स नस्ल का विकास मांस उत्पादन के लिये ही किया गया था. उसकी तीन किस्में, **लाइट ससेक्स, रेड ससेक्स** तथा **स्पेकेल्ड ससेक्स** कही जाती हैं. उनमें **लाइट ससेक्स** सर्वाधिक लोकप्रिय है जिसके कुछ अच्छे प्रभेद भी विकसित किये गये हैं. भारत में कुक्कुटादि पालक इन्हें बड़ी संख्या में पालते हैं.

ससेक्स कुक्कुटों का शरीर लम्बा और गठीला तथा कन्धे चौड़े होते हैं. उनका सीना बड़ा तथा सुविकसित होता है. ये अपने उत्तमकोटि के मांस के लिये प्रसिद्ध हैं. इनकी कलँगी इकहरी और चोंच, टाँगें तथा पदज सींग जैसे रंग के होते हैं. भार में मुर्गा 4.00, मुर्गी 3.2, पट्ठा 3.4 तथा पठोर 2.7 किग्रा. होती हैं.

ओर्पिंगटन नस्ल के कुक्कुटों का शरीर लम्बा, गठीला और गोल; सीना भरा हुआ और पीठ चौड़ी होती है. इस नस्ल के कुक्कुट भूमि से कुछ सटे हुये होते हैं. इनकी अस्थियाँ अपेक्षाकृत भारी होते हैं. भार में मुर्गा 4.6, मुर्गी 3.6, पट्ठा 4.0 तथा पठोर 3.2 किग्रा. होते हैं. इस नस्ल की चार किस्में 'पाण्डु', 'श्याम', 'श्वेत'. तथा 'नील' ज्ञात है. इनमें से पाण्डु सर्वाधिक लोकप्रिय है. यह बफ कोचीन, डार्क डारकिंग तथा **गोल्डेन स्पेकेल्ड हैमबर्ग** से विकसित की गयी है. इस श्रेणी की बढ़ती हुयी लोक-

प्रियता वाली किस्म आस्ट्रालोर्प के विकास के लिये कारणस्वरूप होने से श्याम किस्म महत्वपूर्ण है. ओर्पिंगटन अच्छा भक्ष्य पक्षी है. चयनात्मक प्रजनन तथा उचित प्रबन्ध से इनके अच्छे अण्डे देने वाले प्रभेद भी विकसित किये गये हैं.

आस्ट्रालोर्प एक उन्नत नस्ल है जो ऑस्ट्रेलिया में ओर्पिंगटन ब्लैक से विकसित की गयी है. घरों मे पालने के लिये उपयुक्त होने के कारण भारत में, विशेषकर आर्द्र और अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में यह किस्म लोकप्रिय होती जा रही है.

ओर्पिंगटन की इस किस्म के कुक्कुट देखने में अधिक खड़े तथा कम भारी जान पड़ते हैं. इनका पालन अण्डे के लिये किया जाता है. इनके शरीर पर मांस भी अधिक होता है फलतः यह दोहरे लाभ वाली किस्म बन गयी है. इन कुक्कुटों का शरीर पूँछ की ओर ढालू और गठीला होता है. इनके पंख भी ओर्पिंगटन की अपेक्षा अधिक गढ़े हुये रहते है. इनमें कलँगी इकहरी, चोंच काली, टाँगे और पंजे हल्के काले अथवा सीसे के समान काले, तथा तलवे गुलाबी श्वेत होते है. वैसे पक्षति सर्वत्र चमकदार किन्तु नीचे की तरफ भद्दे काले रंग के होते हैं. भार मे मुर्गा 4.00, मुर्गी 3.00, पट्ठा 3.4 तथा पठोर 2.5 किग्रा. होते हैं.

आस्ट्राह्वाइट जो आस्ट्रालोर्प नर तथा ह्वाइट लेगहार्न मादा का संकर है, एक अच्छी अण्डे देने वाली ओजस्वी कुक्कुटों की किस्म है. व्यापारिक पालन-गृहों में इन्हे बड़ी संख्या मे रखा जाता है.

कोर्निश मूलतः कोर्निश इण्डियन गेम कहलाती थी. इसका विकास ब्रिटेन मे भारतीय असील और मलय और अंग्रेजी शिकार पक्षियो के संकरण के परिणामस्वरूप हुआ. अंग्रेजी नस्लो के विपरीत कोर्निश पक्षियों की त्वचा पीली होती है. इनके शरीर पर पंख पतले और सटे हुये रहते है. शरीर का आकार मांस उत्पादन के अनुकूल होता है. इनका सीना गठीला और विशाल तथा कन्धे चौड़े होते है. कलँगी मटराकार होती है. भार मे मुर्गा 3.6, मुर्गी 2.6, पट्ठा 3.2 तथा पठोर 2.3 किग्रा. होते हैं.

डार्किंग और रेडकैप अंग्रेजी श्रेणी की छोटी नस्ले है. डार्किंग शारीरिक आकार में ससेक्स के समान होती है. तथा रेडकैप मे कलँगी दन्तुर होती है. इन नस्लो के अण्डे भूरे खोल वाले नही होते.

भूमध्यसागरीय श्रेणी मे भूमध्यसागरीय क्षेत्रों मे उद्भूत छः नस्ले आती है. इनके नाम है. लेगहार्न, मिनोरका, एनकोना, स्पेनिशन, अण्डालूसियन तथा बटरकप. इनमे लेगहार्न सर्वाधिक लोकप्रिय नस्ल है. इन सभी नस्लो के कुक्कुटो की टांगो पर पंख नही होते तथा इनमे लोलकियां श्वेत अथवा श्वेत क्रीमी रंग की होती है. मिनोरका नस्ल को छोड़कर इस श्रेणी की अन्य सभी नस्लो के मुर्गे भार मे अपेक्षाकृत हल्के तथा आकार मे छोटे होते है. ये कम आयु मे ही परिपक्व हो जाते है. ये फुर्तीले, चारा ढूढने में तेज किन्तु अच्छे सेने वाले नही होते. अपेक्षाकृत कम आहार लेने के कारण इनका पालन मितव्ययी होता है. ये बहुत अच्छी अण्डे देने वाली मुर्गियां है और इनके अण्डे श्वेत खोलो वाले होते है.

लेगहार्न एक फुर्तीली तथा छोटी नस्ल है और अपने विभिन्न अंगो के सुमेल होने के कारण प्रसिद्ध है. ये पक्षी आकार मे गठे हुये और सुव्यवस्थित होते हैं. इनका सिर छोटा, कलँगी तथा चक्षुशृंग पूर्णतः सुव्यवस्थित होते हैं. इनके पंख घने और पूँछ नीची होती है. इन पक्षियो की पीठ और टाँगें अपेक्षाकृत लम्बी तथा सीना उभरा रहता है. ह्वाइट (श्वेत), ब्राउन (भूरे), ब्लैक (श्याम) तथा बफ, लेगहार्न की अधिक प्रचलित किस्मे हैं. सिल्वर, रेड, ब्लैक टेल्ड रेड तथा कोलम्बियन कुछ अन्य कम प्रचलित किस्में है. मुख्य किस्मे पुनः कलँगी की बनावट के आधार पर दन्तुर (रोज) तथा इकहरी कलँगी दो प्रकारों में बाँटी जाती है. इन सभी किस्मों के कुक्कुटों की चोंचे, त्वचा, टाँगे तथा पंजे पीले रंग के होते है. पक्षति की रचना तथा कलँगी के प्रकार को छोड़कर रूप तथा आकार मे ये सभी पक्षी समान होते है. कम खाने तथा तंग स्थान में रह सकने के कारण इनका पालन बहुत ही किफायती होता है. श्वेत लेगहार्न प्रकार बड़े आकार के विपणन योग्य अण्डे देती है और विशेषतया व्यापारिक पालन गृहों के लिये अत्यन्त उपयुक्त है. मुर्गो मे कलँगी इकहरी, मध्यम आकार की, तनी हुयी, तथा काफी नीचे तक कटावदार होती है. मुर्गियों में केवल पहला कटाव ही तना रहता है. शेष कलँगी एक ओर लटकी रहती है. मुर्गे मे कलँगी दन्तुर (रोज), मध्यम आकार की तथा रिक्त स्थानो पर वर्गाकार होती है. मुर्गी में यह सपाट होती है. भार मे मुर्गा 2.6, मुर्गी 2.0, पट्ठा 2.5 तथा पठोर 1.8 किग्रा. होते है.

ह्वाइट लेगहार्न कुक्कुटों को सर्वप्रथम विदेशी धर्म प्रचारक (पादरी) तथा चाय बागान मालिक लगभग 50 वर्ष पूर्व भारत मे ले आये थे. ये इस देश मे विशेषतया शुष्क क्षेत्रो मे सफल सिद्ध हुये हैं. ये पक्षी भारी मिट्टियो, आर्द्र तथा पहाड़ी क्षेत्रों मे ठीक से नही बढ़ पाते. ये अण्डो के उत्पादन के लिये तो बहुत लोकप्रिय है किन्तु उत्तम भक्ष्य नही हैं.

ब्राउन लेगहार्न भी अपनी उत्तम उत्पादन क्षमता के कारण इतनी ही लोकप्रिय किस्म है. साधारणतः इनका रंग हल्का अथवा गहरा भूरा होता है. इनकी पक्षति जंगली मुर्गे की अपेक्षा अधिक सुन्दर होती है. जिन क्षेत्रो मे श्वेत रंग के पक्षी पसन्द नही किये जाते वहाँ देशी मुर्गियो की नस्लो को सुधारने के लिये इन्हे काम मे लाया जाता है.

ब्लैक लेगहार्न पक्षी श्वेत किस्मो की अपेक्षा कम अण्डे देने वाली किस्म है. प्रायः इन पक्षियो मे ब्लैक मिनोरका किस्म के पक्षियो का भ्रम हो जाता है. किन्तु लेगहार्न पक्षियो के समरूप शारीरिक रचना तथा लाक्षणिक सिर से इन्हे आसानी से पहचाना जा सकता है.

मिनोरका कई स्थानो पर लालमुंही स्पेनिश नाम से भी जानी जाती है. अन्य देशो से भारत मे लाकर इन्हे कई पालन गृहो में रखा गया है. इनका शरीर लम्बा तथा कलँगी और लोलकियाँ बड़ी होती हैं. इनकी पीठ पूँछ की ओर ढालू रहती है. इनकी कलँगी ह्वाइट हार्न की ही तरह की किन्तु छः नुकीली कटानों से युक्त होती है. इन पक्षियो की चोंच काली होती है और टाँगे तथा पंजे काले तथा स्लेटी रंग के होते हैं. ये अच्छे अण्डे देने वाली मुर्गियां है. इनके अण्डे आकार मे बड़े और श्वेत खोलों वाले होते हैं. इनके चूजो की वृद्धि तेजी से होती है और ये उत्तम भक्ष्य पक्षी बनते है. भार मे मुर्गा 3.6, मुर्गी 3.0, पट्ठा 3.0 और पठोर 2.5 किग्रा. होते है.

मिनोरका नस्ल की तीन किस्में ज्ञात है: ब्लैक (श्याम), ह्वाइट (श्वेत) तथा बफ. ब्लैक तथा ह्वाइट दोनो किस्में दो प्रकारो में वर्गीकृत है: इकहरी कलँगी वाले तथा दन्तुर (रोज) कलँगी वाले. इनमें से पहला प्रकार सर्वाधिक लोकप्रिय है. अण्डे

कारकनाथ मुर्गा
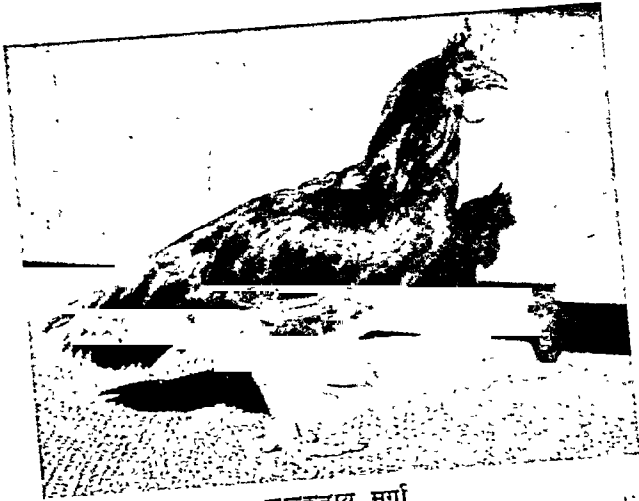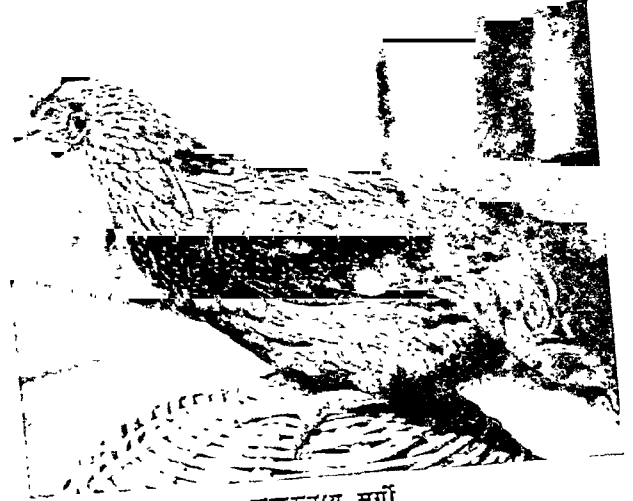
कारकनाथ मुर्गी

कुक्कुट : देशी नस्लें

श्वेत वियनडोट मुर्गा

श्वेत वियनडोट मुर्गी

श्वेत कोर्निश मुर्गा

श्वेत कोर्निश मुर्गी

कुक्कुट : विदेशी नस्लें

ही इनकी कसरत भी होती रहती है. गहन पद्धति मे पक्षियो को एक कमरे अथवा छप्पर मे घनी बिछाली पर एक साथ अथवा अलग-अलग पिंजडो मे रखा जाता है. व्यापारिक पैमाने पर बडे कुक्कुट झुडो के प्रबन्ध के लिये यह पद्धति अधिक उपयुक्त है.

अर्ध-गहन पद्धति मे 50 अण्डे देने वाली मुर्गियो के पालन के लिये 230 वर्गमी क्षेत्रफल की आवश्यकता पडती है. इसमे उचित आकार का छप्पर, आहार लेने के लिये टोकरियाँ, दरबे के बक्से, जल नालियाँ तथा रात मे पक्षियो के रहने के लिये पिंजडे होने चाहिये. पक्षियो की तेज हवा मे रक्षा के लिये फूस अथवा किरमिच के पर्दे काम मे लाये जा सकते है. गर्मियो मे छाया के लिये शहतूत अथवा नीबू जाति के वृक्ष लाभदायक होते है किन्तु जाडे मे धूप के लिये इनकी छँटाई कर देनी चाहिये. दरबो को छप्पर के एक अन्धेरे कोने मे रखना चाहिये जिससे कि अण्डा देने के समय मुर्गी को शान्त वातावरण मिल सके.

गहन अथवा निर्मित बिछाली मे पालन के लिये एक विशेष रूप से निर्मित स्थान के फर्श को घासफूस की कई मोटी परतो से ढक दिया जाता है इस प्रकार की बिछाली बनाने के लिये अधिक अवशोषण क्षमता वाले पदार्थ, जैसे धान की भूसी, मूगफली अथवा बिनौले के छिलके, गेहूँ का भूसा, छोटे-छोटे भुट्टो की खूख के टुकडे, धान की पुआल, ईख के रेशे, बुरादा तथा लकडी की छीलन आदि प्रयोग किये जाते है. जीवाणु तथा अन्य सूक्ष्म जीव कुक्कुटो की बीट तथा बिछाली के तिनको को अपघटित करके असक्रमित ह्यूमस जैसा पदार्थ बनाते है. तिनको तथा घास-फूस पर जीवाणुओ की क्रिया से राइबोफ्लैविन, विटामिन तथा अन्य सूक्ष्ममात्रिक तत्व बनते है जो बिछाली की परतो द्वारा गृहीत होकर अण्डे सेने की क्रिया को बढाते है बिछाली वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने के दो मास पूर्व ही बनानी आरम्भ कर देनी चाहिये और वर्षा समाप्त हो जाने के पश्चात् इस पर और तृण डालकर इसे 15–20 सेमी. मोटी कर लेनी चाहिये. जाडे-भर बिछाली की मोटाई इतनी ही रहनी चाहिये, किन्तु ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुओ मे इसे कम करके 8–10 सेमी. मोटी कर देनी चाहिये. उत्तम परिणामो के लिये बिछाली को सूखा रखना अनिवार्य है. बिछाली हिलाते-डुलाते रहने से भी उसके सूखने तथा नाशक जन्तुओ से रहित बनाने मे सहायता मिलती है.

गहन बिछाली वाले पालन-गृह मे अधिक सख्या मे पक्षी नही होने चाहिये. 100 पक्षियो के एक सग्रह मे प्रति पक्षी न्यूनतम स्थान हल्की नस्ल के लिये 28 वर्गसेमी. तथा भारी नस्लो के पक्षी के लिये 32 वर्गसेमी. होना चाहिये. बिछाली-घर मे प्रकाश तथा ताजी वायु आने का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिये. पक्षी आराम मे रहे इसलिये इस घर को चारो ओर से खुला रहना चाहिये और भूमि मे 60–75 सेमी. की ऊँचाई तक तार की जाली से ढका होना चाहिये. अधिक शीत होने पर पक्षियो को गर्म रखने के लिये इन खुले स्थानो को टाट अथवा किरमिच तान कर ढक दिया जाता है.

बडे शहरो में स्थानाभाव होने के कारण अण्डा देने वाली बैटरियो का उपयोग किया जाता है अण्डा देने वाली बैटरी मे छोटे-छोटे पिंजडो की एक शृखला रहती है जो पक्तिबद्ध एक दूसरे के ऊपर रखे होते है. ये पिंजडे प्रायः धातु के चौखटो तथा तार की जाली से बनाये जाते है. प्रत्येक पिंजडे मे एक अण्डा देने वाली मुर्गी पूरे एक दिन और रात के लिये बन्द कर दी जाती है. पिंजडो को एक शृखला मे एक चौखटे में 7 पिंजडे तक पक्तिबद्ध रखते है. पिंजडे के तल मे मजबूत तार की जाली (2.5 सेमी) लगी रहती है जो मुर्गी के भार को सहन कर सके तल एक ओर ढालू तथा ऐसा घुमावदार बना रहता है जिससे इसमे अण्डा आते ही नीचे की ओर लुढक जाये. पक्षियो की बीट इकट्ठी करने के लिये चौखटे मे एक धातु की बनी ट्रे लगी रहती है. आहार तथा जल के लिये पिंजडो के सामने की ओर समस्त लोहे की छडो पर द्रोणिकाये रखी जाती है ये प्रत्येक पिंजडे मे अलग-अलग अथवा 3–4 पिंजडो के बीच लगायी जाती है इन्हे सफाई के लिये आसानी से निकाला जा सकता है

कुक्कुट-पालन घरो के विविध प्रकार के डिजाइन प्राप्त है. कुक्कुट पालक अपनी आवश्यकताओ, कुक्कुटो की सख्या, स्थानीय जलवायु तथा सामान की स्थानीय सुलभता को देखते हुये मुर्गी-घर की योजना बनाता है पालन घरो का उचित स्थान पर होना अत्यन्त आवश्यक होता है इन्हे रोशनीदार तथा हवादार भी होना चाहिये. पक्षियो को गर्मी, वर्षा, आर्द्रता, सूखा तथा ठण्डक से बचाने के लिये इन पर छत भी होनी चाहिये. कुक्कुटादि के अण्डे देने तथा प्रजनन का प्राकृतिक समय वसन्त ऋतु है इसलिये कुक्कुट-पालन घर की योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उसमे पक्षियो को सदैव वसन्त ऋतु जैसा वातावरण मिलता रहे. साधारणतः अच्छे आकार के अण्डे पाने के लिये मुर्गियो को 13–24° का ताप उत्तम और सुखकर होता है. ताप के बढने के साथ ही अण्डा माप मे छोटा होता जाता है, और खोल पतली होने के साथ-साथ अण्डो का उत्पादन घटता जाता है. केवल पहाडी क्षेत्र ही ऐसे है जहाँ का ताप इतना निम्न हो जाता है कि पक्षियो की रक्षा के लिये विशेष प्रकार के घर बनाने पडते है अन्यथा देश के अधिकाश भागो मे पक्षियो को गर्मी के उच्च ताप से बचाने के लिये ही घर बनाये जाते है कुक्कुट-पालन घर की योजना बनाते समय यह बात विचारणीय होती है.

देहातों मे कुक्कुट-पालन घर बाँस की पट्टियो, टाट के टुकडो, वृक्षो तथा झाडियो की टहनियो, सूखी घास आदि से बनाये जाते है. ऐसे पालन घरो में थोडे ही पक्षी रखे जाते है जो दिन के समय खुले छोड दिये जाते है. 100 अण्डे देने वाली मुर्गियो अथवा 250 दिन की आयु के चूजो के लिये उचित पालन-घर 7.3 मी. लम्बा, 4 5 मी. चौडा, बीच मे 3.0 मी. तथा किनारो पर 2.1 मी. ऊँचा होना चाहिये. पालन-घर की भूमि ढालू होनी चाहिये, खम्भो पर खडी छप्पर की छत 20–23 सेमी. मोटी तथा चारो ओर ढालू होनी चाहिये. इनके लिये तिकोनी छते भारतीय जलवायु के अनुकूल तथा उपयुक्त होती है. सेने के लिये भी इस प्रकार के घर उपयुक्त होते है किन्तु इन्हे अण्डे देने वाले घरो से 30.5 मी. की दूरी पर बनाना अच्छा रहता है

कुक्कुट-पालन गृहो मे अड्डे, दरबे, आहार टोकरियाँ, जल व्यवस्था, और ककडी तथा खोल आधान होने चाहिये साधारणतः प्रति पक्षी 20–23 सेमी. अड्डे का स्थान दिया जाना चाहिये. अड्डे इतने बडे होने चाहिये कि पक्षी उन पर सुविधा से बसेरा ले सके. ये अड्डे मोटे, लकडी के अथवा बाँस की 50 मिमी. तक मोटी पट्टो के होने चाहिये. मुर्गियो को अण्डे देने के लिये बक्से (30.5×45.7 सेमी.) भी होने चाहिये. जालीदार होने से दरबो मे प्रत्येक पक्षी के द्वारा दिये गये अण्डो का पता चल जाता है.

आहार-नादो अथवा टोकरियो को भी इस प्रकार का बना होना चाहिये कि पक्षी आहार नष्ट न कर सके. साधारणतः

आजकल चूजों तथा अण्डे देने वाली मुर्गियों को सूखा दलिया देने की प्रथा है. यह आहार इस प्रकार रखा जाता है कि सदा साफ और सूखा रहे तथा पक्षियों के लिये हर समय सुलभ भी हो और नुकसान भी कम से कम हो. ऐसे सम्भरक जिनमे टोकरियों से आहार, नालियों मे यन्त्रवत आ जाता है अब बहुत ही सामान्य हो चुके हैं. इनमें श्रम की काफी बचत होती है. चूजों तथा वयस्क पक्षियों के लिये पृथक-पृथक सम्भरकों की आवश्यकता होती है. ग्रामीण क्षेत्रों में बाँस अथवा लकड़ी के बने साधारण नाँद काम में लाये जाते हैं. ये श्रेष्ठतर तथा काफी किफायती भी होते हैं क्योंकि पक्षी इनके दोनों ओर खड़े होकर आहार ले सकते हैं. कम अपव्यय के कारण लटके हुये सम्भरक अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं.

पक्षियो को पानी आदि पिलाने के लिये अनेक प्रकार के पात्र प्रयोग में लाये जाते हैं. ये आधान फव्वारे के रूप मे अथवा ढक्कनदार हो सकते है.

आहार एवं चुगाना

भारत मे कुक्कुटों को अपना पेट भरने के लिये खुला छोड़ दिया जाता है किन्तु पक्षियों की मांस तथा अण्डा उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिये इनको उचित रीति से चुगाना तथा इनका प्रबन्ध आवश्यक हो जाता है. आहार सब से ज्यादा महँगी सामग्री है. कुक्कुट-पालन पर आने वाली कुल लागत का लगभग आधे से ज्यादा (60–70%) केवल आहार पर ही आता है. इसलिये आहार के चुनाव मे सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है. पक्षियों को तेजी से बढ़ने के लिये जो आहार दिया जाता है वह अण्डा उत्पादन अथवा उन्हें मोटा करने के लिये दिये जाने वाले आहार से भिन्न होता है.

कुक्कुटों को दिये जाने वाले आहार मे मुख्यतया अन्न, अन्न के उपोत्पाद, जन्तु तथा वनस्पति स्रोत के अन्य उपोत्पाद तथा हरे चारे सम्मिलित होते हैं. प्रोटीन आहार, विशेषतया जन्तु प्रोटीन, महँगे होते है, किन्तु पक्षियों को जन्तु तथा वनस्पति प्रोटीनो का मिश्रण खिलाने से ही सन्तोषजनक अण्डा-उत्पादन सम्भव है.

कुक्कुट आहार के आवश्यक पोषक हैं: जल, कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, कैल्सियम, फॉस्फोरस और मैंगनीज खनिज तथा विटामिन. सतुलित आहार में ये सभी पोषक उचित अनुपात मे रहते हैं. समुचित वृद्धि तथा अण्डो के उत्पादन के लिये सन्तुलित आहार अनिवार्य है. चूजो तथा अण्डा देने वाली मुर्गियों के किफायत से पालन के लिये आहार का अच्छी तरह से प्रयोग करना आवश्यक है. बढते हुये चूजो के लिये प्रोटीन की तो आवश्यकता अधिक रहती है किन्तु कैल्सियम तथा फॉस्फोरस की आवश्यकता उन्हें अण्डे देने वाली मुर्गियो की अपेक्षा कम रहती है. बढते हुये चूजो के आहार में अण्डे देने वाली मुर्गियों की अपेक्षा फॉस्फोरस का कैल्सियम से अनुपात अधिक होना चाहिये. अण्डे देने वाली मुर्गियो को बढते हुये चूजों की तुलना मे विटामिन ए और डी तो अधिक मात्रा मे किन्तु राइबोफ्लैविन कम मात्रा मे आवश्यक होता है. अन्धेरे बन्द स्थानों पर पाली जाने वाली मुर्गियो को मुक्त विचरने वाली मुर्गियो की अपेक्षा अधिक विटामिन डी की आवश्यकता होती है. उन मुर्गियों को जिनके अण्डों से बच्चे लेने होते है, ऐसी मुर्गियों की अपेक्षा जिनसे खाने के लिये अण्डे लेने होते हैं, विटामिन डी तथा राइबोफ्लैविन की अधिक मात्रा आवश्यक होती है. बहुत ही किफायती उत्पादनों के लिये पक्षियों को अनेक खाद्य पदार्थों से बने सन्तुलित आहार देना आवश्यक है जिसमे सभी पोषक तत्व उचित अनुपात में हों. अनाज की स्थानीय सुलभता तथा उसके मूल्यों को देखते हुये मुर्गियों के लिये सन्तुलित आहार तैयार किया जाता है.

कुक्कुटादि को अन्नों से प्रचुर मात्रा मे कार्बोहाइड्रेट तथा वसा उपलब्ध हो जाती है. खली, सड़े गले मास, मछली और अस्थि तथा रक्त-चूर्ण से प्रोटीन प्राप्त हो जाता है. चूना-पत्थर तथा शुक्ति कवचों से कुक्कुट आहार की कैल्सियम तथा फॉस्फोरस की आवश्यकता-पूर्ति हो जाती है. कुक्कुट आहार में 1% तक साधारण नमक मिला देना चाहिये. कुक्कुटो के लिये कोमल घास, बरसीम, लूसर्न घास, बन्द गोभी, सलाद, गाजर तथा प्याज जैसे हरे चारे भी आवश्यक हैं. इन्हे महीन काटकर तथा पकाकर देना चाहिये.

सन्तुलित आहार की गणना के लिये इनमें विभिन्न खाद्य पदार्थों के संघटन ज्ञात होने चाहिये. सारणी 124 मे कुक्कुट आहारों के औसत सघटन दिये गये हैं.

कुक्कुटो को चुगाने की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं. इनके नाम हैं: केवल दाना, केवल छीलन, दाना तथा दलिया, केवल दलिया, भिगोया दलिया तथा गोलियाँ. बढ़ते हुये चूजों तथा अण्डे देने वाली मुर्गियों के लिये दाना तथा दलिया आहार की विधि अत्यन्त लोकप्रिय है. टोकरियों में डालकर खिलाने के लिये छीलन तथा दलिया विधि उत्तम है क्योंकि इस प्रकार बहुत कम व्यय होता है. बढते हुये चूजों को प्रथम दो सप्ताह तक केवल दलिया का आहार दिया जाता है. जैसे ही ये कुछ बड़े हो जाते हैं, इनके आहार में दाने की मात्रा बढ़ा दी जाती है. दाना-दलिया विधि मे पक्षी इच्छानुसार दाना अथवा दलिया मिश्रण ले सकता है. चूजों को प्रारम्भिक अवस्था मे यह नही दिया जाता. हाँ, अण्डे देने वाले तथा प्रजनक पक्षियों को यह पूर्ण आहार की तरह दिया जाता है. 20% प्रोटीनयुक्त दलिया के और दाने के 50 : 50 अनुपात के मिश्रण की सस्तुति की जाती है. इस मिश्रण मे उचित मात्रा मे विटामिन तथा खनिज मिलाकर बढ़ते हुये चूजों, अण्डे देने वाली मुर्गियों तथा प्रजनक पक्षियों को खिलाया जा सकता है किन्तु दाना और दलिया के अनुपात मे इतनी आसानी से सन्तुलन नही लाया जा सकता.

व्यापारिक पैमाने पर पालन-घरो मे कुक्कुटो का आहार केवल दलिया के रूप मे ही देने की आधुनिक विधि अपनायी जाती है. इस विधि मे अनाज को साबुत और अलग से खिलाने के बजाय पीसकर दलिये के साथ मिलाकर दिया जाता है. इस केवल दलिया वाली विधि मे अनाज को बहुत बारीक पीसना पडता है. अण्डे देने वाले तथा बैटरियो मे मास के लिये पाले जाने वाले पक्षियों के लिये केवल दलिया एक आदर्श आहार है. यह चूजों को प्रारम्भिक अवस्थाओ मे भी खिलाया जा सकता है.

भारत मे कुछ मुर्गी-पालकों ने कुक्कुटो को आहार देने की गुटिका (गोली) विधि भी अपनायी है. इस विधि मे सूखे दलिया के मिश्रण को उच्च दाब पर विभिन्न आकार की आहार गोलियो मे बदला जाता है. इन गोलियो का आकार खिलाये जाने वाले पक्षियों की आयु के अनुसार छोटा-बड़ा बनाया जा सकता है. छोटे कुक्कुट-पालको के लिये आहार की यह विधि सुविधाजनक होती है.

किसी भी मुर्गी-पालक के समक्ष सबसे विशेष बात यही रहती है कि पक्षियों मे ऐच्छिक भार वृद्धि के लिये उन्हे वह कितनी मात्रा मे आहार दें. आहार चाहे पूर्ण सन्तुलित क्यों न हो किन्तु यदि

सारणी 124 – विभिन्न कुक्कुट खाद्यों का औसत संघटन (%)*

खाद्य पदार्थ	कुल शुष्क पदार्थ	प्रोटीन	वसा	अपरिष्कृत तन्तु	नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष	खनिज पदार्थ	कैल्सियम	फॉस्फोरस	कुल पचनीय पोषक
बाजरा	90.0	9.8	4.6	10.0	72.6	3.0	0.14	0.93	54.3
जौ	91.9	9.3	2.7	6.2	71.1	2.5	0.23	0.78	70.8
रक्त-चूर्ण	91.2	82.2	1.2	1.3	2.7	3.8	0.33	0.26	75.9
अस्थि चूर्ण	96.4	7.1	3.3	0.8	3.9	81.3	32.61	15.17	...
मछली चूर्ण	92.4	58.7	7.9	0.9	4.1	20.7	7.52	6.82	67.6
कूड़ा-कचरा	39.3	6.0	7.2	1.1	22.2	2.8	...	...	34.6
चना	91.9	18.0	4.5	6.9	60.1	2.4	0.40	0.90	79.0
मूँगफली की खली	93.8	37.6	6.1	15.2	29.5	5.4	0.21	0.99	79.1
ज्वार	90.4	13.8	2.3	...	71.9	2.5	0.11	0.77	73.7
तीसी की खली	94.4	28.9	4.2	9.1	42.8	9.4	0.69	1.62	82.6
मक्का	91.9	9.7	3.0	2.0	75.5	1.7	0.06	0.84	70.5
मक्के का ग्लूटेन	90.5	26.4	2.4	7.1	48.4	6.1	0.20	1.26	77.4
मांस की रद्दी	93.7	55.0	10.7	2.2	1.2	24.1	12.18	9.85	73.8
शीरा, ईख का	75.4	0.7	...	...	70.1	4.6	0.90	0.10	69.5
जई	90.5	8.7	6.0	...	71.0	5.4	0.28	0.73	71.7
मटर	90.5	23.8	1.2	6.2	56.2	3.1	0.10	0.92	79.6
चावल	87.5	8.3	1.8	8.8	64.7	5.0	...	0.48	59.1
धान की भूसी	87.5	12.3	17.6	12.3	31.4	13.9	0.19	5.45	62.9
मखनियाँ दूध	9.6	3.7	0.1	...	5.0	0.8	0.22	0.27	8.6
सोयाबीन चूर्ण	91.7	44.5	3.7	3.6	30.3	5.7	0.39	1.51	82.2
सूर्यमुखी के बीज	63.3	18.0	25.7	28.1	14.2	7.3	0.50	1.26	89.2
गेहूँ	91.5	9.6	1.7	1.7	76.8	1.7	0.19	0.70	84.0
गेहूँ का चोकर	89.0	11.5	4.4	12.2	54.1	6.8	0.23	2.0	70.8

*Naidu, 176.

अपर्याप्त हो तो इससे पक्षियों की वृद्धि देर से होती है. इसलिये पक्षी विशेष की वृद्धि अवस्था को देखते हुये उसके लिये आहार की कोटि तथा मात्रा निर्धारित करनी चाहिये.

नर पक्षियों में मादा की अपेक्षा वृद्धि तेजी से होती है और इनको आहार भी अधिक चाहिये. इसी प्रकार दुकाजी नस्लें जैसे **रोड आइलैण्ड रेड** तथा **प्लाइमाउथ रॉक** के चूज़े, अण्डजनक नस्लें जैसे लेगहार्न के चूजों की अपेक्षा तेजी से बढ़ती हैं और अधिक आहार भी लेती हैं. विशुद्ध नस्लों के चूजों की अपेक्षा संकर नस्लों के चूजों में प्रारम्भिक 10–12 सप्ताहों में वृद्धि की दर तेज होती है. खुले स्थानों की अपेक्षा चूजे बन्द स्थानों में तेजी से बढ़ते हैं. पहले 2 से 6 सप्ताह तक पक्षियों का भार लगभग दुगना हो जाता है किन्तु इसके बाद अधिक आहार चुगने के बावजूद भी इनके भार में प्रतिशत वृद्धि अपेक्षाकृत कम होती है.

पक्षियों में वृद्धि दर कम से कम चार कारणों पर निर्भर करती है. ये हैं : नस्ल विशेष का औसत, वंशानुगत आकार, इनकी दैनिक आहार की कोटि और मात्रा, आहार में प्रोटीन की मात्रा तथा प्रबन्ध की विधियाँ.

पक्षियों की आहार पद्धति इनकी आयु के अनुसार तथा अण्डों के अधिकतम उत्पादन के लिये इनकी विभिन्न श्रेणियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है.

अण्डों से निकलने के बाद 36 घण्टों तक छोटे चूज़ों को किसी भी प्रकार के आहार की आवश्यकता नहीं होती. इस समय तक ये अण्डे में प्राप्य खाद्यों पर जीवित रहते हैं. अण्डे देने वाले बढ़ते चूजों के लिये उचित आहार निम्नलिखित पदार्थों को (भार के अनुसार भाग) मिला करके बनाया जाता है : पीली मक्का अथवा अन्य कोई अनाज, 28; चावल की पालिश, 26; जौ अथवा जई, 7; गेहूँ की भूसी, 7; मूंगफली की खली का चूरा, 16; मक्के का चूर्णित चोकर, 5; भपाई मछलियों का चूरा, 5; मांस का कचरा, 3; अस्थि-चूर्ण, 1; कैल्सियम, 1.5 तथा साधारण नमक, 0.5. इस मिश्रण के पूरक के रूप में इसमें निम्नलिखित अवयव भी (ग्रा./100 किग्रा.) मिलाये जाते हैं : विटामिन ए, 2.2; विटामिन बी$_2$, 0.5; विटामिन डी$_3$, 0.3; तथा मैंगनीज सल्फेट, 22. एक सप्ताह की आयु का हो जाने पर पक्षियों को हरा चारा पर्याप्त मात्रा में दिया जाता है.

अण्डे देने वाले पक्षियों को दलिया-आहार देना चाहिये जिसमें अन्य पदार्थ (भार के अनुसार भाग) इस प्रकार हों : पीली मक्का
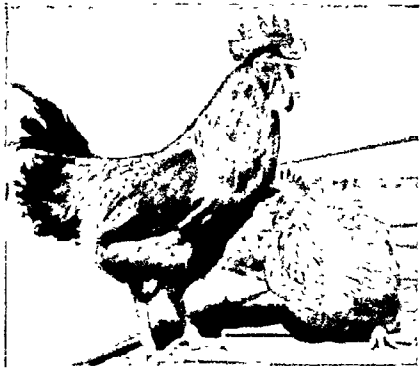
न्यू हैम्पशायर

रोड आइलेण्ड रैड (मुर्गा)

रोड आइलेण्ड रैड (मुर्गी)
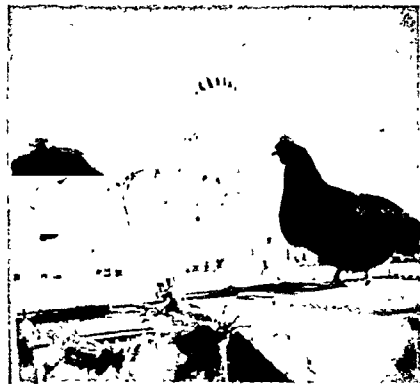
आस्ट्रालोर्प्स

वनताम

देशी
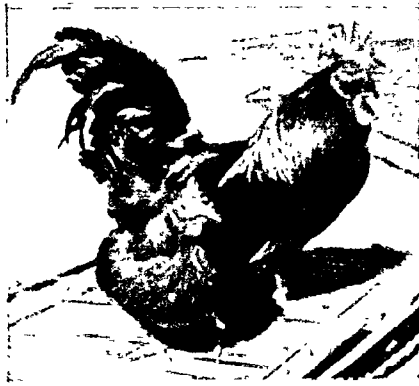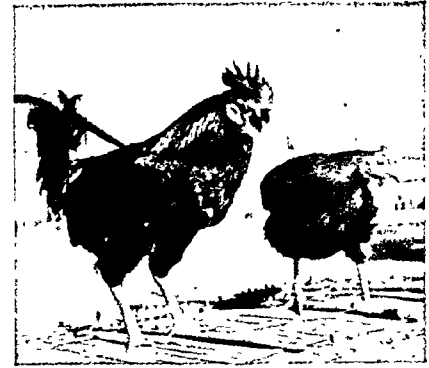
पांडु आर्पिंगटन
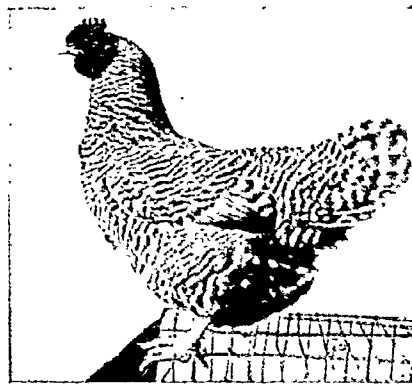
वार्ड प्लाइमाउथ रॉक (मुर्गी)
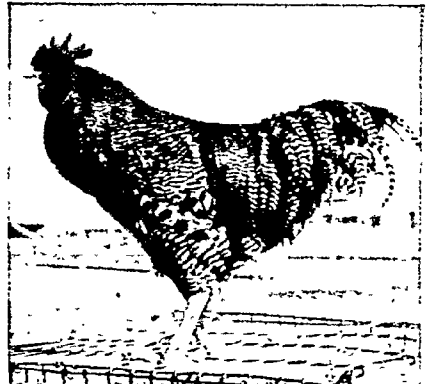
वार्ड प्लाइमाउथ रॉक (मुर्गा)

कुक्कुट नस्लों के सामान्य या द्विउपयोगी प्रकार

अथवा अन्य अनाज या अनाज मिश्रण, 30, चावल की पालिश, 20; जौ अथवा जई, 10; गेहूँ की भूसी, 10, मूगफली की खली का चूरा, 15; मक्के का चोकर, 4.5; भपाई मछलियों का चूरा, 1, कैल्सियम चूर्ण, 2; तथा साधारण नमक 0.5 इसमें पूरक के रूप में जो अवयव मिलाये जाते हैं वे इस प्रकार हैं (ग्रा./100 किग्रा.): विटामिन ए, 4.4; विटामिन बी$_2$, 0.5, विटामिन डी$_3$ 0.6 तथा मैंगनीज सल्फेट, 22. इसके अतिरिक्त पक्षियों को हरा आहार भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होना चाहिये. प्रत्येक पक्षी का दैनिक औसत आहार 112–126 ग्रा. तक होना चाहिये.

मांस के लिये पाली जाने वाली मुर्गियों को निम्नलिखित पदार्थों के मिश्रण से बने (भार के अनुसार भाग) आहार की उचित खुराक दी जानी चाहिये : पीली मक्का अथवा अन्य अनाज, 20; चावल की पालिश, 28; जौ अथवा जई, 7; गेहूँ की भूसी, 7; मूगफली की खली का चूरा, 20; मक्के का चोकर, 5; भपाई मछलियों का चूरा, 7; मांस का चूर्ण, 3; अस्थि-चूर्ण, 1; कैल्सियम चूर्ण 1.5; तथा साधारण नमक, 0.5. इसमें निम्नलिखित अवयव पूरक के रूप में मिलाये जाते हैं (ग्रा., 100 किग्रा.) : विटामिन ए, 2.2; विटामिन बी$_2$, 0.5; विटामिन डी$_3$, 0.3 तथा मैंगनीज सल्फेट, 22. जब मुर्गियां एक सप्ताह की हो जाये तो उन्हें पर्याप्त मात्रा में हरा चारा देना चाहिये.

हल्की नस्लों के चूजों की अपेक्षा भारी नस्लों के चूजों को अधिक आहार की आवश्यकता होती है. 4 सप्ताह तक की आयु के 100 चूजों के लिये प्रतिदिन औसतन 5.6 किग्रा. आहार-मिश्रण (चुग्गे) की आवश्यकता होती है और 20 से 24 सप्ताह की आयु के चूजों के लिये 9 किग्रा. कुक्कुट आहार के लिये दानेदार दलिया बारीक पिसे मिश्रण की अपेक्षा अच्छा माना जाता है.

विकासशील देशों में कुक्कुट आहार के विभिन्न पहलुओं पर व्यापक अनुसंधान किये जा चुके हैं किन्तु भारत में इस दिशा में विशेष कार्य नहीं हुआ. इस देश की जलवायु में इतनी परिवर्तन-शीलता पायी जाती है कि इसमें कुक्कुटों के आहार की खपत पर भी प्रभाव पड़ता है और इसमें भी परिवर्तन होता रहता है. ग्रीष्म तथा वर्षा-पूर्व उष्ण-आर्द्र ऋतु में पक्षियों की खुराक बहुत कम हो जाती है. गर्मी की ऋतु के कारण स्थिर स्तरीय ऊर्जा के लिये कुक्कुटों की प्रोटीन की आवश्यकता 2% तक बढ़ सकती है. गर्मी की ऋतु में विटामिनों की भी अधिक जरूरत पड़ती है. यहां तक कि गर्मी के प्रभाव को कम करने के लिये इनके आहार में विटामिन-सी भी मिलाया जाता है.

कुक्कुटों के विकास के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुये भारतीय मानक संस्थान ने सभी प्रकार के कुक्कुटों (नये चूजे, बढ़ते चूजे तथा अण्डा देने वाले पक्षी) की आवश्यकतानुसार *आदर्श आहार की मात्रा निश्चित कर दी है (IS : 4018–1967, 1374–1968)*. सारणी 125 में नवजात तथा बढ़ते हुये चूजों और अण्डे देने वाले पक्षियों के आदर्श आहार की मात्रा दी गयी है. कुक्कुटों के लिये पोषकों की आवश्यकता के निश्चित मानक ऐसे होने चाहिये कि वे उष्णकटिबन्धीय तथा उपोष्ण क्षेत्रों में प्रभावित करने वाले अधिकांश कारकों का निराकरण कर सकें. काक्सिडिओसिस तथा ऐस्केरिएसिस रोगों से पीड़ित चूजों में विटामिन ए की आवश्यकता बढ़ जाती है. विश्व के कुक्कुट-पालन विज्ञान संस्थान की अन्तर्राष्ट्रीय समिति ने कुक्कुटों की पोषक आवश्यकताओं की संस्तुति की है. मुर्गियों, टर्कियों तथा बत्तखों

सारणी 125 – कुक्कुट आहार के भारतीय मानक विनिर्देश*
(%, शुष्क आधार पर)

रचक	नवजात कुक्कुट	बढ़नेवाले कुक्कुट	अण्डा देनेवाले कुक्कुट
आर्द्रता (अधिकतम)	10.0	10.0	10.0
अपरिष्कृत प्रोटीन	20.0-25.0	18.0-23.0	15.0-20.0
अपरिष्कृत वसा या ईथर निष्कर्ष (न्यूनतम)	3.0	3.0	3.0
अपरिष्कृत तन्तु (अधिकतम)	7.0	8.0	10.0
अम्ल अविलेय राख (अधिकतम)	1.0-1.3	1.0-1.3	2.0-2.3
फास्फोरस (न्यूनतम)	0.45	0.45	0.45

*IS : 4018-1967; 1374-1968.

के सम्पूर्ण आहार में सूक्ष्म पोषकों की कसौटी निर्धारित कर ली गयी है (*Wld Poul. Sci J.*, 1967, 23, 47).

भारतीय दशाओं में नवजात चूजों, बढ़ते पठोरों, अण्डे देने वाली तथा प्रजनन करने वाली मुर्गियों और मांस प्रदायक पक्षियों के लिये कैलोरी, प्रोटीन और ऐमीनो अम्लों की आवश्यक मात्राओं का निश्चयन किया जा चुका है (Scott, *Feed Formulations for India*, All India Association of Poultry Industry, 68–063–15, 1968)

सतुलन के लिये कुछ अनाज मिलाकर विशेष सान्द्र-आहार भी बनाये जा सकते हैं. यदि कहीं सस्ते अनाज उपलब्ध हों तो सान्द्र आहारों से चुग्गे का मूल्य काफी कम हो जाता है. इन सान्द्रों के कारण छोटे चुग्गा मिश्रकों को मिश्रण बनाने के लिये अपेक्षाकृत कम अवयवों का भण्डारन करते हुये भी सभी अनिवार्य पोषक तत्व मिल जायेंगे. बढ़ते चूजों तथा अण्डे देने वाले पक्षियों के लिये सान्द्र-आहार का संघटन इस प्रकार होता है : गेहूँ की भूसी, 7; मूग-फली की खली, 30, तिल की खली, 30; मांस का चूर्ण, 12; चूना, 8, अस्थि-चूर्ण, 4; शीरा, 5; विटामिन तथा खनिज, 4%. विटामिनों तथा खनिजों का अलग से मिश्रण बनाकर शेष चुग्गे में मिला दिया जाता है. इस सान्द्र-आहार को चुग्गे में 25% तक ही सीमित रखा जाता है अर्थात् पक्षी आहार में अनाज तथा सान्द्र-आहार 1 : 3 के अनुपात में होने चाहिये. इस प्रकार तैयार किये गये आहार में प्रोटीन की मात्रा 15% तक होनी चाहिये.

विटामिनों और खनिजों के अतिरिक्त आहार में पेनिसिलिन, आरिओमाइसिन, टेरामाइसिन, वेसिट्रैसिन आदि जैसे प्रतिजैविक भी मिलाये जा सकते हैं. कहा जाता है कि प्रतिजैविक मुर्गियों और टर्कियों में वृद्धि को प्रेरित करते हैं. मांस उत्पादन के लिये सम्पूर्ण वृद्धि-काल में प्रतिजैविक खिलाना अच्छा रहता है. यदि आहार में प्रति करोड़ अंश पीछे 20 अंश प्रतिजैविक उपस्थित रहे तो पक्षी की आहार-मात्रा में वृद्धि होती है तथा यह मात्रा वृद्धि-प्रेरण के लिये पर्याप्त होती है. आहार में सूखा गोबर (1–2%) मिला देने से इसकी विटामिन बी$_{12}$ की आवश्यकता पूरी हो जाती है.

यद्यपि भारत में कुक्कुट-पालन उद्योग ने पिछले दशक में काफी प्रगति की है किन्तु कुक्कुट आहार उद्योग उससे होड़ नहीं ले सका है. 1964, 1965, 1966 तथा 1967 में संयुक्त कुक्कुट आहार

का उत्पादन क्रमशः 14.4, 28.4, 39.2 तथा 42.6 हजार टन हुआ. अनुमान है कि पक्षियों के लिये प्रतिवर्ष 1 करोड़ 2 लाख टन संयुक्त आहार की आवश्यकता होगी जबकि 1968 का अनुमानित उत्पादन 48,000 टन था जो माँग से कहीं कम था.

भारत में पहला कुक्कुट आहार संयंत्र 1960 में स्थापित किया गया. इस समय बड़े-बड़े शहरों में छोटे स्तर पर कुक्कुट आहार उत्पादन केन्द्रों के अतिरिक्त सुव्यवस्थित ढंग से 25 संयन्त्र चालू हैं. इनके अतिरिक्त देश में राज्य सरकारों, सहकारी समितियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं (यू. एन. आइ. सी. ई. एफ. और एफ. ए. ओ.) द्वारा संचालित कुक्कुट आहार मिश्रण बनाने के अनेक संयन्त्र हैं. संगठित इकाइयों में कुक्कुट आहार तैयार करने के लिये पूर्णतया आधुनिक उपकरण तथा उसके कच्चे माल और संयोजित मिश्रण के कोटि नियन्त्रण की उत्तम सुविधायें हैं. सुसंगठित क्षेत्रों में कुक्कुट तथा पशु आहार तैयार करने वाले संयन्त्रों की प्रतिस्थापित उत्पादन क्षमता प्रतिवर्ष 4,08,000 टन है. भविष्य में विस्तार योजनाओं के लागू हो जाने पर इस उद्योग की उत्पादन-क्षमता 5,00,000 टन वार्षिक से भी अधिक हो जाने की सम्भावना है (विस्तृत विवरण के लिये देखें—Processed Feeds, Wlth India—Industrial Products, pt VII: *Annu. Rep. Compd Livestk, Manufrs Ass. India*, 1967).

कुक्कुट आहार में मिलाये जाने वाले कच्चे माल इस प्रकार हैं: बाजरा (**पेनिसेटम टाइफायडीज़**) के दाने अथवा बीज; जौ (**हॉर्डियम वल्गेर**), काला चना (**फेसिओलस मुंगो**), चीना (**पेनिकम मिलिएसियम**), कुलथी (**डालिकास बाइफ्लोरस**), ज्वार (**सोर्घम वल्गेर**), जई (**एवेना स्टेरिलिस**), पनेवर (**कैसिआ टोरा**), रागी (**एल्यूसाइनी कोराकाना**), पीली मक्का (**जिया मेज़**) तथा साल (**शोरिया रोबस्टा**), खलियाँ या चूर्ण, खोपड़ा, बिनौला (छीला हुआ अथवा छिलकोंसहित), मूंगफली (संपीडक अथवा विलायक निष्कर्षित), ग्वार, मक्का अंकुर, सरसों, कुसुम्भ, तिल और सोयाबीन; जन्तु उत्पाद जैसे रक्त का चूर्ण, मछली चूर्ण, यकृत अवशेष, मांस-चूर्ण, मास की सीठी; खनिज पूरक जैसे अस्थि-चूर्ण (वाष्पित), डाइ-कैल्सियम फॉस्फेट, चूना, शुक्तिकवच, मैंगनीज सल्फेट तथा साधारण नमक; विटामिन (खनिज-स्थायीकृत) और जीवाणु-नाशक. कुक्कुट आहार मिश्रण बनाने के काम आने वाले कुछ कच्चे मालों का अनुमानित संघटन सारणी 124 में दिया गया है.

ऐसे चुग्गे (कुक्कुट आहार) ज्यादा पसन्द किये जाते हैं जिनमें अनाजों के प्रतिस्थापी प्रयुक्त हों. इसलिये अनाजों के अनेक प्रतिस्थापी पदार्थों का विकास किया गया है. चावल की पालिश, निष्कर्षित धान का चोकर, आम की गुठली की गीजी, टैपिओका का आटा और रेशम-कीट प्यूपे (निष्कर्षित अथवा अनिष्कर्षित) प्रयोग किये जाने वाले कुछ प्रतिस्थापी पदार्थ है. शीरा, गेहूँ का चोकर तथा खराब हुये अन्न कुछ ऐसे ऊर्जा-बहुल अवयव हैं जो आहार-उत्पादकों को सरकार की ओर से मिल जाते हैं. साल के बीज भी कुक्कुट आहार के उपयुक्त पाये गये हैं. उड़ीसा सरकार ने इस जंगली उत्पाद को कुक्कुट आहार के लिये बड़े पैमाने पर उपयोग में लाने के लिये कदम उठाये हैं. केरल में कुक्कुटों को मक्का के स्थान पर टैपिओका के टुकड़े खिलाये जाते हैं. मैसूर में रेशम उद्योग से प्राप्त उपोत्पाद के रूप में रेशम-कीट के प्यूपे भी कुक्कुटों को आहार के रूप में दिये जाते हैं. ये प्यूपे पशु-प्रोटीन में परिपूर्ण हैं और रेशम-उत्पादकों के लिये

सारणी 126 – 1961 में भारत में कुक्कुटों के लिये उपजात आहारों का औसत उत्पादन*

(मात्रा : हजार टन में)

आहार	मात्रा	आहार	मात्रा
खोपरे की खली	120	मूँगफली की खली	1,450
गेहूँ का चोकर	500	मांस का चूर्ण	24
जन्तु वसा	34	रक्त	50
टैपिओका अवशेष	900	रेशम के कीड़े के प्यूपे (सूखे)	5
तिल की खली	137		
तीसी की खली	242	शीरा	10,000
धान का चोकर	3,000	सरसों की खली	500
बिनौले की खली	248	साल के बीज	100

*Winter, April, 1967, 30.

अतिरिक्त आय के स्रोत बन गये हैं. बूचड़खानों के उपोत्पाद, जैसे रक्त आदि भी कुक्कुट आहार के सम्भावित स्रोत हैं किन्तु इनका संचयन तथा उपयोग बूचड़खानों की सुधार योजनाओं से जुड़ा हुआ है. कुक्कुट आहार के प्रतिस्थापियों के विकास के लिये इज्जतनगर, लुधियाना (पंजाब), हैदराबाद, कटक (उड़ीसा) और पूना (महाराष्ट्र) के पोषण अनुसंधान केन्द्रों में अनुसंधान कार्य किया जा रहा है. इन उपोत्पादों को कुक्कुट आहार के लिये प्रयुक्त करके अण्डा उत्पादन के व्यय में 30% तक कमी लायी जा सकी है. यही नहीं, कुछ पक्षियों में अन्नरहित आहार देने से 30% मक्कायुक्त मान्य राशन की अपेक्षा अच्छी वृद्धि देखी गयी है.

भारत में 1961 में कुक्कुटों के उपोत्पादों से तैयार आहार-सामग्रियों का अनुमानित उत्पादन सारणी 126 में दिया गया है.

प्रजनन

वैज्ञानिक विधियों के द्वारा कुक्कुटों में प्रजनन कार्य अर्वाचीन चलन है जो घरेलू देशी मुर्गियों की नस्ल सुधार से सम्बन्धित है. इसका लक्ष्य अनुकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत तथा प्रजनन की उन्नत विधियों द्वारा क्रमागत पीढ़ियों में पक्षियों में आनुवंशिक सुधार लाना है.

स्थानीय परिस्थितियों और बाजार माँग को देखते हुये सफल कुक्कुट-पालन के लिये कुक्कुटों की समुचित नस्ल के चुनाव में अत्यन्त सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है. मुर्गियों की विशिष्ट नस्लों के तथा विभेदों के विकास हो जाने के कारण प्रजनन के लिये उचित किस्म की मुर्गियों का चुनाव आवश्यक हो गया है. इस प्रकार **ह्वाइट लेगहार्न** तथा **लाइट ससेक्स** नस्लें अण्डा उत्पादन के लिये और **रोड आइलैण्ड रेड** नस्ल अण्डा और मांस दोनों के उत्पादन के लिये उपयुक्त हैं.

वंशावलियाँ तैयार करना कुक्कुट-पालन का एक महत्वपूर्ण अंग होता है. प्रजनन तथा संगम के यथोचित अभिलेखों को तैयार करने में पक्षियों में समोन्नति की पूर्वज परम्परा की जानकारी, पक्षियों की प्रजनन-क्षमता का ज्ञान तथा इच्छित गुणों वाले पक्षी कुल को तैयार करना सम्भव हो पाता है. पक्षियों में नस्ल, कुल, ऋतु तथा नर पक्षियों की आयु और अवस्था के आधार पर अनेक विधियों से संगम कराया जाता है, जिनमें बाड़ा-संगम, झुण्ड-संगम,

विशिष्ट-संगम तथा एकान्तर नर सगम मुख्य है. पिछले कुछ वर्षों मे मुर्गियों में कृत्रिम वीर्यसेचन के प्रयोग भी हुये है और यह विधि अनेक मुर्गियों मे विशेषकर बैटरी पद्धति मे पाली जाने वाली मुर्गियों को प्रमाणित मुर्गे द्वारा संगम कराने मे सफल हुयी है. प्रजनन के लिये कम मे कम 10 मास की आयु के पठोरो को चुनना चाहिये.

झुण्डो के सुधार के लिये अन्त:प्रजनन, बाह्य-सकरण, सकरण तथा श्रेणीकरण जैसी प्रजनन की विभिन्न प्रणालियाँ अपनायी जाती हैं.

अन्त:प्रजनन अथवा निकट-प्रजनन मे निकट सम्बन्धी पक्षियों मे संगम करवाया जाता है. एक स्टाक मे सदा इसी प्रणाली को लगातार अपनाते रहने मे पक्षियों मे अण्डा देने, अण्डा सेने, वृद्धि की दर और उनकी जीवन क्षमता मे कमी आ जाती हैं.

परस्पर सम्बद्ध पक्षियो मे तथा उनकी संतति मे कुछ इच्छित पक्षियो की पुनरावृत्ति के लिये व्यवस्थित प्रजनन पारम्परिक प्रजनन कहलाता है. उत्तरोत्तर पक्षियों के मादा पक्षियो से एक ही नर द्वारा संगम करा कर उत्पन्न की गयी सन्तानों मे ज्ञात गुणों को स्थापित कर पाना सम्भव होता है. यदि इसे उचित ढंग से चालू किया जाय तो पारम्परिक प्रजनन के द्वारा प्रजनक को काफी अण्डे देने वाला विभेद या ऐसा विभेद विकसित करने मे सहायता मिल सकती है जो कई वर्षो तक बाह्य रक्त का उपयोग किये बिना भार मे वृद्धि प्रदान करता रह सकता है.

एक ही नस्ल अथवा किस्म के दो सर्वथा भिन्न विभेदो या कुलों एवं स्टाको के पक्षियो का संगम **बाह्य-संकरण** कहलाता है. यह विधि पक्षियों मे ओजस्विता बढ़ाने तथा विशिष्ट दोषों को दूर करने में जो अन्य विधियों द्वारा नही दूर किये जा सकते, उपयोगी है. इस प्रणाली से कुछ ऐसे इच्छित गुण भी प्रविष्ट किये जा सकते हैं जो मूलत: स्टाक मे नही पाये जाते. इस प्रणाली से नस्ल विशेष के विशुद्ध गुणों पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना होने के कारण इसका अधिक प्रयोग नही किया जाता.

भिन्न नस्लों अथवा किस्मों के पक्षियों के सगम को **संकरण** कहते हैं. इससे अच्छी जनन क्षमता, जीविता, मुर्गी की तीव्र वृद्धि तथा अधिक अण्डे देने वाले संकर उत्पन्न होते हैं. दो विभिन्न नस्लो के पक्षियो मे संकर संतति मे संकर-ओजस्विता आ जाती है. अन्य अनियमित संकरों की तरह सकरण की पहली पीढ़ी (F_1) मे अण्डा देने वाले पक्षी प्राप्त करने के लिये हाल ही तिर्यक सकरण (क्रिस क्रासिंग), त्रिविध सकरण. अत: संकरण या व्यतिकर संकरण की विधियाँ अपनायी गयी है. अण्डा-उत्पादन के लिये दो संकरण सर्वाधिक लोकप्रिय है: रोड आइलैण्ड रेड × लाइट ससेक्स और ह्वाइट लेगहार्न × रोड आइलैण्ड रेड.

श्रेणीकरण प्रणाली मे विशुद्ध नस्ल के नर तथा मिश्रित नस्ल की मादा मे प्रजनन सम्पन्न किया जाता है. यह प्रणाली सकर जातीय पक्षियों के सुधार के लिये उपयोगी है.

कई देशों मे मुर्गी मे नर बच्चो मे आने वाले लैंगिक गुण मुर्गी-पालन को मनचाहा रूप देने मे अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं. ऐसे चार गुणों का कुछ व्यापारिक महत्व भी है. इनके नाम हैं: (1) भारी और उपयोगी नस्लों मे धीमी गति से पंखों का उगना, जो ह्वाइट लेगहार्न मे अत्यधिक पंख आने के गुण से विरुद्ध है: (2) धारीदार पक्षति (बार्ड प्लाइमाउथ रॉक), धारीरहित के विपरीत; (3) चँदीली पक्षति (लाइट ससेक्स), जो सुनहरी पक्षति (रोड आइलैण्ड रेड) की विरोधी है; तथा (4) कुछ में टाँगों का हल्का रंग गाढ़े रंग का विरोधी है. नस्ल विशेष के लिग सम्बन्धी विशिष्ट गुणो के आधार पर अण्डो के फूटने के तुरन्त बाद ही चूजों का लिग जानना सम्भव है. बड़े पैमाने पर कुक्कुट-पालन घरों के लिये अण्डो के फूटने के तुरन्त बाद ही नरो और मादाओं का अलग कर लेना लाभप्रद होता है, क्योंकि अण्डो के उत्पादन के लिये केवल मादा पक्षियों को ही व्यापारिक पैमाने पर पाला जाता है. यदि वांछित गुणों वाले पक्षी को अलग करके उनके संगम का विवेकशील कार्यक्रम बनाया जाय तो व्यापारिक स्तर पर अण्डों का उत्पादन लाभदायक हो सकता है.

संतति परीक्षण

किन्हीं गुणो यथा अण्डा उत्पादन, अण्डे का आकार, जीवन क्षमता आदि, जिनमे सुधार लाने हों उनके लिये किसी विशिष्ट सगम से प्राप्त सतति की कार्यक्षमता के परीक्षण अच्छी उपलब्धि के लिये कुक्कुट-पालन मे विशेष महत्व रखते हैं. ऐसा कोई भी सगम जिससे अच्छे परिणाम मिलते है दोहराया जाता है. कोई भी नर अथवा मादा पक्षी जिसके वंशज लगातार असंतोषजनक सिद्ध होते रहते हैं उसका बहिष्कार कर दिया जाता है.

भारत मे कुक्कुट प्रजनन के लिये कुछ चुनी हुयी देशी मुर्गियाँ ही ली जाती हैं और इनकी नस्ल-सुधार के लिये बाहर से लाये गये विशुद्ध जातीय मुर्गे प्रयुक्त होते है. यद्यपि ऐसे प्रयोगों मे पक्षियों के व्यवहार मे कोई विशेष आनुवंशिक सुधार नही दिखायी पड़ते किन्तु कुक्कुटों मे अण्डा तथा मांस-उत्पादन मे सुधार के लिये भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने जो समन्वित योजनाये चालू की हैं उनसे कुक्कुटादि के स्तर मे सुधार होने की सम्भावना है. ये समन्वित योजनायें भारतीय परिस्थितियों के लिये सबसे अनुकूल दो-नस्ली संकर या विभेद चुनने के उद्देश्य से चालू की गयी है.

प्रजनन स्टाक का चुनाव अनेक बातों पर निर्भर करता है: शारीरिक आकार, अण्डा देने की क्षमता, स्थिरता, वंशावली तथा प्रजनन क्षमता. इनमे प्रजनन क्षमता सबसे महत्वपूर्ण कारक है.

किसी भी पक्षी की प्रजनन क्षमता चूजे देने वाले अण्डे देने की क्षमता तथा निकले हुये चूजों की जीवन-क्षमता पर निर्भर करती है. प्रजनन क्षमता नर अथवा मादा का आनुवंशिक गुण न होकर वैयक्तिक गुण होता है. भारी अथवा मांस वाले पक्षी हल्के अथवा अण्डे देने वाले पक्षियों की अपेक्षा कम जननक्षम होते हैं. बड़े-बड़े व्यापारिक पालन-घरों मे अण्डों से अधिकतम चूजे प्राप्त करने के लिये पक्षियों की जनन क्षमता जानने के लिये परीक्षण के तौर पर संगम कराये जाने चाहिये.

कुक्कुटो मे अण्डे की जनन क्षमता (फूटने वाले जननक्षम अण्डों की प्रतिशतता) निश्चित रूप से मादा पक्ष से वंशानुक्रमित होती है किन्तु नर पीढी से भी प्रभावित होने की सम्भावना रहती है. प्रजनन कार्यक्रमों मे उच्च जनन क्षमता वाली, अण्डे देने वाली मुर्गी का चुनाव आवश्यक होता है तथा इसका संगम भी ऐसे पट्ठों से कराया जाता है जिनका जन्म अच्छी जनन क्षमता वाली मुर्गियों से हुआ होता है. अल्प वयस्क, कम जीवन-शक्ति अथवा अधिक मोटे पक्षियों से उच्च जनन क्षमता के ही अण्डे उत्पन्न हों, यह आवश्यक नही है. अन्त:प्रजनन प्रणाली मे भी यदि जनकों का संगम कराने के लिये सावधानी से चुनाव किया जाये तो इससे भी उच्च जनन क्षमता वाले अण्डे प्राप्त होते रहते हैं.

कुक्कुट-पालन अर्थ व्यवस्था में पक्षियों की जीवन क्षमता (अधिक काल तक जीवित रहने की क्षमता) विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि पक्षियों की मृत्यु दर बढ़ जाने से उनकी स्थान पूर्ति अत्यन्त महँगा सौदा होता है. लाभप्रद कुक्कुट पालन के लिये केवल जनन-क्षम अण्डों का ही अधिक संख्या में फूटना पर्याप्त नहीं होता बल्कि निकले हुये चूज़ों का जीवित रहना तथा उनका अच्छी तरह से बढ़ते रहना भी आवश्यक होता है. सेने तथा चूज़ों के पालन-पोषण के लिये मादा पक्षियों की भिन्न-भिन्न नस्लों में भिन्न प्रकार की सक्रियता रहती है. इसी प्रकार विभिन्न नरों के प्रजनन तथा पालन-पोषण के फलस्वरूप भी भिन्नता आ सकती है. ये भिन्नता मुख्यतः विभिन्न नस्लों की अत्यवृद्धता के कारण होती है. मृत्यु दर में भिन्नता का कारण किसी विभेद में जीवाणवीय अतिसार, पक्षि जीर्णज्वर तथा मुर्गी-लकवा जैसे रोगों के प्रति कम प्रतिरोधिता का होना है. ऐसी दशा में इन रोगों के प्रति प्रतिरोधी नस्लों के पक्षियों का ही प्रजनन करवाना चाहिये. ऐसे नर अथवा मादा पक्षियों का बहिष्कार करना चाहिये जो लगातार या तो अल्प प्रजननशीलता या अल्प जीवन क्षमता प्रदर्शित करते हैं जो दोषपूर्ण अण्डे सेने से या पालन-पोषण अथवा अन्य कारकों के कारण नहीं होती. परवर्ती प्रजनन योजनाओं में भी ऐसी संतति का तिरस्कार कर देना चाहिये.

एक ही नस्ल की मुर्गियों में भी वृद्धि की गति तथा अण्डा उत्पादन क्षमता में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है. अण्डों के उत्पादन के लिये अधिक अण्डे देने वाली मुर्गियों का चुनाव करना चाहिये. अण्डों के व्यापारिक उत्पादन के लिये पहले से चुनिन्दा **ह्वाइट लेगहार्न** नस्लों के संकरण से प्राप्त संकर चूज़े प्राप्त किये जाते हैं. अण्डे देने वाली तथा अण्डे न देने वाली मुर्गियों के मुख्य लक्षण सारणी 127 में दिये गये हैं.

मांस के लिये केवल बढ़ने वाले चूज़ों का चुनाव करना चाहिये. ऐसे चूज़े धीमी गति से बढ़ने वाले चूज़ों की अपेक्षा अपने आहार का उपयोग अपनी शारीरिक वृद्धि के लिये अधिक क्षमता पूर्वक करते हैं. व्यापारिक पैमाने पर मांस-उत्पादन के लिये **ह्वाइट कोर्निश** नस्ल के चुने हुये मुर्गे तथा **ह्वाइट प्लाइमाउथ रॉक** अथवा **न्यू हेम्पशायर** नस्ल की मुर्गियों से प्राप्त संकर अधिक पसन्द किये जाते हैं.

सारणी 127 – अण्डे देनेवाले तथा न देने वाले कुक्कुटों के महत्वपूर्ण लक्षण

लक्षण	अण्डे देने वाले	अण्डे न देने वाले
कलँगी	लाल तथा भरी हुई	सिकुड़ी हुई तथा श्वेत स्कंद के कारण धूमिल
आँखें	चमकीली	मन्द
गुदाद्वार	भीगा, चौड़ा तथा पीले रंग का, संदूषित	सूखा, तंग, पीले रंग का, असंदूषित
चोंच	धूमिल पीत	पीत
जघनास्थियाँ	दो अंगुल से अधिक फैली	अस्थियों के बीच बिल्कुल जगह नहीं होती.
शरीर परिमाप	3–5 अंगुल	दो अंगुल से भी कम स्थान

व्यापारिक उत्पादन के लिये एक अथवा दो चुनी हुयी नस्लों को पालना अच्छा होता है. कई नस्लों को एक साथ पालने की अपेक्षा केवल थोड़ी नस्लों में विशिष्टता प्राप्त कर लेना अच्छा रहता है क्योंकि इससे पक्षियों के आवास, प्रजनन तथा पालन की समस्यायें कम हो जाती हैं.

जैसे ही शारीरिक आकार, मांस तथा पंखों की कम बाढ़ वाली मुर्गियाँ पहचान में आ जायें वैसे ही उनका परित्याग कर देना चाहिये. यदि किसी कारणवश अधिक अण्डे देने वाली मुर्गियाँ अण्डे देना बन्द कर दें तो उनको भी त्याग देना चाहिये.

देशी पक्षी भारी होते हैं और अधिक चुग्गा खाते हैं किन्तु अण्डे बहुत कम देते हैं. आजकल के संकरित पक्षी छोटे, सहिष्णु और रोग-प्रतिरोधी तथा अधिक अण्डा उत्पादन क्षमता से युक्त होते हैं. अनेक व्यापारिक संगठनों ने **बैण्टम** अथवा **मिजेट** नामक छोटे पक्षियों का पालन आरम्भ कर दिया है. **मिजेट** कोई असामान्य पक्षी न होकर अपनी ही तरह के भरे-पूरे पक्षियों की लघु प्रतिकृति है. इसमें सामान्य पक्षियों में पाये जाने वाले जीन के स्थान पर बौने जीन के आ जाने के कारण भिन्नता पायी जाती है. मिजेट पक्षी आकार में जंगली मुर्गे के बराबर तथा सहिष्णु होते हैं. ये किसी भी सामान्य पक्षी की अपेक्षा ऐसे क्षेत्रों में भली-भाँति बढ़ते हैं जहाँ का ताप उच्च होता है. ये पालन-घरों में भी अच्छी तरह रह सकते हैं और अन्य नस्लों की अपेक्षा थोड़े खर्च पर ही अण्डे देते है. ये पक्षी उन्नत देशी नस्लों के समान होते है और सामान्य संकर मुर्गी की ही तरह अण्डे देते हैं. ये पक्षी प्रतिवर्ष 225 अण्डे देते हैं जबकि उन्नत देशी नस्ल तथा संकर मुर्गियाँ क्रमशः 180 और 250 अण्डे देती हैं.

अण्डे सेना तथा फूटना

भारत में प्रायः कुक्कुट छोटे-छोटे समूहों में पाले जाते हैं. सामान्यतः 10–12 मुर्गियों के पीछे एक मुर्गा छोड़कर प्रजनन बाड़ा (दरबा) बना लिया जाता है. ऋतु तथा नस्ल के अनुसार मुर्गियों की संख्या घट-बढ़ सकती है. यही कारण है कि अण्डा सेने की क्रिया प्रायः मुर्गियाँ ही करती हैं. अण्डों को फूटने के लिये उचित ऊष्मा प्रदान करने के लिये प्रजनक मुर्गी 20–21 दिन तक अण्डों के ऊपर बैठती है. निजी अण्डे सेने के स्थानों में अण्डों की जनन क्षमता, प्रतिवर्ष चूजा जनन तथा प्रत्येक किस्म के चूज़ों के विक्रय मूल्यों से सम्बद्ध आँकड़े सारणी 128 में दिये गये हैं.

दरबों में मुर्गे से संगम होने के प्रायः एक सप्ताह अथवा कुछ अधिक समय के बाद मुर्गियाँ सेचित अण्डे देने लगती हैं. अण्डों के ठीक से फूटने के लिये दिये जाने के तुरन्त बाद उन्हें एकत्र करना आवश्यक हो जाता है. गर्मियों में 5 दिन से अधिक तथा जाड़े में 10 दिन से अधिक पुराने हो जाने पर अण्डों से चूजा नहीं निकालना चाहिये. सेने के लिये अण्डों का चुनाव उनके देने वाले पक्षियों की आनुवंशिकी, स्वास्थ्य तथा ओजस्विता जानकर किया जाता है. असंसेचित अथवा रोगी अण्डों का तिरस्कार कर देना चाहिये.

सेने के लिये जो अण्डे चुने जायें वे आकार, रूप, भार तथा रंग में समान हों. चटकी खोल वाले अण्डों को सेने के लिये नहीं रख छोड़ना चाहिये. सेने के लिये रखे जानेवाले अण्डों का गठन अच्छा होना चाहिये क्योंकि परिरक्षण तथा सेने के समय नमी की हानि का आकलन खोल की गठन पर निर्भर करता है. गन्दे अण्डों पर रोगाणु लगे रहने के कारण सेने

सारणी 128 — अण्डे सेने वाली कुछ निजी शालाओं में कुक्कुट उत्पादन*

अण्डे सेने वाले स्थान	नस्ल अथवा विभेद	अण्डा सेने की वार्षिक क्षमता	प्रतिवर्ष वास्तविक सेये गये अण्डे		प्रति चूजा विक्रय मूल्य (रुपये)	
			मांस उत्पादक चूजे	पट्ठे	मांस उत्पादक चूजे	पट्ठे
आरबोर एकर्स फार्म इण्डिया लिमिटेड, पूना (महाराष्ट्र)	व्हाइट लेगहार्न–56 (A A-ब्राउन और AA–ब्रायलर)	2,340,000	1,100,000	500,000	1.50	3.10
कोण्टाइ हेचरीज, कलकत्ता (प. बंगाल)	हीब्रेड लेगहार्न अन्तः प्रजति	6,00,000	20,000	75,000	1.75	3.50
ग्रीनोक कुक्कुट फार्म, पूना (महाराष्ट्र)	G—1—व्हाइट लेगहार्न	2,50,000	...	45,000	1.60	3.10
ही-ब्रे ड (इण्डिया) प्रा. लिमिटेड, करनाल (हरियाणा)	हीलाइन और इण्डियन रिवर हाइब्रो	18,40,000	1,75,728	7,82,608	1.25	3.00
ही-फेड हेचरी, हैदराबाद (आ. प्र.)	हीलाइन	42,000	...	87,064	1.30	3.00
जयश्री कुक्कुट फार्म, एरिनजलाकुडा (केरल)	अमेरिका की विशुद्ध व्हाइट लेगहार्न	90,000	...	...	1.00	1.50
क्वालिटी फार्म, पूना (महाराष्ट्र)	ही-लाइन (अन्त:प्रजनित संकर)	6,00,000	46,000	1,42,000	1.35	3.10
पटेल पोल्ट्री फार्म, बुलसर (गुजरात)	हीलाइन	1,40.000	5,000	62,000	1.65	3.30
पायनियर पोल्ट्री, इन्दौर (म. प्र.)	हीलाइन और इण्डियन रिवर हाइब्रो	86,000	12,000	40,000	1.50	3.00
यूनिचिक्स, दिल्ली	जेकोस्लोवाकिया लेयर्स एण्ड ब्रायलर्स, UH—424, लेयर्स, UC—136 ब्रायलर्स	4,80,000	80,000	1,300,00	1.40	2.95

*अण्डे सेने वाले केन्द्रों से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर.

के लिये केवल साफ-सुथरे अण्डे ही रखने चाहिये. यदि मिट्टी लगी हो तो सेने के लिये रखे जाने वाले अण्डों को धोना नहीं चाहिये. यदि मिट्टी अधिक लगी हो तो ऐसे अण्डों को सेने के लिये नहीं रखा जाता. अण्डों पर लगे धब्बों को मोटे सूखे अथवा गीले कपड़े से रगड़ कर साफ किया जा सकता है. अण्डों को सूखे, हवादार, साफ़-सुथरे, गन्धहीन स्थानों पर जहाँ का ताप 12.8–15.6° हो रखना चाहिये.

सेने से पूर्व अण्डों को 7 दिन से अधिक संचित नहीं करना चाहिये अन्यथा ये खराब होने लगते हैं. इनको दिन में एक या दो बार फिराया जाता है जिससे इनका भ्रूणीय केन्द्रक खोल की आन्तरिक झिल्ली से कहीं चिपक न जाये. यदि सेये जाने वाले अण्डे एक स्थान से दूसरे स्थान तक लेजाने हों तो उन्हें इस तरह बन्द करना होता है कि वे धक्के में सुरक्षित रह सकें. बड़े-बड़े पालन-घरों में सेने से पहले अण्डों का संचयन विशेष प्रकार के रैकों में किया जाता है.

चुने हुये अण्डों का आकार सामान्य, भार 56 ग्रा. तक और खोलों का गठन अच्छा तथा दोषरहित होना चाहिये. अच्छा हो यदि 5–6 अण्डे सेने के लिये एक पठोर का लक्ष्य रखा जाय. सच तो यह है कि 60–70% अण्डे ही फूट पाते हैं जिनमें से लगभग आधे चूजे पठोर के रूप में रहते हैं.

अण्डे दो प्रकार से सेये जाते हैं : (1) मुर्गियों द्वारा प्राकृतिक विधि से; (2) इनक्यूबेटरों में कृत्रिम विधि से. प्राकृतिक विधि में सेने के लिये अण्डों को प्रजनक-मुर्गियों के नीचे रखा जाता है. सेने की यह विधि छोटे मुर्गी-पालकों के लिये सर्वथा उपयुक्त है. इसलिये यह देहातों में अधिक लोकप्रिय है. इस पर भी, यह सदैव सम्भव नहीं होता कि जब और जहाँ चाहे प्रजनक-मुर्गी पकड़ में आ जाय. भारतीय देशी मुर्गी आदर्श बैठने वाली तथा निपुण माँ होती है. अण्डे सेने तथा चूजों की देखभाल के लिये इस प्रकार की 4 या 5 मुर्गियाँ 50 अण्डे वाले इनक्यूबेटर की तरह कार्य कर सकती हैं. सेने के लिये केवल स्वस्थ और शान्त स्वभाव की मुर्गियों को ही चुनना चाहिये.

भ्रूण विकास सन्तोषजनक हो, इसके प्रति आश्वस्त होने के लिये अण्डों का परीक्षण सेने के लिये रखने के बाद 7वें, या 9वें दिन तथा पुनः 15वें अथवा 16वें दिन कर लेना चाहिये. अनुर्वर और क्षतिग्रस्त अण्डों को हटा देना चाहिये. 18वें दिन के बाद मुर्गियों से छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये. उनके लिये चुग्गा तथा जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहना चाहिये. 20वें अथवा 21वें दिन अण्डों से चूजे बाहर आने लगते हैं. कुछ मुर्गियाँ, जो चूजे पहले निकल आते हैं, उन्हीं की देखरेख करती हैं और बाद में निकलने वालों की उपेक्षा कर देती हैं. यह नितान्त आवश्यक है कि जब तक कि सारे चूजे अण्डों से बाहर न आ जायें, मुर्गी को अण्डों पर बैठने के लिये छोड़ रखा जाय. प्रजनक-मुर्गियों को अत्यन्त सावधानी से चुग्गा देना चाहिये और उन्हें दरबों में वापिस बैठाकर 12–24 घण्टों तक अकेले शान्तिपूर्वक रहने देना चाहिये.

अण्डे फूटने का कार्य 21वें दिन प्रायः पूरा हो जाता है. ज्यों ही सारे अण्डे फूट जाये त्यों ही अण्डों के टूटे खोलों तथा घोंसले के अन्य पदार्थों को वहाँ से हटा देना चाहिये. वहाँ पर नयी बिछाली देकर उस पर दुबारा कीटनाशक छिड़क देना चाहिये. मुर्गियों तथा नये निकले चूज़ों को कम से कम दो दिन के लिये अकेले छोड़ देना चाहिये.

हाल के वर्षों में भारत मे इनक्यूवेटरों मे कृत्रिम अण्डा सेने का प्रचलन हुआ है. जहाँ अधिक संख्या में अण्डे सेये जाने हों वहाँ पर यह विधि किफ़ायती है. इसमें श्रम भी कम लगता है और जब चाहे तभी अण्डों से चूज़े निकल सकते है. इस प्रकार से निकले चूज़े वस्तुतः रोगों और परजीवियों से मुक्त होते हैं.

इनक्यूवेटर कई माप के होते हैं. इनमे से कुछ छोटी मशीनें (मेज पर रखने योग्य) जिनमे 25 तक अण्डे आते है और कुछ बड़ी मशीनें (अलमारी के आकार की) होती है जिनमें कई हजार अण्डे एक साथ रखे जा सकते है. उत्तम परिणाम प्राप्त करने के लिये इनक्यूवेटरों को खुले हवादार कमरों में अलग-अलग रखना चाहिये. छोटे इनक्यूवेटरों मे सामान्यतः ताप 38.3–39.4° रहता है. यन्त्र से चलने वाली बड़ी मशीनों में अण्डों को ऊष्मित करने तथा हिलाने-डुलाने का कार्य वैद्युत युक्तियों द्वारा किया जाता है.

अण्डों से वाष्पन द्वारा जल की अत्यधिक हानि को वश में रखने के लिये इनक्यूवेटरों में पर्याप्त आर्द्रता होना चाहिये. इनक्यूवेटर में अनुकूलतम आर्द्रता बनाये रखने के लिये इसको जल अथवा भीगी बालू से भरी विशेष प्रकार की बनी द्रोणियों में रखा जाता है. 18वें दिन के बाद जब तक सभी अण्डे फूट न लें तब तक इनक्यूवेटर नहीं खोलना चाहिये. एक बार चूजे निकल आने पर उन्हें ब्रूडरों में उठाकर रख दिया जाता है.

बच्चों का पालन

चूज़ों को या तो मुर्गी के नीचे अथवा कृत्रिम ढंग से ब्रूडरों में पाला जा सकता है. चूज़ों का पालन-काल इनके बाहर निकल आने के बाद 8 सप्ताह तक रहता है और यही कुक्कुटों के जीवन का सबसे नाज़ुक समय भी होता है.

मुर्गियों के साथ चूज़ों को छोटे-छोटे अलग समूहों में छोड़ देना प्राकृतिक पालन की सर्वोत्तम विधि है. इस विधि में दरबे सहित चूज़ों को नित्यप्रति नये-नये स्थानों पर ले जाया जा सकता है. एक औसत आकार की देशी मुर्गी 10–15 चूज़ों की देखभाल करने में समर्थ है.

चूज़ों का कृत्रिम पालन ऊष्मित ब्रूडरों में किया जाता है. कृत्रिम पालन में प्राकृतिक पालन की अपेक्षा कई लाभ है. इससे वर्ष के किसी भी समय इच्छित संख्या में चूज़ों को पाला जा सकता है. इस विधि से रोगों, परजीवियों तथा परभक्षियों के कारण होने वाली चूज़ों की मृत्यु दर को अच्छी तरह नियन्त्रित किया जा सकता है.

ब्रूडर-घर कई डिजाइनों से बनाये जाते है जो आकार, वांछित ऊष्मा उत्पन्न करने के लिये (लगभग 26.7–32.2°) आवश्यक ईंधन की प्रकृति तथा पाले जाने वाले चूज़ों की संख्या पर निर्भर करती है.

चूजा-पालन की चाहे कोई भी विधि क्यों न अपनायी जाय उन्हें गरम तथा सुविधामय रखना और सन्तुलित आहार देना अनिवार्य है. उत्तरी भारत मे नवम्बर से फरवरी तक चूजों का पालन बहुत ही अच्छी तरह होता है. इसके बाद वर्षा ऋतु तक चूज़ों में वृद्धि की गति धीमी पड़ जाती है. इसके विपरीत, दक्षिण में चूजों के पालन का अनुकूलतम समय जून से सितम्बर तक है. कुक्कुट-पालकों को अपने क्षेत्रों के अनुसार चूजों के पालन के लिये अनुकूलतम समय निर्धारित कर लेना चाहिये.

यदि अण्डों से बाहर आने के तुरन्त बाद चूजों को बिना कुछ खिलाये विशेष रूप से बने हवादार बक्सों में बन्द करके भेजा जाय तो इस प्रकार एक दिन के चूज़ों को दूर-दूर के स्थानों तक अच्छी तरह ले जाया जा सकता है. भारत में कुक्कुट-पालन व्यवसाय का तेजी से विकास होने के कारण एक दिन के चूज़ो की माँग काफी बढ़ गयी है. बहुत से कुक्कुट-पालक अण्डों को स्वयं न सेकर सरकारी फार्मों अथवा व्यापारिक अण्डे सेने के स्थानों से चूजे को खरीदना अथवा प्रशिक्षित लोगों द्वारा अण्डों से चूजे निकलवाना अधिक पसन्द करते है. बक्सों में बन्द करने के लिये गर्मी में भूसा अथवा कुट्टी तथा जाड़े की ऋतु में सूखी घास अनुकूलतम वेष्टन पदार्थ का काम देती है. चूजों को उचित वायु तथा प्रकाश देने के लिये बहुत अधिक संख्या मे बक्सों को बांधना नही चाहिये.

जन्म लेने के 24 घण्टों के अन्दर ही चूजे सक्रिय होकर चुगने योग्य हो जाते है. अगले 5 सप्ताह के लिये इन्हें अधिक ताप की आवश्यकता होती है. इनकी देखभाल करने वाली मुर्गी इनकी रक्षा करने तथा इनको खिलाने के साथ-साथ इनको उष्मा प्रदान करते रहने का सबसे बड़ा कार्य करती है. यही कारण है कि प्राकृतिक पालन करने पर चूजे 10 सप्ताह तक पालक-मुर्गी के साथ ही रहते है.

जब तक चूजे 6–8 सप्ताह के नहीं हो जाते तब तक उनका लिंग स्पष्ट नहीं हो पाता. 8 सप्ताह के हो जाने पर नर चूजों मे अच्छी तरह कलँगी तथा लोलकियाँ निकल आती हैं किन्तु मादा चूजों में वे इस आयु में भी अच्छी तरह नहीं दिखती. एक दिन की आयु के चूजों के लिंग जानने की दो विधियाँ है: शारीरिक लक्षणों का परीक्षण तथा कुछ विशेष नस्लों तथा संकर नस्लों मे नीचे तथा जाँघों के ऊपर के पंखों के रंगों का परीक्षण. बाह्य परीक्षण जापानी रन्ध्र विधि अथवा यांत्रिक विधि से करते है जिसमे लिंग-निर्धारण यंत्र का प्रयोग किया जाता है. कोई भी कुशल पालक रन्ध्रों को देखकर एक घण्टे में लगभग 800 चूजों को लिंग के आधार पर काफी हद तक सही-सही अलग-अलग कर सकता है. लिंग-निर्धारण यंत्र सर्वप्रथम जापान में ईजाद हुआ. इसमें खोखली नली होती है जिसके पारदर्शक सिरे पर प्रकाश की व्यवस्था होती है. जब इस सिरे को एक दिन की आयु के चूज़ों की गुदा में डाला जाता है तो इससे पक्षी के प्रजनन अंग प्रकाशमान होकर प्रकट दिखायी पड़ने लगते है किन्तु इस विधि से रन्ध्र विधि की तरह चूजों की लैंगिक पहचान जल्दी-जल्दी नहीं हो पाती. एक दिन के चूजों को लिंग के आधार पर पृथक्-पृथक् करने का एक लाभ यह भी है कि नर और मादा पक्षियों को छोटी ही आयु से व्यापारिक माँग के अनुसार अलग-अलग रखकर पाला जा सकता है. कुक्कुट-पालक प्रायः 8 सप्ताह की आयु में पट्ठों को पठोरों से विलग करते हैं.

नवजात चूज़ों को अण्डों से निकलने के बाद तब तक इनक्यूबेटर में रहने दिया जाता है जब तक कि वे हृष्ट-पुष्ट होकर काफी भूखे न हो उठें (48 घण्टे तक) अथवा उन्हें चूजा बक्सों में 12 घण्टे

नक पड़े रहने देना चाहिये. प्रजनन-गृहों में विभिन्न अड्डे अथवा पट्टियों का होना आवश्यक है जिससे चूजों को विभिन्न माप तथा आकार के पालन-गृहों में ले जाया जा सके. नवजात चूजों तथा वयस्क पक्षियों को साथ-साथ नहीं पालना चाहिये. 10–14 सप्ताह की आयु होने पर पक्षियों की चोंचों को काट देने की प्रथा है जिससे वे ज्यादा चोंच न मारें.

गहन कुक्कुट-उत्पादन केन्द्र – पशुओं से प्राप्त आहार के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिये भारत सरकार द्वारा संचालित तृतीय पंचवर्षीय योजना में विशेष विकास योजना के अन्तर्गत अण्डा तथा कुक्कुट-उत्पादन एवं विपणन केन्द्रों की स्थापना की गयी. इस योजना का उद्देश्य इसमें भाग लेने वालों को पालन के लिये धन तथा आवश्यक सुविधायें देना रहा है. विभिन्न राज्यों में इस प्रकार के 92 केन्द्र तथा ऐसे कई अन्य केन्द्र भी स्थापित किये जाने हैं (सारणी 129). प्रत्येक गहन केन्द्र में किसानों को देने के लिये लगभग 30,000 चूजे तैयार करने वाले अण्डे सेने के स्थानों की स्थापना करने की आवश्यकता है. पक्षियों के लिये प्रतिवर्ष 2,000 टन चुग्गा-मिश्रण तैयार करने के लिये प्रत्येक केन्द्र में एक मिश्रक-चक्की अथवा पाट-चक्की लगाना आवश्यक होता है.

अधिकांश केन्द्रों में इन योजनाओं के अन्तर्गत सन्तोषजनक प्रगति हो रही है और इसकी सहायता से पंजाब, केरल, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मैसूर, मध्यप्रदेश, आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु राज्यों में काफी प्रभाव हुआ है. अण्डों के उत्पादन में वृद्धि के साथ इन्हें राज्य में अथवा राज्य से बाहर दूरवर्ती बाजारों में भेजने के लिये राज्य स्तर पर विपणन संगठनों की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है.

क्षेत्रीय कुक्कुट फार्म – देश में राज्य सरकार के कुक्कुट फार्मों को उत्तम कोटि के पक्षी देने, कुक्कुट पालन के विभिन्न पहलुओं पर प्रशिक्षण दिलाने, पक्षियों की किफायती नस्लें प्राप्त करने के लिये कुक्कुट प्रजनन पर अनुसंधान तथा कुक्कुट पालन के समय उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के लिये 1959–60 में हेस्सारघाटा, बंगलौर (मैसूर), बम्बई (महाराष्ट्र), भुवनेश्वर (उड़ीसा), दिल्ली और कामलाही (हिमाचल प्रदेश) में पाँच क्षेत्रीय कुक्कुट फार्म खोले गये. 1965 में 'भूख निवारण अभियान' के अन्तर्गत उच्च स्तरीय शुद्ध वंशावली की ह्वाइट लेगहार्न तथा आस्ट्रालोर्प नस्लों के एक दिन के चूजों को ऑस्ट्रेलिया से लाया गया. लेगहार्न की एक और शुद्ध वंशावली 'एम-लाइन' को भी हाल ही में लाया गया है. इन पक्षियों को बंगलौर के क्षेत्रीय फार्म में रखा गया है. क्षेत्रीय फार्मों में पक्षियों की संख्या में तेजी से वृद्धि की गयी. बंगलौर तथा बम्बई के फार्मों में इनके संकर भी उत्पन्न किये जाने लगे हैं. उत्तम अण्डा तथा मांस उत्पादन और कम मृत्यु दर होने के कारण व्यापारिक अण्डा उत्पादकों में इन संकर पक्षियों की मांग बढ़ी है 1966–67 में बंगलौर तथा बम्बई के फार्मों में क्रमशः 6,90,947, 2,02,006 और 5,99,049, 1,77,575 अण्डे और चूजे तैयार किये गये.

क्षेत्रीय फार्मों में ह्वाइट लेगहार्न और रोड आइलैण्ड रेड पक्षियों तथा ऑस्ट्रेलियाई लेगहार्न और आस्ट्रालोर्प नस्लों के प्रजनन में प्रजनक मुर्गा उत्पादन विधि प्रयोग में लायी जाती है.

सारणी 129 – भारत में कुक्कुटों के गहन विकास केन्द्र*

राज्य	खण्ड	केन्द्रों की संख्या
असम	जोरहाट, सिलचर, खानपारा	3
आन्ध्र प्रदेश	हैदराबाद, विशाखापटनम, विजयवाड़ा	3
उड़ीसा	भुवनेश्वर, राउरकेला	2
उत्तर प्रदेश	बरेली, देहरादून, बीजापुर, लखनऊ, कानपुर	5
केरल	मुवाट्टुपुजा, पेटा (त्रिवेन्द्रम)	2
गुजरात	सूरत	1
चण्डीगढ़	चण्डीगढ़	1
जम्मू और कश्मीर	जम्मू, श्रीनगर	2
तमिलनाडु	पोरायार कैथ, अचरापक्कम, रानीपेट, पोर्टोनोवा, ओमालूर, कोयम्बतूर, मद्रास	8
दिल्ली	दिल्ली	1
पंजाब तथा हरियाणा	दासुया, खरार, नवांनशहर, समराला, पठानकोट, घरशंकर, काँगड़ा, डेरा-गोपीपुर, रूपड़, लुधियाना, राजपुरा, नूह, फिरोजपुर, करनाल, जगाधरी, सरहिन्द, तरन-तारन, जीरा, फिलौर, नरायणगढ़, झिरका, जालन्धर, पटियाला, अम्बाला	25
पश्चिमी बंगाल	कलकत्ता, दुर्गापुर, चिनसुरा, बारासात	4
बिहार	राँची, पटना	2
मध्य प्रदेश	भोपाल, इन्दौर, जबलपुर, रायपुर, ग्वालियर	5
महाराष्ट्र	सतारा, चिपलम, शोलापुर, नान्देद, अकोला, यवतमल, भीर, उस्मानाबाद, नासिक, अहमदनगर, अमरावती, परभणी, मुरवाद, तासगाँव	14
मैसूर	बंगलौर, मालवली, हवेरी, गंगावती, कुडी, मैसूर	6
राजस्थान	जोधपुर, अजमेर, जयपुर, उदयपुर, भरतपुर, टोंक, अलवर	7
हिमाचल प्रदेश	पयोण्टा	1
योग		92

Indian Fmg, N.S.*, 1968-69, **18(9), 22.

तथा पोषण सम्बन्धी. भारत के विभिन्न भागों में कुक्कुटों के इन हानिकारक रोगों के अतिरिक्त पिछले कुछ दशकों में संक्रामक स्वरयंत्र श्वासप्रणाल शोफ, संक्रामक श्वसननलीशोथ, संक्रामक प्रतिश्याम, पक्षियों का मस्तिष्क सुषुम्नाशोफ, ओर्नियोसिस, पक्षियों का ल्युकोसिस कम्प्लेक्स, चिरकालिक श्वसन रोग तथा विभिन्न प्रकार के नये-नये पोषणिक परजीवी तथा कवकीय रोगों के होने की सूचना मिली है. पक्षियों में रोग फैलाने में आकस्मिक कारणों के अतिरिक्त कुछ और भी महत्वपूर्ण कारक हैं जो पक्षियों की जीवन-शक्ति को घटाकर उन्हें नाना प्रकार से रोगी बनाते रहते हैं. इनमें से पक्षियों की

रोग

निदानशास्त्र के आधार पर कुक्कुटों के रोग निम्नलिखित वर्गों में रखे जाते हैं : जीवाणुज, विषाणुज, परजीवी, प्रोटोजुआन, कवकीय

आनुवंशिकता, उग्र मौसम से अपर्याप्त सुरक्षा, पक्षियों की भीड़, ठीक से सफाई का न होना, दोषपूर्ण आवास और पोषण व्यवस्था तथा प्रवन्ध के अन्य दोष मुख्य हैं. अनुमान है कि कुक्कुटों में रोगों (जीवाणुज तथा परजीवी) के कारण 50 लाख रु. की हानि होती है.

जीवाणुज रोग – जीवाणुओं के संक्रमण के कारण उत्पन्न रोगों में पेचिश रोग (बी. डब्लू. डी.), अपांत्र ज्वर, पक्षी आंत्र ज्वर, पक्षी हैजा, क्षयरोग, संक्रामक प्रतिश्याम, तथा चिरकालिक श्वसन रोग (सी. आर. डी.) मुख्य हैं.

ब्रुसेलोसिस, गिल्टी रोग, कूटयक्ष्मा, टेटनस, पक्षियों का विग्रिओ-यकृत शोथ, स्पायरोकीटोसिस, लिस्टेरियासिस, बॉटुलिज्म, विसर्प, स्ट्रेप्टोकॉकस रुग्णता, स्टफिलोकॉकस रुग्णता, कोली कलिका गुल्म तथा कोली जीवाणु रुग्णता अन्य जीवाणुज रोग हैं जो कम होते हैं.

पक्षियों में पेचिश रोग (दण्डाणु श्वेत अतिसार) संसार-भर में होता है. संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, एशिया, जापान, ब्रिटेन, यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा कोरिया में इस रोग के होने की सूचना है. इस रोग के कारण चूज़ों और वयस्क पक्षियों में मृत्यु-दर वढ़ जाती है. अण्डे देने वाले पक्षियों में जनन-क्षमता और अण्डे देने की क्षमता कम हो जाती है तथा पक्षियों की वृद्धि देर से होती है. इस रोग का संक्रामक जीवाणु **साल्मोनेला पुल्लोरम** है जो चूज़ों, पठोरों, चिड़ों तथा अन्य पक्षियों को संक्रमिक करता है. वत्तख और हंस इस रोग के प्रति कुछ प्रतिरोधी हैं किन्तु वे इस रोग के जीवाणुओं को आश्रय देने तथा फैलाने में सहायक हैं. चूज़ों में पेचिश रोग अधिक होता है. इनमें नस्ल के अनुसार रोग होने की सम्भावना वदलती रहती है. लेगहार्न जैसी हल्की नस्लें अन्य नस्लों की अपेक्षा कम प्रभावित होती हैं. यह रोग दूषित अण्डों, दूषित इनक्यूवेटरों, प्रजनक-घरों तथा कुक्कुट पालन में काम आने वाले अन्य उपकरणों तथा पीड़ित चूज़ों और वयस्क पक्षियों की बीट द्वारा फैलता है.

पक्षी की आयु के अनुसार रोग के लक्षण वदलते रहते हैं. ये चूज़ों में अपेक्षाकृत अधिक सुस्पष्ट रहते हैं. इस रोग से पीड़ित पक्षियों में उदासीनता और अवसाद आते हैं. भूख कम अथवा नहीं ही लगती, श्लेष्मल झिल्ली में पीलापन भी आ जाता है और पक्षी को दस्त आने लगते हैं. इस रोग की अवधि तो वैसे 4-5 दिन की होती है किन्तु चिरकालिक संक्रमण में यह अधिक हो जाती है. वयस्क पक्षियों में इस रोग की उद्भवन-अवधि दो से तीन सप्ताह तक होती है. इस रोग में मृत्यु-दर 50% तक रहती है. कुछ पक्षी तो इनक्यूवेटर के अन्दर ही 2-3 दिन में और कुछ चूज़ा-घरों में जाने के एक से तीन सप्ताह वाद तक मर जाते हैं. पीड़ित चूज़ों के उपचार के लिये 0.04% फ्यूराज़ोलिडोन (एन. एफ. 180) को चुग्गे में मिलाकर देना चाहिये.

पक्षियों में **साल्मोनेला** वंश की एक या एक से अधिक जातियों के संक्रमण से उत्पन्न होने वाले अपान्त्र ज्वर के अन्तर्गत अनेक जीवाणुज रोग सम्मिलित हैं. अव तक अपान्त्र ज्वर उत्पन्न करने वाली लगभग 800 विशेष सीरमीय किस्मों की जानकारी प्राप्त हो चुकी है जिनमें **सा. टिफिमुरिअम, सा. डर्वी, सा. ब्रेडेनी, सा. माण्टिविडियो, सा. ओरेनिनवर्ग, सा. न्यूपोर्ट, सा. वरेली, सा. अनाटिस** तथा **सा. मेलिएग्रिडिस** प्रमुख हैं.

अपान्त्र ज्वर ऐसा रोग है जो मुर्गियों और पीरुओं को तो अधिक किन्तु हंसों, वत्तखों, कवूतरों, तीतरों, चूकर चूज़ों को कभी-कभी होता है. इस रोग से वैसे तो प्रायः छोटे चूजे ही पीड़ित होते हैं किन्तु वयस्क पक्षियों के पीड़ित होने की भी सम्भावना रहती है. वयस्क पक्षी रोगी हो जाने पर जल्द ही निरोग हो जाते हैं और कभी-कभी जीवाणुओं के लिये संवाहक का कार्य भी करने लगते हैं. इस रोग के जीवाणु दूषित अण्डों अथवा रोगी पक्षियों की बीट द्वारा फैलते है.

कुक्कुट आन्त्र ज्वर मुर्गियों का एक रक्त सम्वन्धी रोग है जो **साल्मोनेला गैलिनेरम** जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होता है. मुर्गियों के अतिरिक्त यह पीरु और वत्तखों में भी उत्पन्न होता है. सभी आयु के पक्षियों को होने वाला यह रोग प्रचण्ड अथवा चिरकालिक अवस्थाओं में होता है. इस रोग का संक्रमण मुख्यतः दूषित अण्डों, रोगी चूज़ों की बीट तथा संवाहक पक्षियों द्वारा होता है.

पास्तुरेला मल्टीसिडा जीवाणु के कारण उत्पन्न होने वाला कुक्कुट हैज़ा, मुर्गियों, पीरुओं, वत्तखों और हंसों का व्यापक रोग है और इसका सम्वन्ध रक्त से है. प्रचण्ड अथवा चिरकालिक अवस्थाओं में होने वाला यह रोग शायद ही 2 मास से कम आयु के छोटे पक्षियों में देखा जाता है. रोग की प्रचण्ड अवस्थाओं में मृत्यु दर 90% तक हो जाती है. इसके उपचार के लिये पक्षियों के पीने के पानी में सल्फ़ामेथाज़ीन मिला दिया जाता है. इसकी रोकथाम के लिये टीका भी लगाया जाता है.

माइकोबैक्टीरियम एविअम जीवाणु के कारण होने वाला क्षय रोग चिड़ियों में व्यापक चिरकालिक संक्रामक रोग है. इसके जीवाणु सुअर और भेड़ों को भी संक्रमित कर सकते हैं तथा मनुष्य में क्षय रोग के जीवाणुओं के लिये पशुओं को सुग्राही वना देते हैं. इसीलिये कुक्कुटों के पीड़ित होते ही इस रोग को तुरन्त ही उन्मूलित करने की सलाह दी जाती है. यह रोग मुख्यतया रोगी पक्षियों की बीट द्वारा फैलता है. इसमें वूढ़े पक्षी, नये पक्षियों के संक्रमण के साधन वनते हैं. इस रोग के लक्षण संक्रमित हो जाने के वहुत वाद कई वार तो एक वर्ष अथवा इससे भी वाद में प्रगट होते हैं. रोगी पक्षी का भार कम हो जाता है और वह उदासीन दीखता है, उसे जल्दी थकावट आने लगती है, सीना विपम और क्षीण होने लगता है तथा इसके अण्डा उत्पादन मे भी कमी देखी जाती है.

संक्रामक प्रतिश्याम (रूप) **हीमोफिलस गैलिनेरम** नामक जीवाणु के कारण उत्पन्न होने वाला पक्षियों का श्वसन रोग है. यह सभी आयु वाले पक्षियों को होता है. यह प्रचण्ड तथा चिरकालिक दोनों अवस्थाओं में होते देखा जाता है. यह रोग संवाहक पक्षियों द्वारा ही फैलता है तथा वातावरण में शुष्कता अथवा अत्यधिक आर्द्रता, एक स्थान पर अधिक भीड़ आदि के कारण अधिक फैलता है. इस रोग की अवधि 10 दिन से लेकर कुछ महीनों तक रहती है. मृत्यु दर विशेष अधिक नहीं होती है, रोगी पक्षी चुग्गा कम लेता है और कम अण्डे देता है. रोगी पक्षियों के उपचार के लिये इनके प्रति 50 किग्रा. चुग्गे में 250 ग्रा. सल्फ़ाथायाजोल मिलाया जाता है.

हाल ही में चिरकालिक श्वसन रोग का महत्व वढ़ा है क्योंकि ग्रस्त पक्षियों के भार में वृद्धि नहीं हो पाती जिससे मांस के लिये कुक्कुट पालन उद्योग को काफी हानि पहुँचती है. वैसे तो हर आयु के चूज़े इस रोग के शिकार वनते हैं किन्तु विकासशील पक्षियों को वहुत हानि पहुँचती है. इस रोग का मुख्य कारण प्ल्यूरोनिमोनिया के समान समूह से सम्वन्धित **माइकोप्लाज्मा गैलिनेरम** जैसा

जीवाणु होता है किन्तु **कोलीफार्म** जीवाणु वाइरस तथा कुछ कवक सम्बन्धी कारक-जैसे अन्य जीव भी इसके वाहक हो सकते हैं. यह रोगग्रस्त पक्षियों तथा इनके अण्डों द्वारा फैलता है. ग्रस्त पक्षियों को साँस लेने में कठिनायी होती है और शरीर का भार तथा अण्डा उत्पादन घट जाता है. जैसे-जैसे रोग बढ़ता जाता है, कुछ पक्षी मर जाते हैं और शेष निर्बल तथा क्षीण हो जाते हैं. इस रोग के उपचार के लिये 20–40 अंश प्रति लाख अंश जीवाणु-नाशक रसायनों का प्रयोग किया जाता है.

वाइरस रोग – कुक्कुटों के लिये रानीखेत, कुक्कुट चेचक, कुक्कुट प्लेग, संक्रामक स्वरयंत्र श्वासप्रणाल शोफ, संक्रामक श्वसननलीशोथ, पक्षियों के श्वेत कोशिका रोग तथा मस्तिष्क सुषुम्ना शोफ जैसे वाइरस रोग घातक होते हैं और थोड़े ही समय में कुक्कुटों की मृत्यु बड़ी तादाद में हो जाती है. अन्य रोगों के विपरीत, वाइरस रोगों की कोई विशेष चिकित्सा नहीं हो पाती. इनकी रोकथाम का एकमात्र उपाय अधिक हानि होने से पहले ही झुंडों में इनके प्रसार को रोकने के समुचित साधन अपनाना है.

रानीखेत रोग (न्यू-कैसल रोग) हर आयु के पक्षियों को होता है और यह कुक्कुटों के अत्यन्त घातक रोगों में से एक है. इस रोग से शत-प्रतिशत मृत्युयें होती हैं और कुक्कुट फार्म की अण्डे देने वाली मुर्गियाँ एकदम अण्डा देना बन्द कर देती हैं. इस रोग के लक्षण वाइरस के विभेद के अनुसार बदलते रहते हैं. यह रोग प्रायः प्रचण्ड अथवा अति प्रचण्ड अवस्थाओं में देखा जाता है और तीन चार दिनों में ही चूज़ों की मृत्यु दर काफी बढ़ जाती है.

रानीखेत रोग प्रायः रोगी पक्षियों के निस्राव, बीट तथा अन्य मैल से फैलता है. परपोषी पक्षियों में वाइरस श्वसन अथवा पाचन तन्त्रों में से होकर प्रवेश करते हैं. यह वाइरस एक स्थान से दूसरे स्थान तक वायु द्वारा अथवा उपकरणों, आहार थैलियों, टोकरियों द्वारा फैलते हैं. प्रकोप के समय चूहे तथा कुत्ते भी इसके फैलाने में सहायक होते हैं क्योंकि वे रोगी पक्षियों के शवों को खा लेने के 8 दिन बाद तक वाइरस उत्सर्जित करते रहते हैं. रोग की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जो अण्डे दिये जाते हैं उनमें भी वाइरस देखा गया है. अण्डे सेने वाले स्थानों के संदूषण का यही प्रमुख स्रोत है. एक दिन के चूज़ों को आँखों के बीच में टीका लगा कर और 7 सप्ताह तक के चूज़ों को 'विगवेव' विधि से बचाया जा सकता है. इस रोग का कोई कारगर उपचार नहीं है.

कुक्कुट चेचक पक्षियों का रोग है और जहाँ कहीं भी कुक्कुट पालन होता है वहीं पर यह सामान्य है. यह हर आयु और नस्ल के नर तथा मादा पक्षियों को होता है. फिर भी वयस्कों की अपेक्षा बढ़ने वाले पक्षी इससे अधिक प्रभावित होते हैं. वाइरस रोग होते हुए भी यह बड़ी धीमी गति से फैलता है. इस रोग की उद्भवन अवधि 4 से 14 दिन तक की है. यह शुष्क तथा नम दो प्रकार का होता है जिनमें से नम अथवा डिप्थीरिया-जैसा प्रकार शुष्क प्रकार की अपेक्षा अधिक घातक है. रोग की इन दोनों प्रकार से होने वाली मृत्यु दरें भिन्न-भिन्न हैं. नम प्रकार में मृत्यु दर 50% तक जाती है. जब कोई स्वस्थ पक्षी रोगी पक्षी का स्पर्श करता है या फिर किसी अन्य विधि से स्वस्थ पक्षी तक वाइरस पहुँच जाते हैं तब यह रोग फैलता है. इस रोग को फैलाने में मच्छर, कुटकी, चिड़ियाँ तथा अन्य पक्षी भी सहायक होते हैं.

कुक्कुट प्लेग कुक्कुटों का अत्यन्त घातक संक्रामक रोग है. यह अचानक ही फैलता है जिससे तमाम पक्षी किसी प्रकार के लक्षण प्रकट किये बिना ही मर जाते हैं. इससे रोगी पक्षी चुगना, घूमना-फिरना और अण्डे देना बन्द कर देते हैं और वे निर्बल तथा सुस्त पड़ जाते हैं. इनकी कलँगी और लोलकियों पर नीलिमा छा जाती है, आनन शोफ़ हो जाता है, कभी-कभी तंत्रिकीय विकृति के परिमाणस्वरूप रोगी पक्षी में क्षोभ और ऐंठन भी आ जाती है और वह लुढ़कने, वृत्ताकार चक्कर लगाने तथा गतिविभ्रमित होने लगता है. इस रोग से रक्षा के लिये 'कबूतर-चेचक वैक्सीन' का अत्यधिक उपयोग किया जाता है. इस रोग के उपचार के लिये कोई कारगर ओषधि प्राप्त नहीं है.

संक्रामक स्वर यंत्र श्वसन प्रणाल शोफ, कुक्कुटों का एक प्रचण्ड तथा अत्यधिक संक्रामक श्वसन वाइरस रोग है. यह ज्यादातर बढ़ने वाले तथा वयस्क पक्षियों को होता है. प्राकृतिक परिस्थितियों में इस रोग की उद्भवन-अवधि 6–12 दिन होती है. यह रोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रोगी पक्षियों के संसर्ग में आये ढाँचों, पालन-उपकरणों, अन्य पक्षियों तथा कुत्तों और चूहों द्वारा फैलता है. इनके अतिरिक्त निरोग हो जाने पर रोगी पक्षी इस रोग के वाइरसों के संवाहक बनते हैं. इस रोग की अवधि लगभग दो सप्ताह की होती है. झुण्ड में यह रोग बड़ी तेजी से फैलता है. इससे मृत्यु दर 14 से 72% तक पहुँच जाती है, अण्डा देने वाली मुर्गियाँ अण्डा देना काफी कम कर देती हैं और मांस के लिये पाले जाने वाले पक्षियों का भार नहीं बढ़ पाता. 6 सप्ताह की आयु के सभी वर्गों के पक्षियों को टीका लगाकर इस रोग से प्रतिरक्षा प्राप्त की जा सकती है.

संक्रामक श्वसननली शोफ हर वर्ग के और हर आयु के पक्षियों को होने वाला एक व्यापक और प्रचण्ड श्वसन वाइरस रोग है. यद्यपि इस रोग से मृत्यु दर अधिक नहीं होती किन्तु इससे छोटे चूज़ों को अत्यन्त हानि पहुँचती है. यह रोग बड़ी तेजी से फैलता है और इसकी उद्भवन-अवधि 18–36 घण्टों तक की होती है. चूज़ों में मृत्यु दर 40% तक देखी गयी है. इससे अण्डे देने वाली मुर्गियाँ कम अण्डे देने लगती हैं और इस अवस्था में दिये गये अधिकांश अण्डे रूक्ष, आकार में असम, कोमल कवचीय तथा घटिया होते हैं. अण्डों की जनन क्षमता भी कम होती है. रोगी पक्षी अधिक समय तक अण्डों का सामान्य उत्पादन नहीं कर पाते तथा इस रोग से पक्षियों की जनन-क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है.

ल्यूकोसिस काम्प्लेक्स (ए. एल. सी.) मुर्गियों का एक व्यापक संक्रामक वाइरस रोग है. पक्षियों की टाँगों और पंखों का पक्षाघात, शरीर के विभिन्न भागों में गाँठें पड़ना और पक्षियों का अन्धा होना इस रोग के लक्षण हैं. छोटे पक्षियों में बड़ों की अपेक्षा रोग की सम्भावना अधिक रहती है. यह रोग रोगी पक्षियों की बीट तथा संदूषित अण्डों से अप्रत्यक्ष रूप से तथा स्वस्थ पक्षियों के सम्पर्क से फैलता है. पीड़ित रहने पर पक्षियों में 2 से 4 महीने तक इस रोग के लक्षण देखे जाते हैं. पीड़ित पक्षियों में पाँच प्रकार के लक्षण देखे जाते हैं : (*1*) **तन्त्रिका प्रकार** (तन्त्रिकीय लिम्फो-मैटोसिस, कुक्कुट पक्षाघात अथवा रेंज पक्षाघात). इसमें पक्षी के पंख में, एक अथवा दोनों टाँगों में तथा गर्दन में पक्षाघात हो जाता है. जब रोग का प्रभाव टाँगों पर होता है तो पक्षी लँगड़ा कर चलता है, इसकी चाल एक-सी नहीं रह पाती है और लेटते समय पक्षी अपनी एक टाँग को आगे और दूसरी टाँग पीछे की ओर तान कर रखता है. जब यह रोग गर्दन तक पहुँच जाता है

तो वह ऐंठ जाती है और पक्षी को साँस लेने तथा खाना निगलने में कठिनाई होने लगती है. (2) चाक्षुष प्रकार (चाक्षुष लिम्फोमैटोसिस, धूसर अथवा खसखसी आँख), इस रोग में परितारिका की प्राकृतिक चमक चली जाती है और यह रंग में धूसर अथवा धूसरीय श्वेत पड़ जाती है. आँख की पुतली का आकार विषम हो जाता है और प्रकाश के साथ प्रतिक्रिया करना बन्द कर देती है, कोये उभर आते हैं और अन्तत: पक्षी अन्धा हो जाता है. छ: मास से अधिक आयु के पक्षी ही प्राय: इस प्रकार के रोग से पीड़ित होते देखे जाते हैं. (3) अंतरांग प्रकार (यकृत वृद्धि, अंतरांग लिम्फोमैटोसिस), प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस रोग का पता भी नहीं चल पाता किन्तु बढ़ जाने पर उदर में पानी भर जाता है, पक्षी कम चुगने लगता है, भार में बढ़ोत्तरी नहीं होती, पक्षी की कलँगी तथा लोलकियाँ निस्तेज होकर रंग में पीली पड़ जाती है, बीट का रंग हरा पड़ जाता है और पक्षी कम अण्डे देने लगते हैं. (4) अस्थि प्रकार (ओस्टियोपेट्रोसिस, संगमरमर अस्थि), अंतरांग प्रकार की अपेक्षा यह कम होता है, इससे पीड़ित पक्षियों की लम्बी अस्थियाँ, विशेषतया जाँघों और पंखों की अस्थियाँ मोटी होने लगती है. फलत: रोगी पक्षी की चाल और ठवन में अन्तर आ जाता है तथा पक्षी अस्वाभाविक चाल से झटके लेकर चलने लगता है. (5) रुधिर प्रकार (इरिथ्रोल्यूकोसिस), यह विरले ही देखने में आता है, इसके कारण पक्षी में रक्त की कमी पड़ जाती हैं और वह दुर्बल हो जाता है. रोग की गम्भीर अवस्थाओं में पक्षी की कलँगी, लोलकियाँ और टाँगें पीताभ नारंगी पड़ जाती हैं. इस अवस्था में यदि पक्षी को किसी भी प्रकार की चोट लग जाय तो लगातार रक्त बहता रहता है. इस रोग से प्राय: एक साथ अधिक पक्षी नहीं पीड़ित होते.

पक्षियों का एन्सेफ़ेलोमाइलिटिस (मारक कम्पन) विशेषतया एक से तीन सप्ताह तक के चूज़ों का वाइरस रोग है. इस रोग में गतिविभ्रम होने से पक्षी की गर्दन और सिर में कम्पन होने लगती है. इस रोग की मृत्यु दर 5–10% तक है. यह रोग रोगी पक्षियों के दूषित अण्डों से फैलता है.

विभिन्न वाइरस रोगों से पक्षियों की रक्षा का एकमात्र उपाय रोग की रोकथाम है, अत: पक्षियों को विभिन्न रोगों के संक्रमण से बचाने के लिये उन्हें उपयुक्त समय में टीका लगाने की सिफारिश की जाती है. सफाई और स्वास्थ्य के नियमों का कठोरता से पालन, अच्छी व्यवस्था तथा खिलाने की अच्छी विधियों को अपना कर तथा रोगों के संक्रमण तथा अति संकुलन पर निगरानी रखने से पक्षियों के इन वाइरस रोगों पर नियंत्रण हो सकता है.

परजीवी रोग – कुक्कुटों में रोग उत्पन्न करने वाले परजीवी दो प्रकार के हैं : पक्षियों की वृद्धि और अण्डा-उत्पादन को प्रभावित करने के कारण कुक्कुट-पालन की अर्थ-व्यवस्था में आन्तरिक तथा बाह्य कृमियों के समान आन्तरिक परजीवियों की भूमिका प्रमुख है. कुक्कुटों में नेमेटोडा, सेस्टोडा और ट्रेमेटोडा वर्गों से सम्बन्धित अनेक कृमि पाये जाते हैं. पक्षियों में कुछ सामान्य आन्तरिक कृमिरोग गोल और फीता कृमियों के कारण उत्पन्न होते हैं.

मुर्गियों और पीरुओं में **ऐस्केरिडिया गैली** द्वारा उत्पन्न बड़े गोल कृमियों के संक्रमण सामान्य हैं. तीन महीने से कम आयु वाले पक्षियों में परजीवी कृमि 30 दिन के भीतर पूरी तरह विकसित हो लेते हैं किन्तु बड़े पक्षियों में लगभग 50 दिन लगते हैं. पूर्ण विकसित कृमि पीताभ-श्वेत रंग के और 37–76 मिमी. तक लम्बे होते हैं. वयस्क कृमि शरीर के आन्तरिक भागों में आंत्र की श्लेष्मला को वेध कर आन्तरिक परतों को काफी हानि पहुँचाते हैं.

संक्रमण या तो कृमियों द्वारा या फिर कृमियों के संक्रमित अण्डों तथा पक्षियों की बीट से होता है. कृमियों के अण्डे मिट्टी अथवा घासफूस में महीनों तक सक्रिय बने रहते हैं. संक्रमित पक्षी क्षीण होने लगते हैं तथा उनके अण्डा-उत्पादन में भी कमी आ जाती है. कई पीड़ित पक्षी तो कृमियों के द्वारा आँत अवरुद्ध हो जाने से मर भी जाते हैं.

कुक्कुटों में केशिका कृमियों (12.5–25.0 मिमी. आकार) के कारण होने वाला संक्रमण, **कैपिलेरिया** वंश के बाल से पतले कृमियों की कई जातियों के द्वारा होता है. ये कृमि, पाचन तन्त्र के विभिन्न भागों, जैसे, ग्रसिका, गला ग्रंथिल जठर, आँत के ऊपरी भागों तथा उण्डुक में पाये जाते हैं. कुछ जाति के कृमियों को केंचुये जैसे माध्यमिक परपोषी की आवश्यकता पड़ती है.

लाल रंग के 12.5–25.0 मिमी. लम्बे गिजर्ड कृमि गिजर्ड की शृंगी परतों में रहते हैं. इन कृमियों को अपना जीवन-चक्र पूरा करने के लिये टिड्डे, भृंग तथा मरुस्थली टिड्डे जैसे माध्यमिक परपोषियों की आवश्यकता पड़ती है. ये कृमि गिजर्ड के पेशीय भागों में नरम गाँठें अथवा हल्के उभार उत्पन्न करके पक्षी की पाचन क्रिया क्षीण कर देते हैं.

हिटेरेकिस गैलिनी पक्षियों की आँत के उण्डुक भागों में मिलने वाले उण्डुक कृमियों की एक मुख्य जाति है जो लगभग 12.5 मिमी. तक लम्बी होती है. ये कृमि पक्षियों में 'काला सिर' रोग उत्पन्न करने वाले प्रोटोज़ोआ के लिये संवाहक का कार्य करते हैं.

कुक्कुटों को पीड़ित करने वाली फीता कृमियों की 11 जातियाँ ज्ञात हैं जिनमें से 6–7 जातियाँ अधिक सामान्य हैं. ये परजीवी खण्डित, श्वेत, चपटे, फीते के समान, कुछ मिमी. से लेकर कई सेंमी. तक लम्बे होते हैं. इनके स्कोलेक्स भाग में काँटे अथवा चूषण अंग होते है जिनकी सहायता से ये पक्षी के पीड़ित भागों से चिपके रहते हैं. इन्हें अपना जीवन-चक्र पूर्ण करने के लिये कीट, केंचुआ, अथवा घोंघे जैसे माध्यमिक परपोषियों की आवश्यकता होती है. इन माध्यमिक परपोषियों में संक्रामक लारवे होने के कारण इन्हें खाने से कुक्कुट इन कृमियों के शिकार बनते हैं.

फीता कृमियों से पीड़ित हो जाने पर पक्षियों की वृद्धि रुक जाती है, भूख कम हो जाती है, वे क्षीण और दुर्बल पड़ जाते हैं तथा कम अण्डे देने लगते हैं. फ्लूक अथवा ट्रेमाटोड कृमि पक्षियों में बहुत कम पाये जाते हैं. जब कभी ये कृमि पक्षियों में मिलते हैं तो ये निकास द्वार तथा डिम्बवाहिनी के गिर्द अधस्त्वचीय कृमि-कोष के रूप में पाये जाते हैं. इन कृमियों से ग्रस्त पक्षी चुगना बन्द कर देते हैं जिससे वे दुर्बल तथा क्षीण हो जाते हैं. जब कृमि डिम्बवाहिनी के चारों ओर रहते हैं तो उसमें सूजन आ जाती है और छाले दिखायी पड़ने लगते हैं. इस सूजन तथा पेट की झिल्ली-शोथ से श्वेत पनीर जैसा स्राव निकलने लगता है.

कुक्कुटों में कृमि संक्रमण हो जाने पर उनके इलाज की अपेक्षा रोकथाम तथा नियन्त्रण के उपाय अधिक आवश्यक होने हैं. कृमि संक्रमण को कम से कम बनाये रखने के लिये सावधानी बरतनी चाहिये जिसके अन्तर्गत दरबों की सफाई, दूषित घासफूस को निकालना, समुचित जल निकासी तथा जलाक्रान्त न होने देने के

लिये फूस की ठीक से छौनई, गहरी बिछाली होने पर तिनके को वारम्बार उलट-पुलट करके सूखा रखना सम्मिलित हैं. इनके अतिरिक्त दरबे में अधिक भीड़ नहीं होनी चाहिये तथा वहाँ रोग-वाहक कीटों को मारने के लिये उचित कीटनाशकों का प्रयोग भी करना चाहिये.

चीलर, किलनी, कुटकी, मत्कुण तथा पिस्सू आदि परजीवी पक्षियों को कष्ट पहुँचाते हैं. कुक्कुटों के कुछ सामान्य बाह्य परजीवी निम्न प्रकार के हैं :

सभी प्रकार के चीलरों में शरीर के चीलर सामान्य हैं और ये प्रायः बड़े पक्षियों के शरीर पर रोओं के नीचे, सीने के पंखों तथा गर्दन पर पाये जाते हैं.

सिर का चीलर, सिर के पंखयुक्त भाग पर, काण्डीय चीलर पंखों के काण्ड पर और पंख चीलर प्रायः पंखों पर रहते हैं. इनके कारण त्वचा में खुजली, पपड़ी का बनना, पंखों की अस्त-व्यस्तता, अण्डा उत्पादन तथा चुग्गा की मात्रा में कमी होने लगती है.

कुक्कुट किलनी अथवा नीला चीलर (आरगस परसिकस), एक अन्य परजीवी है जिसके वयस्क रात के समय पक्षियों से ही अपना आहार प्राप्त करते हैं. चीलरों के कारण पक्षी की भूख मिट जाती है और इनका भार कम होने लगता है. पक्षी अण्डे कम देने लगते हैं और कभी-कभी पक्षियों में रक्त की भी कमी हो जाती है और किलनी पक्षाघात हो जाता है.

पंख कुटकी (धूसर कुटकी) कुक्कुटों पर रहकर उनके भार तथा अण्डा-उत्पादन में कमी कर देती है. इसके द्वारा परपोषियों का रक्त चूसे जाने के कारण उनमें रक्त की कमी आ जाती है और उनकी कलँगी और लोलकियाँ पीली पड़ जाती हैं.

मुर्गा कुटकी (लाल कुटकी), रात्रिचर होने के कारण दिन के समय पक्षी पर नहीं दिखायी पड़ती. इसकी उपस्थिति के कारण पक्षी की शारीरिक वृद्धि तथा अण्डा-उत्पादन में कमी देखी जाती है और पक्षी चुग्गा भी कम मात्रा में लेने लगते हैं. पक्षियों में स्थायी उत्तेजना उत्पन्न होती है. पक्षियों में कुछ हद तक रक्ताल्पता भी देखी जाती है.

पंख गिराने वाली कुटकी, पक्षियों के पंख कूपों के तल में रहती है और शरीर पर स्थायी खुजली उत्पन्न करती है जिसके कारण पंख गिरने लगते हैं.

शल्की टाँग कुटकी प्रायः पक्षियों की टाँगों की त्वचा को काटती है. यह कभी-कभी उनकी कलँगी और लोलकियों में भी देखी जाती है. इसकी उपस्थिति के कारण पक्षी लँगड़ा कर चलते है तथा उनकी टाँगें सूज जाती हैं.

फसली कुटकी, प्रायः पक्षी के प्रत्येक अंग पर पायी जाती है जिससे खुजली उत्पन्न होती है और पक्षी की भूख मिटने लगती है और शरीर पर छाले और गुमटे भी उत्पन्न हो जाते हैं.

खटमल, पक्षियों को केवल रात में सताते हैं. इनके कारण शरीर पर खुजली उठती है तथा पंख गिरने लगते हैं.

प्रोटोजोआ से उत्पन्न रोग – कुक्कुटों में प्रोटोजोआ से कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, जैसे कॉक्सिडिआ रुग्णता, हेक्सामिटिआ रुग्णता, हिस्टोमोना रुग्णता, ट्रिकोमोनिआ रुग्णता, ट्रिपानोसोमिआ रुग्णता, टाक्सोप्लाज्मा रुग्णता, ल्यूकोसाइटोजोआ के संक्रमण, प्लाज्मोडियम संक्रमण तथा ईजिप्टिएनेला संक्रमण. इनमें से कॉक्सिडिआ रुग्णता संक्रमण सबसे अधिक होता है जिसके कारण मुर्गी-पालन पालकों की चिन्ता का विषय बना हुआ है. कॉक्सिडिआ की लगभग 8 जातियाँ (आइमेरिया जातियाँ) चूजों पर आक्रमण करती हैं. पक्षियों में जल अथवा आहार के द्वारा संक्रमण फैलता है. चार से आठ सप्ताह तक की आयु के पक्षी इसके शिकार हो जाते हैं. वे क्षीण होने लगते हैं और उनके भार में तथा रक्त में कमी आ जाती है जिससे उनकी मृत्यु दर भी बहुत उच्च होती है. रोगी पक्षी कम अण्डे देने लगते हैं और आहार की मात्रा में भी कमी आ जाती है. बड़ी आयु के पक्षियों के लिये यह रोग हानिकारक नहीं होता.

सल्फामेथैजीन के समान ओषधियों द्वारा तुरन्त इलाज करके और सफाई का उत्तम प्रबन्ध करके इस रोग पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है.

हेक्सामिटा मेलियाग्रिडिस परजीवी प्रोटोजोआ के कारण हेक्सामिटिआ रुग्णता नामक रोग फैलता है जिसमें नजला-जुकाम की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं. यह मुख्यतः पीरू, बटेरों तथा महोखों को होते देखा जाता है. प्रयोगों में मुर्गियों और बत्तखों को भी इससे संक्रमित किया जा सकता है किन्तु प्राकृतिक अवस्थाओं में ये पक्षी इससे संक्रमित नहीं होते.

हिस्टोमोना रुग्णता (काला सिर रोग), प्रायः पीरुओं को होता है किन्तु कभी-कभी मुर्गियों के चूजे और अन्य पक्षी भी इससे पीड़ित हो जाते हैं. इस रोग का कारण **हिस्टोमोनास मेलियाग्रिडिस** परजीवी प्रोटोजोआ है. यह परजीवी कुक्कुटों में पाये जाने वाले साधारण उण्डुक कृमियों का आश्रयी है. यद्यपि मुर्गियों में इस रोग के होने की सम्भावना बहुत कम रहती है किन्तु इनमें परजीवी अड्डा बनाये रहते हैं अतः वे रोग को पीरुओं तक पहुँचाने में संवाहक का काम करते हैं.

ट्राइकोमोना रुग्णता प्रायः पीरुओं में अधिक किन्तु मुर्गियों में विरले ही होते देखा जाता है. इस रोग का कारण **ट्राइकोमोनास गैलिनी** नामक प्रोटोजोआ परजीवी है.

ट्रिपेनोसोमा रुग्णता रोग अनेक जंगली पक्षियों, चूजों, कबूतरों और गिनी मुर्गियों को होते देखा गया है. मुर्गियों को यह रोग **ट्रिपेनोसोमा** वंश की कुछ परजीवी जातियों (**ट्रि. एवियम** और **ट्रि. गैलिनेरम**) के संक्रमण के फलस्वरूप होता है. यह रोग कुक्कुटों में अधिक नहीं पाया जाता.

ल्यूकोसाइटोजोआन समूह से सम्बन्धित परजीवी प्रोटोजोआ जन्तुओं के कारण उत्पन्न होने वाला ल्यूकोसाइटोजोआई संक्रामक रोग पीरू, बत्तखों और हंसों का एक सामान्य रोग है. यह चूजों को बहुत कम होता है. चूजों को **ल्यूकोसाइटोजन सावरेजेसाइ, ल्यू. कालेराइ** तथा **ल्यू. ऐंड्रूसाइ** संक्रमित करते बताये गये हैं.

पक्षियों के प्रोटोजोआ सम्बन्धी रोगों में **टोक्सोप्लाज्मा** जन्तुओं के कारण उत्पन्न टोक्सोप्लाज्मा रुग्णता, **प्लाज्मोडियम गैलिनेसियम** के कारण उत्पन्न प्लाज्मोडियम तथा **एजिप्टिएनेला पुलोरम** के संक्रमण से उत्पन्न ईजिप्टिनैला रोग मुख्य हैं.

कवकीय रोग – कवकों या फफूंदों से उत्पन्न रोग कुक्कुटों के आम रोगों में से नहीं है किन्तु फिर भी कुक्कुट रोगों में इनका निजी महत्व है.

मुर्गियों में **ऐस्पर्जिलस फ्यूमिगेटस** के द्वारा ऐस्पर्जिलस रुग्णता उत्पन्न होती है. यह रोग सदा अति उग्र अवस्था में उत्पन्न होता है तथा इसके कारण मृत्यु दर और विकृत अंगता बहुत अधिक होती है. यह रोग कवक के बीजाणुओं द्वारा अथवा दूषित चुग्गे, जल अथवा घासफूस द्वारा फैलता है. इस रोग से पक्षियों को निरोग रखने के लिये पालन-गृहों

को सदा साफ-सुथरा रखना चाहिये और भोजन तथा घासफूस को फफूंदीरहित और सीलन से मुक्त रखना चाहिये.

ट्रिकोफाइटेन मेगनिनाइ (एकोरियन गैलिनी) फफूंदी के कारण उत्पन्न होने वाला फेवश रोग मुर्गियों और पीरुओं का चिरकालिक त्वचाकवकीय संक्रामक रोग है. सर्वप्रथम इस रोग के क्षत कलँगी पर सफेद धब्बों के रूप में दिखाई पड़ते हैं. नवीन पक्षियों और भारी एशियाई नस्लों के चूज़ों में इस रोग के फैलने की अधिक सम्भावना रहती है. यह रोग पीड़ित पक्षियों की त्वचा से गिरे हुये शल्कों और पपड़ियों के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्पर्क से अन्य पक्षियों तक पहुँचता है.

पाचन क्षेत्र में कवकार्ति हो जाने पर पक्षियों को वम्वकार (थ्रश, मोनिलिग्रा रुग्णता) रोग हो जाता है. यह रोग बड़े पक्षियों की अपेक्षा चूज़ों में अधिक सामान्य है. इससे पक्षियों की वृद्धि रुक जाती है. इस रोग पर नियन्त्रण का उपाय पालन-गृहों में सफाई का अच्छा प्रवन्ध रखना है.

पोषण सम्बन्धी विकार – कुक्कुटों को प्रोटीन, कार्वोहाइड्रेट, वसा, खनिजों तथा विटामिनों से युक्त सन्तुलित आहार की पर्याप्त मात्रा देकर ही लाभ की आशा रखनी चाहिये. आहार में प्रोटीन की कमी होने से पक्षी की बाढ़ रुक-रुक कर होती है, वयस्कता देर से आती है और अण्डा उत्पादन में कमी आती है. आहार में प्रोटीन की मात्रा अपर्याप्त होने पर यह निश्चित है कि पंख ठीक से नहीं आते. प्रोटीन न्यूनता के कारण पक्षी परस्पर छीना-झपटी, दुम की नोचाई तथा कभी जाति-भक्षण पर भी उतर आते हैं.

कुक्कुटों को कार्वोहाइड्रेट और वसा से आवश्यक ऊर्जा मिलती है. वसा से वसा-विलेय विटामिनों के अवशोषण में भी सहायता मिलती है. चूज़ों की वृद्धि के लिये लिनोलीक, लिनोलेनिक और ऐराकिडोनिक जैसे असंतृप्त वसा अम्ल भी आवश्यक होते हैं.

कुक्कुटों को स्वस्थ रखने के लिये तथा शरीर के मृदु ऊतकों के निर्माण में खनिज अनिवार्य तथा सहायक होते हैं. बढ़ने वाले चूज़ों में हड्डियों के वनने तथा वयस्क पक्षियों में अण्डों की खोलों के लिये फॉस्फोरस और कैल्सियम आवश्यक हैं. पक्षी-शरीर में इन दोनों खनिजों का उपयोग आहार में उपस्थित विटामिन डी की मात्रा पर बहुत कुछ निर्भर करता है. चुग्गे में इन दोनों खनिजों के न होने से अण्डा-उत्पादन तथा पक्षियों के भार में कमी आ जाती है और पक्षी कम जनन क्षमता वाले नरम कवचीय अण्डे देने लगते हैं. मैग्नीशियम की कमी होने से चूज़ों की वृद्धि रुक जाती है, वे सुस्त पड़ जाते हैं और छेड़े जाने पर थोड़े-थोड़े समय के लिये ऐंठने लगते हैं. यदि वयस्क पक्षियों के आहार में मैग्नीशियम की कमी हुयी तो वे पतली खोल वाले तथा कम संख्या में अण्डे देने लगते हैं.

चूज़ों के आहार में सोडियम और क्लोरीन की न्यूनता से भी उनकी वृद्धि रुक जाती है. अण्डे देने वाली मुर्गियाँ छोटे आकार के, हल्के तथा कम संख्या में अण्डे देने लगती हैं. लवणों की अधिकता से विषाक्तता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं जिससे पक्षी को प्यास अधिक लगने लगती है, वह खड़ा नहीं रह पाता और पेशीय दुर्बलता के कारण वह ऐंठने भी लगता है जिससे पक्षी की मृत्यु हो जाती है.

आहार में पोटैशियम की कमी से चूज़ों की वृद्धि रुकती और मृत्यु दर बढ़ती है.

मैंगनीज ऐसा सूक्ष्ममात्रिक तत्व है जो चूज़ों के पेरोसिस रोग को रोकने के लिये अनिवार्य माना जाता है. इस रोग में पक्षी की टाँगें लँगड़ी हो जाती हैं जिससे वह अपना पूरा आहार प्राप्त नहीं कर पाता और उसकी मृत्यु हो जाती है. मैंगनीज़ न्यूनता के कारण वयस्क पक्षियों में जनन-क्षमता घटती है, वे निम्न जनन क्षमता वाले अण्डे देने लगते हैं और उद्भवन की अन्तिम अवस्था में भ्रूणों की मृत्यु दर बढ़ जाती है. कुछ फूटकर निकले भ्रूणों में गर्भ उपास्थि दुष्पोषण विकार हो सकता है. मैंगनीज़ न्यून चुग्गा चुगने वाले पक्षियों के अण्डों से उत्पन्न चूज़ों में गतिविभ्रम और ग्रीवा और सिर के तान्त्रकीय विकार उत्पन्न हो जाते हैं.

कुक्कुटों में थाइराइड ग्रंथि की सामान्य क्रियाशीलता के लिये आयोडीन आवश्यक है. बढ़ने वाले चूज़ों के आहार में आयोडीन की न्यूनता से शरीर-भार में भी कमी आ जाती है. इससे प्रजनक मुर्गियों में अण्डा-जनन क्षमता में कमी आने के साथ-साथ उनके सेये जाने की अवधि भी बढ़ जाती है.

आहार में फ्लोरीन की अधिकता होने से चूज़ों की वृद्धि रुक जाती है और अण्डे देने वाली मुर्गियाँ कम अण्डे देने के साथ ही अपना शरीर-भार खोने लगती हैं.

लोहा तथा ताँवा रक्त में उचित मात्रा में होमोग्लोबिन बनने के लिये अनिवार्य हैं. आहार में इन खनिजों की न्यूनता के कारण चूज़ों की वृद्धि रुक जाती है और मृत्यु दर बढ़ती है.

चूज़ों के चुग्गे में जस्ते की कमी से भी उनकी वृद्धि रुकती है, ठीक से पंख नहीं उग पाते, जानुसन्धि बढ़ जाती है और विशेष रूप से टाँगों की चमड़ी उपड़ने लगती है.

कहा जाता है कि गन्धक की न्यूनता के फलस्वरूप पक्षियों के सामान्य उपापचय में बाधा पड़ती है.

चूज़ों के लिये सेलिनियम अनिवार्य वतलाया जाता है. मालिब्डेनम की न्यूनता से कुक्कुटों की वृद्धि रुकती देखी जाती है.

कुक्कुटों के लिये विटामिन सी के अतिरिक्त अन्य सभी विटामिन अनिवार्य हैं. विभिन्न विटामिनों की न्यूनता के कारण विशिष्ट प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं (सारणी 130).

अन्य कुक्कुट

वत्तख

भारत में पाले जाने वाले कुक्कुटों में लगभग 9% वत्तखें हैं जिनका पालन बहुधा पूर्वी तथा दक्षिणी राज्यों में किया जाता है. 1966 की पशुधन गणना के अनुसार भारत में कुल 9,887 हजार वत्तखें थीं जिनमें अधिकतम वत्तखें 5,330 पश्चिमी बंगाल में थीं और फिर क्रमशः असम, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, केरल, विहार और उड़ीसा में इनकी संख्या कम होती गयी. भारत में वत्तखों और अन्य पक्षियों की (राज्यानुसार) कुल संख्या सारणी 131 में दी गयी है.

यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह भारत में वत्तखों और हंसों की मांग भक्ष्य पक्षी के रूप में अधिक नहीं है. यहाँ इनका पालन केवल अण्डों के लिये ही किया जाता है. देहातों में वत्तखें अधिक लोकप्रिय हैं क्योंकि उनके अण्डों का औसत वार्षिक उत्पादन देशी मुर्गियों की अपेक्षा अधिक होता है. इनकी देखभाल भी मुर्गियों से कम करनी होती है. अच्छी तरह पली, अच्छी तरह खिलायी-पिलायी गयी तथा स्वच्छ वाड़े में रखी

सारणी 130 – कुक्कुटों में विटामिन न्यूनता का प्रभाव*

	चूज़े	वयस्क
विटामिन ए	वृद्धि रुकना, निद्रालुता और दुर्वलता, चाल में तालमेल न वैठना, पक्षति का अस्त-व्यस्त और क्षीण हो जाना, अधिक आंसू वहना, पलकों के निचले भाग पर पनीर जैसा पदार्थ एकत्र होना, चूज़ों के श्वसन रोगों से ग्रसित होने की सम्भावना.	दुर्वलता, क्षीणता, पक्षति का अस्त-व्यस्त हो जाना, अण्डा उत्पादन में कमी, जनन-क्षमता भी कम हो जाना, आंखें फूलना और कीचड़ से भरा होना.
विटामिन डी	सूखा रोग, टांगों की दुर्वलता, विलम्बित वृद्धि, चोंच और पंजों का नरम पड़ना, चाल में तालमेल न वैठना.	अण्डा उत्पादन तथा जनन-क्षमता में न्यूनता, पतले खोलों वाले अण्डों की संख्या में वृद्धि, चोंच, पंजा तथा पखुरे की हड्डी का नरम पड़ना.
विटामिन ई	गतिविभ्रम उत्पन्न करने वाला मस्तिष्क-विकार, वल आ जाने के कारण सिर में पीछे की ओर आकुंचन; चाल में तालमेल न वैठना, फिर अवसन्नता के कारण मृत्यु.	अण्डों की जनन-क्षमता का घटना, भ्रूणों की मृत्यु दर वढ़ना, नर कुक्कुटों में वृषण-व्यपविकास.
विटामिन के	रक्त का थक्का न वनना, चोट लग जाने पर अत्यधिक मात्रा में रक्त स्राव और चूज़ों में अरक्तता, अण्डे से निकलते समय चोट आदि लग जाने से चूज़ों की तत्काल मृत्यु.	रक्त स्राव
थायामीन	भूख का मिटना, पाचन क्रिया का क्षीण पड़ना, शारीरिक भार में कमी, पक्षति का अस्त-व्यस्त होना, टांगों का दुर्वल पड़ना, पदचाप अस्थिर, वहु तन्त्रिका शोथ.	कलंगी का नीला पड़ना, पाचन क्रिया क्षीण होना, आकुंचन तथा टांगों, पंखों और गर्दन की प्रसारण पेशियों का पक्षाघात, जिसके परिणामस्वरूप कुक्कुट का स्वप्नदर्शी वनना, अत्यन्त दुर्वलता.
राइवोफ्लैविन	विलम्बित वृद्धि, दुर्वलता, क्षीणता, चूज़ों को दस्त लगना, पंजों का कुञ्चित होना, पंखों का झुक जाना, मुख पर स्कैव और त्वचा-शोथ.	अण्डों के उत्पादन में कमी, भ्रूणों की मृत्यु दर में वृद्धि और अण्डों की जनन-क्षमता में कमी, जीर्ण-शीर्ण और टूटे पंख, ओजस्विता का विलोप.
पेण्टोथैनिक अम्ल	वृद्धि विलम्वित हो जाती है, मृत्यु दर वढ़ जाती है, त्वचा शोथ के साथ पंख भी टूटने लगते हैं. पर्यस्थिशोथ हो जाता है. मुख के गिर्द स्कैव जैसे छाले पड़ जाते हैं.	वृद्धि की गति धीमी, भंगुर, आहार प्रवृत्ति, अण्डों की जनन-क्षमता में कमी, ओजस्विता का ह्रास, भ्रूण अवस्था में मृत्यु दर में वृद्धि, अपव्ययता.
नायसिन	जानुअस्थि का वढ़ना, टांगे झुकना, पर्यस्थिशोथ हो जाना, मुख फूलना, दस्त लगना, पंख छितरना और त्वचा-शोथ.	छितरे पंख, मुख-शोथ, त्वचा-शोथ.
पायरीडॉक्सिन	विलम्बित वृद्धि, भूख का विलोप, तन्त्रिका विकार के कारण कुक्कुट का विना उद्देश्य के इधर-उधर भटकना और पंख फड़फड़ाना, कुक्कुट का इधर-उधर गिरना, सिर और पांव झटका देकर हिलाना.	अण्डा उत्पादन में कमी, शारीरिक भार में कमी, अण्डों की जनन-क्षमता में कमी, आहार में कमी और अन्ततः मृत्यु होना.
फोलिक अम्ल	वृद्धि की गति धीमी, पंखों का छितरना, अरक्तता और पर्यस्थिशोथ.	पंख छितरना, रक्त क्षीणता, भ्रूण अवस्था में मृत्यु दर का अधिक होना, पखों का वर्णक समाप्त होना, अण्डा उत्पादन में कमी, त्वचा-शोथ तथा अण्डों की जनन-क्षमता में कमी.
वायोटिन	चोंच के गिर्द, आंखों, त्वचा और पांव पर त्वचा-शोथ, सहजात पेरोसिस, वायोटिन, अभाववाली मुर्गियों से उत्पन्न चूज़ों में गतिविभ्रमता तथा विकलांगता.	
विटामिन वी$_{12}$	वृद्धि की गति का मन्द होना और मृत्यु दर अधिक.	ठीक से न चुगना, अण्डों की जनन-क्षमता घटना और भ्रूण अवस्था में मृत्यु दर वढ़ना.
कोलीन	वृद्धि की गति का मन्द होना, पर्यस्थिशोथ और टांगे दुर्वल होना.	अण्डा उत्पादन और जनन-क्षमता में कमी.

*Naidu, 1959, 171.

वत्तखों के अण्डे मुर्गियों के अण्डों के समान ही पौष्टिक होते हैं. फिर भी वत्तखों के अण्डे सस्ते विकते हैं. मुर्गी की अपेक्षा एक वर्ष में एक वत्तख 30 से 40 अण्डे अधिक देती है. देश में अण्डों के कुल उत्पादन का लगभग 16% (40.14 करोड़ अण्डे) वत्तखों से प्राप्त होते है. भार में वत्तख का अण्डा मुर्गी के अण्डे (70 ग्रा.) से 14–21 ग्रा. अधिक रहता है. वत्तखें दूसरे वर्ष और प्रायः तीसरे वर्ष भी अच्छी तरह अण्डे देने लगती हैं. इनका पालन किफायती होने के साथ-साथ इनमें रोग भी कम लगते हैं

सारणी 131 – भारत में बत्तखों तथा इतर कुक्कुटों की संख्या*

राज्य	बत्तख	इतर कुक्कुट
असम	2,203.3	233.5
आन्ध्र प्रदेश	381.7	20.5
उड़ीसा	161.4	194.0
उत्तर प्रदेश	64.7	49.0
केरल	318.8	3.0
गुजरात	6.4	1.3
जम्मू और कश्मीर	84.5	10.3
तमिलनाडु	537.9	61.4
त्रिपुरा	104.2	11.1
दिल्ली	1.8	0.1
पंजाब	18.6	52.5
पश्चिमी बंगाल	5,330.5	41.6
पांडिचेरी	3.6	0.5
बिहार	286.1	318.0
मणिपुर	33.0	3.6
मध्य प्रदेश	29.7	157.7
महाराष्ट्र	42.8	22.3
मैसूर	62.9	47.2
राजस्थान	3.9	0.8
हरियाणा	3.4	0.1
अन्य	1.2	0.1

*Indian Livestock Census 1966, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Agriculture, Govt. of India, 1972.

जिससे इनकी मृत्यु दर भी अधिक नहीं होती. बत्तखें विरले ही कुड़क होती हैं. इन्हें ऐसे स्थानों पर भी अच्छी तरह पाला जा सकता है जहाँ कोई अन्य पक्षी अथवा पशु लाभ सहित नहीं पाले जा सकते और न कोई खाद्य फसल ही ठीक से उपजायी जा सकती है. बत्तखों के पालने के लिये दलदल और नदी के किनारे जैसे स्थान अति उत्तम होते हैं. यहाँ इनको पर्याप्त मात्रा में आहार मिल जाता है जिसे गीले दाने, जड़ें इत्यादि डालकर इनकी मात्रा बढ़ायी भी जा सकती है.

बत्तखें अण्डों तथा चूज़ों के लिये पाली जाती हैं. अब भी छोटे-छोटे झुंडों में पाली जाने के कारण भारत में कुक्कुट पालकों द्वारा अण्डे देने वाली तथा भक्ष्य पक्षियों की वंशावलियाँ नहीं बन पायी हैं.

बत्तखों की सर्वश्रेष्ठ नस्ल कैम्पबेल है. लाभप्रद अण्डा-उत्पादन के लिये खाकी उत्तम किस्म है. इनके और 18 अन्य प्ररूप और 34 किस्में हैं किन्तु वे सभी कैम्पबेल और खाकी किस्मों से घटिया बताये जाते हैं. इसके बाद ह्वाइट कैम्पबेल, डार्क-कैम्पबेल तथा इण्डियन रनर नस्लों के नाम आते हैं. खाकी, कैम्पबेल और इण्डियन रनर, श्वेत तथा बादामी श्वेत होती हैं. ये दोनों ही नस्लें अण्डे के लिये उत्तम मानी जाती हैं. बत्तखों की देशी नस्लें निम्न प्रकार हैं : श्वेत रंग की **इण्डियन रनर,** पीली चोंच तथा रंग में हल्की भूरी किन्तु काले पंखों के सिरे वाली **सिलहट मेटा,** काले शरीर किन्तु श्वेत छाती तथा कंठ वाली **नागेश्वरी. खाकी कैम्पबेल** प्रायः द्विकाजी नस्ल मानी जाती है. **मसकोवी, पेकिन** और **आलजबरी** खायी जाने वाली लोकप्रिय नस्लें हैं. कभी-कभी चूजे प्राप्त करने के उद्देश्य से इन नस्लों में संकरण भी कराया जाता है. यूरोप और संयुक्त राज्य अमेरिका में जहाँ बत्तख चूजों का जनन अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से किया जाता है, **मसकोवी** तथा **पेकिन** नस्लों के पक्षी सर्वाधिक लोकप्रिय भक्ष्य पक्षी हैं. विभिन्न नस्लों की मादा तथा नर बत्तखों का सामान्य भार क्रमशः इस प्रकार है : **इण्डियन रनर,** 1.58 और 1.81; **खाकी कैम्पबेल,** 2.03 और 2.27; **पेकिन,** 3.6 और 3.6; **आल्जबरी,** 4.08 और 4.54 किग्रा.

बत्तखों की अनेक दिखावटी किस्में चिड़ियाघरों और वानस्पतिक उद्यानों, पार्कों तथा मृगवनों में छोड़ी जाती हैं. इनमें से कुछ विशेष कर **रूएन** तथा **शेलड्रेक** अत्यन्त सुन्दर और छोटे आकार की बत्तखें हैं.

बत्तखों को रहने के लिये अपेक्षतया साधारण आड़ की आवश्यकता पड़ती है. बत्तखें प्रातःकाल खुले स्थान पर अण्डे देती हैं इसलिये जब तक ये अण्डा न दे लें, इन्हें आड़ में या बाड़े में रखा जाता है. बत्तखों के पालने की दो विधियाँ हैं : मुक्त अथवा घास मैदान में तथा पिछवाड़े. दूसरी विधि अधिक प्रचलित है. बत्तखें न तो बैटरियों में और न गहरी बिछाली में ही जीवन बिताने की अभ्यस्त है.

अण्डे देने वाली सामान्य बत्तख का आकार मझोला, अस्थि रचना सुन्दर, गर्दन पतली, कन्धे चौड़े, अगला भाग पूर्ण, पीठ से सीने तक का भाग गहन, पक्षति कसी हुयी और सुथरी होती है. स्थूल आकार के वे पक्षी जिनकी गर्दन पर पंख अधिक होते हैं, टाँगें और खोपड़ी की अस्थियाँ मोटी होती हैं अथवा जिनके सीने पर मांस बहुत कम रहता है जनन के लिये उपयुक्त नहीं होते.

एक नर बत्तख का संगम 8 मादा बत्तखों से तथा भारी नस्लों में 4–6 बत्तखों से कराया जाता है. जब अण्डे चाहते हों तब उससे लगभग 8 सप्ताह पूर्व संगम कराया जाता है. प्रजनक पक्षियों को खुले घास के मैदानों की आवश्यकता होती है. उनसे जल्दी-जल्दी प्रजनन नहीं कराना चाहिये.

अण्डों के सेने का कार्य या तो इनक्यूबेटरों में अथवा मुर्गियों से लेना चाहिये. सेने के लिये जिन अण्डों का चुनाव किया जाता है उनके लिये मुर्गी के अण्डों के समान ही चुनाव की कसौटी अपनायी जाती है. **मसकोवी** नस्ल में अण्डे सेने की अवधि 35 दिन तथा अन्य नस्लों में 28 दिन है. प्रमुख आवश्यकतायें इस प्रकार हैं : मुर्गी के अण्डे की अपेक्षा ताप कम किन्तु आर्द्रता अधिक चाहिये. अण्डों को 7 दिन से अधिक का नहीं होना चाहिये और नस्ल के अनुसार 70–84 ग्रा. तक भार का होना चाहिये.

इनक्यूबेटर में पहले और दूसरे सप्ताह में 38.3°; तीसरे सप्ताह में 38.9° तथा शेष काल में 39.4–40° तक ताप होना चाहिये; जिस कमरे में इनक्यूबेटर रखा हो उसका ताप 15.6–21.1° होना चाहिये. अण्डों का परीक्षण 7वें तथा 20वें दिन करना चाहिये, आर्द्रता अधिक होनी चाहिये, पहले 24 दिनों तक इसे 60% से बढ़ाकर 70% कर देना चाहिये और फिर जब अण्डे फूटने लगें तो इसे

देशी रनर

खाकी कैंम्पबैल
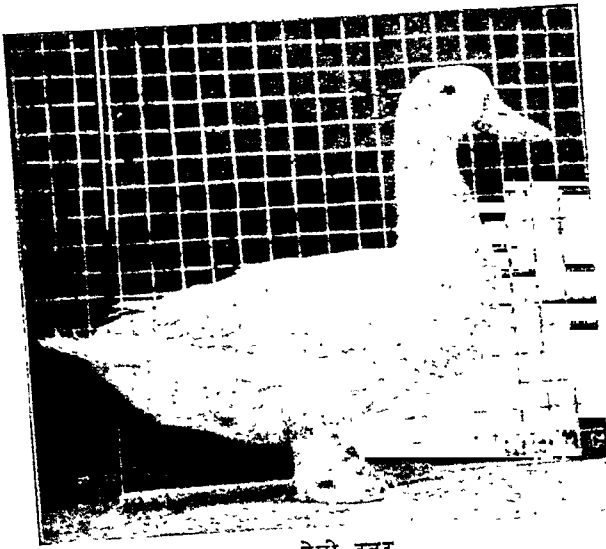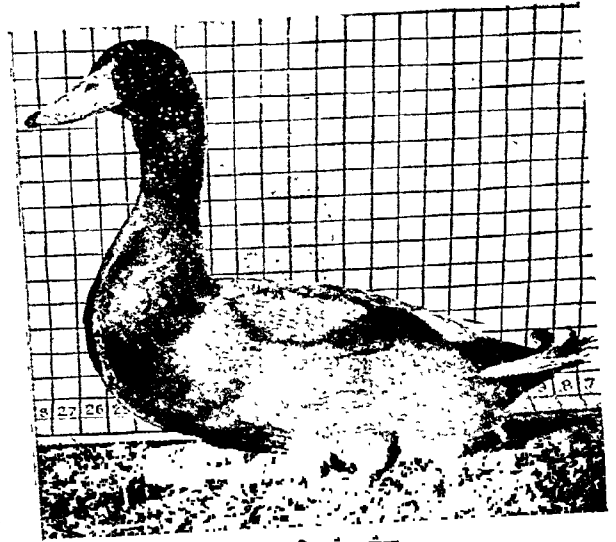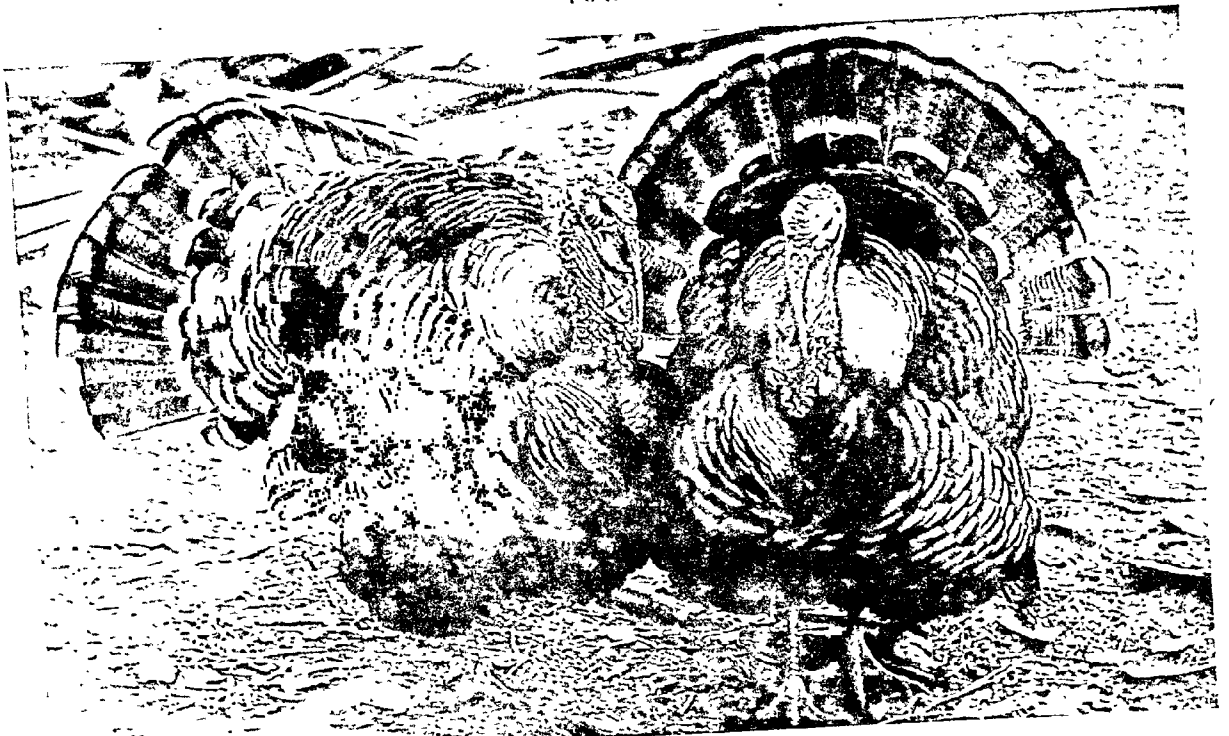
बत्तखें

कांस्य रंग की चौड़े सीने वाली टर्कियां (पीरू)

पुनः 65% तक घटाकर बाद में 70% तक बढ़ा देना चाहिये. अन्तिम 4–5 दिनों को छोड़कर सामान्यतः अण्डों को दिन में दो बार घुमा-घुमा कर देख लेना चाहिये. अण्डा फूटने से दो-तीन दिन पहले अण्डों के खोल छील दिये जाते हैं. उसके बाद उन्हें हिलाना-डुलाना नहीं चाहिये.

अण्डा फूटने के बाद नवजात बत्तख-चूज़ों को सुखाकर, झाड़-पोंछ करके उन्हें जाली लगे कक्षों में स्थापित कर दिया जाता है. ब्रूडर को चलाकर पहले ताप 32.2° और एक सप्ताह के बाद इसे घटा कर 26.7° और दूसरे सप्ताह के अन्त में इसे 21.1° कर लेना चाहिये. गर्मी की ऋतु में चूज़ों से पर्याप्त ऊष्मा उत्पन्न होती है जिसके कारण इन्हें किसी प्रकार के ऊष्मन की आवश्यकता नहीं पड़ती.

बत्तख पालन का सबसे सस्ता ढंग फूट सकने वाले अण्डे खरीद कर किसी अच्छी मुर्गी को बिठाकर अथवा इनक्यूबेटर में रखकर सेने का है. एक अण्डजनक बत्तख प्राप्त करने के लिये कम से कम तीन अण्डे इनक्यूबेटर में रखते हैं. औसतन 100 में से 80 अण्डे संसेचित होते हैं और इनमें से सामान्यतः 65 तो फूट जाते हैं. 65 चूज़ों में से केवल 60 ही अण्डजनक अवस्था तक बढ़ पाते हैं. पालने के लिये 12 सप्ताह की आयु तक के चूज़े भी खरीदे जा सकते हैं. यदि ठीक से पाला जाय तो चूज़े 16–18 सप्ताह में वयस्क हो जाते हैं.

4–6 सप्ताह की आयु के बत्तख-चूज़ों को बत्तख घरों में आसानी से स्थानान्तरित किया जा सकता है. प्रजनकों के लिये जालीदार फर्श ठीक रहता है. सूखे में चूज़े आराम से रहते हैं और वे गीले हो जाने वाले तिनकों के फर्श की अपेक्षा कड़े फर्श पर रहना अधिक पसन्द करते हैं. बत्तख-चूज़ों को विशेष प्रकार से बने छोटे घरों में रखना चाहिये जिनमें लकड़ी का अथवा जालीदार फर्श हो और जिन्हें बाड़े में सुगमता से खुले स्थानों पर ले जाया जा सके. चूज़ों को 6 सप्ताह की आयु से पहले पानी में नहीं तैरने देना चाहिये.

ब्रूडर अवस्था पार कर लेने के बाद 4–5 सप्ताह के चूज़ों को सायबानों में रखा जा सकता है. ये 50–60 के झुंडों में अच्छी तरह रह लेते हैं. ऐसे एक झुंड के लिये 3.6–1.8 मी. का सायबान काफी होता है. इनके लिये चुग्गे और जल की मात्रा, मुर्गी के चूज़ों के लिये आवश्यक मात्रा की दुगुनी होनी चाहिये. रात में बत्तख के चूज़ों को बन्द करके रखना चाहिये.

प्रारम्भ में चूज़ों को रोटी के मोटे टुकड़े तथा स्वच्छ जल दिया जाता है किन्तु कुछ लोग पहले दो दिनों तक इन्हें दूध पिलाना पसन्द करते हैं. इनका पोषण साधारणतः मुर्गियों के चूज़ों की ही तरह किया जाता है. तीव्र वृद्धि के लिये इनके चुग्गे में प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिये. संयुक्त राज्य अमेरिका और कई यूरोपीय देशों में इन्हें छोटी-छोटी गोलियों के रूप में आहार दिया जाता है. इनमें 70% तक प्रोटीन रहता है. इसके अतिरिक्त राइबोफ्लैविन और मैंगनीज सल्फेट पर्याप्त मात्रा में खिलाये जाते हैं. इनको सूखी या गीली दलिया भी खाने को दी जाती है. सूखी दलिया के चुग्गे में अन्न और दलिया में 2 : 1 का अनुपात रहता है किन्तु गीली दलिया में यह अनुपात 3 : 1 रहता है. इससे अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं. इसे दिन में दो बार देना चाहिये. उन्हें हरी चीजें भी खिलानी चाहिये. जब वे एक सप्ताह के हो जायें तो चूज़ों को मक्का का महीन दलिया तथा दो सप्ताह के होने पर शुक्ति-कवच का चूर्ण खिलाना चाहिये और ज्यों-ज्यों पक्षी की आयु बढ़ती जाय दलिये और कवचों के आकार को बढ़ाते जाना चाहिये.

तैरने के लिये पानी की किसी भी समय आवश्यकता नहीं होती किन्तु पीने तथा आँखों को धोने के लिये यह अत्यावश्यक है. इस पानी को साफ और ताजा तथा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना चाहिये. नादों में इतना पानी तो रहना ही चाहिये कि पक्षी नहा सकें.

बत्तखों को बहुत अधिक रोग नहीं होते लेकिन इनकी वृद्धि जल्दी-जल्दी होने के कारण इन्हें असन्तुलित आहार से मुर्गियों की अपेक्षा अधिक हानि होती है. ये लवण-विषों तथा अपर्याप्त आहार के प्रति संवेदनशील होती हैं. इन्हें प्रचुर सूर्य का प्रकाश तथा पर्याप्त संवातन आवश्यक है. गन्दे पोखरों से भी इनमें आहार-विषाक्तता फैल सकती है. ग्रीष्म ऋतु में छाया तथा पेय जल के अभाव में बड़ी तादाद में पक्षी मरने लगते हैं.

विटामिन ए, डी, राइबोफ्लैविन (विटामिन बी$_2$) तथा विटामिन ई के अभाव से न्यूनता रोग उत्पन्न होते हैं. हरे चुग्गे और घोंघा-चूर्ण के अभाव में इनमें कोटर-शोथ उत्पन्न होता है. मुर्गियों में होने वाले चिचड़ी (टिक) ज्वर, स्टेगर (डगमगाना), पुलोरम रोग, कॉक्सीडिया रुग्णता तथा निमोनिया जैसे कतिपय रोग बत्तखों में भी पाये जाते हैं.

उपयुक्त पालन-गृह बनाकर, सुव्यवस्थित प्रबन्ध और सन्तुलित आहार देकर बत्तखों के तमाम रोगों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है.

हंस

हंसों का पालन मुख्यतः खाद्य पक्षी के रूप में किया जाता है किन्तु **चीनी**-जैसी कुछ नस्लें अण्डा देने के लिये भी विकसित की गयी हैं. हंसों को बन्दी बनाकर नहीं रखा जा सकता. ये स्वच्छन्द होकर विचरने वाले पक्षी हैं और ये स्वयं गर्मी से अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं.

हंसों की **टोलूज़**, **एम्बडेन** और **चीनी** नस्लें यूरोपीय देशों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं. **एम्बडेन** विशुद्ध श्वेत रंग की नस्ल है जो शीघ्र ही वयस्क हो जाने के लिये प्रसिद्ध है. **टोलूज़** बड़ा पक्षी है और मन्द गति से बढ़ता है. भारत में दो प्रकार के हंस पाये जाते हैं : श्वेत पीठ वाले तथा भूरी पीठ वाले. दूसरे प्रकार में पेट तथा गर्दन का रंग सफेद और पंख भूरे रंग के होते हैं. नर भार में 3.4–3.6 किग्रा. और मादा 3.0–3.4 किग्रा. होती है. मादा प्रायः वर्ष में दो बार, हर बार आठ से दस तक अण्डे देती है जिसमें से प्रत्येक अण्डे का औसत भार 112–116 ग्रा. होता है.

हंस गन्दे पक्षी हैं, इसलिये इन्हें फार्म की इमारतों से दूर रखना चाहिये. ये अत्यन्त सहिष्णु हैं किन्तु तेज धूप और भारी वर्षा से रक्षा के लिये इन्हें पालन-गृह चाहिये. सभी उम्र के हंस घास खाते हैं. यदि तैरने के लिये तालाब न हों तो भी नहाने आदि के लिये पर्याप्त गहराई का पानी होने पर इन्हें पाला जा सकता है. इन्हें तालाबों, नदियों अथवा पोखरों के पास रखना अच्छा समझा जाता है क्योंकि ऐसी धारणा है कि ऐसे स्थानों में रहने वाले हंस अपेक्षाकृत अधिक जननक्षम होते हैं.

संगम के समय हंसों को कम से कम दो वर्ष की आयु का होना चाहिये और समान आयु वाले नर तथा मादा के बीच संगम कराना चाहिये. 5–7 मादा पक्षियों से संगम करने के लिये एक नर होना चाहिये.

सेने के लिये मादा को एकान्त में रखे एक बड़े बक्से में (0.76 मी. लम्बा और इतना ही चौड़ा तथा 0.91 मी. ऊँचा) बैठाया जाता है. अण्डों का चुनाव तथा उपचार बत्तखों के अण्डों के ही समान किया जाता है. सामान्यतया एक मादा के नीचे चार से अधिक अण्डे नहीं रखे जाते. इन पक्षियों के नीचे 28–30 दिन में अण्डे फूटते हैं; 26वें दिन इनका खोल फूटने लगता है. खोल फूटने के 24 घण्टे बाद अण्डों से चूजे बाहर आ जाते हैं. इनक्यूबेटरों में भी 37.8° पर अण्डों से बच्चे निकाले जा सकते हैं. इसमें बत्तखों के अण्डों के लिये आवश्यक आर्द्रता के तुल्य आर्द्रता रहनी चाहिये. हंस के अण्डों को दिन में कम से कम चार बार फिराना चाहिये.

मुर्गियों के पालने वाले दरबे (ब्रूडर) हंस के चूजों के लिये यथेष्ट होते हैं. हंस के 25 चूजों को उतना ही स्थान चाहिये जितना कि एक दिन के मुर्गी के 100 चूजों को. हंस के चूजों का पालन-पोषण बत्तखों के चूजों की भाँति ही किया जाना चाहिये. 10 सप्ताह से कम आयु के चूज़ों को पानी में तैरने नहीं देना चाहिये. भारी वर्षा तथा तेज धूप से इनकी रक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये. एक स्थान पर 20–25 से अधिक पक्षी नहीं पालने चाहिये.

घास के अभाव में मांस उत्पादन के लिये इन्हें दला हुआ दाना अथवा हरा चारा अधिक खिलाना चाहिये. मारने के 6 सप्ताह पूर्व से ही विशेष भीगा हुआ दलिया खिलाना चाहिये.

पीरू

पीरू ऐसे कुक्कुट हैं जिन्हें विशेषतया बड़े दिन (क्रिसमस) में खाने के लिये पाला जाता है. यद्यपि पक्षी के आकार का कोई महत्व नहीं है फिर भी पुराने जमाने में बड़े आकार के पक्षियों की अधिक माँग होती थी. **नारफोक, ब्रिटिश ह्वाइट, बेल्ट्सविले स्माल ह्वाइट** तथा **ब्राड ब्रेस्टेड ब्राञ्ज** सामान्य पालतू नस्लें हैं.

जब पीरू 20–28 सप्ताह के हो लें तभी इन्हें बेचना चाहिये. पीरू जब तक 3 वर्ष के नहीं हो जाते तब तक वयस्क नहीं होते. तीन वर्ष से कम आयु की मादा पक्षियों से प्रजनन नहीं करवाना चाहिये. अच्छी तरह से पाला-पोषा दो-वर्षीय नर पीरू वयस्क मादा के साथ संगम योग्य होता है.

पीरूओं की व्यवस्था उनके पोषण, निवासस्थान, पालन, तथा रोगों के नियन्त्रण के मौलिक नियम, अन्य कुक्कुट पक्षियों जैसे ही होते हैं. पहले पीरूओं को हंसों की तरह खुले स्थानों में रखा जाता था किन्तु अब इन्हें बाड़ों में पाला जा सकता है. इनके लिये भी हंसों के लिये प्रयुक्त तरह के सायवान कामचलाऊ हो सकते हैं किन्तु इन्हें ऊँचे स्थानों पर बनाना चाहिये. इनके अड्डे भूमि से 0.6 मी. ऊँचाई पर होने चाहिये. छत की औसत ऊँचाई 2.4 मी. से कम नहीं होनी चाहिये. प्रत्येक पीरू को 0.74 वमी. क्षेत्रफल मिलना चाहिये. मुर्गी की अपेक्षा पीरू को तिगुने स्थान की आवश्यकता होती है.

मादा पीरूओं से संगम होने के पूर्व नर पीरूओं को कृत्रिम प्रकाश में रखा जाता है. मादा प्रजनकों को भी 4 सप्ताह तक इसी प्रकाश में रखा जाता है. ऐसा करने से वे जल्दी अण्डे देने लगती हैं. नर द्वारा मादा पक्षियों को घायल होने से बचाने के लिये कई पालक उनकी पीठ पर विशेष प्रकार की बनी काठी लगा देते हैं, अन्यथा अण्डों की निषेचन दर बहुत कम हो जाती है. प्रत्येक प्रजनक पक्षी को विभिन्न विटामिनों से युक्त 140–168 ग्रा. दलिया दिया जाता है.

पीरू के अण्डे इनक्यूबेटर में अथवा मुर्गी के नीचे रखकर सेये जा सकते हैं. इन अण्डों के फूटने का प्रक्रम हंस के अण्डों जैसा ही होता है. पीरू के अण्डों को फूटने में 28 दिन लगते हैं.

पक्षियों को शुष्क स्थान पर पालना चाहिये. पहले दो सप्ताह तक इन्हें एक छोटे घेरे में रखना चाहिये और 4 सप्ताह बाद से इन्हें देखभाल करने वाली मुर्गी के साथ बाहर निकलने देना चाहिये. जब तक चूजे आठ सप्ताह तक के नहीं हो जाते तब तक उनकी रक्षा की आवश्यकता बनी रहती है. 10–12 सप्ताह तक इन्हें बन्द रखना चाहिये. इसके बाद इन्हें मैदान में स्वतन्त्र रूप से विचरने के लिये छोड़ा जा सकता है.

पीरूओं का आहार उनकी आयु के अनुसार बदलता रहता है. 20वें से 24वें सप्ताह में इनको सूखा अथवा भीगा हुआ दलिया प्रचुर मात्रा में खिलाया जाता है. इनके लिये विटामिन ए और डी, राइबोफ्लैविन और विटामिन बी$_{12}$ भी आवश्यक हैं. पीरूओं को भी, कुक्कुटों के लिये संस्तुत प्रतिजैविक तथा कॉक्सिडिओस्टेट दिये जाते हैं. पीरू-चूजों के लिये हरे आहार की आवश्यकता होती है. इन्हें सभी तरह के कोमल हरे पदार्थ खिलाये जा सकते हैं. तीन महीने तक प्रतिदिन इन्हें प्याज की हरी पत्तियाँ काट कर खिलायी जा सकती हैं. चूज़ों को मोटा बनाने के लिये मखनियाँ दूध अत्यन्त लाभकारी है. पीरूओं को खिलाना लाभदायक इसलिये है कि मांस की कोटि पर इन पक्षियों का मूल्य निर्भर करता है.

भारत में अन्य कुक्कुटों (मुर्गियों के अतिरिक्त) के विकास पर बहुत कम ध्यान दिया गया है. तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत एक क्षेत्रीय बत्तख प्रजनन केन्द्र और दो बत्तख प्रसार केन्द्र खोले गये. चौथी पंचवर्षीय योजना में दक्षिणी क्षेत्र में एक अन्य क्षेत्रीय बत्तख प्रजनन केन्द्र और केरल, तमिलनाडु, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, असम तथा मणिपुर, त्रिपुरा और अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह में कई छोटे-छोटे बत्तख-प्रजनन फार्म खोलने का विचार है.

कुक्कुट उत्पाद

अण्डे तथा मांस, कुक्कुटों के दो प्रमुख उत्पाद हैं. इनके अतिरिक्त उनसे पंख, खाद आदि उपोत्पाद भी प्राप्त होते हैं. भारत में कुक्कुटों का प्रजनन और पालन मुख्यतः अण्डों के लिये ही किया जाता है. बूढ़े कमजोर तथा अनावश्यक पक्षियों को मांस के लिये बेच दिया जाता है.

कुक्कुटों के अण्डे और मांस, प्रोटीनों तथा विटामिनों के सबसे उत्तम स्रोत हैं. इस समय भारत में प्रति व्यक्ति एक वर्ष में 12 अण्डे खाने को मिलते हैं, जबकि यही संख्या संयुक्त राज्य अमेरिका में 295, कनाडा में 282 और पश्चिम जर्मनी में 245 है. भारत में प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष 131 ग्रा. कुक्कुट मांस उपलब्ध होता

है. संयुक्त राज्य अमेरिका में यही मात्रा 13.18 किग्रा. और यूरोप के देशों में 2.47–5.95 किग्रा. है.

अण्डे

अण्डे सर्वाधिक पचनीय पशु-प्रोटीन के उत्तम स्रोत हैं. ये कई प्रकार के पकवानों को स्वादिष्ट बनाने वाले होते हैं. ये फॉस्फोरस, लोह, राइबोफ्लैविन तथा विटामिन ए के भी उत्तम स्रोत हैं.

समान भार लेने पर अण्डों में शूकर या कुक्कुट मांस के बराबर, गोमांस का ⅘ तथा सम्पूर्ण दूध के पनीर का ⅘ भाग पशु-प्रोटीन पाया जाता है. अण्डे पकाने पर स्कंदित हो जाते हैं. तलने, तोड़कर पकाने, उबालने, गर्म जल में पकाने तथा लचीला बनाकर खाने पर ये क्षुधावर्धक होते हैं. ये एंजिल-केक तथा स्पंज-केक जैसे खाद्य में किण्वीकारक की तरह, लपसी और मीठी पूरी में संयोगकर्ता की तरह, फिरनी को गाढ़ा बनाने और पाई में मलाई भरने तथा सलाद के मसाले में पायसीकारक की तरह कार्य करते हैं. ये रोटी के टुकड़ों को परस्पर चिपकाये रखने तथा उन पर परत जमाने के लिये और मांस खण्डों या कबाबों पर चिपकाने का कार्य करते हैं. आइसक्रीम अथवा कैण्डी में डाले जाने पर अण्डे उनके बड़े क्रिस्टल नहीं बनने देते अथवा बहुत कम बनने देते हैं. अण्डे, सलाद तथा अन्य भोज्य पदार्थों को सजाने तथा स्वादिष्ट बनाने के लिये भी प्रयुक्त किये जाते हैं. अण्डों का ऐल्बुमिन, यदि थोड़ी मात्रा में डाला जाय तो कॉफ़ी अथवा शोरबा को निर्मल बनाता है. चमड़ा उद्योगों में अण्डे की जर्दी का प्रयोग उसके पायसीकारक गुणों के कारण किया जाता है. अण्ड-श्वेत में स्कंदक तथा आसंजक गुण होने के कारण इसका उपयोग कई अखाद्य उद्योगों में किया जाता है.

खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय के विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय, नागपुर के अनुसार 1956 की पशुगणना के आधार पर भारत में अण्डों का वार्षिक उत्पादन मुर्गियों से 175.76 करोड़ और बत्तखों से 32.77 करोड़ था जो 1961 में क्रमशः 213.44 तथा 41.43 करोड़ अर्थात् कुल मिलाकर 254.87 करोड़ हो गया. 1961 की पशुगणना के आधार पर भारत में मुर्गियों और बत्तखों के अण्डों का राज्यानुसार वार्षिक उत्पादन सारणी 132 में दिया गया है. अण्डों का वर्तमान अनुमानित वार्षिक उत्पादन 512.8 करोड़ है.

अनुमान है कि अण्डों के कुल उत्पादन का लगभग 60% शहरी बाजारों में बिकने के लिये जाता है जिसमें से 95% अण्डे पकाकर अथवा अन्य रूप में खाने तथा शेष 5% मिष्ठान्न, पकवान आदि बनाने के काम में आते हैं. चिक्कणन, जिल्दसाजी, ओषधि आदि बनाने में ये अपेक्षाकृत बहुत कम इस्तेमाल होते हैं.

सारणी 132 – भारत में मुर्गी तथा बत्तख के अण्डों का अनुमानित वार्षिक उत्पादन *

(हजार में)

राज्य	मुर्गी के अण्डे	बत्तख के अण्डे	योग
अण्डमान, निकोबार द्वीप समूह	974	146	1,120
असम	1,02,290	85,439	1,87,729
आन्ध्र प्रदेश	2,91,599	25,702	3,17,301
उड़ीसा	1,00,998	7,076	1,08,074
उत्तर प्रदेश	98,180	3,412	1,01,592
केरल	2,30,062	36,348	2,66,546
गुजरात	46,816	249	47,065
जम्मू और कश्मीर	51,384	3,385	54,769
तमिलनाडु	2,44,920	36,348	2,81,268
त्रिपुरा	7,405	676	8,081
दिल्ली	1,300	12	1,312
पंजाब	33,345	832	34,177
पश्चिमी बंगाल	1,74,007	1,93,474	3,67,481
बिहार	1,87,152	14,800	2,01,952
मणिपुर	9,123	1,886	11,009
मध्य प्रदेश	92,836	899	93,735
महाराष्ट्र	2,65,249	2,405	2,67,654
मैसूर	1,84,880	917	1,85,797
राजस्थान	9,253	132	9,385
लक्षदीव तथा अन्य द्वीप समूह	208	...	208
हिमाचल प्रदेश	2,479	5	2,484
योग	21,34,460	4,14,279	25,48,739

*विपणन एवम् निरीक्षण निदेशालय, खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

संरचना

अण्डे में खोल, झिल्ली, सफेदी (ऐल्बुमिन) तथा जर्दी होती है. मुर्गी तथा बत्तख के साधारण अण्डे में ऐल्बुमिन. 57, जर्दी, 32 और खोल. 11% रहता है.

अण्डे का खोल दुर्नम्य किन्तु सरंध्र और मुख्यतया अकार्बनिक लवणों (विशेषकर कैल्सियम कार्बोनेट) से बना हुआ होता है. भ्रूण के श्वसन के लिये पर्याप्त सरंध्र होते हुये भी सूखा होने पर यह खोल सूक्ष्मजीवों को प्रविष्ट नहीं होने देता और अण्डे के भीतर की आर्द्रता को भाप बनकर उड़ने से रोकता है. खोल की सतह उपचर्म से ढकी रहती है. बत्तखों के अण्डों में इस उपचर्म के साथ कुछ अन्य चर्बीदार पदार्थ भी लगे रहते हैं. खोल के अन्दर दो चीमड़ तन्तुमय झिल्लियाँ रहती हैं. इनमें से एक कवच में तल तथा दूसरी अण्डे के छोटे सिरे पर मोटे श्वेत भाग (ऐल्बुमिन) से लगी रहती है. जब ठण्डा होने तथा नमी के वाष्पन से खोल के भीतर के पदार्थ सिकुड़ते हैं तो ये झिल्लियाँ पृथक् हो जाती हैं और अण्डे के बड़े सिरे पर वायु-स्थान बन जाता है.

अण्डे की सफेदी या ऐल्बुमिन में बाहरी श्वेत तरल, बीच में गाढ़ा सफेद अंश जो जर्दी को घेरे रहता है, गाढ़े सफेद अंश के भीतर एक पतली सफेद परत तथा अण्डे के प्रत्येक सिरे पर चैलेज़ी नामक दो तंतुमय संरचनायें होती हैं जो जर्दी से लेकर अण्डे के प्रत्येक सिरे तक सर्पिल आकार में फैली रहती हैं और जर्दी को स्थिर रखती हैं. मुर्गी के अण्डे में सफेद भाग कुछ-कुछ हरिताभ पीला होता है और आन्तरिक गाढ़ा भाग मेघश्याम रंग का होता है. बत्तख का अण्ड-श्वेत रंगहीन और पारदर्शक होता है.

अण्डे की जर्दी (पीतक) लगभग गोलाकार होती है. चैलेजी और मोटे श्वेत भाग की सुनम्यता के कारण यह खोल के बीचोंबीच स्थिर रहता है. यदि अण्डे को लम्बी धुरी पर घुमाया जाये तो इसके साथ पीतक भी घूमता है और एक अधिक चक्कर लगाकर पीतक चैलेजों की ऐंठन से रुक जाता है.

कई कारणों से विशेषतया विभिन्न नस्लों और विभेदों के अनुसार अण्डों के भार में काफी अन्तर देखा जाता है. उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के देशों में अण्डों का भार 47–70 ग्रा. तक होता है किन्तु भारत, पाकिस्तान और मिस्र में एक साधारण अण्डे का भार लगभग 35 ग्रा होता है. बत्तख के अण्डों के भार मे भी भिन्नता पायी जाती है यह मुर्गी के अण्डे के भार से लगभग 30% अधिक होता है

परिरक्षण एवं संसाधन

उन्नत देशो मे स्वच्छ तथा पौष्टिक अण्डो के उत्पादन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है भारत मे लगभग 25% अण्डे ग्राहकों तक अच्छी दशा मे नही पहुँच पाते हैं, वे उत्पादन स्थान से खपत के स्थान तक परिवहन मे खराब हो जाते है वे बासी हो जाते हैं, उनमे भ्रूण अथवा फफूंदी विकसित हो जाती है या फूट जाने के कारण दूषित हो जाते हैं. अनुमान है कि अण्डो के 5% का जीवाणु संदूषण से और शेष 20% का अन्य कारणो से क्षय होता है इससे लगभग 5.6 करोड रुपये की वार्षिक हानि होती है. इसके अतिरिक्त अनेक बार दूषित अण्डे जनसाधारण के स्वास्थ्य के लिये भी संकट बन जाते हैं.

अण्डो को दिये जाने के कुछ ही घण्टो के बाद उन्हे एकत्रित करके 16° ताप और 75% सापेक्ष आर्द्रता वाली विशेष रूप से बनी अण्डे की कोठरी मे रखकर यथाशीघ्र ठण्डा कर लेना चाहिये ठण्ड के दिनो मे भी यदि घोसलों में अण्डे अधिक समय तक पडे रहे तो वे खराब हो जाते हैं अण्डो को जालीदार टोकरियो मे दिन मे कम से कम 2–3 बार एकत्र करना चाहिये.

शीतागार—पश्चिमी देशों मे अण्डो को शीतागारो मे 0° ताप और 85% सापेक्ष आर्द्रता पर लगभग 9 महीनो तक अच्छी तरह रखा जाता है. किन्तु इस प्रकार के परिरक्षण मे अण्डो का वायु-स्थान बढ जाता है जो इनकी कोटि का व्यापारिक मापदण्ड होता है. यदि गैस आगारो मे जिनकी वायु मे 60% कार्बन-डाइ-ऑक्साइड होता है 0° पर परिरक्षण किया जाय तो वायु-स्थान नहीं बढता. भारत में प्रशीतन की सुविधाये पर्याप्त न होने के कारण शीतागारो मे अण्डो का परिरक्षण बडे पैमाने पर अभी प्रारम्भ नही हो सका है.

सफाई—ठण्डे पानी से धोने की बजाय गन्दे अण्डो को ऊपर से साफ करने वाले तथा प्रक्षालक विलयनों से (जैसे NaOH का 1% विलयन) अच्छी प्रकार साफ किया जा सकता है. इनके खोलो को भीगे कपडे अथवा रेगमाल से भी रगड कर साफ किया जा सकता है. हाल ही मे किये गये सर्वेक्षण से पता चला है कि ऊपर से गन्दे अण्डो पर स्ट्रेप्टोकोकस, स्टेफिलोकोकस, माइक्रोकोकस, बैसिलस, स्यूडोमोनास, एक्रोमोबेक्टर, एशेरिशिया प्रोटियस, ईअरोबैक्टर तथा माल्मोनेला वश के सूक्ष्मजीव रहते हैं. मिट्टी लगे अण्डो को गरम जल मे (40 5–43° ताप) जिसमें साफ करने वाले पदार्थ तथा प्रक्षालक मिले हों, 4–5 मिनट तक धोकर साफ कर लेना चाहिये केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान सस्थान, मैसूर मे अण्डा धोने का पाउडर तथा धोने के उपकरण तैयार किये गये है. इस उपकरण से एक घण्टे मे 1,000–1,500 अण्डे धोये जा सकते है और इसे अण्डों को व्यापारिक पैमाने पर धोने के लिये व्यवहृत किया जा सकता है.

गर्मियो मे वायुमण्डल का ताप अधिक होने से निषेचित अण्डे मे दिये जाने के दो दिन बाद ही भ्रूण विकसित हो जाते है जिससे वे खाने के लायक नही रह पाते. ऐसे अण्डो को 15 मिनट तक गरम जल (57–63°) मे रखकर पुनः अनिषेचित किया जा सकता है. इस ताप पर कृमि अथवा ससेचित अण्डो के भ्रूण तथा खोल के ऊपर या भीतर लगे कुछ जीवाणु मर जाते हैं. अनिषेचित अण्डा असंसेचित अण्डे जैसा ही होता है क्योंकि इसमे भ्रूण नही विकसित हो पाता और यह लम्बी अवधि तक अच्छी अवस्था मे रह सकता है.

अण्डो को दीर्घ अवधि तक अच्छी प्रकार से रखने के लिये ऊष्मा उपचारित कर उन पर चूने की अथवा तेल की सतह चढाई जाती है जिससे खोल के छिद्रो से वाष्पीकरण द्वारा आन्तरिक आर्द्रता तथा कार्बन-डाइऑक्साइड बाहर नही आ पाते. अण्डो पर चूने की सतह चढाने के लिये उन्हे चूने के पानी मे (जिसमे थोडा नमक भी मिला होता है) 18 घण्टे तक रखा जाता है.

अण्डो पर तेल लगाना एक कम खर्चीली विधि है और व्यापक रूप से उपयोग मे लायी जाती है. अमेरिका मे इसके लिये जिस अण्डे के लेप या ससाधन तेल का प्रयोग किया जाता है वह पैराफिन से विशुद्ध किया हुआ श्वेत रग का खनिज तेल होता है जिसे कार्नेशन तेल कहते है भारत मे इसके स्थान पर नारियल का तेल सफलतापूर्वक प्रयोग मे लाया गया है. हाल ही मे केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसधान सस्थान, मैसूर ने अण्डो को लम्बी अवधि तक अच्छी तरह रखने के लिये इन पर तैलीय आधार का एक पेट्रोल उत्पाद जिसमे कुछ कवक और जीवाणुनाशी द्रव्य भी मिलाये जाते है, लगाने की एक विधि ढूढ निकाली है. इस विधि में अण्डो को बाँस अथवा तार की बनी टोकरी मे डालकर प्रयोग मे लाये जाने वाले तेल से भरे बर्तन में 5–10 सेकड के लिये डुबाया जाता है. बाहर निकालने के पश्चात् टोकरी को लगभग एक घटा के लिये टाँग देते हैं इससे टोकरी मे से टपकने वाले तेल को एकत्र करके पुन प्रयोग मे लाया जा सकता है. इस समय पखो के उपयोग द्वारा अण्डो को रखने के लिये जल्दी मे सुखाया जा सकता है. टोकरी से गिरे तेल को कभी-कभी छानकर तथा जीवाणुरहित करके बारम्बार काम मे लाया जा सकता है अण्डो पर इस प्रकार की सतह चढाने के लिये सस्थान मे बने उपकरण से एक घण्टे में 4,000–5,000 तक अण्डे लेपित किये जा सकते है.

अण्डों के परिरक्षण की इस तकनीक की क्षमता को देश के विभिन्न भागो और ऋतुओ में परखा गया है. ऐसे अण्डों को जिनके खोल पर तेल लगा होता है, 38° पर दो सप्ताह तक, कमरे के ताप (24–27°) पर लगभग 4 सप्ताह तक, 13° पर 12 सप्ताह तक और 7° पर 24 सप्ताह तक अच्छी दशा मे रखा जा सकता है. इस तकनीक से कवक सन्दूषण से भी अण्डों की रक्षा हो जाती है. 100 अण्डों पर तेल लगाने का व्यय लगभग 20 पैसे बैठता है.

तरल अण्डों का हिमीकरण – हिमीकरण करके तरल अण्डों (खोलरहित अण्डों) की गुणता स्थिर रखी जा सकती है. अण्डों के श्वेत तथा पीत भाग को प्राकृतिक अनुपात में ही अथवा दोनों को अलग-अलग हिमीकृत होने दिया जा सकता है. अण्डों के भीतर के पदार्थों को –20° पर अथवा इससे कम ताप पर हिमीकृत करके रखा जाता है. अण्डों के इस प्रकार के हिमीकरण में लगभग तीन दिन लग जाते हैं. हिमीकरण को और जल्द सम्पन्न करने के लिये वात-झोंका-हिमीकरण तथा विशिष्ट-त्वरित-हिमीकरण संयन्त्रों का प्रयोग किया जा सकता है.

अण्डों को सुखाना – अण्डों के परिरक्षण के लिये अण्डों को खोलसहित अथवा तरल रूप में परिरक्षित करने की अपेक्षा सुखाना श्रेष्ठतर विधि है. पश्चिमी देशों में शुष्कन विधि का पूर्ण विकास कर लिया गया है तथा अब यह व्यापक रूप से काम में लायी जा रही है. इसमें अण्डे की लुगदी बनाकर उसे दाब के अन्तर्गत शुष्कन-कक्ष में डालते हैं और एक तुंडिका से फुहार रूप में छिड़कते हैं. भीतर आने वाली वायु का ताप 127° और बाहर निकलने वाली वायु का ताप 50° रखा जाता है.

यद्यपि भारत में फुहार-शुष्कन विधि व्यापारिक पैमाने पर प्रयुक्त नहीं की जाती किन्तु कहीं-कहीं तवे पर सुखाने की विधि से अण्डों का निर्जलन किया जाता है. तवे पर सुखाने के लिये लुगदी की परत 0.6 सेंमी. मोटी होनी चाहिये तथा वाष्पन के समय ताप 40–50° तक रहना चाहिये. लुगदी को तब तक सुखाया जाता है जब तक कि इसमें 6% आर्द्रता रह जाती है.

फुहार से सुखाया गया उत्पाद सामान्यतः महीन चूर्ण के रूप में होता है किन्तु तवे पर सुखाया गया उत्पाद पपड़ीदार या शल्की होता है जिसे पीसकर चूर्ण बनाया जा सकता है.

संघटन

अण्डों का संघटन पक्षियों की नस्ल, आहार, परिवेश तथा अन्य कई कारकों से बदलता रहता है. 50 ग्रा. से कम भार वाले अण्डों में उनके भार बढ़ने के साथ पीतक की प्रतिशतता घटती है. बत्तखों, पीरूओं तथा अन्य पक्षियों के अण्डे मुर्गियों के अण्डों से कोई विशेष भिन्न नहीं होते. मुर्गी तथा बत्तख के अण्डों के खाद्य अंश का रासायनिक संघटन क्रमशः इस प्रकार है : आर्द्रता, 73.7, 71.0; प्रोटीन, 13.3, 13.5; वसा, 13.3, 13.7; कार्बोहाइड्रेट, 0.8; तथा खनिज पदार्थ, 1.0, 1.0% और कैल्सियम, 60, 70: फॉस्फोरस, 220, 260; लोह, 2.1, 3.0; थायमीन, 0.10, 0.12; राइबोफ्लैविन, 0.18, 0.28 तथा निकोटिनिक अम्ल, 0.1, 0.2 मिग्रा. प्रति 100 ग्रा. दोनों ही प्रकार के अण्डों में विटामिन ए 1,200 अं. इ./100 ग्रा. होता है.

सम्पूर्ण तरल अण्डे (खोलरहित) में औसतन 64% श्वेत भाग तथा शेष पीतक (जरदी) होता है. श्वेत भाग में लगभग 12% ठोस पदार्थ (मुख्यतया प्रोटीन) तथा थोड़ी मात्रा में खनिज और शर्करा तथा वसा का रंच होता है. इसके विपरीत पीतक में 50% ठोस होता है जिसमें दो-तिहाई वसा और एक-तिहाई प्रोटीन रहता है. पीतक-प्रोटीन, श्वेत-ऐल्बुमिन से भिन्न होता है. अण्डे के श्वेत तथा पीतक भाग के अवयव क्रमशः सारणी 133 और सारणी 134 में दिये गये हैं. पीतक में जिन अन्य विविध अवयवों की सूचना प्राप्त है वे हैं : क्रिएटिन, क्रिएटिनीन, लैक्टिक अम्ल, कोलीन तथा ऐल्कोहल.

प्रोटीन – मुर्गी के अण्डे में औसतन 12% प्रोटीन रहता है जिसका 65% श्वेत भाग में तथा शेष पीतक में पाया जाता है. श्वेत तथा पीतक भाग में उपस्थित प्रोटीनों की मात्रा सारणी 133 तथा 134 में दी गयी है. श्वेत भाग में ओवैल्बुमिन की मात्रा लगभग 70% तक होती है और यह तीन पृथक प्रोटीनों $ए_1$, $ए_2$

सारणी 133 – अण्डे के श्वेत भाग का औसत*†

रचक	मात्रा (%)	विलक्षण गुण
ओवैल्बुमिन	54	शीघ्र विकृत हो जाता है, सल्फिड्रिल होता है.
कोनैल्बुमिन	13	लोह के साथ जटिल बनाता है, जीवाणु रोधक.
ओवोम्यूकॉयड	11	ट्रिप्सिन एंजाइम का निरोधक
लाइसोजाइम	3.5	पालिसैकराइड के लिये एंजाइम होता है. जीवाणु रोधक.
ओवोम्यूसिन	1.5	श्यान, उच्च सिआलिक अम्ल, वाइरसों से अभिक्रिया
फ्लैवो प्रोटीन और एपोप्रोटीन	0.8	राइबोफ्लैविन के साथ संयोग
प्रोटीनेस निरोधक	0.1	जीवाण्विक प्रोटीनेस का निरोधक
एविडिन	0.05	बायोटिन के साथ संयोग, जीवाणु रोधक
बिना पहचाने प्रोटीन	8	मुख्यतः ग्लोबुलिन
अप्रोटीन	8	मुख्यतया आधा ग्लूकोस और लवण (बहुत कम लाक्षणिक)

*Feeney & Hill, *Advanc. Fd Res.*, 1960, **10**, 23.

†शुष्क भार के आधार पर.

सारणी 134 – अण्ड-पीतक का औसत संघटन*†

रचक	मात्रा (%)	विशेष
वसा		
उदासीन ग्लिसराइड	42	आहार के साथ अम्लों में परिवर्तन
फास्फोलिपिड	20‡	मुख्यतया 3/4 लेसिथिन और 1/4 सिफैलिन
स्टेरॉल	2	मुख्यतया कोलेस्टेरॉल
कुल वसा	64	
प्रोटीन		
लिवेटिन	5	एंजाइमों से युक्त, बहुत कम विलक्षणतायें
फॉसविटिन	7	10% फॉस्फोरस से युक्त
लिपोप्रोटीन	21‡	पायसीकारक
कुल प्रोटीन	33	
अन्य		
मुख्यतः शर्करा तथा लवण	3	

*Feeney & Hill, *Advanc. Fd Res.*, 1960, 10.23.

†शुष्क भार के आधार पर.

‡फॉस्फोलिपिड का लगभग एक-तिहाई लिपोप्रोटीनों में आबद्ध होता है.

सारणी 135 – अण्ड प्रोटीन के अनिवार्य ऐमीनो अम्ल रचक
(ग्रा./16 ग्रा. N)

प्रोटीन	आर्जिनीन	हिस्टीडीन	लाइसीन	ट्रिप्टोफैन	फेनिल एलानीन	मेथियोनीन	थ्रियोनीन	ल्यूसीन	आइसोल्यूसीन	वैलीन
मुर्गी का अण्डा, सम्पूर्ण[1]	4.8-9.7	2.1-3.8	6.0-8.1	1.1-1.6	5.4-6.3	3.0-4.1	4.3-5.3	9.2-19.0	5.3-8.0	4.4-7.3
मुर्गी का अण्डा, श्वेत भाग[2]	4.2	1.8	5.4	1.3	4.5	3.8	5.2	7.7	6.2	6.1
मुर्गी का अण्डा, पीतक[1]	7.2	1.5	5.7	1.5	4.4	3.0	3.5	...	...	..
मुर्गी का अण्डा[1] (ओवैल्बूमिन)	5.4	1.8	5.1	1.7	5.2	5.0	3.5	12.5	..	5.5
बत्तख का अण्डा, श्वेत भाग[2]	3.4	2.1	5.7	1.2	5.3	4.6	5.6	7.9	4.7	6.2

[1]Kuppuswamy *et al.*, 174-75; [2]Patwardhan & Vijayaraghavan, *Indian J. Med. Res.*, 1954, **42**, 521.

तथा $ए_3$ मे विभाजित है. अण्डों के संचयन काल मे यह अधिक स्थिर रूप 'एस-ओवैल्बुमिन' मे परिवर्तित हो जाता है जो प्राकृतिक ओवैल्बुमिन की अपेक्षा कम विप्रकृत होता है. कोनैल्बुमिन प्रोटीन जो श्वेत भाग मे 17% तक होता है 4 : 1 के अनुपात मे दो रूपों मे पाया जाता है. ओवोम्यूकॉयड जो ऊष्मा से न स्कंदित होने वाला ग्लाइकोप्रोटीन है तीन मुख्य और दो गौण अवयवो मे पृथक् किया जा चुका है. इन सब मे ट्रिप्सिन अवरोधक सक्रियता पायी जाती है. लाइसोजाइम एक जीवाणुसंलयन कारक है. ओवोम्यूकिन एक तन्तुमय म्यूकोप्रोटीन है जिसके कारण अण्डे के श्वेत भाग की जैली-जैसी अवस्था पायी जाती है. अंड-श्वेत के मोटे भाग मे दोनों पतले भागों की अपेक्षा ओवोम्यूकिन अधिक मात्रा में होता है. श्वेत भाग मे वाइरस के कारण होने वाले हीमैग्लुटिनीकरण को निरुद्ध करने में समर्थ कारक सम्भवत: ओवोम्यूकिन के सर्वसम होता है. बत्तखों के अण्ड-श्वेत भाग मे मुर्गी के अण्डों के श्वेत भाग से लगभग एक-चौथाई लाइसोजाइम क्रियाशीलता पायी जाती है. श्वेत-अण्ड भाग मे उपस्थित एविडिन प्रोटीन बायोटीन के साथ संयोग करके इसे अनुपलब्ध बनाता है किन्तु ऊष्मा द्वारा इसे पुन: उपलब्ध बनाया जा सकता है.

अण्ड-पीतक मे जिन प्रोटीनों की पहचान की गयी है वे हैं : लिवेटिन (4–10%), फॉस्फोप्रोटीन विटेलिन (4–15%), विटेलेनिन (8–9%), फॉसविटिन (लगभग 2%) तथा लिपोविटेलिन (16–18%) और लिपोविटेलेनिन (12–13) नामक लिपोप्रोटीनें. अण्ड-प्रोटीनों मे ऊतकों की वृद्धि तथा निर्वाह के लिये अनिवार्य ऐमीनो अम्ल पाये जाते हैं जिसके कारण वे तुलना करते समय प्रोटीनो के लिये मौलिक मानक माने जाते हैं. इन प्रोटीनो मे आर्जिनीन तथा मेथिओनीन विशेष रूप से अधिक मात्रा मे पाये जाते हैं. अण्ड-श्वेत भाग के मुख्य प्रोटीन ओवैल्बुमिन मे मेथिओनीन अधिक होता है. अण्ड-पीतक प्रोटीन विटेलिन मे आर्जिनीन, लाइसीन और ल्यूसीन अधिक मात्रा मे पाये जाते हैं. अण्ड-प्रोटीनो के अनिवार्य ऐमीनो अम्ल सारणी 135 मे दिये गये हैं. मुर्गियों को दिये जाने वाले आहार का अण्ड-प्रोटीनों के ऐमीनो अम्ल सघटन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता.

अण्ड प्रोटीनों के जैविक मान और पाचन गुणांक अधिक होते हैं. इनका जैविक मान दूध, मांस, सोयाबीन, मूगफली, गेहूँ आदि की प्रोटीनों के जैविक मान से अधिक बताया गया है. श्वेत भाग मे पीत भाग की तुलना मे प्रोटीन का पोषक मान अधिक होता है. दिये गये आहार के विभिन्न स्तरों पर अण्डे और अण्ड उत्पादों के जैविक तथा पोषण मान सारणी 136 मे दिये गये है. ऊष्मा

सारणी 136 – अण्ड प्रोटीनों के पोषण मान*

स्रोत	प्रोटीन की मात्रा (N×6.25)	आहार स्तर (%)	जैविक मान (%)	पाचन गुणांक (%)
मुर्गी का अण्डा				
सम्पूर्ण अण्डा	...	8	96.0	97.0
वसारहित सम्पूर्ण अण्डा	68.9	5	94.0†	97.0†
		8	85.0†	92.0†
		8	97.0**	95.0**
सम्पूर्ण अण्डा, सुखाया	...	10	...	98.2
सम्पूर्ण अण्डा, पपड़ियाँ सूखी	...	3-4	65.0‡	92.0‡
अण्डा, सम्पूर्ण, चूर्ण, सूखा तथा वसा विहीन (बाजारू)	76.8	3.5	94.0‡	98.0‡
अण्ड-श्वेत, ताजा	...	10	64.6	94.8
बत्तख का अण्डा				
अण्ड-श्वेत, ताजा	...	11	60.8	82.5
अण्ड-श्वेत, ताजा, आटोक्लेवित	...	11	68.4	88.8

*Kuppuswamy *et al.*, 1971-72. ** बढते चूहों पर ज्ञात. † वयस्क चूहों पर ज्ञात. ‡ मानवीय उपापचय परीक्षणों से ज्ञात.

उपचार से अण्ड-श्वेत के प्रोटीन की, प्रोटीन की अत:पात्र पचनीयता बढ़ जाती है. सम्पूर्ण अण्डा, पीतक तथा अण्डा निष्कर्ष निम्न-कोटि के चावल आहार के पूरक सिद्ध हो चुके हैं.

बत्तखो के अण्डो के श्वेत भाग के प्रोटीनो में पाये जाने वाले अनिवार्य एमीनो अम्लों की सूची सारणी 135 मे दी गयी है. बत्तखों के अण्डो के श्वेत भाग का पोषण मान मुर्गी के अण्डे के श्वेत भाग की अपेक्षा कम होता है (सारणी 136). वृद्धि के निरोध का कारण न स्कंदित होने वाला प्रोटीन है, जो सम्भवत: ओवोम्यूकायड है. बत्तख के अण्डे को एक घण्टे तक आटोक्लेवित करने मे इसका पोषण मान बढ जाता है किन्तु मुर्गी के अण्डे मे ऐसा नहीं होता.

पोषण मान के अतिरिक्त अण्डे मे झाग उत्पन्न करने तथा स्कन्दन के गुण भी पाये जाते हैं जो अण्डो का प्रयोग करने वालों के लिये विशेष महत्वपूर्ण है. अण्डे का श्वेत भाग इसलिये फेंटा जा सकता है क्योंकि इसमें ओवैल्बुमिन पाया जाता है. फिर भी ग्लोबुलिनों के कारण फेंटे जाने की शक्ति तथा ओवोम्यूकिन के कारण झाग बनाये रखने की शक्ति उत्पन्न होती है. मुख्यत:

लिपोप्रोटीनों के कारण अण्ड-पीत में पायसीकरण, पीटे जाने तथा स्कन्दन के गुण होते है. सलाद की परिसज्जा मे पायसीकरण के गुण का प्रयोग किया जाता है.

अ-प्रोटीन नाइट्रोजनी पदार्थ – अण्डे का बहुत-सा अ-प्रोटीन नाइट्रोजन का अंश लेसिथिन के रूप मे रहता है. मुक्त कोलीन तथा अन्य क्षारक भी अण्डे मे होते हैं. अण्डो मे ओविन नामक पदार्थ भी पहचाना गया है जिसमे फॉस्फोरस तो अधिक किन्तु नाइट्रोजन बहुत कम रहता है.

लिपिड – ताजे अण्डे के पीतक मे ईथर-विलेय लिपिड 30–35% (शुष्क आधार पर 60–70%) और फॉस्फेटाइड 4–12% रहता है. कड़े उबले हुये अण्डों को विलायक के साथ निष्कर्षित अथवा निष्पीड़ित करके अण्डे की पूरी वसा या तेल को निकाला जा सकता है. मुर्गी के अण्ड-पीतक वसा के भौतिक तथा रासायनिक गुणों का परास इस प्रकार है : ग. वि., 22–25°; आ.घ. $^{25°}$, 0.9144 – 0.9188 ; $n^{40°}$, 1.4593 – 1.4687; साबु. मान, 179.9–199.2; आयो. मान, 62.8–81.6; आर. एम. मान, 0.40–0.66; पोलेन्स्की मान, 0.28; एस्टर मान, 171.2–177.5; अम्ल मान, 4.47–5.98; असाबु. पदार्थ, 3.75–5.08%. अण्ड-पीतक के ग्लिसराइडी और फॉस्फेटाइडी प्रभाजों के रचक वसा अम्ल क्रमश: इस प्रकार हैं : मिरिस्टिक, 0.7; पामिटिक, 25.2, 31.8; स्टीऐरिक, 7.5, 4.1, हेक्साडेसेनाइक, 3.3; ओलीक, 52.4, 42.6; लिनोलीक, 8.6, 8.2; तथा असतृप्त अम्ल C_{22}, 2.3, 13.3%. मुर्गी तथा बत्तख के अण्ड-पीतक मे कोलेस्टेरॉल क्रमश: 1.8 तथा 2.6% रहता है.

कार्बोहाइड्रेट – अण्डे मे ग्लूकोस नामक शर्करा रहती है. श्वेत भाग मे पीतक की अपेक्षा अधिक शर्करा रहती है. मुर्गी के अण्डे मे ग्लूकोस की औसत मात्रा इस प्रकार है : सम्पूर्ण अण्डा, 0.45, श्वेत भाग, 0.47 तथा पीतक, 0.14%. अण्डे मे जल अपघटन के द्वारा अपचायक शर्करा उत्पन्न करने वाला कार्बोहाइड्रेट भी पाया जाता है. यदि शुष्क अण्डा-उत्पादो मे मुक्त ग्लूकोस रहा तो उनमे गम्भीर क्षय होता है. साधारणत: अण्डो को सुखाने के पूर्व ही ग्लूकोस को या तो किण्वन द्वारा या फिर एंजाइमी ऑक्सीकरण द्वारा ग्लूकोनिक अम्ल मे परिवर्तित करके समाप्त कर दिया जाता है.

विटामिन – अण्डे मे राइबोफ्लैविन तथा विटामिन ए और डी प्रचुर मात्रा मे पाये जाते हैं. अण्डे के श्वेत भाग मे राइबोफ्लैविन फ्लैवोप्रोटीन के रूप मे और बायोटीन, एविडिन नामक प्रोटीन से संयुक्त रहता है. एविडिन को गर्म करके निष्क्रिय बनाया जा सकता है. सम्पूर्ण अण्डा तथा इसके श्वेत तथा पीतक भाग मे पाये जाने वाले विटामिनो की मात्रा सारणी 137 मे दी गयी है. अण्डे का संचयन करने पर विटामिन अधिक विनष्ट नही होते.

खनिज – अण्डो मे फॉस्फोरस, लोह तथा आयोडीन अधिक मात्रा मे पाये जाते है. मुर्गी के अण्डो के श्वेत और पीतक भागो के खनिज संघटन सारणी 138 मे दिये गये हैं. मुर्गी के अण्डो मे प्राप्य सूक्ष्ममात्रिक तत्वो मे ऐलुमिनियम (0.02 मिग्रा / 100 ग्रा.), सीसा (0.2–1.0 मिग्रा./100 ग्रा. मुर्गी के अण्ड-पीतक मे), मालिब्डेनम, बैरियम, स्ट्राशियम, टाइटैनियम, वैनेडियम और क्रोमियम मुख्य हैं.

एंजाइम – अण्डो मे जिन एंजाइमो के होने की सूचना प्राप्त है, वे हैं : ट्रिप्टिक प्रोटिएनेस, दो एमेप्सिन-जैसे एंजाइम, लिपेस (जिनकी मात्रा इनक्यूबेशन के समय बढ जाती है), मैलिमिलेस

सारणी 137 – मुर्गी के अण्डों के विटामिन रचक*

(प्रति 100 ग्रा.)

विटामिन	कच्चा अन्डा सम्पूर्ण	कच्चा अन्डा श्वेत भाग	कच्चा अन्डा पीतक
विटामिन ए, अ. इ.	1,140	0	3,210
थायमिन, माग्रा.	100	0	270
राइबोफ्लैविन, माग्रा.	290	260	350
नायसिन, माग्रा.	100	. .	...
पेन्टोथेनिक अम्ल, मिग्रा.	2.7	0.13	6.0
फोलिक अम्ल, माग्रा.	9.4	1.6	23.2
बायोटिन, माग्रा.	22.5	7.0	52.0
पायरिडाक्सिन, माग्रा.	252	217	308
कोलीन क्लोराइड, मिग्रा.	532		1,490
विटामिन बी₁₂, माग्रा.	0.28	0.009	0.83
इनासिटाल, मिग्रा.	33	...	
ऐस्कार्बिक अम्ल	0	0	0
विटामिन डी, अं. इ.	50	0	150
विटामिन ई, मिग्रा.	2	0	0
विटामिन के	उपस्थित	0	उपस्थित

*ये आँकडे डा. बी. पन्डा, केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर से प्राप्त हुये.

सारणी 138 – मुर्गी के अण्डों का खनिज संघटन*

(प्रति 100 ग्रा.)

खनिज	कच्चा अन्डा सम्पूर्ण	कच्चा अन्डा श्वेत भाग	कच्चा अन्डा पीतक
राख, ग्रा.	1.0	0.6	1.7
कैल्सियम, मिग्रा.	54	6	147
फास्फोरस, मिग्रा.	210	17	586
लोह, मिग्रा.	2.1	0.3	5.6
सोडियम, मिग्रा.	111	175	78
पौटेशियम, मिग्रा.	149	149	110
मैग्नीशियम, मिग्रा	9	11	13
क्लोराइड, मिग्रा.	100	131	67
सल्फर, मिग्रा.	233	211	214
मैंगनीज, माग्रा.	40		110
जस्ता, मिग्रा.	1.3	0.01	3.8
आयोडीन, माग्रा.	12.0	6.8	16.0
सेलेनियम, माग्रा	22	5 1	32.4
फ्लोरीन, माग्रा.	60	20	120
ताँबा, माग्रा.	170	40	250
अम्लता, अधिक अम्ल (मिलि.Nअम्ल)	11.1	5.2	25.6

* ये आँकडे डा. बी. पन्डा, केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर से प्राप्त हुये.

हिप्यूरिक अम्ल पर क्रियाशील एंजाइम, ऐमिलेस, डायस्टेस, पेप्टाइडेस, फॉस्फेटिडेस, विविध प्रोटीन अपघटनी एंजाइमे, ऑक्सिडेस, मोनो- तथा ट्राइ-ब्युटिरेस और केटैलेस.

वर्णक – अण्ड-पीतक के कैरोटिनायड हैं. ल्यूटीइन और जियाजेथिन. ल्यूटीइन की मात्रा 0.009 से 0.019% बदलती रहती है. अण्डे में एक नाइट्रोजनी क्रिस्टलीय वर्णक, ओवोफ्लैविन के भी होने की सूचना है.

अण्डे की खोलों में ऊरोडीइन नामक भूरा वर्णक पाया जाता है जो हीमैटोपारफिरिन के समरूप है. अण्डों के खोल का नीलाभ हरा-वर्णक ऊसायन कहलाता है और इसमें विलिवर्डिन नामक वाइल वर्णक के होने का अनुमान है.

अण्ड जीव-विष – अण्डों के कारण विषाक्तिकरण के उदाहरण पाये गये हैं. मुर्गी के अण्डे विरले ही घातक होते हैं किन्तु वत्तख के अण्डे घातक हो सकते हैं. सम्भवतया ऐसा निवेचन के समय, विशेषतया सेने के ताप पर अण्डे रखने से इसमें जीवाणुओं के प्रवेश कर जाने से होता है. अण्डे मे सम्भवतया एक अज्ञात पदार्थ रहता है जो कुछ लोगों मे यकृत और आँत के विकार उत्पन्न करता है. अण्डों को पर्याप्त ऊँचे ताप पर पकाकर इनके श्वेत और पीतक भागों को पूर्णतया स्कन्दित करके अण्डो को अहानिकर वनाया जा सकता है.

अण्डों के खोल – अण्डे का खोल मुख्यतया कैल्सियम कार्वोनेट (लगभग 90%) का बना होता है. इसका औसत संघटन इस प्रकार है : कैल्सियम, 38; मैग्नीशियम, C.6; कार्वोनेट (CO_3), 55; प्रोटीन, 1.5; और अन्य (जल तथा सूक्ष्ममात्रिक खनिज आदि), 5%. खोल की झिल्ली खोल का 4–5% तक होती है और उसमें 20% तक प्रोटीन तथा 10% तक अकार्वनिक पदार्थ होते हैं.

अण्डे के उत्पाद

अधिक अण्डों को, विशेषतया गर्मी की ऋतु में, ऐल्वुमिन की पपड़ियां, हिमीकृत अण्ड-पीतक, और अण्डा-चूर्ण जैसे अण्डा उत्पाद वनाने के लिये प्रयोग किया जा सकता है. केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर ने इन उत्पादों की उत्पादन-विधि का मानकीकरण किया है.

ऐल्वुमेन की पपड़ियां – ऐल्वुमेन पपडियाँ अण्डों के गाढ़े ऐल्वुमेन को जीवाणुओं द्वारा किण्वित कराकर जिससे ऐल्वुमेन विच्छेदित हो जाय, ग्लुकोस को हटाकर तैयार की जाती हैं. तव इस पदार्थ का अम्लीकरण करके इसे सुखा लिया जाता है. ऐल्वुमेन पपड़ियों का उपयोग ऑफसेट मुद्रण में ऐलुमिनियम या जस्ते की पत्तियों पर पोते जाने वाले सुग्राही मिश्रण को तैयार करने के लिये किया जाता है. इनका उपयोग पेय पदार्थों की वोतलों के ढकनों को मजवूती से लगाने और उत्तम कोटि के चमड़े की रँगाई में भी किया जाता है. भारत में प्रतिवर्ष लगभग 50 लाख रुपये के मूल्य की ऐल्वुमेन पपड़ियां आयात की जाती है. देश में मुद्रण उद्योग के लिये जितनी ऐल्वुमेन पपड़ियों की आवश्यकता होती है उसे केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर द्वारा विकसित प्रक्रम द्वारा देश में ही तैयार करके पूरा किया जा सकता है.

हिमीकृत पीतक – ऐल्वुमेन पपड़ियों के उत्पादन के समय जो अण्ड-पीतक उपजात के रूप मे वच जाता है उसे या तो उसी रूप मे उपयोग में लाया जाता है अथवा उसे हिमीकृत करके विभिन्न उद्योगों में इस्तेमाल किया जाता है. हिमीकृत अण्ड-पीतक से तैयार होने वाले मुख्य उत्पाद हैं : सादा पीतक, नमकीन पीतक, मीठा पीतक और पायसीकृत पीतक. नमकीन हिमीकृत पीतक मे 10% नमक और मीठे हिमीकृत पीतक मे 10% चीनी मिलायी जाती है. स्कन्दनरोधी होने के कारण नमक तथा चीनी मिलाने से हिमीकरण के समय ऐसे परिवर्तनों पर जिनसे पीतक के भौतिक तथा कोलायडी गुणो मे अन्तर आता है विजय पायी जा सकती है. हिमीकृत पीतक में 6–8% सोडियम क्लोराइड और 1% सोडियम वेंजोएट मिलाकर इसका परिरक्षण भी किया जा सकता है. अण्ड-पीतक मे परिरक्षण के लिये नमक अथवा चीनी मिलाये जाने पर खाद्य उद्योगों में इनका प्रयोग सीमित हो जाता है तथापि अनुपचारित हिमीकृत अण्ड-पीतक जैल तथा इस प्रकार का जैलित पीतक कई व्यापारिक तथा घरेलू उपयोगों के लिये अनुपयुक्त वन जाता है. यदि अण्ड-पीतक के साथ 0.04% तक पेप्सिन मिला दिया जाय तो इसे जमाकर 3–4 महीने तक अच्छी अवस्था में सुरक्षित रखा जा सकता है. पिघलने के वाद गाढ़ेपन, रंग तथा सक्रियता गुण में पीतक ताजे पीतक के ही समान रहता है.

क्लोरीनीकृत विलायकों के उपयोग द्वारा अण्ड-पीतक से वसा का निष्कर्षण गहरा पीला होता है और इसमें 10–12% तक पीतक का लेसिथिन और अण्डे का पूरा कोलेस्टेरॉल पाया जाता है. इस तेल को प्रशामक के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है. तेल के निष्कर्षण के वाद वचा हुआ पीतक-चूर्ण उत्तम पूरक खाद्य है. इसमें अवशिष्ट तेल की रंच मात्रा और अण्ड-पीतक का सारा लेसिथिन रहता है.

अण्ड-पीतक मे लेसिथिन की मात्रा 6–8% रहती है और इसे निष्कर्षित करने के लिये एक विशिष्ट विधि काम मे लायी जाती है. इस विधि से पीतक से केवल लेसिथिन ही पृथक् हो पाता है. इसमें उपस्थित अण्ड-तेल पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता.

अण्डे का चूर्ण – केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर ने मुर्गी अथवा वत्तख के सम्पूर्ण अण्डे की विभिन्न श्रेणियों (अम्ल-स्थायीकृत, यीस्ट विशर्करित तथा यीस्ट और अम्ल स्थायीकृत) से सूखा चूर्ण वनाने की विधि विकसित की है. इस विधि मे पहले अण्डों को वहते हुये जल मे अच्छी तरह धोया जाता है, फिर उन्हें 2% विरंजक चूर्ण विलयन के हौज में डुवोया जाता है, जिससे उनके ऊपर लगी गन्दगी विलग हो जाती है तथा ऊपर मे चिपके हुये जीवाणु भी मर जाते हैं, फिर अण्डों को तोड़कर जो द्रव निकलता है उसे मथा जाता है और खोल के टुकड़े तथा चैलेजा विलग करने के लिये उसे छान लिया जाता है. शर्करा पृथक् करने के लिये उसमें 0.5% सूखा सक्रिय यीस्ट (द्रव अण्डे के आधार पर) मिलाकर उसे 36° ताप पर 1.5 घण्टे तक किण्वित होने के लिये रख दिया जाता है. फिर उसमे विद्यमान **साल्मोनेला** आदि जीवों को मारने के लिये किण्वित द्रव को 30 मिनट के लिये 60–61° पर पास्तुरीकृत करते हैं. पास्तुरीकृत तरल अण्डे को तुरन्त ठण्डा करके उसमे 1*N* HCl मिलाया जाता है जिससे पी-एच 5.5 रहे. अण्ड तरल को फिर 160° अंतर्गम और 60° निर्गम ताप पर कणित्र की गति 20,000 चक्र प्रति मिनट रख करके फुहार वनाकर सुखा लिया जाता है. इस प्रकार प्राप्त अण्ड-चूर्ण में 5–6% तक आर्द्रता रहती है. इसे पुन: 60° ताप पर निर्वात-शेल्फशोषक में 2–3 घण्टे तक सुखाया जाता है.

सारणी 139 – फुहार विधि से सुखाये अण्ड-चूर्ण के भारतीय मानक*

आर्द्रता, % भार के अनुसार (अधिकतम)	2
प्रोटीन (N×6·68), % भार के अनुसार (न्यूनतम)	45
लेसिथिन और वसा, % भार (न्यूनतम)	28
विलेयता, % भार (न्यूनतम)	80
पी-एच (अधिकतम)	7.9
ऑक्सीजन, % भार के अनुसार (अधिकतम)	2
जीवाणुओं की गणना/ग्रा. (अधिकतम)	75,000
यीस्ट तथा फफूँदी गणना/ग्रा. (अधिकतम)	100
कॉलिफार्म गणना/ग्रा. (अधिकतम)	100

*IS : 4723–1968.

सारणी 140 – फुहार विधि से सुखाये अण्डों का निकटतम संघटन* (%)

	सम्पूर्ण	श्वेत भाग	पीतक
आर्द्रता	4	5	4
प्रोटीन (N×6.25)	47	90	33
वसा	41	0.3	58
नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष	3.9	5.4	2.2
अपचायक शर्करा	1.0	2.7	0.4
पी-एच	8.2	7.0	6.5
राख	4.0	5.0	3.6

*Matz, 1968, 67-76.

इस प्रकार इसमें आर्द्रता 2% से कम रह जाती है. यदि तरल अण्डे को अम्लीकृत किया जाता है तो चूर्ण में 1.5% तक सोडियम बाइकार्बोनेट मिलाया जाता है. इस चूर्ण को नाइट्रोजन की उपस्थिति में डिब्बों में अवातमुद्रा में बन्द कर देते हैं.

तरल अण्डे का 23–24% तक चूर्ण बनता है और पुनर्प्राप्ति लगभग 97% तक होती है. केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर द्वारा किये गये पाइलट संयंत्र परीक्षणों से पता चला है कि सम्पूर्ण अण्ड-चूर्ण बड़े पैमाने पर सफलतापूर्वक बनाया जा सकता है और इस पर प्रति किग्रा. 30 रु. की लागत बैठती है. इस उत्पाद में आर्द्रता, 3; प्रोटीन, 45; लेसिथिन और वसा, 38–40; और विलेयता, 85–90% होती है. भारतीय मानक संस्थान ने फुहार से सुखाये गये अण्ड-चूर्ण के लिये विनिर्देशन भी जारी किये हैं (सारणी 139).

सुखाये अण्डों का चूर्ण अपेक्षाकृत उच्च ताप पर भी कई महीनों तक संचित किया जा सकता है. इसे रखने के लिये अण्डों की अपेक्षा कम स्थान की आवश्यकता पड़ती है और यह हल्का भी होता है (1 किग्रा. अण्ड-चूर्ण लगभग 80 तरल अण्डों के बराबर होता है). प्रशीतन की आवश्यकता न होने के कारण इसे दूरस्थ स्थानों तक सुगमता से ले जाया जा सकता है. व्यावहारिक रूप से अण्ड-चूर्ण का पोषण मान अण्डे के बराबर होता है और इसके प्रोटीन में अण्डे के सभी ऐमीनो अम्ल अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं. अण्ड-चूर्ण को फिरनी और पाई बनाने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है. इससे सैनिक-असैनिक दोनों प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता पूरी की जा सकती है. अधिक उत्पादन के समय बचे-खुचे अण्डों का भी इस्तेमाल हो सकता है. फुहार से सुखाये अण्डों (सम्पूर्ण, श्वेत तथा पीतक भाग) का निकटतम संघटन सारणी 140 में दिया गया है.

सुखाया अण्ड-श्वेत एञ्जिल-केकों और मिष्ठान्नों के बनाने तथा सुखाया अण्ड-पीतक की डफनट और आइसक्रीम बनाने के काम आता है. कहा जाता है कि उष्णकटिबन्धीय जलवायु में पकाये तथा सुखाये हुये अण्डों का संचयन-काल फुहार से सुखाये कच्चे अण्डों की अपेक्षा अधिक होता है.

अण्ड-चूर्ण बनाते समय उपजात के रूप में प्राप्त टूटी-फूटी खोलों को चूर्णित करके चूज़ों के चुग्गे के लिये कैल्सियम के स्रोत की तरह काम में लाया जा सकता है. इसमें आर्द्रता, 1.2; अपरिष्कृत प्रोटीन, 5.8; अपरिष्कृत वसा, 0.4 और राख, 90.5% होती है.

श्रेणीकरण तथा पैकिंग

अच्छे अण्डों का आकार और उनकी खोल का गठन उपयुक्त तथा उनका भीतरी पदार्थ अच्छा होना चाहिये. अण्डों का आकार वंशागत होता है अतः अच्छे अण्डे देने योग्य पक्षी प्राप्त करने के लिये समान आकृति तथा आकार के अण्डे सेने के लिये रखने चाहिये. अण्डों को सेने के लिये रखने से पूर्व उनके रक्त और मांस बिन्दुओं का परीक्षण कर लेना चाहिये.

ताज़े तथा अच्छे अण्डे में छोटा वायु-स्थान रहता है जिसकी गहराई 6 मिमी. से अधिक नहीं होती. ऐसे अण्डों में पीतक अण्डे के मध्य में स्थापित होता है जिसकी सीमा कुछ-कुछ जान पड़ती है और जब ऐसे अण्डे को तोड़ा जाता है तो पीतक बहुत कम स्थान घेरता है. अण्ड-श्वेत को एकदम स्वच्छ होना चाहिये. टूटने पर गाढ़ी सफेदी पीतक को घेरे रहती है, केवल थोड़ी सी सफेदी बाहर की ओर रह जाती है.

अण्डे के खोल का गन्दा होना, उसका चटका हुआ अथवा नरम और पतला होना, ये अण्डे के दोष तो हैं ही, लेकिन इनके अतिरिक्त भी कुछ सामान्य दोष भी हैं, यथा अपेक्षतया बड़े वायु स्थान (6.3 मिमी. से अधिक गहरे); पीतक का केन्द्र से हटकर खोल के निकट आ जाना, रक्त तथा मांस बिन्दुओं का होना; भ्रूण विकसित हो आना, पीतक का चित्तीदार, निस्तेज अथवा रंगहीन पड़ जाना.

अण्डों के श्रेणीकरण तथा मानकीकरण के अन्तर्गत इनको कई समरूप क्रमों में लगाना पड़ता है. अण्डों का मूल्यांकन इनकी आन्तरिक कोटि, खोल की बनावट और मजबूती, आकार और रंग को देखकर किया जाता है. भार के अनुसार इनका श्रेणीकरण करने से इनको मानक आधानों में बन्द करने तथा इनके वितरण में सुविधा हो जाती है.

अभी भारत में अण्डों का थोक व्यापार और एक समान श्रेणीकरण सुव्यवस्थित नहीं है. किन्तु प्रशीतन और परिवहन की सुविधाओं में सुधार हो जाने पर इनके एकत्रीकरण और विपणन की अधिक सुव्यवस्थित विधियों के विकसित होने की आशा है और तब इनके कोटि-नियंत्रण तथा श्रेणीकरण के सामान्य सिद्धान्तों को लाभ-सहित कार्यान्वित किया जा सकता है.

भारत सरकार ने कृषि उत्पादन (श्रेणीकरण और विपणन) नियम 1937 के अन्तर्गत एगमार्क की ए तथा बी श्रेणियाँ निर्धारित

सारणी 141 – बाजारू अण्डों पर ऐगमार्क लगाने की शर्तें*

श्रेणी	भार (ग्रा.)	खोल	वायु स्थान	श्वेत भाग	पीतक
A-अत्यधिक बड़ा	60 तथा अधिक	साफ, अभंग तथा ठोस आकार सामान्य	4 मिमी. तक गहरा, व्यावहारिक रूप में नियमित अथवा उत्तमतर	साफ, यथोचित रूप से दृढ़	अच्छी प्रकार से केन्द्र में स्थिर, दोषरहित वहिरेंखा अस्पष्ट
A-बड़ा	53-59				
A-मँझोला	45-52				
A-छोटा	38-44				
B-अत्यधिक बड़ा	64 तथा अधिक	साफ से लेकर साधारण धब्बों वाला, ठोस तथा हल्का अपसामान्य	8 मिमी. तक गहरा, मुक्त तथा हल्का बुलबुलेदार	साफ, कुछ-कुछ क्षीण	केन्द्र से थोड़ा हटकर, वहिरेंखा कुछ स्पष्ट
B-बड़ा	54-59				
B-मँझोला	45-32				
B-छोटा	38-44				

*विपणन और परीक्षण निदेशालय, खाद्य एवम् कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नागपुर.

A, स्वस्थ और चैतन्य ; B, कम स्वस्थ और चैतन्य.

टिप्पणी : जिन अण्डों में उपलिखित दोनों वर्गों में से किसी के भी गुण नहीं होते उनके बाजार में ताजे अण्डे कहकर बेचने पर पाबन्दी लगायी जा सकती है.

की है. प्रत्येक श्रेणी में आकार के अनुसार 4 विभिन्न वर्ग बनाये गये हैं, जिनके नाम हैं अति बड़े, बड़े, मँझले तथा छोटे. खाद्य अण्डों के विपणन के लिये ऐगमार्क की शर्तें सारणी 141 में दी गयी हैं.

छंटाई – गाँवों से प्राप्त अण्डे कुछ टूटे हुये अथवा गन्दे होते हैं जिससे उन्हें किसी श्रेणी में नहीं रखा जा सकता. फलत: आरम्भ में ही उन्हें हाथ से चुन लिया जाता है. अण्डों के खोल को साफ-सुथरा, बिना धब्बों का, पुष्ट तथा सामान्य आकार और बनावट का होना चाहिये. इन्हें भीगे नमदे से पोछकर साफ किया जा सकता है. एक व्यक्ति एक घण्टे में साधारणतया 700–1000 अण्डे साफ कर सकता है. हस्तचालित अण्डा साफ करने वाली मशीन एक घण्टे में लगभग 1,500 अण्डे साफ करके सुखा सकती है. यदि प्रतिदिन 5,000 से अधिक अण्डे साफ करने हों तो मशीन के प्रयोग की संस्तुति की जाती है.

प्रकाश-परीक्षण – तेज प्रकाश की सहायता से इसे सम्पन्न किया जाता है. जहाँ बिजली के प्रकाश की सुविधा नहीं होती है वहाँ गैस बत्ती (पेट्रोमैक्स) पर धात्विक आवरण लगाकर काम चलाया जाता है. ऐसा करने के लिये अण्डे को आँख से लगभग 30 सेंमी. की दूरी पर बत्ती के सामने बड़े सिरे को ऊपर की ओर करके फिराया जाता है. अण्डे के भीतर के पदार्थों को बिना धब्बों के, उसका पीतक बीचो-बीच में मुक्त तथा गतिशील होना चाहिये. अण्डे का श्वेत भाग साफ और पारभासक होना चाहिये तथा वायुस्थान को 6 मिमी. से अधिक गहरा नहीं होना चाहिये. प्रकाश के सामने एक ताजे सामान्य अण्डे का भीतरी भाग गुलाबी-पीला जान पड़ता है. श्रेणी विनिर्देशों को सही-सही जान लेने पर एक व्यक्ति एक घण्टे में 600–900 अण्डों की प्रकाश-परीक्षा कर सकता है.

श्रेणीकरण – दोषरहित और साबुत अण्डों को साफ करके इनकी ताजगी की जाँच करने के बाद इनको विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है. आकार के आधार पर इनका श्रेणीकरण छोटी-बड़ी मशीनों की सहायता से किया जाता है. अण्डों पर श्रेणीकृत विनिर्देशों के अनुसार ठप्पे लगा दिये जाते हैं.

पैकिंग – जहाँ तक सम्भव हो मुर्गी और बत्तख के अण्डों को अलग-अलग पैक करना चाहिये. अण्डों को प्राय: ऐसी टोकरियों में पैक किया जाता है जो टूटने वाली होती हैं. एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में 10–30% अण्डे टूट जाते हैं.

भारत में अण्डों की पैकिंग के लिये उचित वेष्ठन सामग्री तथा अच्छी कोटि के आधानों के प्रयोग को लोकप्रिय बनाने के लिये कुक्कुट-पालन विकास योजनाओं के अन्तर्गत विकास सम्बन्धी शोध तथा प्रसार कार्य की आवश्यकता है. दक्षिण भारत में प्रयोग की जाने वाली टोकरियाँ अपेक्षाकृत कुछ मजबूत और बाँस के ढक्कनों वाली होती हैं. कभी-कभी मिट्टी के पात्र और मर्तबान भी प्रयोग में लाये जाते हैं. पैकिंग बक्सों पर उनकी बनवायी तथा ढुलाई का खर्च अधिक आने के कारण बहुत कम स्थानों पर इनका प्रयोग किया जाता है. अण्डों को मजबूत टोकरियों अथवा पीपों में सूखी घास, भूसी, गेहूँ का भूसा अथवा कटी घास आदि के साथ बन्द करने से इनके फूटने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है. वेष्टन सामग्री साफ़, सूखी तथा दोषरहित होनी चाहिये जिससे अण्डों में किसी प्रकार की आपत्तिजनक गन्ध न आ जाये. पैकिंग के लिये दफ्ती (गत्ता) के खोल बने बक्सों को जिनमें प्रत्येक खोल में एक अण्डे के हिसाब से निश्चित संख्या में अण्डे आ सकते हैं, प्रयुक्त करके पैकिंग की अनेक कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं. ऐसे खोलों के दो मुख्य प्रकार हैं : आन्तरक तथा समतल खण्ड और तश्तरियाँ. पैकिंग के लिये आपूरक और समतल उपस्करों और इनको बन्द करने के लिये उचित प्रकार के बक्सों के प्रयोग के प्रचार किये जाने की आवश्यकता है क्योंकि इनके प्रयोग से अण्डों में टूट-फूट काफी कम हो जाती है और इससे 5% तक लाभ अवश्य ही बढ़ जाता है.

गरम मौसम में अण्डों को पैकिंग के पूर्व ठंडा कर लेना चाहिये और सदूषण से विशेष रक्षा करनी चाहिये. पेटियों को अण्डों की श्रेणियों के अनुसार बन्द करके इन पर नाम-पत्र लगा देना चाहिये. पैकिंग के एक या दो दिन बाद ही अण्डों को बाजार में भेज देना चाहिये.

मांस

अधिकांश यूरोपीय देशों में भक्ष्य अथवा मांस उत्पादक पक्षियों का पालन सुव्यवस्थित उद्योग बन चुका है. इसे या तो स्वतन्त्र

पेशे के रूप में अथवा व्यापारिक अण्डा उत्पादन के साथ-साथ किया जाता है लेकिन भारतवर्ष में केवल फालतू और बूढ़े पक्षी ही खाने के लिये बेचे जाते हैं.

मुर्गे-मुर्गियों के अतिरिक्त पीरू और हंस भी खाये जा सकते हैं. कभी-कभी बत्तख भी खाने के काम आती है किन्तु कुछ लोग इसके मांस को इसकी विशेष गन्ध के कारण पसन्द नहीं करते. जंगली बत्तखें, कबूतर, बटेर तथा तीतर भारत के भक्ष्य शिकार पक्षी हैं जिनका मांस कभी-कभी खाया जाता है. बटेरों और तीतरों का मांस, विशेषतया भुने होने पर विशेष स्वादिष्ट होता है.

खाद्य कुक्कुटों को, सीने और जांघों पर विशेष रूप से अधिक मांसल होना चाहिये. मांस पीला न होकर सफेद होना चाहिये, पंखों से रहित तथा त्वचा को पतली होना चाहिये. खाने वाले कुक्कुटों की बाढ़ जल्दी-जल्दी होनी चाहिये और आहार के अनुपात में इनके शरीर के भार में काफी वृद्धि होनी चाहिये.

वयस्क कुक्कुटों का शारीरिक भार, नस्ल, वंश या संकरण के अनुसार बदलता रहता है. पूर्ण विकसित मुर्गे भार में 1 किग्रा. से कम से लेकर 5 किग्रा. तक, बत्तखें 1.5–5 किग्रा. तक और पीरू 3–18 किग्रा. तक होते हैं. जाति के अनुसार और एक जाति के ही विभिन्न पक्षियों की वृद्धि दर में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है. पक्षी के शरीर के विभिन्न भागों का भार पक्षी की नस्ल, लिंग, आयु, आहार तथा अन्य बढ़ने की परिस्थितियों पर निर्भर करता है. साधारणतः नर पक्षियों में मादा पक्षियों की अपेक्षा तेजी से वृद्धि होती है और पूर्ण विकसित अवस्था में उनका भार भी अधिक रहता है. नर चूजों में टाँगों का और मादा चूजों में टाँगों से इतर शरीर का भार अधिक होता है. पूर्ण विकसित नर पक्षियों में मादा चूजों की अपेक्षा अधिक किन्तु कम अवस्था में नर चूजों की अपेक्षा मादा चूजों में मांस का प्रतिशत अधिक होता है चूजों में सीने की मांस पेशियों का भार आधे से भी अधिक होता है और ये अन्य भागों की अपेक्षा अधिक पीली होती है.

मनुष्य के उपभोग के लिये कुक्कुट मांस को अच्छा, स्वस्थ, साफ और कोमल होना चाहिये. खाने वाले मांस की अन्य कसौटियाँ हैं : शरीर का समानुरूप, कंकाल पर पेशियों की कुल मात्रा, त्वचा अथवा इस पर लगी वसा तथा मांस की पौष्टिकता. मुर्गे, गिनी-मुर्गे तथा पीरू का मांस सफेद, कोमल तथा भीनी सुगंधि वाला और जल्द पचने वाला किन्तु बत्तखों और हंसों का मांस गहरे रंग का तथा देर में पचने वाला होता है. कुक्कुट मांस में अन्य मांसों की अपेक्षा वसा की मात्रा कम होती है.

मांस की कोमलता, रसीलापन तथा स्वाद-गन्ध जो प्रायः इसे पकाते समय प्रकट होती है, मुख्यतः कुक्कुट की आयु और लिंग पर निर्भर करते हैं. चाहे नर हो या मादा, 12 सप्ताह से कम आयु के चूजों का मांस बहुत ही कोमल और त्वचा नरम तथा चिकनी होती है जिसे उबाल करके अथवा तल करके पकाया जा सकता है. 12 से 16 सप्ताह तक की आयु के नर और मादा का मांस भी अपेक्षाकृत कोमल और चिकनी त्वचा वाला होता है जो भून करके पकाया जा सकता है. खस्सी मुर्गे (बधिया किये हुये मुर्गे) की त्वचा नरम तथा चिकनी सतह वाली होती है. मांस आदि के लिये पाले जाने वाले अन्य पक्षियों की अपेक्षा इसमें अधिक वसा होती है. 10 मास से अधिक आयु की वयस्क मुर्गियों का मांस अधिक कोमल नहीं होता.

अभी भारत में कुक्कुट मांस-उत्पादन में बहुत कम दक्षता प्राप्त हुयी है. कुक्कुट मांस की अधिकांश मात्रा अपेक्षाकृत सस्ते देशी नस्ल के कुक्कुटों से प्राप्त की जाती है. यद्यपि विदेशी मांस उत्पादक नस्लों **ह्वाइट कॉर्निश** और **ह्वाइट रॉक** का पालन भी किया जाने लगा है और **ह्वाइट रॉक** मुर्गियों और **ह्वाइट कॉर्निश** मुर्गों के संकरण से मांस उत्पादक कुक्कुटों के मुख्य वंश तैयार किये जा रहे हैं. अतिरिक्त पट्ठों को भी खाने के काम में लाया जाता है. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की मांस उत्पादक कुक्कुट परियोजना, राजेन्द्र नगर, हैदराबाद के अन्तर्गत किये गये अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि भारत में मांस के लिये कुक्कुटों को सस्ते में तैयार किया जा सकता है. 10 सप्ताह की आयु के मांस उत्पादक कुक्कुट का औसत भार 1.5 किग्रा. होता है और प्रति किग्रा. मांस के लिये यह 2.7 किग्रा. चुग्गा खाता है. दिल्ली राज्य कुक्कुट फार्म में किये गये परीक्षणों से पता चला है कि 1.2 से 1.5 किग्रा. तक के भार के एक मांस उत्पादक कुक्कुट को तैयार करने में 2.25 रु. व्यय होता है.

संसाधन

कुक्कुट संसाधन के अन्तर्गत पक्षियों को मारकर उनके रक्त तथा पंखों को विलग करना अर्थात् सज्जित करना, फिर रक्त, पंख, सिर तथा टाँगे अलग करना, शव को कई भागों में काटना, तथा मांस में से हड्डियाँ निकालना सम्मिलित हैं. जिस हद तक पक्षियों का संसाधन किया जाता है वह इस बात पर निर्भर करता है कि उपभोक्ता कैसी चीज चाहते हैं और वितरण करने वाले केन्द्रों में कौन-कौन सी चीजें उपलब्ध हैं. कुछ उपभोक्ता जीवित पक्षी खरीदना पसन्द करते हैं तो कुछ अपनी आवश्यकता अथवा स्वाद के अनुसार सज्जित कुक्कुट मांस को ही खरीदना पसन्द करते हैं कुक्कुट व्यापारी कुक्कुटों की गर्दन चीर कर अथवा काट कर मारते हैं और इसे ताजा ही कागज में लपेट कर ग्राहकों को तुरन्त दे देते हैं कई बड़े शहरों में कुक्कुट को मारने के पश्चात् उसे साफ करके बेचा जाता है

सज्जित करना (सफाई)

कुक्कुटों को मारने से पहले खुले आरामदेह स्थानों पर रखना चाहिये ताकि न तो किसी प्रकार कुक्कुटों की भीड़ हो और न वे उत्तेजित ही हों उन्हें पर्याप्त मात्रा में चुग्गा तथा पानी उपलब्ध करना चाहिये, नहीं तो मारे जाने के बाद कुछ लाशों में से बहुत कम रक्त निकलता प्रतीत होता है. फिर भी मारने के 3–4 घण्टे पहले चुग्गे को हटा लेना चाहिये लेकिन पानी हर समय उपलब्ध होना चाहिये

मारते समय कुक्कुट की कैरोटिड धमनी काट दी जाती है जिससे पूरा रक्त निकल जाय. अपूर्ण रक्त निकलने से काला तथा अग्राह्य पदार्थ मिलता है. विभिन्न कुक्कुटों में पूरा रक्त निकलने में अलग-अलग समय लगता है किन्तु चूजे में यह 30–60 सेकण्ड होता है. पीरू में धमनी काटने से पहले पंखों को ढीला करने के लिये कपालीय गुहा में पतला चाकू भोंक दिया जाता है.

व्यापारिक पैमाने पर कुक्कुटों के पंख उतारने के लिये रक्त निकले पक्षियों को किसी विशेष ताप पर रखे हुये जल में एक निश्चित समय के लिये डुबोया (फुहारा) जाता है. फिर पंखों को हाथ से नोच करके अथवा बिजली से चलने वाले बेलनों पर

सारणी 142 – विभिन्न किस्मों के कुक्कुटों से प्राप्त सज्जित किये आंत रहित तथा खाद्य मांस की औसत मात्रा*

	जीवित भार (किग्रा.)	परिसाधित मांस (जीवित भार का %)	आंतरहित मांस (पकाने के लिये तैयार) (जीवित भार का %)	खाद्य मांस (जीवित का %)
चूजे				
मांस वाले, तले जाने वाले	1.4	86	64	43
भुने जाने वाले	2.3	87	65	47
मुर्गियाँ	2.5	88	68	56
टर्की				
तलने योग्य छोटे चूजे	3.2	88	72	53
वयस्क कुक्कुट				
हल्के	5.0	88	74	54
मध्यम	8.2	89	77	56
भारी	12.2	92	79	60
बत्तखें	2.7	89	70	56
हंस	6.4	88	72	56

*Stewart & Abbott, *FAO Market Guide*, No. 4, 1961, 59.

लगी पंखें उखाड़ने वाली रबड़ की उँगलियों से उखाड़ा जाता है. कुक्कुट संसाधन के लिये अधिकतर दाह या अर्द्धदाह करते हैं जिसमें 50–53° पर 3 मिनट तक द्रव में दहन किया जाता है. इस विधि से त्वचा के बाहरी भाग में कोई विशेष प्रभाव भी नहीं पड़ता और पंख ढीले पड़ जाते हैं.

पुराने पक्षियों के मांस पर से बाल हटाने के लिये उसे सुखाने के बाद आग की लपटों के ऊपर से गुजारा जाता है अथवा इसके लिये विशेष रूप से बनी झुलसाने वाली मशीनें प्रयोग में लायी जाती हैं.

ड्रेसिंग से रक्त और पंख निकाल देने से भार में कमी आ जाती है. जितना रक्त बाहर निकल जाता है वह जीवित कुक्कुट के शरीर भार का लगभग 4% होता है. पंखों के कारण होने वाली भार की कमी स्थिर नहीं होती. यह औसतन जीवित शरीर भार की लगभग 5% होती है. यह मुर्गियों में अधिक और मुर्गों में कम होती है. 8–24 सप्ताह तक की आयु के देशी मुर्गे के संसाधित मांस का भार जीवित कुक्कुट भार का लगभग 67% होता है. भारतीय बाजारों में अधिकांश देशी मुर्गों का मांस ही बिकता है.

आंत निकालना

प्राय: बिना आंत के अथवा पकाने के लिये तैयार अवस्था में ही कुक्कुट मांस बेचा जाता है. ऐसे मांस के लिये निर्जलन, वसा की विकृतगंधिता तथा आन्त्रिक गुहा में जीवाणु विकारों के प्रति सावधानी बरतनी पड़ती है. कटा हुआ, पकाने के लिये तैयार कुक्कुट मांस भी बड़ी मात्रा में बिकता है.

आंतें निकालने से कुक्कुट मांस के भार में जो कमी आती है वह उसके फूले हुये आकार पर निर्भर करती है. यह हानि छोटे चूजों में अपेक्षाकृत अधिक होती है. साधारणत: 1 किग्रा. सज्जित किया कुक्कुट मांस आँतें निकालने के पश्चात् भक्ष्य आन्त्रिक भागों सहित 0.80 किग्रा. तथा इनके बिना 0.67 किग्रा. रह जाता है. संसाधन की विभिन्न अवस्थाओं में चूजों, पीरूओं, बत्तखों तथा हंसों के मांस का औसत भार सारणी 142 में दिया गया है.

द्रुतशीतन और हिमीकरण – वध करने तथा ड्रेसिंग के तुरन्त बाद कुक्कुट मांस को 4.5° तक ठण्डा करके फिर उसे लगभग 0° ताप पर रखना चाहिये. कुक्कुट मांस का अत्यधिक निर्जलन रोकने के लिये वध के 2–8 घण्टों के भीतर ही पिघलती हुयी बर्फ का प्रयोग करके ताप को तुरन्त घटा कर द्रुतशीतन कर दिया जाता है. यदि शवों को ठीक से रखा जाय तो वे 3–4 सप्ताह तक रह जाते हैं. आँत-रहित परिसाधित कुक्कुट मांस द्रुतशीतन करते समय यदि क्लोरटेट्रासाइक्लीन अथवा ऑक्सीटेट्रासाइक्लीन (1 भाग प्रति लाख) का प्रयोग किया जाये तो मांस और भी लम्बी अवधि के लिये सुरक्षित रखा जा सकता है. मांस मुख्यत: पक्षी की विष्ठा लग जाने से ही दूषित होजाता है. इसलिये मांस को विष्ठा लगने से बचाना चाहिये. द्रुतशीतन में मांस में ऐमीनो अम्लों तथा क्षारीय नाइट्रोजन की मात्रा प्रोटीन की खपत होने के कारण बढ़ जाती है. वसा का अम्ल मान भी बढ़ जाता है.

कतिपय विशेष परिस्थितियों में कुक्कुट मांस को हिमीकरण द्वारा कई महीनों तक सुरक्षित रखा जा सकता है. –9° से कम ताप पर सूक्ष्मजीवों की क्रिया नहीं हो पाती फलत: कुक्कुट मांस खट्टा और चिकना नहीं हो पाता. यह आवश्यक है कि हिमीकरण से पहले द्रव हिमीकरण अथवा मन्द हिमीकरण द्वारा शव का द्रुतशीतन कर दिया जाय जिससे हिमीकरण से पहले किसी प्रकार के जीवाणु इसे खराब न कर दें. सम्भव है कि हिमीकृत अवस्था में त्वचा का निर्जलन हो जाय तथा रंग काला पड़ जाय. निम्न ताप पर यह प्रक्रम मन्द होता है किन्तु यदि शवों को 6 महीने या इससे अधिक समय के लिये रखना हो तो यह गम्भीर बन सकता है. ऐसे शवों के भार में हानि तो होती ही है, मांस का रूप भी बिगड़ जाता है और धीरे-धीरे इसका सुरस और रसीलेपन में भी कमी आ जाती है.

सज्जित किया हुआ कुक्कुट मांस कई तरह से बेचा जाता है: भूनने आदि के लिये समूचा कुक्कुट; दो भागों में बँटा हुआ आधा-आधा कुक्कुट; हड्डियों सहित बिना आँत वाला भक्ष्य आन्त्रिक भागों तथा गर्दन सहित. पश्चिमी देशों में सभी प्रकार के मांसों का निरीक्षण वध करने के पूर्व तथा बाद में किया जाता है और स्वास्थ्य निरीक्षकों द्वारा सफाई का निरीक्षण होता है.

व्यापारिक रीति से संसाधित मांस के लिये अथवा तले जाने के लिये चूजे द्रुतशीतित अवस्था में ही बेचे जाते हैं जबकि अधिकांश पीरू प्राय: हिमीकृत अवस्था में अधिक बिकते हैं. पहले से पकाये कई प्रकार के हिमीकृत कुक्कुट मांस उत्पाद उपलब्ध हैं. चूजे और पीरू की कचौरियाँ कन्द (पतले कटे टुकड़े), गोल बेलनाकार टुकड़े, अण्डे तथा पाव रोटी सहित तले हुये टुकड़े, चूजों के मांस की सीखें तथा पीरू मांस फटे मुख्य हैं. इन उत्पादों का हिमीकरण कर इनका सुस्वाद, कोमलता तथा रसीलापन बनाये रखना कुछ कठिन है.

देश में कुक्कुट उद्योग का तेजी से विकास होने के साथ ही प्रति घण्टे लगभग 1000 पक्षियों को संभाल सकने योग्य संसाधन

संयंत्रों को अभिकल्पित करना जो मान्त्रिक कम हों तथा वड़े पैमाने पर स्वचालित संयंत्र से युक्त हों लाभदायक होंगे. इन संयंत्रों का उद्देश्य कुक्कुट पालकों को समय पर चूज़ों के उचित दाम देकर वैज्ञानिक विधियों से सज्जित किये गये पकाने के लिये तैयार कुक्कुट उत्पादों को वाजार में उपलब्ध कराना है. देश में विदेशी सहयोग से कुक्कुट संसाधन के बड़े-बड़े संयन्त्र चण्डीगढ़ तथा पूना (महाराष्ट्र) में स्थापित किये गये हैं. इन संयंत्रों की ड्रेसिंग क्षमता क्रमश: 600 और 1000 कुक्कुट प्रति घण्टा है.

डिब्बाबन्दी – विशेपतया यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में कुक्कुट मांस बड़ी मात्रा में डिब्बों में बन्द किया जाता है. डिब्बों में बन्द करने के लिये मांस को जीवाणुविहीन किया जाता है. वाद में यह डिब्बों में लम्बी अवधि तक सुरक्षित रहता है. गर्म देशों में जहाँ प्रशीतन की विशेष सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं, वहाँ डिब्बा बन्द मांस के वितरण तथा सरलतापूर्वक संचयन में काफी सुविधा होती है. भारत में अधिकांश शहरी कुक्कुट उत्पाद-भण्डारों तक में प्रशीतन की पर्याप्त सुविधायें न होने के कारण अतिरिक्त कुक्कुट उत्पादों की डिब्बावन्दी का भविष्य आशाजनक प्रतीत होता है.

सिझाना – मुर्गियों के मांस के सिझाने से अथवा सिझाने और निर्जलीकरण की संयुक्त विधि से उसे स्थायी बनाने तथा देशी खाद्य सम्पाकों तथा पाक विद्या की विधियों के लिये उपयुक्त उत्पाद प्रदान करने का सस्ता साधन प्राप्त हो जाता है. कुक्कुट मांस कई एशियाई देशों के अत्यन्त सिझाये हुये खाद्य पदार्थो से मिलाया जाता है. केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर में कुक्कुट मांस को सिझाने की मानक विधियों के विकास के लिये अनुसंधान किये जा रहे हैं जिससे ग्राह्य स्थायी उत्पाद प्राप्त हो सकें.

कभी-कभी चूजों और पीरूओं को सिझाया और धूमित किया जाता है, ऐसे उत्पाद उत्तम माने जाते हैं. सिर, गर्दन तथा टाँगें अलग करने के वाद आँत निकाला हुआ मांस चीनी तथा पोटैसियम नाइट्रेट को 3.5° पर जल में विलयित करके उसे 18–25 दिन तक सिझाने के वाद धोया, सुखाया और फिर 57–60° ताप पर 16 घण्टे तक धुआँया जाता है.

संघटन

कुक्कुट मांस उच्च कोटिक प्रोटीन, लौह तथा फॉस्फोरस और वी-विटामिनों का उत्तम स्रोत है. कुक्कुट मांस के पोषण संचयन करने पर विनष्ट नहीं होते और पकाने के समय भी इनकी हानि बहुत ही सामान्य, वह भी वी-विटामिनों की होती है. विभिन्न भक्ष्य पक्षियों के खाद्य अंगों का रासायनिक संघटन सारणी 143 में दिया गया है.

नाइट्रोजनी पदार्थ–विभिन्न भक्ष्य तथा शिकार पक्षियों के खाद्य अंगों में प्रोटीन की औसत मात्रा इस प्रकार पायी गयी : चूजे एवं मांस उत्पादक कुक्कुट, 21.6; तले जाने वाले चूजे, 20.0 और भूने जाने वाले चूजे, 20.3; वाल हंस, 16.2; पीरू, 20.1; वत्तख (पालतू), 16.0 और खस्सी मुर्गा, 21.4%. कुक्कुट मांस के प्रोटीन अन्य पशुओं के मांस-प्रोटीन जैसे ही होते हैं. इनमें वाह्य कोशिकी प्रोटीन (कोलैजेन और एलास्टिन) तथा अन्त: कोशिका प्रोटीन, सम्मिलित हैं जिनमें एक्टिनोमायोसिन ग्लोवुलिन एक्स, मायोजेन तथा मायोग्लोविन के नाम प्रमुख हैं. कच्ची पेशी

सारणी 143 – कुक्कुटों के खाद्य अंश का संघटन

	चूजे					
	छोटे	तरुण	वयस्क	वत्तख	हंस	पीरू
आर्द्रता,%	71.2	66.0	55.9	54.3	51.1	58.3
प्रोटीन,%	20.2	20.2	18.0	16.0	16.4	20.1
वसा,%	7.2	12.6	25.0	28.6	31.5	20.2
राख,%	1.1	1.0	1.1	1.0	0.9	1.0
कैल्सियम, मिग्रा./100 ग्रा.	14	14	14	15	15	23
फास्फोरस, मिग्रा./100 ग्रा.	200	200	200	188	188	320
लौह, मिग्रा./100 ग्रा.	1.5	1.5	1.5	1.8	1.8	3.8
थायमिन, मिग्रा./100 ग्रा.	0.08	0.08	0.08	0.10	0.10	0.09
राइबोफ्लैविन, मिग्रा./100 ग्रा.	0.16	0.16	0.16	0.24	0.24	0.14
निकोटिनिक अम्ल, मिग्रा./100 ग्रा.	10.2	8.0	8.0	5.6	5.6	8.0
विटामिन ए मान, अं. इ./100 ग्रा.	230	410	810	...	...	...

*Wu Leung *et al.*, *Agric. Handb.*, *U.S. Dep. Agric.*, No. 34 1952, 34-35.

विलेय लघु रचक तथा कार्नोसीन, एनसेरीन, क्रिएटीन, एडिनोसीन ट्राइफॉस्फेट, यूरिया, अमोनिया, ग्लुटाथायोन तथा एमीनो अम्ल पाये जाते हैं. ऐक्टिनोमायोसिन पेशियों का संकुचनशील अवयव है और यह पेशियों के कुल प्रोटीन का आधे से अधिक होता है. एलास्टिन तथा कोलैजेन पके हुये मांस में कड़ापन उत्पन्न करते हैं और ये कुक्कुट की आयु के साथ-साथ बढ़ते जाते हैं. कुक्कुट की हड्डियाँ मुख्यत: कोलैजेन और कैल्सियम फॉस्फेट की और त्वचा मुख्यत: कोलैजेन की बनी होती है. पानी अथवा भाप में पकाये जाने पर कुक्कुट मांस का कोलैजेन जिलेटिन मे परिवर्तित हो जाता है और यह शोरवे या सूप के लिये उपयुक्त पदार्थ प्रदान करता है.

कुक्कुट मांस में अधिकतम कोमलता लाने के लिये कुक्कुटों को अधिक वड़ा करने की आवश्यकता नहीं होती. यदि पक्षियों को मारने के बाद तुरन्त पका लिया जाय तो मांस कड़ा, रेशेदार और रवड़ के जैसा हो जाता है. कुक्कुट को मारने के पश्चात् इसके मांस को एक अथवा दो दिन तक प्रशीतन ताप पर रखने से यह पूर्णत: विघटित होकर मुलायम हो जाता है.

कुक्कुट मांस के प्रोटीनों का पौष्टिक मान भी अन्य पशुओं के समान उच्च होता है. ये बहुत जल्द पचने वाले होते हैं. कुक्कुट मांस प्रोटीनों के अनिवार्य ऐमीनो अम्ल सारणी 144 में दिये गये हैं.

वसा – कुक्कुट ऊतकों मे वसा की मात्रा, ऊतकों की किस्म, कुक्कुट की आयु, लिंग, उपचार तथा पोषण के अनुसार परिवर्तित

सारणी 144 – कुक्कुट प्रोटीन के अनिवार्य ऐमीनो अम्ल रचक*

(ग्रा./16 ग्रा. N)

	चूजों की पेशियां	चूजों का मांस हल्के रंग का	चूजा-मांस गहरे रंग का	गिजर्ड	चूजा यकृत	चूजा पंख केराटिन	अन्डे सेने वाले स्थानों से प्राप्त सह-जात चूर्ण†
प्रोटीन मात्रा,%	...	23.3	18.4	19.8	18.9	93.8	..
आर्जिनीन	7.1	5.9	6.1	5.6	7.1	7.5	6.0
हिस्टिडीन	2.3	3.7	2.9	2.5	3.8	0.4	1.0
लाइसीन	8.4	7.5	8.8	6.0	7.3	1.3	5.5
ट्रिप्टोफैन	1.2	1.2	0.9	0.8	0.7	...	0.7
फेनिलएलानीन	4.6	3.8	4.0	3.2	4.6	5.2	5.8
मेथियोनीन	3.2	2.1	2.8	2.6	4.1	0.5	2.7
थ्रियोनीन	4.7	3.9	3.8	4.5	5.1	4.4	...
ल्यूसीन	...	7.0	7.2	6.0	8.2	8.0	3.7
आइसोल्यूसीन	...	5.3	5.7	4.4	5.6	6.0	4.3
वैलीन	...	4.7	4.6	3.8	5.6	8.3	4.8

*Kuppuswamy *et al.*, 155-57, 160-61.

† आंकड़े डा. वी. पण्डा, केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर से प्राप्त हुये.

होती रहती है. मांस-उत्पादक चूजों में छाती के ऊतकों में केवल 0.3% तक और मुर्गी के उदरीय वसा ऊतकों में 80% तक वसा होती है. यह वसा या तो उदासीन वसा के रूप में होती है जो त्वचा के नीचे भण्डारों में तथा देह गुहा में प्रमुखतः पायी जाती है अथवा फॉस्फोलिपिड वसा के रूप में जो यकृत, हृदय इत्यादि के लिपिडों में प्रचुर मात्रा में रहती है. फॉस्फोलिपिडों में टेट्राए-नाइक, पेंटाएनाइक और हेक्साएनाइक अम्लों की पर्याप्त मात्रा पायी जाती है.

कुक्कुट की लाश के प्रत्येक भाग की संचित उदासीन वसा का संघटन लगभग एक-जैसा होता है. मुर्गियों के वसा के स्थिरांक भी सुअर की चर्बी जैसे होते हैं किन्तु इसका आयोडीन मान सुअर की चर्बी से अधिक होता है. मुर्गियों की वसा में रंग का लगभग 40% जैन्थोफिल रहता है. चूजे तथा पीरू की वसा के विभिन्न मानों के परास क्रमशः इस प्रकार हैं : ग. बि., 23–40°, 31–32°; आ.घ. $^{15°}$, 0.9065–0.9241, 0.9090–0.9220; $n^{40°}$, 1.4610–1.4620, 1.4587–1.4663; साबु. मान, 193.5–204.6, 191.6–225.1; आयो. मान, 66.7–78.2, 64.9–81.1; आर. एम. मान, 1.0–1.8, 3.8 और थायोसायनोजन मान, 62.5–62.8,—. चूजे की वसा में लगभग 60% असंतृप्त और 30–35% संतृप्त अम्ल रहते हैं. 7 मास की आयु की मुर्गी की देह में वसा (उदरीय, गिजर्ड तथा गर्दन के वसा भण्डारों की) का संघटन इस प्रकार है : मिरिस्टिक, 0.1; पामिटिक, 25.9; स्टीऐरिक, 6.7; हेक्साडेसेनाइक, 7.0; ओलीक, 38.1; लिनोलीक, 21.8; और C_{20-22} असंतृप्त अम्ल 0.4%. भारतीय नर पीरू की संचित वसा का संघटन इस प्रकार है : संतृप्त, 31.2; हेक्साडेसेनाइक, 15.5; ओलीक, 35.2; लिनोलीक, 15.6; तथा लिनोलेनिक, 2.5%.

वसा की अम्लता कुक्कुट मांस के ताजेपन की विश्वसनीयता की सूचक मानी जाती है. इसका मान बढ़ना मांस बिगड़ने का सूचक है. अन्य पशुओं की भांति, कुक्कुट मांस में भी लिपेस ऐंजाइम विशेष रूप से पाया जाता है जो कुक्कुट के मरने पर वसा का विघटन करता है. कुक्कुट मांस में लिपेस सम्भवतः जाइमोजेन के रूप में रहता है और कुक्कुट की मृत्यु के बाद इससे यह एंजाइम मुक्त हो जाता है. वध करने के तुरन्त बाद कुक्कुट वसा में लिपेस की कोई सक्रियता नहीं देखी जाती किन्तु अधिक समय तक, विशेषतया हिमांक से अधिक ताप पर रखने पर यह क्रिया बढ़ जाती है. लिपेस के अतिरिक्त अपरिष्कृत कुक्कुट मांस में कैटेलेस, परॉक्सीडेस, ऑक्सीडेस तथा रिडक्टेस एंजाइम भी पाये जाते हैं.

कुक्कुट वसा का स्थायित्व ऑक्सीकारी विकृत गंधिता के नियन्त्रण पर निर्भर करता है और इसे कुक्कुट आहार में टोकोफे-रॉल जैसे ऑक्सीकरण रोधकों की मात्रा बढ़ा कर बढ़ाया जा सकता है. पीरू-वसा की अपेक्षा चूजा-वसा अधिक स्थायी है. कुक्कुट आहार में, विशेषकर कुक्कुट को वध करने से पूर्व के मछली के तेल की मात्रा अधिक रहने पर इनके पकाये गये मांस से मछली की-सी गन्ध आती है.

एंजाइम – वसा में पाये जाने वाले एंजाइमों के अतिरिक्त कुक्कुट मांस में ऐमिलेस, इनवर्टेस, प्रोटिएस, ऐंटीट्रिप्सिन, ग्लाइकोज-नेस तथा माल्टेस नामक एंजाइम उपस्थित रहते हैं.

खनिज – कुक्कुट मांस में फॉस्फोरस और लोह पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं. चूजे के कच्चे मांस का खनिज संघटन इस प्रकार है : सोडियम, 46; पोटैसियम, 407; कैल्सियम, 5.8; मैग्नीशियम, 29.0,; लौह, 0.7; फॉस्फोरस, 248; गंधक, 268 तथा क्लोरीन, 61 मिग्रा./100 ग्रा. कुक्कुट मांस में जो सूक्ष्ममात्रिक तत्व पाये जाते हैं, वे मैंगनीज, तांबा और आयोडीन हैं.

विटामिन – कुक्कुट मांस में बी-विटामिनों में से राइबोफ्लैविन और निकोटिनिक अम्ल विशेषतया प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं. इसमें विटामिन की मात्रा चुग्गे की विटामिन मात्रा पर निर्भर करती है. चूजों और पीरूओं की श्यामल पेशियों में पीली पेशियों की अपेक्षा थायमीन और राइबोफ्लैविन अधिक मात्रा में और निकोटिनिक अम्ल कम मात्रा में पाये जाते हैं. चूजे के दुर्बल अंगों के मांस में पाये जाने वाले बी-विटामिनों की मात्रा सारणी 145 में दी गयी है. मुर्गी के यकृत तथा शरीर वसा में विटामिन ए और कैरोटिनॉयड होते हैं. यकृत के एक नमूने में 32,200 अं. इ./100 ग्रा. विटामिन ए पाया गया. चूजों के यकृत में विटामिन डी भी काफी रहता है. कुक्कुट मांस में टोकोफेरॉल व्यापक रूप से पाया जाता है. पीरू में यह गिजर्ड अथवा कंकाल पेशियों की अपेक्षा यकृत और हृदय में तथा सीने की अपेक्षा टांगों की पेशियों में अधिक सान्द्रित रहता है.

सुरस यौगिक – चूजों के ऊतकों के सुरसीय अवयवों की प्रकृति अभी तक पूर्णतया ज्ञात नहीं हो पायी है. चूजों में जो सुरस रहती है वह कम से कम दो प्रभाजों के कारण होती है जिनमें से एक गंधकयुक्त और दूसरा वसा अम्ल जैसा पदार्थ होता है. गन्धकयुक्त यौगिक बहुत ही अस्थायी है और रखा रहने पर हाइ-ड्रोजन सल्फाइड मुक्त करता है. यह सम्भवतः चूजों के मांस के

सारणी 145–ताजे चूजा ऊतकों के वसा रहित भागों के कुछ विटामिन बी रचक*

(मिग्रा./100 ग्रा.)

ऊतक	थायमीन	राइवोफ्लैविन	नायसिन	पेन्टोथैनिक अम्ल
यकृत	0.09	2.17	13.9	2.20
हृदय	0.22	1.05	2.91	1.26
गिजर्ड	0.04	0.21	4.56	0.28
त्वचा	0.01	0.09	1.63	0.12
सीने की पेशियाँ	0.04-0.06	0.05-0.10	8.2-12.5	0.11-0.22
टाँग की पेशियाँ	0.08-0.13	0.10-0.35	5.68-7.56	0.2-0.4

*Rice *et al.*, *Arch. Biochem.*, 1946, **10**, 251.

गंधकयुक्त पदार्थों से वनता है क्योंकि कच्चे मांस में किसी तरह की सुरसता नहीं रहती.

वर्णक – कुक्कुटों के आहार से प्राप्त होने वाले मुख्य वर्णक जैन्थोफिल है और मांस का वर्ण, आहार में उपस्थित इस वर्णक की मात्रा का समानुपाती है. यदि पक्षियों का पूरा रक्त वह नहीं जाता तो मांस के ऊपरी ऊतकों में हीमोग्लोबिन नामक लाल वर्णक रह जाता है. हीमोग्लोविन से मिलता-जुलता एक वर्णक मायोग्लोविन है जो जाँघों और टाँगों की पेशियों में पाया जाता है और उनके गहरे रंग के लिये उत्तरदायी होता है.

कुक्कुटों का हरापन – जो मांस उचित ढंग से पहले प्रशीतित नहीं कर लिया जाता और साधारण ताप पर रखा रहने दिया जाता है उसका रंग नीला-हरा और आकृति फूली हुयी जान पड़ती है. इसमें ऐसा रंग हीमोग्लोविन पर जीवाण्विक क्रिया से उत्पन्न हाइड्रोजन सल्फाइड की अभिक्रिया से वनने वाले सल्फाहीमोग्लोविन के कारण आता है. सर्वप्रथम ऐसा रंग प्रायः पसलियों पर दिखायी पड़ता है जहाँ आँतों में सड़न उत्पन्न होने से हाइड्रोजन सल्फाइड वनती है जिससे त्वचा की कोशिका नलियों में उपस्थित रक्त पर क्रिया होती है. यदि कुक्कुटों को वध के पूर्व भूखा रखा जाय तो मांस में कम हरापन आता है.

श्रेणीकरण और मानकीकरण

कुक्कुटों को खरीदते समय उपभोक्ता उनकी किस्म, लिंग, आयु और साधारण स्वास्थ्य को विशेष महत्व देते हैं. वे सामान्यतः कुछ कुक्कुट छाँट लेते हैं और उनके सीने को यह जानने के लिये टटोलते हैं कि उनमें कितना मांस होगा. इसी आधार पर कुक्कुटों का चुनाव होता है और मोल-भाव किया जाता है. छोटे चूजों का मूल्य बूढ़े कुक्कुटों की अपेक्षा अधिक माँगा जाता है. भारत के कुछ भागों में कुक्कुटों को उनकी आयु के अनुसार चार वर्गों में बाँटा जाता है : ये हैं, 3 मास से कम की आयु के (चूज़ा); 3 से 5 मास की आयु तक (चेंगना); 5 से 8 मास की आयु (पट्ठा) तथा 8 से 12 मास की आयु के (तैयार मुर्गी). एक ही भार के छोटे चूजों का मूल्य बूढ़े कुक्कुटों की अपेक्षा 5% और मुर्गी का मूल्य मुर्गे से 10% अधिक होता है.

जीवित कुक्कुटों की विभिन्न श्रेणियों में अन्तर बताने वाले विभिन्न मोटे नियम सापेक्ष हैं और विशेष बाजारों तक ही सीमित रहते हैं. फिर भी आसानी से कुक्कुट मांस की किस्म जानने के लिये निर्धारित मानक बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं. कुक्कुटों की लाशों की गुणता अनेक कारकों पर निर्भर करती है, यथा, शरीर का आकार, मांस की मात्रा, वसा, जले दागों तथा घावों की अनुपस्थिति, पक्षांकुर त्वचाक्षत, टूटी अस्थियाँ तथा विवर्णन. ये लक्षण कुक्कुट की जाति, आयु तथा लिंग के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं.

कुक्कुट मांस का मानकित श्रेणीकरण केवल उन्हीं देशों में सम्भव है जहाँ कुक्कुटों की लाशें बहुत विकती हैं और मांस को इस रूप में रखने के लिये प्रशीतन की सुविधायें होनी अत्यावश्यक हैं. देश में सज्जा और संसाधन संयंत्र स्थापित हो जाने के बाद तथा सज्जित तथा संसाधित मांस की प्रचुर थोक और फुटकर विक्री होने पर इनके संचालन तथा बाजारों तक पहुँचाने के लिये प्रशीतन की सुविधायें उपलब्ध होने पर इनका मानकित श्रेणीकरण सम्भव हो सकेगा. भारतीय मानक संस्थान ने सज्जित मांस की दो श्रेणियों के लिये विनिर्देश नियत किये हैं (IS : 4764–1968).

पैकिंग – कुक्कुट मांस की किस्म तथा बाजार में विकने वाले रूप पर इसकी पैकिंग निर्भर करती है. अच्छी तरह पैक करने से न केवल सज्जित किया तथा आँतरहित मांस सुरक्षित रहता है वरन् इससे कुक्कुट की किस्म तथा उसके गुण की भी जाँच हो जाती है जिससे उपभोक्ता आकर्षित हो सकता है. विभिन्न देशों में जलवायु तथा स्थानीय दशाओं के अनुसार सज्जित कुक्कुट मांस प्लास्टिक तथा दफ्ती आदि के बने डिब्बों में पैक करके भेजा जाता है. प्लास्टिक की डिब्बावन्दी को वायुरुद्ध होना चाहिये.

मांस उत्पाद

डिब्बावन्द चूजे – भारत में सेना के लिये डिब्बावन्द चूजों की बहुत अधिक माँग है. डिब्बावन्दी के लिये परिपक्व कुक्कुट जिनमें चूजों की अपेक्षा अधिक मांस होता है उपयुक्त हैं. 20 मास से अधिक आयु की कम अण्डे देने वाली मुर्गियों के मांस को डिब्बों में वन्द करना लाभदायक है. केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर ने हाल ही में कुक्कुट मांस को सम्पूर्ण कुक्कुट, सम्पूर्ण अस्थिरहित कुक्कुट, अस्थिरहित कटा हुआ कुक्कुट, अस्थिसहित कटा हुआ कुक्कुट तथा कुक्कुट के उत्कृष्ट भागों–जैसे सीना, जांघें आदि के डिब्बों में वन्द करने की ठोस पैकिंग विधि विकसित की है. उपभोक्ता के स्वादवोध के अनुसार उत्पाद को पुनः पकाना होता है. इस विधि से बिना मांसयूप के अधिकतम आहार प्राप्त हो सकता है. डिब्बावन्द कुक्कुट मांस (केवल अस्थिसहित मांस) का संघटन इस प्रकार है: जल, 61.9; प्रोटीन, 29.8; वसा, 8.0 और राख, 2.4%; कैल्सियम, 14; फॉस्फोरस, 148; लोह, 1.8; थायमीन, 0.04; राइवोफ्लैविन, 0.16 तथा नायसिन, 6.4 मिग्रा. /100 ग्रा.

डिब्बावन्दी के समय कुक्कुट मांस जेली तथा शोरवा उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होते हैं. ये निर्वल लोगों के लिये पौष्टिक होते हैं.

गुलमा – बूढ़ी मुर्गियों और मांस उत्पादक तथा निकृष्ट कुक्कुटों के मांस को तरकारियों के साथ 50% तक मिलाकर तथा मसाले आदि डालकर गुलमा बनाया जाता है. इस उत्पाद में आर्द्रता, 62–65; प्रोटीन, 15–17; वसा, 15–17 तथा कार्बोहाइड्रेट, 3–4% रहता है.

चूजों का अर्क – कुक्कुट अर्क, स्वस्थ चूजों के मांस के कीमे को खौलते हुए पानी द्वारा आंशिक जल-अपघटन करके निष्कर्ष को निर्वात में सान्द्रित करके, बनाया जाता है. सान्द्रित निष्कर्ष को जीवाणुविहीन तथा इसमें वसा होने पर इसे वसारहित भी कर लिया जाता है. इस सान्द्र को तनु करके और नाइट्रोजन और कुल ठोस इच्छित मात्रा में करके निर्मलीकरण कर लिया जाता है और सम्पुटिका में भर दिया जाता है. सम्पुटिकाओं में सुरसकारी तथा मीठा बनाने वाले कारकों को उपयुक्त परिरक्षकों के साथ मिलाकर वायुरुद्ध कर दिया जाता है. चूजों के अर्क में कुल ठोस, 10–13; प्रोटीन, 7–8 तथा क्लोराइड (NaCl के रूप में), 0.2–0.3% होता है. भारत में चूजों के अर्क की अच्छी बिक्री है. इस समय भारत में चार संस्थायें हैं जो प्रतिवर्ष लगभग 20,000 ली. अर्क तैयार करती हैं.

शिशु आहार – केन्द्रीय खाद्य प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर द्वारा विकसित विधि से कुक्कुट मांस से कृत्रिम शिशु आहार भी बनाया जा सकता है. मांस और यूष तो शिशु आहार बनाने में काम आते हैं किन्तु खाल तथा हड्डियाँ लेई या निर्जलित उत्पाद बनाने में इस्तेमाल की जाती हैं. ऐसे शिशु आहार, प्रोटीन, लोह और निकोटिनिक अम्ल-बहुल होते हैं और इनमें रेशे बिल्कुल नहीं पाये जाते.

उपोत्पाद

कुक्कुट खाद – कुक्कुटों की बीट से सान्द्र खाद मिलती है जिसे किसान विशेष रूप से पसन्द करते हैं. कुछ ही स्थानों पर बीट को एकत्र करके भली-भाँति संचित करने और परिरक्षित करके थोक में बेचने का प्रबन्ध है. कुक्कुट खाद में (शुष्क आधार पर) नाइट्रोजन, 2; फॉस्फोरिक अम्ल, 1.25; और पोटैश, 0.75% रहता है.

मोटी बिछाली से तैयार कुक्कुट खाद का कृषि उत्पादन पर विशेष प्रभाव पड़ता है. एक वर्ष में 40 कुक्कुटों से लगभग 1 टन बिछाली की खाद मिलती है जो धान अथवा मक्का के एक हेक्टर के लिये सोर्घम के 2 हेक्टर अथवा घनी बोयी गयी तरकारी के 0.5 हेक्टर के लिये पर्याप्त होती है. कुक्कुट खाद से प्रति कुक्कुट वार्षिक आय में 1–2 रु. की वृद्धि हो सकती है. यदि देश के अण्डा देने वाले अनुमानित 4 करोड़ कुक्कुटों को बाड़ों में अथवा खुले स्थानों में रखने की बजाय मोटी बिछाली वाले पालन गृहों में रखा जाये तो इनसे प्रतिवर्ष लगभग 30,000 टन नाइट्रोजन और 10 लाख टन कार्बनिक पदार्थ प्राप्त हो सकता है. यदि 4,000 कुक्कुटों को एक हेक्टर भूमि पर अच्छी तरह से मोटी बिछाली का प्रयोग करके पाला जाय तो 100 टन खाद प्राप्त होगी जो धान की 100 हेक्टर खेती के लिये पर्याप्त होगी.

पंख – अब पक्षियों के पंखों को अच्छे-अच्छे व्यापारों में प्रयुक्त किया जाने लगा है. कुक्कुटों के लिंग तथा उनकी आयु के अनुसार पंखों का भार जीवित भार का लगभग 4–9% होता है. पंखों को थैलों में बन्द करने से पूर्व अच्छी प्रकार धोकर सुखा लेते हैं. ठीक से छांटे गये सूखे और साफ पंखों की माँग अधिक है. बिक्री योग्य न होने पर पंखों को खेत में डालकर खाद बनायी जा सकती है.

पंख साधारणतः तकिये तथा गद्दे आदि भरने के काम आते हैं. ऊष्मारोधी नरम और हल्के होने के कारण विदेशों में कुक्कुटों के कोमल पिच्छ पंखों की काफी माँग है. जालन्धर (पंजाब) में पंखों से, विशेषतया बत्तख के पंखों से खेलने के शटलकॉक बनाये जाते हैं. कुक्कुट के फुटकर व्यापारी मारे गये अथवा सज्जित कुक्कुटों के लम्बे-लम्बे पंखों को एकत्र करके उन्हें साफ करके शटलकॉक बनाने वालों के हाथ बेच देते हैं. पंखों का मूल्य उनकी लम्बाई, रंग, शक्ति, गठन, लचीलेपन पर निर्भर करता है. बत्तखों के पंख अच्छे गठन तथा अपने जलसह गुणों के कारण मुर्गियों के पंखों से मँहगे बिकते हैं. 1963–64 में 2,00,000 रु. का कोमल पिच्छ पंख निर्यात किया गया. पंखों में अधिकांशतः केराटिन नामक तन्तुमय प्रोटीन होता है. मुर्गियों के पंखों के केराटिन के ऐमीनो अम्लों का संघटन सारणी 144 में दिया गया है. कुक्कुटों के पंखों से केराटिन प्राप्त करने की विधियाँ निकाली गयी हैं.

उपजात आहार – कुक्कुटों से प्राप्त होने वाले कई उपजात जैसे रक्त-चूर्ण, कुक्कुट उपजात चूर्ण तथा अण्डे सेने वाले गृहों से निकले उपजात चूर्ण, मांस-उत्पादक जन्तुओं तथा कुक्कुटों को खिलाने के लिये प्रयुक्त किये जा सकते हैं. इन्हें मुख्यतः प्रोटीन अथवा अनिवार्य ऐमीनो अम्लों के लिये खिलाया जाता है. इनमें वसा, प्रोटीन और खनिज भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं. ऐसे पदार्थों का औसत संगठन सारणी 146 में दिया गया है.

पंख-चूर्ण अथवा जलअपघटित पंख तैयार करने के लिये मरे कुक्कुटों के पंखों को उच्च भापीय दाब पर प्रयोग किया जाता है. इसमें 80% से अधिक प्रोटीन तथा 70% तक पचनीय प्रोटीन होते हैं. ठीक से तैयार किया गया चूर्ण सामान्य प्रोटीन वर्धक आहार का प्रतिस्थापी हो सकता है. जब मांस उत्पादक कुक्कुटों को चुग्गे में 2–5% तक चूर्ण दिया गया तो सन्तोषजनक परिणाम मिले. ऐसा लगता है कि पंख-चूर्ण से कुक्कुटों को विटामिन $बी_{12}$ तथा एक अज्ञात आवश्यक कारक मिलते हैं.

कुक्कुट के उपजात चूर्ण में वध किये गये कुक्कुटों के सिर, पंजे, अविकसित अण्डे, गिजर्ड तथा आँतों को पीसकर सुखाये गये अंग रहते हैं. आहार के रूप में यह रद्दी मांस का सन्तोषजनक

सारणी 146 – कुक्कुटों के सहजातों का संघटन*
(औसत मान %)

सहजात	आर्द्रता	अपरिष्कृत प्रोटीन	वसा	अपरिष्कृत रेशे	नाइट्रोजन मुक्त निष्कर्ष	राख
बाजारू पंख चूर्ण	6.5	87.0	3.5	0.3	0.2	3.2
कुक्कुट मांस पपड़ियाँ	6.0	55.2	14.5	1.0	6.0	17.4
कुक्कुट रक्त-चूर्ण	16.5	67.0	6.2	0.5	3.5	7.5
मिश्रित कुक्कुट सहजात चूर्ण	7.4	6.31	13.2	1.5	...	...
अन्डा सेने वाले स्थानों से प्राप्त सहजात चूर्ण†	8.0	31.1	30.1	...	...	25.0

**NSDA Utilization Res. Rep.* No. 3, Nov. 1961.

† Panda *et al.*, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 292.

प्रतिस्थापी है. व्यापारिक आहार में राख 16% से कम तथा अम्ल विलेय राख 4% से अधिक नहीं होनी चाहिये.

अण्डे सेने वाले स्थानों से प्राप्त उपजात का चूर्ण अण्डों की खोलों, अनिषेचित अण्डों, बिना फूटे अण्डों, पकाये गये निकृष्ट चूज़ों के मिश्रण को सुखाकर पीसने से बनता है. इसमें 18.1% कैल्सियम और 413 मिग्रा./100 ग्रा. फॉस्फोरस होता है. अण्डे सेने के स्थानों से प्राप्त उपजात चूर्ण के अनिवार्य ऐमीनो अम्लों की सूची सारणी 144 में दी गयी है.

विपणन तथा व्यापार

भारत में कुक्कुट पालन मुख्यतया ग्रामीण क्षेत्रों में किया जाता है जहाँ सामान्यतः पालक कम संख्या में ही पक्षी रखते हैं. विगत कुछ वर्षों में शहरों तथा शहरों के आसपास के इलाकों में बड़े पैमाने पर कुक्कुट पालने के व्यवसाय में आश्चर्यजनक प्रगति हुयी है. इतने पर भी अण्डों तथा कुक्कुटों की अधिकांश मात्रा ग्रामीण क्षेत्रों से ही प्राप्त होती है. अधिकांश कुक्कुट जीवित अवस्था में ही बेचे जाते हैं. हाल ही के वर्षों में अण्डों और कुक्कुट मांस की खपत अत्यन्त तेजी के साथ बढ़ने लगी है. कुक्कुट-पालन व्यवसाय का भविष्य बहुत कुछ जनसाधारण के जीवनस्तर से सीधे सम्बन्धित है.

कुक्कुट पालन-घरों और उपभोक्ताओं के बीच की दूरी जितनी अधिक होगी उचित समय पर ऐच्छिक स्थान पर अण्डों को ताजा तथा कुक्कुटों को जीवित पहुँचाने के लिये विपणन व्यवस्था भी उतनी ही जटिल हो जावेगी. उत्पादकों और उपभोक्ताओं की आवश्यकता और अभिरुचि को देखते हुये देश के कई भागों में कई तरह के कुक्कुट और कुक्कुट विपणन संगठन स्थापित किये गये हैं. ये विपणन संगठन अण्डे तथा कुक्कुटों का लाखों रुपयों का व्यापार करते हैं.

बाजारों के समीप रहने वाले कुक्कुट पालक अपने अण्डों और कुक्कुटों को सीधे बाजारों में बेच देते हैं. अण्डा एकत्र करने वाले गाँव-गाँव जाकर अण्डे इकट्ठे करते हैं. गाँव के मेलों में भी ये व्यापारी अण्डों का क्रय-विक्रय करते हैं. इस प्रकार के मेलों से ये व्यापारी बड़ी संख्या में अण्डे और कुक्कुट खरीद कर इनको शहरों में थोक व्यापारियों को भेज देते हैं किन्तु इस प्रकार से खरीदे गये अण्डे मिले-जुले तथा अनिश्चित प्रकार के होते हैं.

जीवित कुक्कुटों को उनकी किस्म, आयु तथा लिंग के अनुसार अलग-अलग करके प्रायः टोकरियों अथवा जालीदार पिंजड़ों में बन्द कर दिया जाता है. नीलामकर्ता अथवा थोक व्यापारी इन्हे पंक्तियों में सजा देते हैं. कुक्कुटों को घरों से बाजार तक लाने के लिये प्रयुक्त साधनों का प्रभाव मांस की कोटि पर बहुत पड़ता है. यदि पक्षियों की ठीक से परवाह नहीं की जाती या अनुपयुक्त या ठूंस-ठूंस कर भरे पिंजड़ों में भरा जाता है अथवा गर्मी की ऋतु में एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में देर हो जाती है तो कुक्कुटों के मरने, पंख अथवा टाँग टूटने तथा चोट लग जाने के परिणामस्वरूप बहुत हानि होती है.

ऐसे शहर जहाँ कुक्कुट मांस तथा अण्डों की काफी खपत होती है उनमें केन्द्रीय थोक बाजार होते हैं जो कुक्कुट मांस तथा अण्डों के भाव निर्धारित करते हैं. भारत के कुछ बड़े शहरों में अण्डों को बेचने के पूर्व श्रेणीवार दफ्ती के डिब्बों में लगाकर तथा सज्जित एवम् पकाने के लिये तैयार मांस को रक्षात्मक वेष्टन में लपेटकर हिमकारी अलमारियों में रखते हैं.

भारत में कुक्कुट सम्बन्धी विपणन सूचना तथा अनुसंधान का उचित रूप से समन्वय नहीं हो पाया है. देश में कुक्कुट उत्पादों की बढ़ती हुयी मात्रा का पूर्ण उपयोग करने के लिये कुक्कुट पालन तथा कुक्कुट प्रसार में विशिष्ट प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है.

गहन कुक्कुट उत्पादन कार्यक्रम के अन्तर्गत पंजाब, केरल, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, मैसूर, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, और तमिलनाडु राज्यों में काफी प्रगति हुयी है. ऐसे केन्द्रों पर अण्डों के उत्पादन में हुयी वृद्धि के साथ इनको राज्य के अन्दर अथवा बाहर अच्छे बाजारों तक पहुँचाने के लिये विपणन संगठनों की आवश्यकता अनुभव की जा रही है.

चूज़ों तथा कुक्कुट आहार की पूर्ति और बाजारों में अण्डा और कुक्कुट पहुँचाने के लिये 1964 में चण्डीगढ़ में पंजाब कुक्कुट निगम की स्थापना की गयी, जिसके संचालन केन्द्र गुरदासपुर, लुधियाना, जालंधर, मलरकोटला, पटियाला तथा अमृतसर हैं. भारत में जितने अण्डे तथा खाद्य पक्षी तैयार होते हैं उनकी खपत देश में ही हो जाती है. इनका निर्यात बहुत कम मात्रा में होता है.

पहले भारत से श्रीलंका को बड़ी संख्या में अण्डों का निर्यात होता था किन्तु अब इनकी मात्रा कम होती जा रही है. 1967–68 में लगभग 2,76,000 रु. के मूल्य के लगभग 2,24,000 जीवित कुक्कुट और 1,03,000 रु. के मूल्य के लगभग 60 लाख खोलसहित अण्डे निर्यात किये गये.

भारत में कुक्कुटों का आयात कुछ विदेशी जातियों तक ही सीमित है, जैसे कि **ह्वाइट लेगहार्न, रोड आइलैण्ड रेड, प्लाइमाउथ रॉक, ब्लैक मिनोरका,** संकर चूज़े और फूटने वाले अण्डे. इनका उपयोग देशी स्टाक के सुधार के लिये होता है.

भारत में अण्डों का आयात बंगलादेश से होता है किन्तु अब इनकी मात्रा घटती जा रही है. 1967–68 में लगभग 1,02,000 रु. के जीवित कुक्कुट तथा 5,000 रु. के 1,60,000 खोलसहित अण्डे भारत में आयात किये गये.

मूल्य – भारत में अण्डों तथा खाद्य पक्षियों का मूल्य स्थान-स्थान अथवा ऋतु के अनुसार बदलता रहता है. अण्डों तथा कुक्कुटों का मूल्य उनके उत्पादन तथा पालन-व्यय पर निर्भर करता है. कृषि अनुसंधान सांख्यिकी संस्थान (भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्) ने अण्ड-उत्पादन और कुक्कुट पालन व्यय का अनुमान लगाने के लिये 1967 में पंजाब के होशियारपुर जिले के टाँडा-दासुया क्षेत्र का सर्वेक्षण किया. 65 व्यापारिक कुक्कुट पालन गृहों के शीतऋतु के 4 महीनों के यादृच्छिक प्रतिचयन आँकड़ों के विश्लेषण से पता चला है कि एक वयस्क कुक्कुट के आहार पर, अवैतनिक मजदूरी को छोड़कर, कुल खर्च का 95% बैठता है, इस प्रकार अण्डा देने वाली मुर्गी के रख-रखाव पर किये गये खर्च के कारण अण्डे का औसत मूल्य 12–16 पैसे आता है. फूटने योग्य अण्डे का औसत मूल्य 15–20 पैसे तथा एक दिन की आयु के चूज़ों पर 40–45 पैसे खर्च बैठता है.

भक्ष्य पक्षी का मूल्य, उसकी किस्म, शारीरिक भार तथा आयु पर निर्भर करता है. बूढ़ी मुर्गी तथा पट्ठे का औसत मूल्य प्रति किग्रा. जीवित भार के लिये 3.50 रु. तथा मांस-उत्पादक कुक्कुट का 4.50 रु. होता है. पकाने के लिये तैयार सज्जित हिमीकृत

कुक्कुट जीवित भार का लगभग 70% बैठता है और इसका मूल्य लगभग 8 रु. प्रति किग्रा. और मीझे कुक्कुट का दाम लगभग 7 रु. प्रति किग्रा. होता है.

अनुसंधान और विकास

भारत में भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर, केन्द्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर तथा विभिन्न पशुधन अनुसंधानशालाओं और राज्यों के सरकारी कुक्कुट फार्मो में पर्याप्त अनुसंधान कार्य हो चुका है अथवा हो रहा है जिससे देश में बड़े पैमाने पर कुक्कुट विकास सम्भव हो सका है. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की सहायता से इन संस्थानों में कुक्कुटों के आवास, आहार तथा प्रजनन पक्षों पर अनुसंधान कार्य हो रहा है. ग्रामीण परिस्थितियों में एक दिन की आयु के चूजों को पालने तथा इनकी मृत्यु दर कम करने की उचित विधियों को पालकों तक पहुँचाने के लिये भी अन्वेषण कार्य चल रहा है. देश में कुक्कुट मांस को लोकप्रिय बनाने के लिये कुक्कुट तैयार करने की दिशा में भी अध्ययन हो रहे हैं. देश में उपलब्ध कुक्कुट आहार के आधार पर देश के विभिन्न भागों में कुछ सस्ते और सन्तुलित कुक्कुट आहार तैयार करने के यत्न हो रहे हैं. अण्डा और मांस उत्पादन के लिये देशी नस्लों को सुधारने का कार्य भी चल रहा है. भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान में **ह्वाइट लेगहार्न और रोड आइलैण्ड रेड** नस्लों के द्वारा नस्ल-परीक्षण भी किये गये हैं. कई स्थानों पर अब अण्डों और कुक्कुटादि के विपणन सम्बन्धी पहलुओं पर भी कार्य हो रहा है.

1962–63 के अन्त में भारत में लगभग 120 राजकीय और 5 क्षेत्रीय कुक्कुट फार्म थे जिनमें कुल 65,160 अण्डाजनक कुक्कुट थे. इन फार्मो के पास कुल मिलाकर 880 इनक्यूबेटर थे. अधिकांश फार्मो में **ह्वाइट लेगहार्न और रोड आइलैण्ड रेड** नस्लों के ही कुक्कुट पाले जाते हैं. कुछ फार्मो में **ब्लैक मिनोरका, लाइट ससेक्स, ह्वाइट प्लाइमाउथ रॉक, न्यू हेम्पशायर, ब्राउन लेगहार्न** तथा **ब्लैक लेगहार्न** नस्लों के कुक्कुट भी पाले जाते हैं.

1962–63 के अन्त में देश में लगभग 276 कुक्कुट संवर्धन केन्द्र थे जिनमें कुल मिलाकर 20,175 अण्डे देने वाली मुर्गियाँ थीं. इन केन्द्रों के पास कुल 695 इनक्यूबेटर थे. ये केन्द्र किसानों को अण्डे तथा एक दिन के चूजे सप्लाई करते हैं.

अण्डों और कुक्कुटों के विपणन को केवल कुछ ही राज्यों में सुव्यवस्थित किया गया है और अब लगभग 21 विपणन संगठन कार्य कर रहे हैं. केवल चार राज्यों में ही शीतागार की सुविधायें उपलब्ध हैं. केरल, महाराष्ट्र और पंजाब में विपणन के सुव्यवस्थित संगठन स्थापित किये जा चुके हैं जबकि गुजरात, मैसूर, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में ऐसे संगठन स्थापित किये जा रहे हैं.

1963 के अन्त में भारत में 2,474 ऐसे व्यक्तिगत फार्म थे जिनमें प्रत्येक में अण्डे देने वाली मुर्गियों की संख्या 50–100 थी; 691 कुक्कुट फार्मो में 100–500 तक मुर्गियाँ थीं और 137 फार्म ऐसे थे जिनमें 500 से अधिक अण्डा देने योग्य मुर्गियाँ थीं.

चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत देश की 50% जनता के लिये प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष 50 अण्डे उत्पन्न करने का लक्ष्य रखा गया है. इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये चौथी पंचवर्षीय योजना के

सारणी 147–1956–77 में कुक्कुटों के विकास की योजनायें*

	1956	1961	1966	1971	1977
कुक्कुट संख्या (करोड़ों में)	9.4	11.69	23.56	47.02	94.04
अन्डजनक कुक्कुटों की संख्या (करोड़ों में)	3.6	4.5	9.0	18.0	36.0
कुल अन्डा उत्पादन (करोड़ों में)	190.8	270.0	585.0	144.0	3240.0
सेने वाले कुक्कुटों की संख्या (करोड़ों में)	38.2	54.0	117.5	288.0	648.0
मनुष्य के उपभोग के लिये उपलब्ध कुक्कुटों की संख्या (करोड़ों में)	152.6	216.0	467.5	1,152.0	2,592.0

*खाद्य एवम् कृषि मन्त्रालय (कृषि विभाग), नई दिल्ली की चौथी पंचवर्षीय योजना के कार्यरत वर्ग की रिपोर्ट के आधार पर.

अन्त तक अण्डा देने वाली मुर्गियों की संख्या दुगनी करनी पड़ेगी. कुक्कुट विकास के लिये 1956–77 के लिये प्रस्तावित दीर्घकालीन योजना का विवरण सारणी 147 में दिया गया है.

कुक्कुट आहार की पूर्ति का न हो पाना उद्योग की उन्नति में बाधक है. अधिकांश प्रकार के कुक्कुट आहारों में 30–40% अन्न का प्रयोग होता है. अन्न के प्रयोग में कुक्कुट मनुष्यों से होड़ ले रहे हैं. एक परिमित अनुमान के आधार पर चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्त में कुक्कुटादि के लिये प्रतिवर्ष लगभग 20 लाख टन अन्न की आवश्यकता होगी. अतः ऐसा चुग्गा तैयार करना आवश्यक हो गया है जिसमें अन्न कम लगे और लागत भी कम आवे. इस कमी को पूरा करने के उद्देश्य से तथा विभिन्न आयु के कुक्कुटों के लिये बना-बनाया सन्तुलित आहार तैयार करने के लिये अनेक निजी कारखाने लगाये जा रहे हैं. विभिन्न राज्यों में इस समय कुक्कुट आहार तैयार करने वाले लगभग 49 सरकारी और 903 मान्यता प्राप्त निजी कारखाने हैं.

चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुक्कुटों के विकास के यथेष्ट विस्तार का प्रस्ताव है. देश में कुक्कुट उत्पादन के लिये चौथी पंचवर्षीय योजना में लगभग 25 करोड़ रुपये खर्च किये जाने का प्रस्ताव है जबकि तृतीय पंचवर्षीय योजना में यह राशि लगभग 7 करोड़ रुपये थी. देश में गहन कुक्कुट विकास की योजना देश के चुने हुये क्षेत्रों में कुक्कुट उत्पादन एवम् विपणन करने वाले केन्द्रों के माध्यम से संचालित करने की है. कुक्कुटादि के सर्वतोमुखी विकास तथा उत्पादों के विपणन के लिये विशेष कार्यक्रम तैयार किया जावेगा. देश के पहाड़ी क्षेत्रों, आदिमवासी क्षेत्रों और पिछड़े वर्गों के लोगों के क्षेत्रों में कुक्कुटादि के विकास की विशेष योजना है.

अत्यधिक संख्या में उत्पादित अण्डों तथा भक्ष्य पक्षियों के प्रबन्ध के लिय अनेक राज्यों में, अण्डों और कुक्कुटादि के स्थानान्तरण के लिये प्रशीतित उपकरणों, शीतागारों तथा कुक्कुटादि संसाधन संयंत्रों की सुविधाओं से युक्त अण्डा तथा कुक्कुटादि एकत्रीकरण केन्द्र भी खोलने का प्रस्ताव है. कुक्कुट प्रजनन और पालन के लिये 7,000 से अधिक पालकों तथा अनेक निजी संस्थानों को ऋण देने की सुविधायें भी प्रदान की जा रही हैं.

संदर्भ ग्रन्थ

सामान्य

AGGARWAL, N. C.—Cattle wealth of India. Some problems discussed, *Econ. Rev.*, 1961, 12(17), 31–33.

Animal Nutrition—*Proc. Indian Coun. agric. Res. Conf.*, 1967.

BAWA, H. S.—Livestock Products, *Rev. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 17, 1957.

BHATTACHARYA, P.—Animal Production and Health Breeding. Better Livestock for India, Agenda item, C 5–2 (United Nations Conference on the Application of Science and Technology for the Benefit of Less Developed Areas).

BHOTE, R. A.—The place of livestock industry in India's economy, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(2), 3.

BRIGGS, H. M.—Modern Breeds of Livestock (The Macmillan Co., New York), 1949.

Brochure on Revised Series of National Product for 1960–61 to 1964–65 [Central Statistical Organization (Dep. of Statistics), Cabinet Secretariat, Govt. of India, New Delhi], 1967.

CHAUDHURI, S. C. & GIRI, R.—Role of cattle in India's economy, *Khadi Gramodyog*, 1964, 10, 291–302.

COLE, H. H.—Introduction to Livestock Production including Dairy and Poultry (W. H. Freeman & Co., San Francisco), 2nd edn, 1962.

Committee on Natural Resources—Survey and Utilization of Agricultural and Industrial By-products and Wastes, VIII. Wastes and By-products from Slaughterhouses and Dead Animals (Planning Commission, New Delhi), 1963.

DATTA, S.—Fifty Years of Science in India—Progress of Veterinary Research (Indian Science Congress Association, Calcutta), 1963.

Estimates of National Income, 1964–65 [Central Statistical Organization (Dep. of Statistics), Cabinet Secretariat, Govt. of India, New Delhi], 1966.

GEORGE, P. M.—Livestock industry, *Poona agric. coll. Mag.*, 1959–60, 50, 247–49.

Handbook of Animal Husbandry—Facts and Figures for Farmers, Students and all engaged or interested in Animal Husbandry (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1st end, 1962 ; reprint edn, 1967.

HARBANS SINGH—Domestic Animals—India : The Land and People (National Book Trust of India, New Delhi), 1966.

HARBANS SINGH & MOORE, E. N.—Livestock and Poultry Production (Prentice-Hall of India Pvt. Ltd., New Delhi), 1968.

HARBANS SINGH & PARNERKER, Y. M.—Basic Facts About Cattle Wealth and Allied Matters (Central Council of Gosamvardhana, New Delhi), 1966.

Human Nutrition vis-a-vis Animal Nutrition in India, (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1954.

KAURA, R. L.—Indian Breeds of Livestock including Pakistan Breeds (Prem Publishers, Lucknow), 1952.

KEHAR, N. D.—Animal nutrition, *Souvenir Indian Coun. agric. Res.*, 1929–54, 91–94.

KURIAN, J.—Role of livestock in the national economy, *Agric. Situat. India*, 1966, 21, 455–64.

LANDER, P. E.—Feeding of Farm Animals in India (Macmillan & Co. Ltd., Calcutta), 1949.

Livestock breeding under tropical and subtropical conditions *Proc. F.A.O. Meeting Lucknow (India)*, 1950.

Livestock wealth of India, *Sci. & Cult.*, 1937–38, 3, 160.

MOHAN, S. N.—Livestock development, *Agric. Prodn Manual*, 1962, 137-69.

MORRISON, F. B.—Feeds and Feeding (The Morrison Publishing Co., Ithaca, N.Y.) 22nd edn, 1956.

National Income Statistics : Proposals for a Revised Series of National Income Estimates for 1955–56 to 1959–60 [Central Statistical Organization (Dep. of Statistics), Cabinet Secretariat, Govt. of India, New Delhi], 1961.

Production Yearbook (Food and Agricultural Organization of the United Nations, Rome), Vol. 20, 1966.

RANDHAWA, M. S.—Agriculture and Animal Husbandry in India (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1958.

Report of the Committee on Utilization of Food and Agricultural Wastes (Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), 1959.

Research in Animal Husbandry: A Review, 1929–54 (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1962.

Sample Surveys for Improvement of Livestock Statistics (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1961.

SAXENA, H. C.—Animal feed industry in India, *Foreign Tr. India*, No. 33, 1966, 41–44.

SAXENA, H. C.—Animal feed industry in India, *Res. & Ind.*, 1968, 13, 57-61.

SEN, K. C.—Animal Nutrition Research in India (Macmillan & Co. Ltd., Calcutta), 1953.

SRINIVAS, C. S.—Importance of livestock in Indian economy, *Andhra vet. coll. Mag., Tirupathi*, 1960, 2, 12–16.

WATT, G.—The Commercial Products of India (John Murray, London), 1908; reprint edn, 1966.

WATT, G.—A Dictionary of the Economic Products of India (Govt. Press, Calcutta), 6 vols., 1889–1893; Index, 1896.

WHYTE, R. O.—Grassland and Fodder Resources of India, *Sci. Monogr., Indian Coun. agric. Res.*, No. 22, 1957.

WHYTE, R. O. *et al.*—Agriculture and Livestock Targets in Indian Milk Schemes (from 'Agricultural Criteria for Dairy Development' by Whyte, R. O. published by FAO/UNICEF), 1964.

WILLIAMSON, G. & PAYNE, J. W. A.—An Introduction to Animal Husbandry in the Tropics (Longmans, Green & Co. Ltd., London), 1959; English Language Book Society edn, 1964.

Wlth India—The Wealth of India : A Dictionary of Indian Raw Materials and Industrial Products (Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), Raw Materials, 8 vols., 1948–1969; Industrial Products, 6 pts, 1948–1965.

पशुधन तथा भैंसें

AAREY Milk Scheme (Pictorial Feature), *Chem. Age India*, Ser. 6, 1952, 175.

ACHARYA, C. N.—Cow-dung gas plants, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(9), 16.

AGARWALA, O. P.—Artificial insemination and its applicability in India, *Allahabad Fmr*, 1950, 24, 88.

AGARWALA, O. P.—Cross-breeding project at the Allahabad Agricultural Institute, *Allahabad Fmr*, 1968, 42, 87–101.

AMBLE, V. N. & JAIN, J. P.—Plan for evolving a new breed of dairy cattle by crossing indigenous and exotic breeds, *J. Genet.*, 1965, 59(2), 1–19.

AMBLE, V. N. & JAIN, J. P.—Comparative performance of different grades of cross-bred cows on military farms in India, *J. Dairy Sci.*, 1967, 59, 1695–1702.

AMBLE, V. N. & RAUT, K. C.—Seasonal variation in milk production, *Dairy Ext.*, 1964–65, 3 & 4(11 & 12, 1 & 2), 27–34.

AMBLE, V. N. *et al.*—Milk production of bovines in India and their feed availability, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, 35, 221–38.

'Amuldan' : A scientific cattlefeed, *Res. & Ind.*, 1964, 9, 327–29.

ANANTAKRISHNAN, C. P.—Milk and its products, *Indian Fmg, N.S.*, 1952–53, 2(9), 20.

Animal feeds, *Indian Fmg, N. S.*, 1967–68, 17(1), 52.

Animal nutrition : Disadvantages of paddy straw as cattle feed, *Annu. Rep., Indian Coun. agric. Res.*, 1958–59, 87–88.

BACHAN SINGH—Protozoan diseases : Bovine Trypanosomiasis in Central Provinces with an account of some recent outbreaks, *Indian J. vet. Sci.*, 1936, 6, 242.

BADRI, RAJASAHEB—Cross-breeding of cows in India : The imperative need (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 55–56.

BALASUBRAMANIAM, M.—Cattle wealth of India, *Indian Fin. Annu. Yearb.*, 1960, 93–98.

BALWANI, T. N.—Anthrax and how to control it, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(7), 17–18.

BALWANT SINGH—The blood groups of Indian cattle and buffaloes, *Indian J. vet. Sci.*, 1942, 12, 12.

BALWANT SINGH—The blood group : Identifications of various Indian breeds of cattle in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1945, 15, 109.

BATRA, T. R. & DESAI, R. N.—Factors affecting milk production in Sahiwal cows, *Indian J. vet. Sci.*, 1964, 34, 158–65.

BAWA, M. S. *et al.*—Fertility level of Hariana bulls, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 40–46.

BHASIN, N. R.—Study on economic characters of Nagauri cattle, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 1022–26.

BHASIN, N. R.—Study on economic characters of Mewati cattle, *Indian vet. J.*, 1969, 46, 234–43.

BHASIN, N. R. & DEASI, R. N.—Influence of cross-breeding on the performance of Indian cattle, *Indian vet. J.*, 1967, 44, 405–12.

BHATIA, H. M.—Much spade-work has been done in cattle improvement, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(3), 40–43, 46.

BHATIA, H. M.—Rinderpest is routed again in the South, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(4), 17–19.

BHATIA, H. M.—Animal husbandry research—I. Animal breeding : Live weight, draught capacity and sterilization methods, *Indian Fmg, N.S.*, 1965–66, 15(12), 43–45.

BHATIA, H. M.—India's battle against rinderpest, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(12), 29–31.

BHATIA, S. S.—Improvement of cattle and dairy industry, *Allahabad Fmr*, 1957, 31, 53–59.

BHATNAGAR, S. S. *et al.*—Horn waste as a raw material for the plastics industry, *J. sci. industr. Res.*, 1943–44, 2, 166–71.

BHATTACHARJEE, J. P.—Cattle in India's farm economy (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 57–62.

BHATTACHARYA, P.—Some aspects of reproduction in Indian farm animals, Presidential Address, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1958, pt II, 132.

BHATTACHARYA, P.—Breeding profitable cows (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 39–46.

BHATTACHARYA, P.—Better feeding for higher production (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Development', pt 2, published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1965, 187–91.

BHATTACHARYA, P. & PRABHU, S. S.—Field application of artificial insemination in cattle, *Indian J. vet. Sci.*, 1952, 22, 163–78.

BHOTE, R. A. & JAYARAMAN, S.—Slaughter-house by-products and their utilization, Paper read at the Symposium held at the Central Leather Research Institute, Madras.

Bovine Stars of India : All India Cattle Show, 1955, *Misc. Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 82, 1957.

Breakthrough in cattle breeding, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(7), 52.

Cattle and buffalo breeding, in Handbook of Animal Husbandry (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1962, 1–37.

Cattle wealth, *New Administrator*, 1964, 7(1–2), 13.

CHANDRA, K.—Chemical composition and nutritive value of maize grit, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 248–51.

CHANDRA, P. T.—The cattle wealth of India, *Brit. agric. Bull.*, 1955, 8(38), 72.

CHATTERJEE, I.—India's cows and plough cattle and their interrelation with work and milk production, *Indian Agriculturist*, 1963, 7(1 & 2), 13–22.

CHAUDHURI, R. P.—Insect Parasites of Livestock and their Control, *Res. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 29, 1962.

CHAUDHURI, R. P.—Efficacy of some newer insecticides in controlling ectoparasites of livestock, *Indian vet. J.*, 1963, 40, 336–45.

CHAUDHURI, R. P.—War on cattle grubs continues, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(4), 17–19.

CHAUDHURI, R. P.—Some insect tormentors of livestock—II. Black-flies, house-flies and mosquitoes, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(3), 17–19.

CHAUDHURI, R. P.—Some insect tormentors of livestock—III. Sand-flies, midges and blow-flies, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(4), 14–15, 45.

CHAUDHURI, R. P.—Insect tormentors of livestock—IV. The mites, *Indian Fmg, N.S.*, 1966–67, 16(5), 43–45, 49.

CHAUDHURI, S. C.—Census figures reveal new trends in cattle population growth, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(1), 12–17.

CHET RAM & KHANNA, N. D.—Studies on blood groups of Indian cattle, *Indian J. vet. Sci.*, 1961, 31, 257–67.

COCKRILL, R. W.—The water buffalo, *Sci. Amer.*, 1967, 217(6), 118–25.

Co-operative dairying makes headway, *Farmer*, 1961, 12(11), 5–7.

COTTON, W. E. *et al.*—Efficacy and safety of abortion vaccines prepared from *Brucella abortus* strains of different degrees of virulence, *J. agric. Res.*, 1933, 46, 291–314.

COTTON, W. E. *et al.*—Efficacy of an avirulent strain of *Brucella abortus* for vaccinating pregnant cattle, *J. agric. Res.*, 1933, 46, 315–26.

Cow-dung gas plants, *Indian Inform.*, 1959, 2, 451.

Cow-dung manure, *Yojana*, 1966, 10(21), 33.

Damage and defects in hides and skins, *Footwear India*, 1963, 6(7), 12–16, 34.

DANDEKAR, V. M.—An economic approach to cattle development in India (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Development', pt 2, published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1965, 192–96.

DAS, R.—Gobar gas and potential for its utilization, *Allahabad Fmr*, 1962, 36(1), 17–21.

DAS GUPTA, N. C.—Green berseem as a substitute for concentrates for economic feeding of dairy cattle, *Indian J. vet. Sci.*, 1943, 13, 196.

DUTTA, S.—Problem of foot and mouth disease in India, *Indian vet. J.*, 1951, **27**, 403–11.

DATTA, S.—National rinderpest eradication plan, *Indian J. vet. Sci.*, 1954, **24**, 1.

DAVE, C. N.—Oilcakes make excellent cattle feed, *Farmer*, 1960, **11**(6–7), 26–27.

DAVIS, R. F.—Modern Dairy Cattle Management (Prentice-Hall of India Pvt. Ltd., New Delhi), 1967.

Definitions of the Characteristics of Cattle and Buffalo Breeds in India, *Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 86, 1960.

Dehorning Cattle, *Inform. Leafl.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 17, 1953.

DESAI, B. P.—Combustible gas from cattle dung, *Poona agric. Coll. Mag.*, 1951, **42**(2), 74.

Development of Dairy Schemes (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Development', pt 2, published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1965, 225–30.

DEY, B. B. *et al.*—Manufacture of glandular products in India, *J. sci. industr. Res.*, 1943–44, **2**, 83–88.

DEY, B. B. *et al.*—Glandular products from slaughter-house wastes, *J. sci. industr. Res.*, 1944–45, **3**, 12–14.

DHANDA, M. R. & GOPALKRISHNA, V. R.—Foot and Mouth Disease in India, *Res. Ser.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 16, 1958, 4, 20.

DHANDA, M. R. & LALL, J. M.—Research activities for improving livestock health, *Gosamvardhana*, 1965, **13**(6–7), 55.

DHANDA, M. R. & MENON, M. S.—Rinderpest and its control : Latest position with regard to vaccines employed, *Indian vet. J.*, 1958, **35**, 214.

DHANDA, M. R. *et al.*—Immunological studies on *Pasteurella septica*—I. Trials on adjuvant vaccine, *Indian J. vet. Sci.*, 1956, **26**, 273.

DHANDA, M. R. *et al.*—Observation on the treatment of foot and mouth disease, *Indian J. vet. Sci.*, 1956, **26**, 13.

DHANDA, M. R. *et al.*—Note on the occurrence of atypical strains of foot and mouth disease virus in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1957, **27**, 79.

DHANDA, M. R. *et al.*—Immunological studies on *Pasteurella septica*—II. Further trials on adjuvant vaccine, *Indian J. vet. Sci.*, 1958, **28**, 139.

DHILLON, H. S.—Rinderpest : Mass-scale production of lapinized-avianized vaccine by intravenous inoculation, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, **35**, 90–93.

DHITAL, B. P.—Fuel from cattle dung, *Poona agric. Coll. Mag.*, 1959, **50**(3), 166–68.

Economic Impact of Dairy Development in Developing Countries, India, CCP 65/Working Paper No. 7 (Committee on Commodity Problems, 38th Session. Food and Agriculture Organization, Rome), 1965.

EDWARDS, J.—Recent advances in artificial insemination, *Indian Fmg*, 1950, **11**, 247.

Eradicating rinderpest—*Farmer*, 1960, **11**(12), 7–10.

First Indian Dairy Year Book (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1960.

Flaying and Curing of Hides and Skins as Rural Industry (Food and Agriculture Organization, Rome), 1955.

GANGULY, S. K.—Need for improvement of cattle wealth of India with regard to their glandular secretory products, *Proceedings of the First All-India Congress of Zoology*, *Jabalpur*, 1959, 34.

GAUR, P. R.—Artificial insemination in livestock with special reference to cattle, *Everyd. Sci.*, 1961, **7**(3–4), 16–22.

GAZDAR, P. J.—Brown Swiss cross with Indian cattle, *Allahabad Fmr*, 1952, **26**, 191.

GAZDAR, P. J.—Influence of Indian cattle in the United States of America, *Indian vet. J.*, 1958, **35**, 565–73.

GHOSH, D. K.—Utilization of bones and their by-products (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 87–90.

GULRAJANI, T. S.—Biological products for controlling animal diseases, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1968–69, **18**(3), 35, 52.

GUNDEWAR, W. G.—Gaulao breed : The pride of Vidarbha, *Farmer*, 1960, **11**(12), 11–12.

GUPTA, L.—Importance of cattle feed industry in India, *Sirpur Ind. J.*, 1962, **1**, 257–62.

HARBANS SINGH—Cattle economy of India : Role of *gaushalas* and *pinjrapoles*, *Plant. J.*, 1951, 43(5), 96–98.

HARBANS SINGH—The buffalo and its distribution (India), *Food & Fmg*, 1952, **4**, 51–52.

HARBANS SINGH—Origin and classification of domestic cattle, *Gosamvardhana*, 1955, **2**(6), 13–15.

HARBANS SINGH—The Sahiwal cattle, *Gosamvardhana*, 1955, **3**(1), 16–20.

HARBANS SINGH—Common Diseases of Farm Animals and Poultry and What to do About Them (Directorate of Extension, Ministry of Food & Agriculture, New Delhi), 1961.

HARBANS SINGH—Key Villages in India (The Key Village Scheme), *Farm Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 65, 1961.

HARBANS SINGH—A Handbook of Animal Husbandry for Extension Workers (Directorate of Extension, Ministry of Food & Agriculture, New Delhi), 1963.

HARBANS SINGH—Breeds of cows in the country (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 47–54.

HARBANS SINGH—Our cattle and milk problem, *Indian Live-Stk*, 1964, **2**(3), 23–27.

HARBANS SINGH—The Problem of cattle development in India, *Yearb.*, *Bharat Krishak Samaj*, 1964, 437–55.

HARBANS SINGH—Better cattle health through better fodder production, *Gosamvardhana*, 1965, **13**(8), 21.

HARBANS SINGH—Gaushalas and Pinjrapoles in India (Central Council of Gosamvardhana, New Delhi), 1965.

HARBANS SINGH—Our cattle problem, *Khadi Gramodyog*, 1965, **12**, 113–15.

HARBANS SINGH—Treat breeding bull with care—*Intensive Agric.*, 1965, **2**(11), 2–4.

HARBANS SINGH *et al.* (Editors)—Cattle Keeping in India (Central Council of Gosamvardhana, New Delhi), 1967.

HATHI, K. G. & OOMMEN, T. T.—Scope for economic utilization of cane final molasses for livestock feed in India, *Indian Sug.*, 1960–61, **10**(1), 103-04.

HATHI, K. G. & OOMMEN, T. T.—Utilization of cane final molasses for livestock feed in India, *Sug. J.*, 1960, **23**, 30–32.

HOEK, F. H. & HAQ, N.—How to Utilize Carcasses, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 47, 1958.

HUSSAIN, S. & SREENIVASAYA, M.—Preparation of fine chemicals and drugs from slaughter-house products and offals, *J. Sci. indústr. Res.*, 1944–45, **3**, 445–46.

ICHHAPONANI, J. S. & SIDHU, G. S.—Relative performance of Zebu cattle and the buffalo on urea and non-urea rations, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, **19**, 33–38.

Increase in milk yield of cattle, *Indian Fmg, N. S.*, 1961–62, **11**(3), 37.

Increased production in animal husbandry field—II. Milk, *Indian vet. J.*, 1966, 43(2), E 15–19.

Increased production in animal husbandry field—III. Milk, *Indian vet. J.*, 1966, 43(3), E 23–26.

Increased production in the animal husbandry field—IV. Meat, eggs, fish, etc., *Indian vet. J.*, 1966, 43(4), E 31–35.

IYA, K. K.—Manufacturing Western Dairy Products in India, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 49, 1958.

IYA, K. K.—Dairy development during the plans, *Indian Fmg, N.S.*, 1966–67, **16**(11), 11–14.

IYA, K. K. & LAXMINARAYANA, H.—Dairy science, *Annu. Rev. biochem. Res. India*, 1951, **22**, 92.

JOGARAO, A.—Utilization of keratinous wastes with special reference to horn and hoof waste, *Chem. Age, India*, Ser. 6, 1952, 121.

JOHRI, P. N. *et al.*—Investigations on subsidiary feeds—I. Banana (*Musa* spp.) leaves as cattle fodder, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 425–29.

JOSHI, N. R. & PHILLIPS, R. W.—Zebu Cattle of India and Pakistan, *FAO agric. Stud.*, No. 19, 1953.

JUNEJA, G. C.—Cow development in Government farms (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 71–76.

JUNEJA, G. C.—Healthy cattle for increased production, *Gosamvardhana*, 1965, 13(6–7), 8.

JUNEJA, G. C.—Meat production, consumption and export (from 'Get-together of Research & Industry, Working Group No. 6', published by Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), 1965, 25–33.

KADUSKAR, M. R.—Effect of feeding mixed grass hay alone on metabolism and rate of growth in cattle, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 607–11.

KAPADIA, P. S.—Wealth from Waste : Potentialities of the carcass utilization industry (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 69–70.

KARTHA, K. P. R.—Breed of Cattle in India, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 32, 1957.

KEHAR, N. D. *et al.*—Investigations on subsidiary feeds : Rice (*Oryza sativa*) husk as cattle feed, *Indian J. vet. Sci.*, 1959, **29**, 35–37.

KEHAR, N. D. *et al.*—Investigations on husbandry feeds : *Mahua* (*Bassia latifolia*) flowers as cattle feed, *Indian J. vet. Sci.*, 1959, **29**, 39–41.

KEHAR, N. D. *et al.*—Studies in Fat Requirement of Cattle and Nutritive Value of Oilcakes (Indian Central Oilseeds Committee, Hyderabad), 1961.

KHANNA, N. D. & SINGH, H. P.—Role of red blood cells in dairy science, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, **18**(10), 45.

KHERA, R. C.—Breeding programme with Jersey yields encouraging results, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(1), 9–12.

KHERA, S. S.—Preventing infectious diseases of livestock, *Indian Fmg, N.S.*, 1959–60, 9(8), 14–16, 25.

KHURODY, D. N.—Development of dairy animals in selected areas (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 29–38.

KINGSBURY, J. M.—Plants poisonous to livestock : A review, *J. Dairy Sci.*, 1958, **41**, 875–907.

KOHLI, M. L. & SURI, K. R.—Breeding season in Hariana cattle, *Indian J. vet. Sci.*, 1960, **30**, 219–23.

KRISHNAMURTHY, S.—How to judge dairy cattle, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, **18**(10), 39.

KULKARNI, H. V.—Nasal granuloma, its incidence, control and prevention, *Farmers*, 1956, 7(12), 33–34.

KUMARAN, J. D. S.—Artificial inseminations at Karnal, *Indian Fmg, N.S.*, 1952–53, 2(10), 10.

LAKKE GOWDA, H. S.—Emergency cattle feeds, *Mysore agric. J.*, 1956, **31**, 241–47.

LALL, H. K.—Tuberculosis in Indian cattle, *Indian Fmg, N.S.*, 1951–52, **1**(10), 28.

LALL, H. K.—Incidence of horn cancer in Meerut Circle, U.P., *Indian vet. J.*, 1953, **30**, 205.

LALL, H. K.—Cattle improvement through selective breeding, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, **18**(6), 31–33.

LALL, H. K. & Razvi, A. H.—Cost of milk production, *Indian vet. J.*, 1963, **40**, 22–23.

LALL, J. M.—Johne's Disease in Cattle, Sheep and Goats, *Res. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 19, 1958.

LALL, J. M.—Haemorrhagic septicaemia : A serious scourge of cattle, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(4), 37–38.

LALL, J. M. & SEN, N. C.—Vole vaccination : Its value in the control of bovine tuberculosis, *Indian J. vet. Sci.*, 1953, **23**, 25.

LAMER, M.—Dairy problems and policies in India, *Mon. Bull. Agric. econ. Statist.*, 1961, **10**(3), 1–9.

LAXMINARAYANA, H.—Dairy science : Diseases of cattle, *Annu. Rev. biochem. Res. India*, 1954, **25**, 119, 121–23.

Livestock diseases supplement, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(9), 41–47.

LODHA, K. R.—Cattle manage, a dreadful skin infection, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(2), 9–10, 40.

MAHADEVAN, P.—Breeding for Milk Production in Tropical Cattle, *Tech. Commun., Commonw. Bur. Anim. Breed. & Genet., Edinburgh*, No. 17, 1966.

MAHADEVAN, V.—Report on Urea as a Protein Substitute (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1955–58.

MAHADEVAN, V.—Feed as a factor of fertility, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(2), 6–8, 15.

MAHAJAN, S. C. & SHARMA, U. D.—Some observations on the preservation of Hariana bull semen at room temperatures, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, **37**, 187–91.

MAJUMDAR, B. N. *et al.*—Studies on tree leaves as cattle fodder—I. Chemical composition as affected by the stage of growth, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, **37**, 217–23.

MAJUMDAR, B. N. *et al.*—Studies on tree leaves as cattle fodder—II. Chemical composition as affected by the locality, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, **37**, 224–31.

MAMORIA, C. B.—Cattle wealth in Rajasthan, *Econ. Rev.*, 1961, **13**(4), 26–27.

MANIAM, E. V. S.—Cattle Wealth of India (Patt & Co., Kanpur), 2nd edn, 1938.

MANJREKAR, S. L. & NISAL, M. B.—Animal by-products in India and their contribution to the economy of the country, *Indian vet. J.*, 1963, **40**, 772–78.

MATHUR, A. C.—Foot and mouth disease in Indian cattle, *Indian Fmg, N.S.*, 1952–53, 2(5), 18.

MATHUR, A. C.—Common ailments of cattle, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(2), 24.

MATHUR, C. S.—Common fodder grasses native to the desert soil of Rajasthan and their feeding value, *Indian vet. J.*, 1960, **37**, 187–95.

MATHUR, M. L. *et al.*—Studies on Para grass (*Barchiaria mutica* Stapf or *Panicum brahinode*) : Effect of replacing twenty-five per cent production ration (concentrates) with Para grass on the milk and fat production in milch cows, *Indian J. Dairy Sci.*, 1963, **16**, 9–14.

MENON, M. S.—Susceptibility tests on hill cattle to freeze dried goat tissue vaccine in India, *Indian vet. J.*, 1962, **39**, 14–29.

Milk yield of buffaloes, *Indian Fmg, N.S.*, 1965–66, **15**(12), 49.

MIRCHANDANI, R. T. & JAYARAMAN, S.—Trend of milk production in India, *Agric. Situat. India*, 1959–60, **14**(7), 753–59.

MISHRA, H. R.—Genetic study on some economic characters of a dual purpose herd of cattle, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 341–48.

MITHUJI, G. F. *et al.*—Haematological studies in Kankrej cattle, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 605–12.

MITRA, S. K.—The Zebu cattle of India, *Sci. Reporter*, 1967, **4**, 507.

MOHAN, S. N.—Mobilizing rural resources through dairy development (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Development', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1965, 209–12.

Molasses as feed, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(1), 24.

MOORE, E. N.—Livestock shows and milk yield competitions, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(10), 62–64.

MUDGAL, V. D.—The utilization of feed nutrients by cattle and buffaloes, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, **19**, 109–12.

MUDGAL, V. D.—How to feed your cow economically, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, **18**(1), 43.

MUDGAL, V. D. & RAY, S. N.—Growth studies in Indian breeds of cattle : Studies on the growth of Red Sindhi cattle, *Indian J. vet. Sci.*, 1966, **38**, 80–89.

MUKHERJEE, D. P. & BHATTACHARYA, P.—Seasonal variations in semen quality and haemoglobin and cell volume contents of the blood in bulls, *Indian J. vet. Sci.*, 1952, **22**, 73.

MULLICK, D. N. & KEHAR, N. D.—Seasonal variations in heat production of cattle and buffaloes, *J. Anim. Sci.*, 1952, **11**, 798.

MURARI, T.—Problems of breeding bulls in the Indian Union, *Allahabad Fmr*, 1951, **25**(3), 98.

MURTY, V. N.—The iron content of livestock feeds, *Indian J. Dairy Sci.*, 1957, **10**, 67–72.

NAIDU, K. N. & DESAI, R. N.—Genetic studies on Holstein-Friesian Sahiwal cattle for their suitability in Indian tropical conditions as dairy animals—3 pts, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, **35**, 197–203, 204–12; 1966, **36**, 61–71.

NAIK, S. N. & SANGHVI, L. D.—Haemoglobin Khillari : A new variant in Indian cattle, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 789–92.

NAIK, S. N. *et al.*—Blood groups, haemoglobin variants and glucose-6-phosphate dehydrogenase study in the imported "Jersey" cattle, *Indian vet. J.*, 1963, **40**, 680–85.

NAIK, S. N. *et al.*—A note on blood groups and haemoglobin variants in Zebu cattle, *Anim. Prodn*, 1965, **7**(2), 275–77.

NAIR, P. G.—Research on animal blood groups in India, *Immunogenetics Letter*, July, 1964, 142–45.

NANDA, V. P.—A new deal for the Indian cow, *Span*, 1968, **9**(12), 20–25.

NANDI, S. N.—Bovine haematuria in Darjeeling district, and its treatment, *Indian vet. J.*, 1955, **32**, 202.

NANGIA, S. S. *et al.*—Haemorrhagic septicaemia oil adjuvant vaccine : Study of potency test in rabbits : Duration of immunity and keeping quality, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 279.

NAYUDAMMA, Y.—Quality of hide from dead and slaughtered animal in India, *Leath. Sci.*, 1967, **14**, 143–45.

NEGI, S. S.—Utilization of fish by-products as cattle feed : Digestibility and nutritive value of beach-dried white-bait fish-meal, *Indian J. Dairy Sci.*, 1963, **16**, 216–20.

NEGI, S. S. & KEHAR, N. D.—Utilization of fish by-products as cattle feed : Digestibility and nutritive value of a mixed fish-meal including a shark liver meal, *Indian vet. J.*, 1968, **45**, 151–57.

New dairy project of Kaira District Co-operative Milk Producers' Union Ltd., Anand, *Chem. Age. India*, 1956, **7**(1), 87–94.

New insecticide for livestock, *Tanner*, 1968, **23**(1), 25.

NILAKANTAN, P. R.—Studies on Blackquarter, M.Sc. Thesis, University of Madras, 1954.

OHRI, S. P. & ANAND PRAKASH—Performance of Murrah buffaloes in arid zone—I. Effect of the length of dry period on the successive lactation yield, *Indian vet. J.*, 1969, **46**, 311–15.

PAGORIA, M. L.—Cattle improvement has the goal of double-purpose breeds, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, **18**(10), 41.

PANDA, B.—Genetics and disease resistance in animals : A review, *Indian vet. J.*, 1961, **38**, 577–91.

PANIKKAR, M. R.—Maximize farm production through mixed farming, *Gosamvardhana*, 1960, **8**(7–8), 17.

PANIKKAR, M. R. *et al.*—Mixed farming, *Gosamvardhana*, 1956, **4**(9), 15–18.

PANSE, V. G. *et al.*—A plan for improvement of nutrition of India's population, *Indian J. agric. Econ.*, 1964, **19**(2), 13–40.

PANSE, V. G *et al.*—Sample Survey for Estimation of Milk Production (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1964.

PANSE, V. G. *et al.*—Cost of milk to the producer and the consumer, *Indian Live-Stk*, 1965, **3**(3), 37–39, 47.

PARNERKER, Y. M.—Bullock and food production (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 63–66.

PARNERKER, Y. M.—Dairy farming in our economy, *Khadi Gramodyog*, 1965, **12**(1), 116–19.

PARNERKER, Y. M.—Resources of goshalas and pinjrapoles and other private institutions for utilization of cattle development work (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Development', pt 2, published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1965, 205-06.

PATEL, B. M. & RAY, S. C.—Studies on cotton-seed feeding to milch animals, *Indian J. Dairy Sci.*, 1948, **1**, 1.

PATEL, B. M. *et al.*—Haematological constituents of blood of Gir cattle, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 415–20.

PATEL, N. M. *et al.*—The influence of different intervals of cutting and stage of growth on the forage value of some well-known cultivated grasses, *Indian J. Dairy Sci.*, 1950, **3**, 16.

PATIL, B. D. *et al.*—Siratro : The perennial legume for arid areas, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(1), 36–39.

PATIL, V. M.—Cattle development, *Farmer*, 1960, **11**(1), 97–104.

PAUL, A. K. *et al.*—Studies on different seminal attributes of Indian dairy breeds, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, **19**, 79-82.

Proposals for feeds and fodder development in the fourth plan (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy', published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1964, 141–54.

Radioisotopes, fertilizers and cow-dung gas-plant, *Proceedings of the Symposium, Indian Coun. agric. Res., New Delhi*, 1961, 438.

RAMASWAMY, S.—Food processing industries in India : Dairy products, *J. Ind. & Tr.*, 1962, **12**(9), 1493-96.

RANGANATHAN, T. S.—East Indian tanning industry and tanning agents : Manufacture of roller skins from E. I. tanned sheep skins, *Bull. cent. Leath. Res. Inst., Madras*, 1955, **2**, 7.

RAO, A. R. & REDDY, K. K.—Breeding season in Ongle cows, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 145–49.

RAO, C. K.—Studies on semen and fertility in the bull, *Indian J. Dairy Sci.*, 1950, **3**, 75–84.

RAO, C. K.—Studies on reproduction in Malvi cattle : Age at first calving, calving interval and post-partum to conception interval, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 805–11.

RAO, K. R.—Some observations on investigation of Johne's disease in Mysore State, *Indian J. vet. Sci.*, 1950, **20**, 17.

RATTAN, P. J. S. *et al.*—Haematological constituents of Sindhi and cross-bred cows, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, **19**, 191–94.

RAY, H. N.—Protozoa affecting the health of domesticated animals in India : Piroplasmidea, Genus : *Babesia* Starcovii (1893), *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1945, pt II, 136, 143.

RAY, H. N. & BHASKARAN, R.—Protozoan diseases, *Indian vet. J.*, 1953, **30**, 236.

RAY, S. N.—Animal Nutrition and Management in India. Agenda item, C 5-3 (United Nations Conference on the Application of Science and Technology for the Benefit of Less Developed Areas).

RAY, S. N.—Balanced feeding for healthier livestock. Trace elements in feeds, *Gosamvardhana*, 1965, **13**(8), 25.

RAY, S. N. & MUDGAL, V. D.—Research on nutrition of cattle and buffalo in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1968, **38**, 117–33.

Recommendations of Central Council of Gosamvardhana Seminar (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Development', pt 2, published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1965, 215–24.

Report of the *Ad hoc* Committee on Slaughter-houses and Meat Inspection Practices (Ministry of Food & Agriculture, Dep. of Agriculture), 1957.

Report of the Committee on Utilization of Food and Agricultural Wastes (Council of Scientific & Industrial Research, New Delhi), 1959.

Report of the Cross-breeding Committee (First report) (Central Council of Gosamvardhana, New Delhi), 1963.

Report of the Special Committee on Preserving High-yielding Cattle (Central Council of Gosamvardhana, New Delhi), 2 pts, 1962.

Report of the Working Group of Exports to review the Cattle Breeding Policy (Ministry of Food & Agriculture, Dep. of Agriculture, New Delhi), 1963.

Research Biennial (National Dairy Research Institute, Karnal), 1961–63.

ROY, A.—Breeding buffaloes in the off-season, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(7), 34–35.

ROY, A.—Livestock productivity at high altitudes, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(3), 36–38, 50.

RUDRAIAH, D.—Livestock wealth of Mysore, *Mysore Inform.*, 1961, **24**(9), 17–18.

SAGREIYA, K. P. & VENKATARAMANY, P.—Use of cattle dung as manure and domestic fuel, *Indian For.*, 1962, **88**, 718–24.

SAHA, U. P.—Dehorning of cattle, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54. **3**(2), 12.

SAHAI, B. & KEHAR, N. D.—Investigations on subsidiary feeds : Kapok (*Ceiba pentandra*) seed as a feed for livestock, *Indian J. vet. Sci.*, 1968, **38**, 670–73.

SAMPATH KUMARAN, J. D.—Effective use of artificial insemination, *Indian Fmg, N.S.*, 1952–53, **2**(12), 12.

SARKAR, S. K. & MITRA, S. K.—Biological characteristics of Indian buffalo hides, *Leath. Sci.*, 1963, **10**, 30.

SAXENA, H. C.—Cotton-seed meal for animal feeds, *Oils & Oilseeds J.*, 1967, **19**(8), 14–15.

SEETHARAMAN, C.—Economic importance of foot and mouth disease, *Indian Fmg*, 1950, **11**, 155; *Poona agric. Coll. Mag.*, 1952–53, **43**(1), 32.

SEETHARAMAN, C. & SINHA, K. C.—Veterinary Biological Products and Their Uses, *Animal Husbandry Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 2, 1963.

SELVARANGAN, R. *et al.*—Manufacture of parchment from hides and skins for use in orthopaedic appliances, musical instruments, puppets, sports goods, etc., *Leath. Sci.*, 1964, **11**, 99–101.

SEN, K. C.—Nutritive Values of Indian Cattle Feeds and the Feeding of Animals, *Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 25, 1964.

SEN, K. C. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Nutrition and Lactation in Dairy Cattle, *Rev. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 31, 1960.

SEN, K. C. & LAXMINARAYANA, H.—Dairying in India, *Yearb., Bharat Krishak Samaj*, 1964, 457–68.

SEN, K. C. *et al.*—The nutritive value of alkali-treated cereal-straws, *Indian J. vet. Sci.*, 1942, **12**, 263.

SEN, S. K.—Insect pests of livestock, *Indian Farm Mech.*, 1956, **7**(4), 26–27.

SEN, S. K. & SRINIVASAN, M. K.—Theileriasis of cattle in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1937, **7**, 15.

SHARMA, R. M.—The Economic Importance of Ox Warble-fly and Suggestion for its Control in the Affected Areas (Ninth Conference on Animal Diseases held at Bhubaneswar in 1960, Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1960.

SHARMA, R. M. & CHHABRA, R. C.—Ox-warbles can now be put down, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(2), 13–15.

SHARMA, U. D. & MAHAJAN, S. C.—Preservation of Hariana bull semen at room temperature. A new modification of a diluent, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, **35**, 322–24.

SHARMA, U. D. & MAHAJAN, S. C.—Some observations on preservations of buffalo semen in the Illini Variable Temperature diluent, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 50–55.

SHARMA, V. V.—Utilization of agricultural by-products for livestock feeding, *Gosamvardhana*, 1967, **15**(1), 26–28.

SHRIVASTAVA, D. D.—Cost of production of milk in rural and urban areas, *Rur. India*, 1955, **18**, 273–78.

SIKKA, L. C.—Dairying for the development of the cow (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Economy',

published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti. New Delhi), 1964, 19–28.

SINGH, B.—The blood group identification of various Indian breeds of cattle in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1945, **15**, 109.

SINGH, D.—*Gosadans* : A step towards weeding and consequently to controlled breeding (from 'Building from Below : Essays on India's Cattle Development', pt 2, published by Sarva Seva Sangh, Krishi Goseva Samiti, New Delhi), 1965, 202–04.

SINGH, D. & MURTHY, V. V. R.—Random sample survey technique for estimation of production and consumption of milk, *Agric. Situat. India,* 1963, 18(1), 9–15.

SINGH, D. N.—Mixed Farming in India, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 40, 1957.

SINGH, G.—Artificial Insemination of Cattle in India, *Tech. Bull., Indian Coun. agric. Res.* (*Anim. Husb.*), No. 1, 1965.

SINGH, G.—Bringing up breeding bulls along scientific lines, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(4), 12–13, 19, 48.

SINGH, G.—Common animal diseases and their control, *Indian Fmg, N.S.*, 1966–67, **16**(12), 23–25.

SINGH, G. & PRABHU, S. S.—Effect of frequency of ejaculation upon the reaction time and semen quality of Hariana bulls, *Indian J. vet. Sci.*, 1963, **33**, 230–32.

SINGH, G. S.—Some aspects of feeds and fodders poisonous to livestock, *Indian Dairyman*, 1962, **14**, 287–91.

SINGH, G. S.—Grass that cuts your concentrates costs, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(2), 37–38.

SINGH, R. A. & DESAI, R. N.—Effect of body-weight and age at calving on milk production in cross-breds (Holstein × Sahiwal) as compared to Sahiwal cattle—II. Effect of age at first calving on milk production and its comparison with that of body-weight, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, **37**, 8–15.

SINGH, R. P.—Study of breeding season in buffaloes maintained at military farms, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 820–24.

SINGH, R. P.—Study on the breeding efficiency of buffaloes maintained at military farms, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 623–28.

SINGH, R. P.—Study of body size and production and relative efficiency of milk production in buffaloes maintained at military farms, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 149–54.

SINGH, S. B. & DESAI, R. N.—Inheritance of some economic characters in Hariana cattle—I. Age at first calving, *Indian J. Dairy Sci.*, 1961, **14**, 81–88.

SINGH, S. B. & DESAI, R. N.—Inheritance of some economic characters in Hariana cattle—II. Peak yield, *Indian J. Dairy Sci.*, 1961, **14**, 89–94.

SINGH, S. G. & ROY, D. J.—Freeze-drying of bovine semen, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, **37**, 1–7.

SINHA, H. S. & PRASAD, R. B.—Seasonal variation in semen characteristics and reaction time of Tharparkar, Hariana and Taylor bulls, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, **19**, 83–88.

SINHA, K. P.—Production of *ghee* in India, *Bihar agric. Coll. Mag.*, 1962–63, **13**(1), 40–43.

SONI, B. N.—Control of the ox warble-fly (*Hypoderma lineatum*) in India, *Indian Fmg, N.S.*, 1951–52, **1**(7), 20.

SONI, B. N.—Hides and skins, *Souvenir, Indian Coun. agric. Res.*, 1929–54, 98–100.

SONI, B. N.—The economic importance of ox warble-fly and suggestion for its planned control in the affected areas (Ninth Conference on Animal Diseases held at Bhubaneswar in 1960, Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1960.

SOPARKAR, M. B. & DHILLON, J. C. S.—Incidence of tuberculosis among cattle in India, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1931, 353.

SRINIVASAN, M. K.—The problem of improvement of cattle in hilly tracts, *Proc. of the Eighth Meeting. Animal Husbandry Wing, Board of Agriculture and Animal Husbandry India, Mysore,* Feb. 1949, 149.

SRIVASTAVA, H. D.—A study of the life-history of *Paramphistomum explanatum* of bovines in India : A study of the life-history of *Gastrothylax crumenifer* of Indian ruminants : The intermediate host of *Fasciola hepatica* in India : A new intermediate host of *Fasciola gigantica* of Indian ruminants, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1944, pt 3, 142.

Statistics of milk production and utilization in India, *Souvenir, Fifth Dairy Industry Conference* (Indian Dairy Science Association), 1968.

SUKHATME, P. V.—Food and nutrition situation in India—II, *Indian J. agric. Econ.*, 1962, **17**(3), 1.

SYED KAREEM & SUNDARARAJ, D. D.—Why *Sesbania* makes nutritious cattle feed, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(1), 20.

THAPAR, G. S.—Systematic survey of helminth parasites of domesticated animals in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1956, **26**, 211.

THOMAS, C. A.—Rhodes grass is nutritious and palatable fodder, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, **18**(3), 29–31.

TIWARI, S. R.—Cattle feed in India, *World Crops*, 1966, **18**(2), 59–61.

TOMAR, N. S. *et al.*—Seasonal variations in reaction time and semen production, and prediction of some semen attributes on initial motility of spermatozoa in Hariana and Murrah bulls, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, **19**, 87–93.

TOMAR, S. P. S. & DESAI, R. N.—Study of growth rate in buffaloes maintained on military farms (Heritability estimates), *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 116–25.

Urea-enriched paddy straw as cattle feed, *Agric. Res.*, 1964, **4**, 190.

Using urea in the feeding of cattle, *Queensland agric. J.*, 1961, **87**, 463–67.

VAIDYA, G. W. & BHATTACHARYA, P.—Artificial Insemination and its Bearing on the Livestock Industry of India, *Leafl., Dep. Anim. Husb., Uttar Pradesh*, No. 6, 1952.

VALUNJKAR, G. R.—A note on the technical aspect of the utilization of dead bodies of animals, *J. Indian Leath. Technol. Ass.*, 1961, **9**, 149–55.

VANCHESWARA IYER, S. & RANGA RAO, D. V.—Studies on haemorrhagic septicaemia adjuvant vaccines—II, *Indian vet. J.*, 1959, **36**, 415.

VANCHESWARA IYER, S. *et al.*—Studies on haemorrhagic septicaemia vaccines. The effect of adjuvants upon the immunizing value of formalin-killed *Pasteurella boviseptica* organisms, *Indian vet. J.*, 1955, **31**, 379.

VARDARAJAN, B. S.—Eradication of rinderpest, *Indian Fmg*, 1949, **10**, 74.

VARMA, A. K.—Studies on the nature, incidence, distribution and control of nasal schistosomiasis and fascioliasis in Bihar, *Indian J. vet. Sci.*, 1954, **24**, 11, 22.

VENKATAKRISHNAN, R.—Studies on the nutritive value of Para grass (*Brachiaria mutica*) as cattle fodder, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 53–62.

VERMA, I. S. & IYA, K. K.—Dairy industry is forging ahead, *Indian Fmg, N.S.*, 1963–64, 13(10), 14–15, 17.

VIDYA SAGAR—Economics of cow and buffalo in India, *Econ. Rev.*, 1959, **11**(9), 12–16.

Virus diseases, *Annu. Rep., Indian vet. Res. Inst., Izatnagar*, 1959–60, 12.

WARE, F.—Brief Survey of Some of the Important Breeds of Cattle in India, *Misc. Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 46, 1940.

WARNER, J. M.—Methods of manufacturing improved milk products, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(3), 46–47.

WHYTE, R. O.—Intensification of Agriculture based on Dairy Development (Food and Agriculture Organization, Rome), 1965.

WHYTE, R. O.—Milk Production in Developing Countries (Faber & Faber Ltd., London), 1967.

WHYTE, R. O. & MATHUR, M. L.—Analysis of the feed and fodder resources for the livestock population of India, *Indian Dairyman*, 1965, 17, 323–33.

WHYTE, R. O. & MATHUR, M. L.—Animal breeding for milk production, *Indian Dairyman*, 1966, 18, 211–21.

WOODHAM, A. A.—Significance of protein quality in livestock-feeding, *Outlook Agric.*, 1964, 4, 190–96.

WRIGHT, N. C.—Report on the Development of Cattle and Dairy Industries in India (Manager of Publications, Delhi), 1957.

भेड़ें

AHUJA, L. D.—Growth of ram lambs of Marwari breed on 'fair' rangelands in semi-arid zone, *Ann. Arid Zone*, 1966, 5, 229–37.

ALEXANDER, P. & HUDSON, R. F.—Wool : Its Chemistry and Physics (Chapman & Hall Ltd., London), 1954.

AMBLE, V. N. *et al.*—Statistical studies on breeding data of Deccani and cross-bred sheep, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, 37, 305–26.

Animal Breeding, in Agriculture and Animal Husbandry Research, 1929–1946 (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), pt II, 163.

Animal Nutrition—Investigations on the nutritional requirements of sheep, *Annu. Rep., Indian vet. Res. Inst., Izatnagar*, 1949–50, 41.

APTE, H. G. & PATIL, R. B.—Studies in quality of cross-bred wools : Regional variation in fleeces, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 47–53.

BENNETT, H.—Industrial Waxes (Chemical Publishing Co., New York), 2 vols., 1963.

BERGEN, W. V.—Wool Handbook (Interscience Publishers, New York), Vol. I, 1963.

BHAN, M. M.—Carbonization of wool, *Wool & Wool. India*, 1967, 3(8), 35–39.

BHASIN, N. R. & DESAI, R. N.—Studies on factors affecting the characters concerning quality of wool fibre in a *Chokla* flock of sheep, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 782–88.

BHASIN, N. R. & DESAI, R. N.—Studies on inheritance of characters concerning quality of wool-fibre in *Chokla* strain of sheep, *Indian vet. J.*, 1966, 43, 133–37.

BHATIA, B. B.—Note on liver affections with three species of flukes parasitizing Indian sheep, *Indian J. Helminth.*, 1960, 12, 74–79.

BHATIA, B. B.—On some of the Bursate nematodes in abomasal infections of Indian sheep, *Indian J. Helminth.*, 1960, 12, 80–92.

BHATIA, B. B.—*Onchocerca armillata* Railliet and Henry 1909 : A study of the infection in Indian sheep with remarks on its bovine hosts, *Indian vet. J.*, 1960, 37, 394–97.

BHATIA, B. B.—Preliminary survey of the nematode parasites of sheep and some of the types of helminthic lesions encountered, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1960, pt III, 441–42.

BHATIA, B. B.—On the common helminthic affections of the small intestine in Indian sheep, *Proc. nat. Acad. Sci. India*, 1961, 31B, 321–31.

BHATNAGAR, D. S. & CHAUDHARY, N. C.—Sheep number and wool production, *Allahabad Fmr*, 1961, 35, 31–37.

BHATTACHARYA, P.—Developing our sheep industry, *Indian Fmg, N.S.*, 1965–66, 15(7), 14–15.

Brochure on the Standard Methods of Wool Analysis (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 117, 1958.

BRYUZGINA, G. *et al.*—Curing of sheepskins and mechanization of the process, *Chem. Abstr.*, 1964, 60, 1946.

BUCH, B. B. & JAYARAMAN, S.—Culling : A means for improvement of sheep, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(10), 24.

BUCH, B. B. & JAYARAMAN, S.—The economic importance of sheep in India, *Indian vet. J.*, 1954, 30, 317–20.

BUCH, B. B. & JAYARAMAN, S.—Improvement of Indian sheep, *Indian vet. J.*, 1954, 30, 320–25.

Catgut contribution to the study of sheep, *Indian J. Pharm.*, 1949, 11, 61.

CHATTERJEE, A. K. *et al.*—Bandur : An ideal meat-type sheep, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(4), 54–58.

CHAUDHARY, B. N.—Estimation of sample size in carpet wool analysis, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 349–54.

CHAUDHARY, B. N.—Performance and wool quality of the sheep of Bihar, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 191–200.

Chemical test methods in wool processing, *Wool Sci. Rev.*, No. 32, 1967, 1–15.

DABADGHAO, P. M. *et al.*—Sevan grass for sheep farming, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(5), 5–7.

DAS, B. M. & MITRA, S. K.—Histology of red hairy sheepskin, *J. sci. industr. Res.*, 1954, 13B, 864–66.

DAS, R. B.—Growth and wool production in lambs, *Agric. Res.*, 1963, 3, 140–41.

Diseases of sheep and goats in Uttar Pradesh and Andhra Pradesh, *Annu. Rep., Indian Coun. agric. Res.*, 1958–59, 72–73.

Enterotoxaemia can be controlled, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(10), 36–37.

Eye troubles in sheep, *Indian Fmg, N.S.*, 1957–58, 7(12), 19.

Facts about feeding and breeding of sheep and goats, *Indian Fmg*, 1945, 6, 417.

FENGHELMAN, M.—The mechanical properties of set wool fibres and the structure of keratin, *J. Text. Inst.*, 1960, 51, T589.

Few observations on the association of yellow staining in the fleece with some characteristics of the sheep in Rajasthan breeds, *Leath. Sci.*, 1968, 15, 289.

GOSH, P. K. & PUROHIT, K. G.—Haematological investigations in Rajasthani breeds of sheep—I. Blood haemoglobin levels, *Indian vet. J.*, 1964, 41, 459–62.

GUHA, S. *et al.*—Artificial insemination in sheep and goats at Izatnagar, *Indian J. vet. Sci.*, 1951, 21, 171–76.

GULATI, A. N.—Literature on Indian wool : A review, *Indian Fmg*, 1949, 10, 90–100.

GUPTA, P. P. & RAJYA, B. S.—Possible occurrence of viral pneumonia in indigenous sheep and goats : A morphological study of pneumonic lung lesions, *Indian vet. J.*, 1969, 46, 205–08.

GUPTA, P. R.—India's quest for golden fleece, *Span*, 1968, 9(8), 2–7.

HAKSAR, R. C.—Method of improving India's wool production, *Indian Fmg*, 1947, 8, 14–18.

HONMODE, J.—Artificial insemination of sheep, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(1), 48.

India and Pakistan Wool, Hosiery and Fabrics [Commerce (1935) Ltd., Bombay], 1967.

JALIHAL, M. R.—Russian sheep in Kashmir, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(3), 22–23.

JAYARAMAN, S. & BUCH, B. B.—Building up a better ewe flock, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(11), 20.

JAYARAMAN, S. & BUCH, B. B.—Care and management of lambs, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(8), 26.

JAYARAMAN, S. & BUCH, B. B.—Selection and management of rams, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(6), 20.

JAYARAMAN, S. & MAHAL, G. S.—Relationship of clean wool yield with body weight and body size in Bikaner ewes, *Indian J. vet. Sci.*, 1954, **24**, 143–50.

JOSHI, B. P.—Himalayan pastures: A blessing to sheep breeders, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(1), 8.

KALRA, D. B.—Hissardale sheep fleece in comparison to other fine wool breeds, *Rajasthan Agric.*, 1966, 6, 38–44.

KATIYAR, R. D.—Parasitic diseases of sheep and goats and their control, *Agric. Anim. Husb., Uttar Pradesh*, 1956, 6(7), 11–13.

KATIYAR, R. D.—Listeriosis amongst sheep and goats in Uttar Pradesh, *Indian vet. J.*, 1960, **37**, 620–23.

KATIYAR, R. D.—Lumbar paralysis amongst sheep and goats of Uttar Pradesh, *Indian vet. J.*, 1960, **37**, 167–74.

KATIYAR, R. D.—Occurrence of *Metastrongylus apri* in Indian sheep and goats, *Indian J. vet. Sci.*, 1960, **30**, 213–14.

KATIYAR, R. D. & TEWARI, H. C.—Acute fascioliasis amongst sheep in Kumaon Hills, *Indian vet. J.*, 1962, **39**, 382–86.

KAURA, R. L.—Some common breeds of Indian sheep—I. *Indian Fmg*, 1941, **2**, 175.

KAURA, R. L.—Some common breeds of Indian sheep—II. *Indian Fmg*, 1942, **3**, 122.

KAURA, R. L.—Some common breeds of sheep in India, *Indian Fmg*, 1943, **4**, 549–52.

KAUSHIK, S. N. & SINGH, B. P.—Comparison of pure-bred and cross-bred ewes for wool production, *Indian vet. J.*, 1968, **45**, 131–34.

KAUSHIK, S. N. & SINGH, B. P.—Factors affecting birth weight of cross-bred lambs, *Indian vet. J.*, 1968, **45**, 752–59.

Keeping Sheep Healthy : Things to Avoid, *Farm News Release, Indian Coun. agric. Res.*, No. 257, 1956.

KHOT, S. S.—Sheep, *Souvenir, Indian Coun. agric. Res.*, 1929–54, 101–05.

KHOT, S. S.—Sheep and farming, *Indian Fmg, N.S.*, 1956–57, 6(10), 3.

KHOT, S. S.—How to Select and Breed Sheep, *Inform. Pamphl., Indian Coun. agric. Res.*, No. 87, 1957.

KHOT, S. S.—Sheep and Wool in India, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 16, 1957.

KHOT, S. S.—Feeding Sheep, *Inform. Pamphl., Indian Coun. agric. Res.*, No. 91, 1958.

KHOT, S. S.—Keep Your Sheep Healthy, *Inform. Leafl., Indian Coun. agric. Res.*, No. 94, 1958.

KHOT, S. S.—Sheep rearing in the Himalayas, *Indian Fmg., N.S.*, 1963–64, 13(1), 47–48.

KHOT, S. S.—Towards better sheep and wool, *Indian Fmg, N.S.*, 1963–64, 13(7), 18–19.

KHOT, S. S.—Two sheep breeds of promise, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(2), 3.

KHOT, S. S. & RAMACHANDRAN, K. N.—Fine-wooled sheep in Nilgiris, *Indian Fmg*, 1948, **9**, 63.

KRISHNA RAO, M. V. *et al.*—Wool follicle population of some Indian breeds of sheep, *Aust. J. agric. Res.*, 1960, **11**, 97–104.

KRISHNAN, R.—Pathogenesis of sheep pox, *Indian vet. J.*, 1968, **45**, 297–302.

KULKARNI, V. A. *et al.*—Carcass quality of Mandia, Bikaneri-Magra and Magra type sheep, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 643–54.

KUMAR, L. S. S. *et al.*—Sheep, in Agriculture in India : Vol. III. Animals (Asia Publishing House, New Delhi), 1963.

KUPPUSWAMY, P. B.—Pitto and Gillar in sheep and goats, *Indian Fmg*, 1948, **9**, 73.

LAL, J. M.—Johne's Disease in Cattle, Sheep and Goats, *Res. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 19, 1958.

LALL, H. K.—Some common breeds of Indian sheep, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 605.

LALL, H. K.—Sheep in the hilly regions of Uttar Pradesh, *Indian Fmg, N.S.*, 1952–53, 2(10), 28.

LALL, H. K.—Breeds of Sheep in the Indian Union, *Misc. Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 75, 1953.

LITTLEWOOD, R. W.—Sheep breeding, in 'Livestock of Southern India' (The Superintendent, Govt. Press, Madras), 1936, 202–16.

Liver-fluke menace can now be put down in irrigated areas, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(4), 48–49.

MAHAL, G. S.—Calendar for a sheep farm, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(1), 37–39.

MAHAL, G. S. & KUMAR, S.—A survey of sheep and wool production in the plains of Punjab State, *Indian J. agric. Econ.*, 1966, 21(3), 65–71.

MATHARU, B. S.—Dos and don'ts in digging sheep, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(3), 44–45.

MINETT, F. C.—Mortality in sheep and goats in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1950, **20**, 69.

MOHAN, S. N.—Sheep and wool improvement, *Agric. Prodn Manual*, 1962, 150–54.

MOORE, E. & VARADARAJAN, B. S.—First Bandur sheep show near Mandya a big success, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(1), 37–38.

MUKHERJEE, R. P.—Studies on the life-history of *Ceylonocotyle scolicoelium* (Fischoeder, 1904), Nasmark, 1937, an amphistome parasite of sheep and goats, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1960, pt III, 438–39.

MUKHERJEE, R. P. & SHARMA, V. P.—Massive infection of a sheep with amphistomes and the histopathology of the parasitized remain, *Indian vet. J.*, 1962, **39**, 668–70.

MURTHY, V. S. & RAO, C. V.—Some suggestions for development of sheep industry in low rain fall areas, *Wool & Wool. India*, 1969, 6(6), 43–46.

NAGARCENKAR, R.—Sheep industry in India, *Poona agric. Coll. Mag.*, 1960, 51(2), 5–9.

NAGARCENKAR, R.—Sheep are selective in their climatic requirements, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(2), 41–42.

NAGARCENKAR, R. & BHATTACHARYA, P.—Factors responsible for 'canary colouration' of wool, *Indian J. vet. Sci.*, 1964, **34**, 46–60.

NAGARCENKAR, R. & BHATTACHARYA, P.—Relationship of certain pelt characteristics with 'canary colouration' of wool, *Indian J. vet. Sci.*, 1964, **34**, 242–52.

NANDA, P. N.—Improvement of quantity and quality of wool in India, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 4–7.

NANDA, P. N. & SINGH, C.—Improvement of wool [illegible] by selective breeding in Bikaneri and Lohi sheep, *Indian J. vet. Sci.*, 1948, **18**, 195–201.

NARAYAN, N. L.—Rajasthan Sheep Statistics and Sheep Breeds (Office of the Deputy Director, Sheep & Wool, Animal Husbandry Dep., Govt. of Rajasthan, Jaipur).

NARAYAN, N. L.—Baroda wool grading and marketing experiment, *Indian Fmg*, 1947, 8, 26.

NARAYAN, N. L.—Stud farms : Key to better sheep flocks, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(2), 45–46.

NARAYAN, S.—Studies in the wool quality of Pattanwadi sheep, *Indian J. vet. Sci.*, 1951, 21, 43–63.

NARAYAN, S.—Popularizing Bikaneri breed, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(2), 22.

NARAYAN, S.—Yellowing of wool in sheep : How to reduce it, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(7), 40–42.

NARAYAN, S.—Some observations on the yellowing of wool and its relation to fleece characteristics in the Russian merino sheep stationed at Jaipur, First All-India Semiar on Indian Wool, *Wool & Wool. India*, Spec. No., 1968, xlii–xliv.

NARAYAN, S. & RATHORE, A.—Skin follicle and wool characteristics of seven breeds of Rajasthan sheep, *Univ. Udaipur Res. Stud.*, 1963, 1, 89–90.

NARAYAN, S. & SHARMA, R. S.—Few observations on the association of yellow staining in the fleece with some characteristics of the sheep in Rajasthan breeds, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 760–73.

NEGI, G. C. & NAYAR, K. C.—Spanish merinos thrive well in H.P., *Indian Live-Stk*, 1964, 2(4), 17–19.

PANDURANGARAO, C. C.—Mastitis : Its causes and cure, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(4), 43.

PARMAR, C. S.—The Joria sheep of north Gujarat, *Allahabad Fmr*, 1951, 25, 150.

PATIL, R. B.—Nitrogen and sulphur contents of wool, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, 37, 172–75.

PATRO, P. S.—Domestication of sheep for improvement of woollen and worsted fibres, *Khadi Gramodyog*, 1964, 10, 695–99.

PATTISON, I. H.—Scrapie, *Sci. J.*, 1967, 3(3), 75–79.

PRASAD, B. M.—Helminthic infestations in sheep and goats, *Indian Fmg*, 1949, 10, 155.

PUROHIT, K.—Poisonous plants of Kumaon : Sheep pastures, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(2), 28–29.

RAMAMURTHY, N. S. & TALAPATRA, S. K.—Technique of sampling pasture grasses with sheep, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 349–52.

RAMANI, K.—Sheep pox vaccine, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(5), 3, 11.

RANDHAWA, M. S.—Sheep, in 'Agriculture and Animal Husbandry in India' (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1958, 303–09.

RAO, C. K.—Studies on reproduction in Indian breeds of sheep : Bannur and Nilgiri breeds, *Indian vet. J.*, 1966, 43, 130–33.

RAO, G. R. *et al.*—Observations on some aspects of blood of sheep, *Indian vet. J.*, 1962, 39, 429–33.

RAO, M. V. K.—Towards sufficiency in wool production, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(1), 10–12, 37.

RATHORE, G. S. *et al.*—Haemonchosis in sheep in Rajasthan and its control, *Indian J. vet. Sci.*, 1955, 25, 1.

RAWAL, B. D. & KATIYAR, R. D.—Studies on gastro-enteritis in Uttar Pradesh, *Indian vet. J.*, 1960, 37, 495–99.

RAY, H. N.—Protozoa affecting the sheep and goats in India, *Indian Fmg*, 1949, 10, 487.

RAY, H. N.—Rickettsiosis in Indian sheep, *Sci. & Cult.*, 1949–50, 15, 284.

Researches in Nutrition : Composition of Indian Foodstuffs, *Spec. Rep. Ser., Indian Coun. med. Res.*, No. 22, 1961, 17.

ROY, A. & SAHNI, K. L.—Artificial insemination in sheep and goat —II. Problems posed, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(3), 43–45.

SAHNI, K. L. & ROY, A.—A note on summer sterility in Romney Marsh rams under tropical conditions, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, 37, 335–38.

SAHNI, K. L. & ROY, A.—A study on the sexual activity of Bikaneri sheep (*Ovis aries* L.) and conception rate through artificial insemination, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, 37, 327–34.

SAHNI, K. L. & ROY, A.—Artificial insemination in sheep and goat—III. *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(4), 52–53.

SAPRE, M. V.—Observations on contagious ecthyma of sheep and goats, *Indian vet. J.*, 1964, 41, 682–85.

SATYANARAYANA, K. V.—Preliminary note on the prevalence and pathogenicity of haemolytic *Escherichia coli* in sheep and goats in Andhra Pradesh, *Indian vet. J.*, 1962, 39, 197–200.

SETH, O. N.—Influence of haemoglobin variant on the fertility in Bikaneri (Magra) sheep, *Curr. Sci.*, 1968, 37, 231–32.

SETH, O. N. & ROY, A.—Comparative study on the milk-secreting capacity in Indian breeds of ewes by the use of 'Lamb-suckling' and 'Oxytocin' techniques, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, 37, 347–50.

SHAHI, H. B.—Sheep breeding research in India, *Indian Fmg*, 1941, 2, 61–65.

Shearing of Sheep : Number of Clips, *Farm News Release, Indian Coun. agric. Res.*, No. 204, 1956.

Shearing of Sheep : Woollen Slates, *Farm News Release, Indian Coun. agric. Res.*, No. 248, 1956.

Sheep breeding : Improvements of sheep and wool, *Annu. Rep., Indian Coun. agric. Res.*, 1958–59, 59–63.

Sheep Breeding in 'Handbook of Animal Husbandry' (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1962, 38–67, 255–459.

Sheep development programme, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(1), 2.

Sheep farming in Rajasthan, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(9), 10–11.

Sheep and goat breeding, *Annu. Rep., Indian Coun. agric. Res.*, 1962–63, 26–28, 43.

Sheep population in India, *Agric. Situat. India*, 1955–56, 10(4), 39.

SINGH, B. P. *et al.*—Evaluation of breeds of sheep on the basis of cross-bred lamb performance, *J. Anim. Sci.*, 1967, 26, 261–66.

SINGH, G.—Some 'Musts' for the sheep breeder, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(4), 41.

SINGH, G.—Evolution of the Kashmir Merino, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(3), 8, 10.

SINGH, G.—Some points to remember when breeding sheep, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(2), 21–22.

SINGH, G. & SHARMA, R. M.—Improvement of sheep and wool at the Government Livestock Farm, Hissar, *Indian vet. J.*, 1952, 28, 357.

SINGH, G. S. & JOSHI, D. C.—A drought resistant, evergreen indigenous shrub as a feed for sheep, *Sci. & Cult.*, 1956–57, 22, 111–12.

SINGH, G. S. & JOSHI, D. C.—*Goja* (*Amaranthus spinosus* Linn.) : A drought resistant ever-green useful feed for sheep, *Indian vet. J.*, 1957, 34, 190–96.

SINGH, O. N.—Central Sheep and Wool Research Institute, Malpura, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(3), 20–23, 34.

SINGH, O. N.—Cross-breeding of sheep for wool production in India, *Wool & Wool. India*, 1967, 3(10), 37–41.

SINGHANIA, G.—Prospects of developing Indian Merino, *Wool & Wool. India*, 1968, 5(3), 36–38.

SMITH, L. W. & HUSSAIN, M.—Bikaneri sheep, *Indian Fmg*, 1940, **1**, 549.

SRIVASTAVA, H. D. *et al.*—Pathogenicity of experimental infection of *Schistosoma indicum* (1906) to young sheep. *Indian J. vet. Sci.*, 1964, **34**, 35–40.

Success in Sheep Breeding : Proper Feeding of Rams, *Farm News Release*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 153, 1955.

SULE, A. D.—Non-felting of wool : A critical comprehensive review tracing the history, growth and up-to-date development, *Wool & Wool. India*, 1967, 3(9), 24–61.

SULE, A. D.—Wool wax (Recovery, purification, properties, by-products and uses) : Scope of its recovery and utilization in India, *Wool & Wool. India*, 1967, 3(6), 21–37.

SULE, A. D. *et al.*—Spectrophotomettic determination of yellowness of canary-coloured wools, *Text. Res. J.*, 1965, **35**, 952.

TANEJA, G. C.—Watering of sheep in the desert, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(3), 46–47.

THAKUR, A. K. B. *et al.*—Study on body weight and conformation of Gaddi and Romney Marsh sheep, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 589–96.

TYAGI, J. C.—Performance of Polwarth, Bikaneri and their crosses, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 200–04.

TYAGI, J. C.—The performance of Polwarth, Rampur-Bushair and their cross-breeds, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 425–27.

TYAGI, J. C. & MAHAR, U. S.—The performance of Polwarth sheep in Uttar Pradesh hills, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 965–72.

TYAGI, J. C. & MAHAR, U. S.—Consequences of acclimatizing Polwarth sheep in Uttar Pradesh hills—Growth rates of lambs and body weights of ewes, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 344–49.

TYAGI, J. C. & VIRK, N. S.—Absorptiometry, a rapid method for determining sperm concentration in ram semen, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 575–79.

Upgrading Indian sheep, *World Crops*, 1968, 20(1), 32–33.

UPPAL, P. K. *et al.*—Observations on the use of live and inactivated virus vaccines against sheep pox, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 815–27.

VAIDYA, B. K. & BHATT, P. N.—Indian wool, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 479.

VAKIL, D. V.—Fibre measurements for Chokla wool—I. Fibre length and tensile strength, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 857–61.

WARTH, A. H.—The Chemistry and Technology of Waxes (Reinhold Publishing Corp., New York), 2nd edn, 1956.

Washing Sheep Before Shearing : Better Prices for Wool, *Farm News Release*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 136, 1955.

Washing Sheep : Cleaner Fleece, *Farm News Release*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 200, 1956.

WOODROFFE, D.—Tanning of Indian sheepskins and goatskins, *Tanner*, 1952–53, 7(6), 15–18.

Wool from Polwarth sheep, *Indian Fmg, N.S.*, 1954–55, 4(8), 21.

Wool grading scheme, *Farmer*, 1957, 8(2), 34–36.

Wool : Home production to meet home requirements, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 1–2.

Wool in India, *Suppl.*, *Wool News Bull.*, No. 72, 1958.

Wounds in Sheep : Treatment Recommended, *Farm News Release*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 260, 1956.

बकरियाँ

AGARWALA, O. P.—Goat : The poor man's cow, *Allahabad Fmr*, 1954, **28**, 208.

AMBLE, V. N. *et al.*—Statistical Studies on Breeding Data of Beetal Goats, *Res. Ser.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 38, 1964.

Animal Nutrition—II. The influence of different levels of carotene intake on the metabolism of calcium, phosphorous and protein of goats, *Annu. Rep.*, *Indian vet. Res. Inst.*, *Izatnagar*, 1949–50, 42.

BARNABAS, T. & MAWAL, R. B.—Amino acid content of goat's milk at different stages of lactation, *Indian J. Dairy Sci.*, 1959, **12**, 63–67.

BAWA, M. S.—Utility of date fruit as a feed for goat, *Indian Fmg*, 1950, **11**, 328.

BHALLA, N. P. *et al.*—Haematological values of healthy hill-goats, *Indian J. vet. Sci.*, 1966, **36**, 33–39.

BHALLA, R. C. & SHARMA, G. L.—Pathogenesis of foot and mouth disease in endocrine glands of experimentally infected goats, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, **37**, 287–97.

BHATIA, S. S.—Goat : The Poor Man's Cow (Department of Animal Husbandry and Fisheries, Govt. of Uttar Pradesh, Lucknow), 1954.

BHATIA, S. S.—Feeding Goats for Milk Production, *Farm Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 52, 1959.

Breeding and cross-breeding of Angora goats, *Indian Fmg*, 1940, **1**, 384.

Breeding goats and sheep for milk production, *Curr. Sci.*, 1944, **13**, 221.

Cheap Houses for Goats, *Inform. Pamphl.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 51, 1957.

DAS, D. N. *et al.*—Lumbar paralysis in goats—A case record, *Indian vet. J.*, 1964, **41**, 227–33.

DAS, J. *et al.*—Incidence of *Brucella* reactors among goats and sheep in Orissa, *Indian vet. J.*, 1961, **38**, 547–50.

DE VALOIS, J. J.—Milk Goats in India, *Rural Development Ser.*, No. 1, 1944.

DEB, J. C.—Fuller and better utilization of Indian goatskin, *J. Indian Leath. Technol. Ass.*, 1963, **11**, 289–95.

Economics and management of Angora goats, *Indian Fmg*, 1940, **1**, 490.

GAUTAM, O. P.—Haematological norms in goats, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, **35**, 173–77.

Goat breeding, *Annu. Rep.*, *Indian Coun. agric. Res.*, 1958–59, 63–64.

Goat Breeding, in 'Handbook of Animal Husbandry' (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1962, 68–93, 255–459.

Goat : The poor man's cow, *Indian Fmg, N.S.*, 1960–61, 10(11), 20–21, 40.

HADDON, J. R. & IDNANI, J. A.—Goat dermititis : A new virus disease of goats in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1946, **16**, 181.

HASSAN, Z.—Investigation into the intestinal helminth load in local goats, *Indian vet. J.*, 1964, **41**, 543–46.

JAMASPJINA, B. B.—The Surti goat, *Indian Fmg*, 1944, **5**, 406–07.

KAURA, R. L.—Some common breeds of goats in India—I. *Indian Fmg*, 1943, **4**, 549.

KHOT, S. S. & JALIHAL, M. R.—Pashmina goat of Ladakh, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(4), 15–16.

KUMAR, L. S. S. *et al.*—Goats, in 'Agriculture in India' Vol. III—Animals (Asia Publishing House, New Delhi), 1963, 39–45.

LALL, H. K.—Some common breeds of goats in India—III, *Indian Fmg*, 1947, 8, 322–27.

LALL, H. K.—Goat Keeping for Profit, *Farm Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 4, 1954.

LALL, H. K.—Goats need good feeding, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1954–55, 4(2), 25.

LALL, H. K.—This way to manage your goat flocks, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1954–55, 4(4), 22.

LALL, H. K.—When goats get sick, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1954–55, 4(7), 25.

LALL, H. K.—Some tips on goat feeding, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(2), 13–14.

LALL, H. K.—Goat breeding, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(1), 28–31, 43.

LALL, H. K. & SINGH, J.—Some observations on mortality in goats, *Indian J. vet. Sci.*, 1949, 19, 261.

LITTLEWOOD, R. W.—Milch Goats, in 'Livestock of Southern India' (Superintendent, Govt. Press, Madras), 1936, 216–20.

MAHAJAN, M. R. & KHAN, A. A.—Jamnapari goats, *Indian Fmg*, 1948, 9, 148.

MATHUR, T. N.—Brucellosis among goats and sheep in Haryana : A practical approach to the investigation of brucellosis, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 91–102.

MOULICK, S. K. *et al.*—Factors affecting multiple birth in black Bengal goats, *Indian J. vet. Sci.*, 1966, 36, 154–63.

PANT, K. P.—Studies on birth weight, mohair yield, and mohair fibre length of Angora and Angora×Gaddi goats, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 929–39.

PANT, K. P.—Medullated mohair fibres of Angora, Gaddi and their cross-bred goats, *Indian vet. J.*, 1969, 46, 125–32.

PANT, K. P. & KAPRI, B. D.—Studies on the hair follicle ratios of Angora, Gaddi and their cross-bred goats, *Indian vet. J.*, 1966, 43, 1085–88.

PATEL, J. K.—Artificial insemination in goats, *Indian vet. J.*, 1967, 44, 509–11.

PAUL, D. L.—Goat breeding in Assam, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1953–54, 3(8), 12.

PILLAI, C. P.—Goat paralysis, *Trop. Agriculturist*, 1953, 109, 207.

RADHEY MOHAN—Cutaneous eruptions of rinderpest in goats, *Indian J. vet. Sci.*, 1953, 23, 39.

RAI, G. S. & ROY, A.—Studies in milk yield of Jamnapari goats in the home tract, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 596–601.

RAJA, S.—Our hides and skins—Standard selections and measurements of goatskins dealt on measurement basis, *Tanner*, 1951, 6(6), 21.

RANDHAWA, M. S.—Goat in 'Agriculture and Animal Husbandry in India' (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1958, 311–13.

RAO, H. A. G.—Practical goat (milk) keeping, *Mysore agric. J.*, 1952, 28(1 & 2), 14.

READ, W. S.—Breeding and cross-breeding of Angora goats, *Indian Fmg*, 1940, 1, 384.

READ, W. S.—Mohair from Angora goat, *Indian Fmg*, 1940, 1, 53–54.

READ, W. S.—No difference in market value, *Indian Fmg*, 1940, 1, 385.

READ, W. S.—The Angora goat, and the mohair industry, *Indian Fmg*, 1940, 1, 162–65, 328–31.

REKIB, A. & SANDHU, D. P.—Effect of feeding higher doses of urea on the rumen metabolism in goat, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 735–39.

ROY, A. & SAHNI, K. L.—Artificial insemination in sheep and goat—II. Problems posed, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1968–69, 18(3), 43.

SAHNI, K. L. & ROY, A.—Study on the sexual activity of the Barbari goat (*Capra hircus* L.) and conception rate through artificial insemination, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, 37, 269–76.

SEN, K. C.—Immunobiological relationship of goat-pox and sheep-pox viruses, *Indian J. med. Res.*, 1968, 56, 1153–56.

SEN, K. C.—Studies on goat-pox virus, Serological properties, *Indian J. med. Res.*, 1968, 56, 1157–63.

SEN, S. K.—Some common breeds of goats in India—II. *Indian Fmg*, 1944, 5, 356.

SHANMUGASUNDARAM, K. S.—Birth rate among goats, *Indian vet. J.*, 1957, 34, 107–17.

SINHA, B. N.—Bihar's cross-bred goats are heavier and high milkers, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(4), 40.

SIVADAS, C. G. *et al.*—Studies on pathology of coccidiosis in goats, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 474–79.

SRIVASTAVA, V. K. *et al.*—Carcass quality of Barbari and Jamnapari type goats, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 219–25.

TEWARI, A. N. & IYER, P. K. R.—Localized lesions in the omentum of goats due to *Taenia* species, *Indian vet. J.*, 1960, 37, 627–30.

TIKU, J. L.—Pashmina industry needs to be nursed, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1967–68, 17(5), 56.

सुअर

ABDULALI, H.—Wild pigs in the Andamans, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1962, 59, 281–83.

AGARWALA, O. P.—Pig raising and pork processing, *Allahabad Fmr*, 1954, 28(3), 75.

AGARWALA, O. P.—Annual Report of the Department of Animal Husbandry for the Year 1961–62, *Allahabad Fmr*, 1962, 36(5), 9.

AHMED, K. A.—How to keep pigs for profit and food, *Indian Fmg*, 1947, 8, 457.

ALWAR, V. S.—Parasites of pigs (*Sus scrofa domestica*) in Madras, *Indian vet. J.*, 1958, 35, 112–16.

ANTHONY, D. J. & LEWIS, E. F.—Diseases of the Pig (Bailliare, Tindall & Cox, London), 5th edn, 1962.

Bacon factory begins operation, *Yojana*, 1969, 13(4), 21.

BARAT—Development of pig husbandry, *Tanner*, 1967, 22(3), 111.

BEE, E. M.—The rearing of imported pigs in India, *Agric. Live-Stk India*, 1939, 9, 707.

BROWN, H. *et al.*—Studies on colostrum acquired immunity and active antibody production in baby pigs, *J. Anim. Sci.*, 1961, 20, 323–28.

CLARKE, G. B. *et al.*—The Pig : Modern Husbandry and Marketing, edited by Price, W. T. (Geoffrey Bles, London), 1962.

DHARMAKUMARSINHJI, R. S.—Indian wild boar (*Sus scrofa cristatus* Wagner) feeding on *Boerhavia diffusa* Linn., *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1960, 57, 654–55.

Dressing of hog skins, *Industry*, *Calcutta*, 1950, 41, 456.

DUBEY, J. P.—A note on helminthic nodules in local piglets, *Curr. Sci.*, 1964, 33, 340–42.

FISHWICK, V. C.—Pigs : Their Breeding, Feeding and Management (Crossby Lockwood & Sons Ltd., London), 4th edn, 1947.

GUPTA, S.—Take care of your boar, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1961–62, 11(4), 21.

GUPTA, S.—Breeding pigs for quality pork, *Indian Live-Stk*, 1963, *1(4)*, *12–14*.

GUPTA, S. & MOULICK, S. K.—Pigs too need proper feeds, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(3), 14–16, 35.

GUPTA, S. & MOULICK, S. K.—Artificial feed supplements for growing, pigs, *Beng. Veterinarian*, 1964, **12**, 42–44.

GUPTA, S. & SOM, T. L.—Diseases incidental to a farrowing sow, *Anim. Hlth*, 1961, 2(1), 49–55.

GUPTA, S. *et al.*—Incidence of foot and mouth disease in large white pigs at the Regional Pig Breeding Station, West Bengal, *Indian vet. J.*, 1962, **39**, 534–40.

GUPTA, S. *et al.*—Effect of high level copper supplementation in the ration of growing pigs, *Emp. J. exp. Agric.*, 1964, **32**, 331.

HEANEY, I. H.—Pig breeding, *Chem. & Ind.*, 1956, 778–82.

JAMKHEDKAR, P. P. *et al.*—Infectious mastitis in sows, *Indian vet. J.*, 1964, **41**, 385–91.

KAURA, R. L.—Swine Husbandry and Piggery Products, *Rev. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 27, 1958.

KRISHNAMURTHY, S.—Management methods as a means of improving pig production in the far east, *Working paper No. 16, F.A.O. Conference on Pig Production and Diseases in the Far East, Bangkok*, 1968.

MATHARU, B. S.—Pig rearing is a profitable occupation, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(12), 35–36, 44.

Meat by-products as source of better living, *Fact*, 1951, 5(10), 281.

Meat packers find more items from pigs and steers, *Chemurg. Dig.*, 1950, 9(7), 16.

MILLEN, T. W.—A practical sanitary pig sty, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 136–37.

MOULICK, S. K. *et al.*—Effects of terramycin, aureomycin and high level of copper sulphate on growing pigs, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, **35**, 275–81.

MUKHERJEE, A. K.—Extinct, rare and threatened game of the Himalayas and the Siwalik ranges, *J. Beng. nat. Hist. Soc.*, 1963, **1**, 36–67.

MURARI, T.—Pig keeping as a side line, *Madras agric. J.*, 1932, **20**, 229.

NARAYANA, J. V.—Preliminary studies on an outbreak of swine-pox in Large-Whites in Andhra Pradesh, *Indian vet. J.*, 1964, **41**, 71–75.

NARAYANA, J. V. & RAO, P. P.—Preliminary survey of disease position among pigs in Andhra Pradesh—A. Viral disease among Large-Whites, *Indian vet. J.*, 1964, **41**, 520–22.

Preliminary report on swine fever epidemic in Uttar Pradesh, *Indian vet. J.*, 1962, **39**, 405–06.

RAO, P. L. *et al.*—Studies on the relationship of carcass yield, certain wholesale cuts and offals to the live weight in pigs, *Indian vet. J.*, 1968, **45**, 866–73.

RAO, P. P.—Preliminary survey of disease position among pigs in Andhra Pradesh—B. Bacterial diseases among Large-Whites, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 655–58.

RADDY, J. C.—Pig raising and pork production programme at the Allahabad Agricultural Institute, Allahabad, *Allahabad Fmr*, 1967, **41**, 233–40.

SAGAR, R. H.—Herd health programme for raising hogs, *Allahabad Fmr*, 1967, **41**, 67–73.

SAKKUBAI, P. R. & SHARMA, G. L.—Swine fever : Great scope for prevention, Little for cure, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(2), 9–10.

SAXENA, H. C.—Antibiotics in the nutrition of farm animals—II. Swine, *Allahabad Fmr*, 1954, **28**, 105.

SHAHI, H. B.—Essentials of pig feeding, *Indian Fmg*, 1940, **1**, 427.

SINGH, S.—Common parasites of pigs in Delhi, *Indian vet. J.*, 1959, **36**, 84–85.

SINHA, B. K.—Observations on the incidence and pathology of natural lungworm infection in pigs (*Sus scrofa domestica*) in Bihar, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 884–88.

SOHAN SINGH—Common parasites of pigs in Delhi, *Indian vet. J.*, 1959, **36**, 84–85.

STATHER, F.—Pig hide and pig leather, *Tanner*, 1958, **12**, 261–64, 267.

SUBRAMANIAM, T. *et al.*—Broncho-pneumonia in baby pigs due to *Metastrongylus apri*, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 121–27.

Water hyacinth problem and pig farming, *Sci. & Cult.*, 1951–52, **17**, 231.

घोड़े तथा टट्टू

COOK, H. R.—Horse meat in cooked meat food products, *Biol. Abstr.*, 1964, 45, 2616, Abstr. 32445

DURGA DAN—Control of *surra* in horses and camels of Jodhpur State, *Indian vet. J.*, 1949, **25**, 280–82.

Encephalomyelitis and *surra* in horses, *Annu. Rep.*, *Indian vet. Res. Inst., Izatnagar*, 1949–50, 23.

FRANCIS, J.—A review of the respiratory diseases of the horse, *Indian J. vet. Sci.*, 1945, **15**, 235.

GAZDER, P. J.—Horses in the Republic of India, *Indian vet. J.*, 1953–54, **30**, 49–53.

GOSWAMI, S. K. & NAG, B.—Breeding ponies in the hills, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(2), 22–23, 27.

Horse breeding in India, *Agric. J. India*, 1918, **13**, 152.

Horse population declines, *World Crops*, 1956, **8**, 383.

Horse sickness in Madhya Pradesh, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, **11**(10), 39.

JAIN, N. C. & MURTY, D. K.—Sensitivity of Indian strain of horse sickness virus to some broad spectrum antibiotics *in vitro* and in experimentally infected mice, *Indian J. vet. Sci.*, 1963, **33**, 189–99.

JOAN, BUNN-RICHARDS—Horses and Ponies (Ward, Lock & Co.; London), 1961.

KRISHNAMURTY, D. & JAIN, N. C.—Some observations on outbreaks of African horse sickness in Uttar Pradesh, *Indian vet. J.*, 1962, **39**, 305–15.

LALL, H. K.—A horse stud in the making, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(4), 26–27.

OLSSON, N. & RUUDVERE, A.—The nutrition of the horse, *Nutr. Abstr. Rev.*, 1955, **25**, 1–18.

PARNAIK, D. T. *et al.*—Observation on South African horse sickness in Maharashtra, *Indian J. vet. Sci.*, 1965, **35**, 94–101.

PAVRI, K. M. *et al.*—An outbreak of rabies in horses near Poona, India, *Curr. Sci.*, 1964, **33**, 329–30.

SAIGIN, I. A.—Methods of developing Koumiss production, *Nutr. Abstr. Rev.*, 1954, **24**, 211, Abstr. 1253.

SHAH, K. V.—Investigation of African horse sickness in India—I. Study of the natural disease and the virus, *Indian J. vet. Sci.*, 1964, **34**, 1–14.

SHAH, K. V. *et al.*—Investigation of African horse sickness in India—II. Reactions in non-immune horses after vaccination with the polyvalent African horse sickness vaccine, *Indian J. vet. Sci.*, 1964, **34**, 75–83.

SHAHI, H. B.—Indigenous breeds of horses and donkeys in India, *Indian Fmg*, 1942, **3**, 430–37.

SHARMA, G. L. *et al.*—I.V.R.I. vaccine cuts down losses due to African horse sickness, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(1), 43–44, 46.

STEEL, J. H.—The horse : A zoological study, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1887, 2, 198.

STEEL, J. H.—Wild horses, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1887, 2, 253.

TIKU, J. L.—Horses of Ladakh—Some of the finest breeds, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(11), 47–49.

WADIA, F.—Horse breeding in India, *Bombay vet. Coll. Mag.*, 1951, 2, 66–68.

गधे तथा खच्चर

ANDERSON, W. S.—Fertile male mules, *Indian J. vet. Sci.*, 1941, 11, 62.

Animal Management (The Veterinary Department of the War Office, London), 1933.

BRANFORD, R.—Note on an outbreak of contagious pneumonia in donkeys, *Agric. J. India*, 1917, 12, 268.

DEORANI, V. P. S & DUTT, S. C.—Histopathology of parafilariasis in mules, *Curr. Sci.*, 1967, 36, 240–41.

GEE, E. P.—Indian wild ass : A survey, February 1962, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1963, 60, 516–29.

KULKARNI, V. B. & MANJREKAR, S. L.—Account of the outbreak of strangles among mules imported from Italy in Maharashtra State, *Bombay vet. Coll. Mag.*, 1963–64, 11, 19–21.

RAYMENT, G. J. R.—Mule breeding, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1895, 9, 177.

SHAHI, H. B.—Indigenous breeds of horses and donkeys in India, *Indian Fmg*, 1942, 3, 430–37.

STEEL, J. H.—Mules, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1890, 5, 252.

ऊँट

AGARWALA, O. P.—Camel, the ship of the desert, *Allahabad Fmr*, 1951, 25, 224.

BHARGAVA, K. K. *et al.*—Study of the birth-weight and body measurements of camel (*Camelus dromedarius*), *Indian J. vet. Sci.*, 1965, 35, 358–62.

BHIMAYA, C. P.—The effect of animal factor on soil conservation in western Rajasthan, *Indian For.*, 1961, 87, 738–44.

CROSS, H. E.—The Camel and its Diseases—Being Notes for Veterinary Surgeons and Commandants of Camel Corps (Bailliare, Tindall & Cox, London), 1917.

DAS, D. K. & MITRA, S. K.—Note on the histological characteristics of camel hide, *J. Indian Leath. Technol. Ass.*, 1967, 15, 379–400.

DHILLON, S. S.—Incidence of rinderpest in camels in Hissar district, *Indian vet. J.*, 1959, 36, 603–06.

DURGA DAN—Control of *surra* in horses and camels of Jodhpur State, *Indian vet. J.*, 1949, 25, 280–82.

DURGA DAN—Survey Report on the Indian Camels (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1954–56 (Unpublished).

HIRA, L. M.—Camel breeding in India, *Indian Fmg*, 1947, 8, 504–07.

How camels conserve water, *Burmese For.*, 1962, 12(2), 88.

KHERASKOV, S. G.—Camel milk as a product of nutrition, *Chem. Abstr.*, 1963, 58, 2779.

LEESE, A. S.—A Treatise on the One-humped Camel in Health and in Disease (Haynes & Sons, Lincolnshire), 1927.

LODHA, K. R.—Getting rid of camel mange, *Indian Fmg, N.S.*, 1966–67, 16(2), 33–34.

MATHARU, B. S.—Camel care, *Indian Fmg, N.S.*, 1966–67, 16(7), 19–22.

NANDA, P. N.—Camels and their management, *Rev. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 16, 1957.

NANDA, P.N.—Camel at work, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(4), 24–27, 47.

NANDA, P. N.—Management of camels, *Indian Fmg, N.S.*, 1965–66, 15(12), 38–39.

SHARMA, V. D. & BHARGAVA, K. K.—Bikaneri camel, *Indian vet. J.*, 1963, 40, 639–43.

SHARMA, V. D. & SHARMA, S. N.—Some peculiarities of camel reproduction, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(2), 44–47.

STEEL, J. H.—The camel, its uses and management (Leonard), *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1889, 4, 207.

याक

SHARMA, G. P.—Yak in the Nepal Himalayas, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(11), 24.

TIKU, J. L.—Yak is indispensable to inhabitants of the hills, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(2), 22–23.

TIKU, J. L.—Some peculiar farm animals of Ladakh, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(3), 49–51.

Yak, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(3), 7.

पशुधन उत्पादों का रसायन

ABD-EL-SALAM, M. H. & EL-SHIBINY, S.—Chemical composition of buffalo milk—I. General composition, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, 19, 151–54.

ABD-EL-SALAM, M. H. & EL-SHIBINY, S.—Chemical composition of buffalo milk—II. Effect of lactation period, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, 19, 155–57.

ACHARYA, B. N. & DEVADATTA, S. C.—Compounds of phosphorus in milk—Part I. *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1939, 10B, 221–28.

ACHARYA, B. N. & DEVADATTA, S. C.—Phosphorus, calcium, and magnesium in milk—Part II. *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1939, 10B, 229–35.

AGARWALA, O. P. & SUNDARESAN, D.—Influence of frequency of milking on milk production, *Indian J. Dairy Sci.*, 1955, 8, 94–99.

AGGARWALA, A. C.—Production of Wholesome Meat in India, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res., N.S.*, No. 15, 1964.

AGGARWALA, A. C. & SHARMA, R. M.—Laboratory Manual of Milk Inspection (Asia Publishing House, Bombay), 4th edn, 1961.

ALI, ABDULLAH YUSUF—Some nutritional aspects of meat meal, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 428.

ANANTARAMIAH, S. N.—Biochemical Studies on Lactic Acid, Bacteria (Diacetyl Production), M.Sc. Thesis, University of Bombay, 1952.

ASCHAFFENBURG, R. & SEN, A.—Comparison of the caseins of buffalo's and cow's milk, *Nature, Lond.*, 1963, 197, 797.

AYKROYD, W. R. & KRISHNAN, B. G.—Effect of skimmed milk, soyabean and other foods in supplementing typical Indian diets, *Indian J. med. Res.*, 1936–37, 24, 1093–1106.

AYKROYD, W. R. *et al.*—The Nutritive Value of Indian Foods and the Planning of Satisfactory Diets, *Spec. Rep. Ser., Indian Coun. med. Res.*, No. 42, 1966.

Bailey's Industrial Oil and Fat Products, edited by Swern, D. (Interscience Publishers, New York), 3rd edn, 1964.

BALASUBRAMANIAN, S. C. *et al.*—Nutritive value of the proteins of milk and some indigenous milk products, *Indian J. med. Res.*, 1955, **43**, 255–64.

BANDYOPADHYAYA, N.—Composition, structure and physico-chemical properties of buffalo horn, *J. Indian chem. Soc., industr. Edn*, 1948, **11**, 148–60.

BARNABAS, T. & MAWAL, R. B.—The amino acid content of goat's milk at different stages of lactation, *Indian J. Dairy Sci.*, 1959, **12**, 63–67.

BASU, K. P. & HALDAR, M. K.—Supplementary relations between the proteins of pulses and those of milk by the balance sheet and growth methods, *J. Indian chem. Soc.*, 1939, **16**, 189–98.

BASU, K. P. & MUKHERJEE, K. P.—Phosphorus in milk—I. The phosphorus partition in the milk of cow, goat, sheep and human beings, *Indian J. vet. Sci.*, 1943, **13**, 231.

BASU, K. P. & MUKHERJEE, K. P.—Phosphorus in milk—II. Availability of phosphorus of the milk of cow, goat and buffalo, *Indian J. vet. Sci.*, 1943, **13**, 236.

BASU, K. P. & NATH, H. P.—Comparative value of butter fats and vegetable oils for growth, *Indian J. med. Res.*, 1946, **34**, 33.

BASU, K. P. *et al.*—Composition of Milk and Ghee, *Rep. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 8, 1962.

BASU, U. P. & BHATTACHARYA, S.—On the characteristics of Indian ox-bile powder, *J. Indian chem. Soc., industr. Edn*, 1948, **11**, 107.

BASU, U. P. *et al.*—A study on the toxicity of the bile acids and their derivatives prepared from Indian ox bile, *Indian med. Gaz.*, 1940, **75**, 215.

BATE-SMITH, E. C. & INGRAM, M.—Forty years of research on meat, *Food Preserv. Quart.*, 1967, **27**(3), 67–72.

BATZER, O. F. *et al.*—Identification of some beef flavour precursors, *J. agric. Fd Chem.*, 1962, **10**, 94–95.

BHALERAO, V. R. & BASU, K. P.—Effect of different milk supplements on the poor South Indian diet, *Indian J. Dairy Sci.*, 1950, **3**, 1–6.

BHALERAO, V. R. *et al.*—The relative rate of absorption of different oils and fats, *Indian J. vet. Sci.*, 1947, **17**, 221.

BHALERAO, V. R. *et al.*—Comparative growth promoting value of oils and fats, *Indian J. vet. Sci.*, 1950, **20**, 151.

BHATIA, I. S.—Effect of cooking upon the vitamin A content of ghee, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1952–53, **2**, 72.

BHATIA, I. S.—Vitamin A content of cow's butter-fat, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1952–53, **2**, 178.

BHATTACHARYA, D. C. & SRINIVASAN, M. R.—New varieties of *dahi* (fermented whole milk), *Indian Dairyman*, 1967, **19**(1), 35–38.

BHOTE, R. A. & JAYARAMAN, S.—Hides and skins in India's leather industry, *Agric. Marketing*, 1965, **7**(4), 18–19, 21.

BLANCK, F. C. (Editor)—Handbook of Food and Agriculture (Reinhold Publishing Corpn, New York), 1955.

BLOCK, R. J. & BOLLING, D.—The Amino Acid Composition of Proteins and Foods (C. C. Thomas, Springfield, Ill.). 1951.

BLOCK, R. J. & MITCHELL, H. H.—The correlation of the amino acid composition of proteins with their nutritive value, *Nutr. Abstr. Rev.*, 1946–47, **16**, 249–78.

BOSE, S. *et al.*—Dehairing skins and hides, Indian Pat. 50806, 1955.

Butter Colour, *Leafl. Nat. Dairy Res. Inst., Karnal*, No. 5, 1965.

CHANDAN, R. C. & SHAHANI, K. M.—Milk lipases: A review, *J. Dairy Sci.*, 1964, **47**, 471–80.

CHANDRASEKHARA, M. R. *et al.*—Infant food from buffalo milk—I. Effect of different treatments on curd tension, *Food Sci.*, 1957, **6**, 226–28.

CHANDRASEKHARA, M. R. *et al.*—Roller-dried infant food from buffalo milk : Project costs, *Res. & Ind.*, 1959, **4**, 13–15.

CHANDRASEKHARA, M. R. *et al.*—Infant food based on coconut protein, groundnut protein isolate and skim milk powder—I. Preparation, chemical composition and shelf-life, *J. Sci. Fd Agric.*, 1964, **15**, 839–41.

CHATFIELD, C. & ADAMS, G.—Proximate Composition of American Food Materials, *Circ. U.S. Dep. Agric.*, No. 549, 1940.

CHAUDHURI, A. C.—Practical Dairy Science and Laboratory Methods (Scientific Book Agency, Calcutta), 1959.

CHITRE, R. G. & PATWARDHAN, V. N.—The nutritive value of milk and curds, *Curr. Sci.*, 1945, **14**, 320.

Dairying in India, *Rev. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 14, 1956.

DASTUR, N. N.—Buffaloes' milk and milk products, *Dairy Sci. Abstr.*, 1956, **18**, 967–1008.

DATTA, N. C. & BANERJEE, B. N.—Studies on the nutritive value of milk and milk products, *Indian J. med. Res.*, 1934–35, **22**, 341–51.

DAVIES, W. L.—Indian Indigenous Milk Products (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1948.

DE, H. N. & SOM, A. B.—Utilization of whey—a milk waste in the production of 'Chhanna', for supply of calcium to poor rice diet, *Indian J. vet. Sci.*, 1948, **18**, 241–43.

DE, S.—Improving the keeping quality of milk, *Indian Live-Stk*, 1965, **3**(1), 4–7, 39.

DE, S. & RAY, S. C.—Studies on the indigenous method of *khoa*-making—Part I. Influence of the conditions of dehydration and the type of milk on the production of *khoa*, *Indian J. Dairy Sci.*, 1952, **5**, 147–65.

DESIKACHAR, H. S. R. & SUBRAHMANYAN, V.—Utilization of calcium from cow and buffalo milk and effect of souring on calcium availability, *Indian J. Dairy Sci.*, 1948, **1**, 123.

DHAR, D. C. *et al.*—Preparation of pancreatin from slaughter-house products, *Res. & Ind.*, 1969, **14**(1), 1–4.

DHAR, S. C.—Purification, crystallization and properties of cathepsin C from beef spleen, *Leath. Sci.*, 1964, **11**, 191.

DHARMARAJAN, C. S.—Studies on the Freezing Point of Milk of Indian Cows and Buffaloes, M. Sc. Thesis, University of Madras, 1950.

DHINGRA, D. R.—The component fatty acids and glycerides of the milk fats of Indian goats and sheep, *Biochem. J.*, 1933, **27**, 851–59.

Digestibility of cow's milk and buffalo's milk, *Madras agric. J.*, 1955, **42**, 186.

DIKSHIT, P. K. & RANGANATHAN, S.—The vitamin D content of butter and ghee (clarified butter), *Indian J. med. Res.*, 1950, **38**, 37–40.

DUDANI, A. T.—Organisms that spoil your milk, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, **18**(2), 27–29.

DUGAN, L. R.—Fatty Acid Composition of Food Fats and Oils, *Circ. Amer. Meat Inst. Foundation*, No. 36, 1957.

FEENEY, R. E. & HILL, R. M.—Protein chemistry and food research, *Advanc. Fd Res.*, 1960, **10**, 23–73.

First Indian Dairy Yearbook, 1960 (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1961.

GANGULI, N. C. & BHALERAO, V. R.—A comparative study on the casein of buffalo and cow milk by paper disc electrophoresis, *Milchwissenschaft*, 1964, 19, 535.

GANGULI, N. C. *et al.*—Composition of the caseins of buffalo and cow milk, *J. Dairy Sci.*, 1964, 47(1), 13–18.

GERRARD, F. —Meat Technology : A Practical Text Book for Student and Butcher (Leonard Hill, London), 1964.

Ghee Residue, *Leafl. Nat. Dairy Res. Inst.*, *Karnal*, No. 4, 1964.

GHOSH, S. N. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Composition of milk—Part IV. Influence of season, breed and species, *Indian J. Dairy Sci.*, 1963, 16, 190–202.

GHOSH, S. N. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Composition of milk—Part V. Effect of stage of lactation, *Indian J. Dairy Sci.*, 1964, 17, 17–28.

GODBOLE, N. N.—An apparatus for domestic pasteurization of milk, *Trans. Indian ceram. Soc.*, 1957, 16, 107–10.

GODBOLE, N. N. & SADGOPAL—Butter-fat (Ghee) : Its Composition, Nutritive Value, Digestibility, Rancidity ; Adulteration—its Detection and Estimation (Leader Press, Allahabad), 2nd edn, 1939.

GULVADY, S. L. *et al.*—Cholesterol content of milk of cows and buffaloes, *Indian J. Dairy Sci.*, 1952, 5, 125–34.

GUPTA, S. S. & HILDITCH, T. P.—The component acids and glycerides of a horse mesenteric fat, *Biochem. J.*, 1951, 48, 137–46.

HALL, C. W. & HEDRICK, T. I.—Drying of Milk and Milk Products (The Avi Publishing Co., Inc., West Port, Conn.), 1966.

HATTIANGDI, G. S. & KANGA, K. F.—The heat stability of vitamin A in ghee and vanaspati, *J. Sci. industr. Res.*, 1956, 15C, 48–51.

HILDITCH, T. P. & SHRIVASTAVA, R. K.—The component glycerides of an Indian sheep body fat, *J. Amer. Oil Chem. Soc.*, 1949, 26, 1–4.

HILDITCH, T. P. & WILLIAMS, P. N.—The Chemical Constitution of Natural Fats (Chapman & Hall, London), 4th edn, 1964.

HOEK, F. H. & HAQ, N.—How to Utilize Carcasses, *Farm Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 47, 1958.

HOLLA, K. S.—Detection of adulteration of butter-fat, *Bombay Technol.*, 1958–59, 9, 16–20.

HOLMAN, W. I. M.—The distribution of vitamins within the tissues of common foodstuffs, *Nutr. Abstr. Rev.*, 1956, 26, 277–304.

HUNZIKER, O. F.—Condensed Milk and Milk Powder (published by the author, La Grange, Ill.), 7th edn, 1949.

IYA, K. K.—Manufacturing Western Dairy Products in India, *Farm Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 49, 1958.

IYA, K. K.—Manufacture of pasteurized milk, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(4), 10–11, 23.

IYA, K. K.—Manufacturing condensed milk, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(2), 15–16.

IYA, K. K.—Manufacture of table butter, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1966–67, 16(5), 12–14.

IYA, K. K. & LAXMINARAYAN, H.—Making good *dahi*, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1952–53, 2(11), 18.

IYENGAR, J. R. *et al.*—Effect of cooking on the composition of mutton, *Food Technol.*, *Champaign*, 1965, 19, 120–22; 222–24.

IYER, J. G.—Trace-element content of milk in Indian cattle, *Naturwissenschaften*, 1957, 44, 635.

JACOBS, M. B. (Editor)—The Chemistry and Technology of Food and Food Products (Interscience Publishers, Inc., New York), 3 vols., 2nd edn, 1951.

JENNESS, R. & PATTON, S.—Principles of Dairy Chemistry (Chapman & Hall Ltd., London; John Wiley & Sons, Inc., New York), 1959.

JUDKINS, H. F. & KEENER, H. A.—Milk Production and Processing (John Wiley & Sons, Inc., New York), 1960.

KANNAN, A.—Studies on Enzymes in Milk and Milk Products, Ph.D. Thesis, University of Bombay, 1949.

KERALA VERMA—Bacteriological Studies on Raw and Boiled Milk, M.Sc. Thesis, University of Bombay, 1950.

KHAMBATTA, J. S. & DASTUR, N. N.—Nutritive value of *dahi*—Rat feeding experiments, *Indian J. Dairy Sci.*, 1950, 3, 87–93.

KHAMBATTA, J. S. & DASTUR, N. N.—Changes in the chemical composition of milk during souring—Pts I & II, *Indian J. Dairy Sci.*, 1950, 3, 147–50; 1951, 4, 73–80.

KIRK-OTHMER—Encyclopedia of Chemical Technology (Interscience Publishers, New York), 2nd edn, Vol. XIII, 1967.

KIRSCHENBAUER, H. G.—Fats and Oils : An Outline of Their Chemistry and Technology (Reinhold Publishing Corp., New York), 2nd edn, 1960.

KOTHAVALLA, Z. R. & VERMA, H. C.—Studies in the manufacture of Surati cheese, *Indian J. vet. Sci.*, 1942, 12, 297.

KRISHNASWAMY, M. A. & JOHAR, D. S.—Some aspects of cheddar cheese, *Food Sci.*, 1959, 8, 86–91.

KRISHNASWAMY, M. A. *et al.*—Vegetable rennet for cheddar and processed cheese, *Res. & Ind.*, 1961, 6, 43–44.

KUPPUSWAMY, S. *et al.*—Proteins in Foods, *Spec. Rep. Ser.*, *Indian Coun. med. Res.*, No. 33, 1958.

LALITHA, K. R. & DASTUR, N. N.—Keeping quality of ghee—I. Effect of nature of milk, method of preparation, temperature of melting and antioxidants on the keeping quality, *Indian Dairy Sci.*, 1953, 6, 147.

LALITHA, K. R. & DASTUR, N. N.—Keeping quality of ghee—II. Effect of storing butter and ghee on vitamin A content, *Indian J. Dairy Sci.*, 1954, 7, 1.

LALL, H. K.—Goat-keeping for Profit, *Farm Bull.*, *Indian Coun. agric. Res.*, No. 4, 1954.

LAMPERT, L. M.—Modern Dairy Products (Chemical Publishing Co., New York), 1965.

LAWRIE, R. A.—Meat Science (Pergamon Press, Oxford), 1966.

LAXMINARAYANA, H. & IYA, K. K.—Studies on *dahi*—I. Introduction and historical review, *Indian J. vet. Sci.*, 1952, 22, 1.

LAXMINARAYANA, H. *et al.*—Studies on *dahi*—II. General survey of the quality of market *dahi*, *Indian J. vet. Sci.*, 1952, 22, 13.

LAXMINARAYANA, H. *et al.*—Studies on *dahi*—III. Taxonomy of the lactic acid bacteria of *dahi*, *Indian J. vet. Sci.*, 1952, 22, 27.

LILY, G. *et al.*—Growth-promoting value of milk and some indigenous milk products, *Indian J. med. Res.*, 1955, 43, 243–48.

LILY, G. *et al.*—Supplementary value of milk and some indigenous milk products to a poor rice diet, *Indian J. med. Res.*, 1955, 43, 249–53.

LING, E. R.—Text Book of Dairy Chemistry (Chapman & Hall Ltd., London), 2 vols, 3rd revised edn, 1956.

MCCANCE, R. A. & WIDDOWSON, E. M.—The composition of Foods (Her Majesty's Stationery Office, London), 1960.

MAJUMDAR, B. N. & JANG, S.—Comparative manurial value of the excreta of some farm animals, *Ann. Biochem.*, 1963, 23, 91–94.

MALAKAR, M. C.—Nutritive value of the proteins of processed milk, *Sci. & Cult.*, 1952–53, 18, 316.

MALIK, S. S. & NAIR, P. G.—Studies on serological detection of

cow milk added to buffalo milk, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, **37**, 207–16.

MANGLA PRASAD—Problems of rancidity in edible fats and fatty foods—Part I. Oils and fats (Fatty acid composition of common edible oils and fats), *J. Oil Technol. Ass. India*, 1962, **17**, 20–40.

MANI, G. S. *et al.*—Composition and nutritive value of some indigenous milk products, *Indian J. med. Res.*, 1955, **43**, 237–42.

MANKODI, B. S. & SHENOY, R. D.—Pasteurization *vs.* sterilization of milk, *Bombay Technol.*, 1958–59, **9**, 21–25.

MANN, I.—Meat Handling in Underdeveloped Countries : Slaughter and Preservation, *F.A.O. agric. Developm. Pap.*, No. 70 (Food and Agriculture Organization, Rome), 1960.

Manufacture of Edam and Gowda cheese from buffalo milk, *Indian Fmg, N.S.*, 1965–66, **15**(12), 18–21.

MATHUR, M. L. & DESAI, S. V.—Studies on the effect of different fodders on the milk yield and its composition and mineral metabolish in Sahiwal cows, *Indian J. vet. Sci.*, 1953, **23**, 143.

MATHUR, M. L. & DESAI, S. V.—Studies on calcium and phosphorus in milk and feeds of Sahiwal cows from precalving period to the end of lactation, *Indian J. vet. Sci.*, 1953, **23**, 221.

MATHUR, V. K. & BHATIA, B. S.—Chemistry and technology of cured and smoked meat products, *Def. Sci. J.*, 1967, **17**(2A), 1–20.

MEGGITT, A. A. & MANN, H. H.—The composition of the milk of some breeds of Indian cows and buffaloes and its variations—Part I. The milk of some breeds of Indian cows, *Mem. Dep. Agric. India, Chem.*, 1911, **2**, 1–61.

MEGGITT, A. A. & MANN, H. H.—The composition of the milk of some breeds of Indian cows and buffaloes and its variations—Part II. The milk of some breeds of Indian buffaloes, *Mem. Dep. Agric. India, Chem.*, 1912, **2**, 195–258.

Methods of Sampling and Testing Butter-fat (*Ghee*) and Butter under Agmark (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 81, 1954.

Milk—The miracle food, *Gosamvardhana*, 1964, **12**(6 & 7).

Milk storage, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1955–56, **5**, 32.

MISHRA, M.—Use of coconut milk in adulteration of milk and methods for its detection, *Indian vet. J.*, 1964, **41**, 754–58.

MITRA, K. & MITTRA, H. C.—Investigations into the biological value of milk proteins : By the rat growth method, *Indian J. med. Res.*, 1942, **30**, 423–31.

MITRA, K. & MITTRA, H. C.—Investigations into the biological value of milk proteins, *Indian J. med. Res.*, 1942, **30**, 576–80.

MITRA, K. & MITTRA, H. C.—Biological value of proteins from muscle meat of cow, buffalo, and goat, *Indian J. med. Res.*, 1945, **33**, 87–90.

MITRA, K. & MITTRA, H. C.—Food value of a further batch of edibles ; Estimated by chemical methods, *Indian J. med. Res.*, 1945, **33**, 91–95.

MITRA, K. & VERMA, S. K.—The biological value of the proteins of rice, pulse and milk fed in different proportions to human beings, *Indian J. med. Res.*, 1947, **35**, 23–28.

MITRA, S. N. *et al.*—Effect of storage on the composition of *desi* butter, *J. Instn Chem. India*, 1960, **32**, 232–34.

MORRISON, F. B.—Feeds and Feeding (The Morrison Publishing Co., Ithaca, N.Y.), 22nd edn, 1956.

MURTHY, G. K. *et al.*—Vitamin A in cow, buffalo, goat and sheep *ghee*, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1955, **13**, 41.

NABAR, A. B.—Comparative Efficiency of Cow and Buffalo as Producers of Milk, M.Sc. Thesis, University of Agra, 1956.

Nair, P. G.—Hansa test to detect milk adulteration, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, **17**(10), 56–58.

NAIR, P. G. & IYA, K. K.—A new test for the detection of buffalo milk added to cow milk, *Indian Dairyman*, 1963, **15**, 121–22, 133.

NARAYANA RAO, M.—Nutritive value of buffalo butter-fat, *Indian J. med. Res.*, 1954, **42**, 29.

NARAYANAMURTI, D. *et al.*—Studies on adhesives—Part III. Casein glues, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 116, 1943.

NAYUDAMMA, Y.—Quality of hides from dead and slaughtered animals in India, *Tanner*, 1967, **21**, 415.

NIRMALAN, G. & NAIR, M. K.—Chemical composition of goat milk, *Kerala Vet.*, 1962, **1**, 49–51.

PANDIT, T. K. & BHAT, J. V.—Methods of preparation and characteristics of soft cheese made in India, *Indian J. Dairy Sci.*, 1955, **8**, 173–76.

PATEL, H. S. & PATEL, B. M.—Loss of vitamin A potency during the preparation of *ghee* from milk, *Indian J. Dairy Sci.*, 1955, **8**, 53–60.

PATHAK, S. P. & TRIVEDI, B. N.—Component glycerides of camel (*Camelus indicus*) depot fat, *J. Sci. Fd Agric.*, 1958, **9**, 533–35.

PATHAK, S. P & VASISTHA, A. K.—Glyceride structure of Indian turkey (*Meleagris gallopavo*) depot fat, *Indian Oil & Soap J.*, 1964–65, **30**, 337–41.

PAUL, T. M.—About nutritive value of *ghee*, *Indian Live-Stk*, 1964, **2**(2), 11.

PAUL, T. M. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Keeping quality of *ghee* heated to different temperatures, *Indian J. Dairy Sci.*, 1949, **2**, 108.

PAUL, T. M. & SHAHANI, K. M.—Biochemical studies on the use of different *dahi* cultures on acidity development in *ghee*, *Indian J. Dairy Sci.*, 1950, **3**, 59.

PAUL, T. M. *et al*—The digestibility of various oils and fats, *Indian J. vet. Sci.*, 1951, **21**, 1.

PAUL, T. M. *et al.*—Composition of the milk of cows, buffaloes, goats and sheep, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954, **12**, 11–12.

Physico-chemical studies on proteins of buffalo's milk, *Rep. Bose Inst.*, 1960–61, 29–33.

Physico-chemical studies on proteins of goat's milk, *Rep. Bose Inst.*, 1960–61, 33–34.

PILKHANE, S. V. & BHALERAO, V. R.—Development of phosphatase test for *dahi*, *Indian J. Dairy Sci.*, 1967, **20**, 31–35.

PRAPHULLA, H. B. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Composition of milk —Part I. Influence of breed, season and time of milking on copper, iron, sodium, potassium, chlorine and lactose contents of milk, *Indian J. Dairy Sci.*, 1958, **11**, 48–58.

PRAPHULLA, H. B. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Composition of milk —Part II. Influence of the order and stage of lactation on copper, iron, sodium, potassium, chlorine and lactose contents of milk, *Indian J. Dairy Sci.*, 1959, **12**, 32–42.

PRAPHULLA, H. B. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Composition of milk—Part III. Correlation between sodium, potassium chloride and lactose contents of milk, *Indian J. Dairy Sci.*, 1960, **13**, 24–28

Produce Clean Milk (Directorate of Extension, Ministry of Food & Agriculture, New Delhi), 1965.

PRUTHI, J. S. & SACHDAY, N. M.—Detection of animal body fat

in butter-fat (*ghee*) : A Resume, *Indian Oil & Soap J.*, 1967–68, 33, 237–42.

RAGHAVAN, D. & KACHROO, P. (Editors)—Market Quality of Ghee, *Rep. Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 9, 1962.

RAJ, H. & JOSHI, N. V.—Amino acid composition of milk of Indian buffaloes—Part I. Essential amino acid composition of total proteins and protein fractions, *Indian J. med. Res.*, 1955, 43, 591–96.

RAJ, H. & JOSHI, N. V.—Essential amino acid content of buffalo milk, *Curr. Sci.*, 1955, 24, 274.

RAJ, H. & JOSHI, N. V.—Essential amino acid pattern of buffalo milk during lactation, *J. Sci. Industr. Res.*, 1955, 14C, 185–88.

RAJAGOPAL, N. S. & ACHAYA, K. T.—Fatty acids, including polyenoic and trans components, and glycerides of Indian goat tallows, *J. Sci. Fd Agric.*, 1964, 15, 497–503.

RAMASWAMY, T. S. & BANERJEE, B. N.—Storage of ghee : Influence of the method of preparation and acidity on the keeping quality of ghee, *Ann. Biochem.*, 1948, 8, 123–26.

RANGANATHAN, S.—The vitamin D content of Indian butter, *Indian J. med. Res.*, 1954, 42, 165.

RANGAPPA, K. S.—Studies in Milk and Butter-fat with Special Reference to the Detection of Adulteration in Milk and Improved Methods of the Production of Butter-fat by the Indigenous Process, Ph.D. Thesis, University of Bombay, 1948.

RANGAPPA, K. S. & ACHAYA, K. T.—The Chemistry and Manufacture of Indian Dairy Products (The Bangalore Printing and Publishing Co., Bangalore), 1948.

RAY, S. N. & PAL, A. K.—Comparative nutritive value of ghee and certain hydrogenated vegetable oils, *Sci. & Cult.*, 1946–47, 12, 494.

RAY SARKAR, B. C. *et al.*—The essential amino acid content of the proteins isolated from milk of the cow, ewe, sow, and mare, *J. Dairy Sci.*, 1953, 36, 859–64.

ROY, N. K.—Spectrophotometric method for the identification of milk of different species—Part I. Cow and buffalo milk, *Indian J. Technol.*, 1966, 4, 176–79.

ROY, N. K. & BHALERAO, V. R.—Spectrophotometric method for the detection of buffalo milk in cow milk, *Curr. Sci.*, 1963, 32, 503–04.

SAHAI, K. *et al.*—Effect of feeding alkali and water-treated cereal straw on milk yield, *Indian J. vet. Sci.*, 1955, 25, 201–12.

SANYASI RAJU, M. & VARADARAJAN, S.—Removal of high acidity in ghee, *Madras agric. J.*, 1954, 41, 64.

SAT PRAKASH—Physico-chemical properties of milk, *Indian Dairyman*, 1963, 15, 267–71.

SCHWEIGERT, B. S. & PAYNE, B. J.—A Summary of Nutrient Content of Meat, *Bull. Amer. Meat Inst. Foundation*, No. 30, 1956.

Science of Meat and Meat Products, by American Meat Institute Foundation (W. H. Freeman & Co., San Francisco), 1960.

SEN GUPTA, P. N.—Studies on the dehydration of meat—Part I. Breakdown products and effect of processing operations, *J. Indian chem. Soc., Industr. Edn*, 1951, 14, 75–84.

SEN GUPTA, P. N.—Studies on the dehydration of meat—Part II. Relation between the atmospheric humidity and the drying time, *J. Indian chem. Soc., industr. Edn*, 1951, 14, 125–33.

SEN GUPTA, P. N.—Studies on the dehydration of meat—Part III. Effect of dehydration on the nutritive values of goat meat and of edible offals, *J. Indian chem. Soc., industr. Edn*, 1951, 14, 134–47.

SHURPALEKAR, S. R. *et al.*—Nutritive value of dried infant milk foods based on buffalo milk, *J. Sci. Fd Agric.*, 1963, 14, 877–83.

SHURPALEKAR, S. R. *et al.*—Studies on the amino acid composition and nutritive value of the proteins of goat's milk, *J. Nutr. & Dietet.*, 1964, 1, 25–27.

SHYAMJI, M. *et al.*—Further studies on the keeping quality of creamery butter during storage, *Agra Univ. J. Res. (Sci.)*, 1963, 12 (3), 29–44.

SINGH, H. & DAVE, C. N.—Investigations into the variations of quantity and quality of milk from different quarters of udder, *Indian J. Dairy Sci.*, 1953, 6, 97.

SINGH, K. P. & SINGH, S. N.—Variations in the physico-chemical constants of ghee, *Indian J. Dairy Sci.*, 1960, 13, 143–49.

SINGH, R. P. *et al.*—Nutritive value of raw and boiled milk of cows and buffaloes, *Indian J. vet. Sci.*, 1947, 17, 113–18.

SINGH, V. B.—Chemistry of Milk and Milk Products (Asian Publishers, Muzaffarnagar), 1965.

SOMAN, U. P. & AMBEGAOKAR, S. D.—Effect of commercial sterilization on the nutritive value of buffalo milk : Amino acid composition and protein efficiency ratio, *J. Nutr. & Dietet.*, 1966, 3, 117–20.

SRINIVASAN, M. R. & ANANTAKRISHNAN, C. P.—Milk products of India, *Animal Husbandry Ser., Indian Coun. agric. Res.*, No. 4, 1964.

STEVENS, A. H.—Concentrating whey for feed, *Butter, Cheese & Milk Prod. J.*, 1951, 42, 32–38.

SUBRAHMANYAN, V. *et al.*—Adulteration of ghee and its detection, *J. sci. industr. Res.*, 1952, 11A, 277–82.

SUBRAHMANYAN, V. *et al.*—Casein from deteriorated skim milk powder, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1952–53, 2, 96–99.

SUBRAHMANYAN, V. *et al.*—Production of infant food and other products from buffalo milk in India, *Food Sci.*, 1957, 6, 52–57.

SUNDARARAJAN, A. R.—Comparative nutritive value of milk and curd, *Indian J. med. Res.*, 1950, 38, 29–36.

SURE, B.—Relative supplementary values of dried food yeasts, soya bean flour, peanut meal, dried non-fat milk solids, and dried buttermilk to the proteins in milled white corn meal and milled enriched wheat flour, *J. Nutr.*, 1948, 36, 65–73.

SWAMINATHAN, M.—The relative value of the proteins of certain foodstuffs in nutrition—Part II, *Indian J. med. Res.*, 1937–38, 25, 57–79; Part III, ibid., 1937–38, 25, 381; Part V, ibid., 1938–39, 26, 107–12; Part VI, ibid., 1938–39, 26, 113.

Symposium on the recent advances in the biochemistry of milk and milk products, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954, 12, 11–72.

TAWDE, S. & MAGAR, N. G.—Nutritive value of high acidity ghee, *Ann. Biochem.*, 1957, 17, 177–78.

THOMAS, C. A.—Toned milk : A cheaper and nutritious milk for growing population in India, *Farm J., Calcutta*, 1967, 8(11), 22–23.

THOMAS, C. A.—Tests for testing milk quality, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(10), 51–52.

Thorpe's Dictionary of Applied Chemistry (Longmans, Green & Co., London), 12 vols., 4th edn, 1954–56.

TRIVEDY, J. N. *et al.*—Nutritive value of fresh, rancid, high acid and bazar ghee, *Indian J. Dairy Sci.*, 1948, 1, 93.

VARMA, K.—Quality control of milk, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(12), 27–28.

VENKATAPPAIAH, D.—Non-protein Nitrogenous Constituents of Milk, M. Sc. Thesis, University of Bombay, 1951.

VENKATAPPAIAH, D. & BASU, K. P.—Non-protein nitrogenous constituents of milk—Part I. Variation due to species, breed, individuality, season and stage of lactation, *Indian J. Dairy Sci.*, 1952, **5**, 95–116.

VENKATAPPAIAH, D. & BASU, K. P.—Non-protein nitrogenous constituents of milk—Part II. Effect of feeding high and low protein rations to cows and of putting the cows to work, *Indian J. Dairy Sci.*, 1954, **7**, 213–18.

VENKATAPPAIAH, D. & BASU, K. P.—Non-protein nitrogenous constituents of milk—Part III. Effect of different heat treatments, *Indian J. Dairy Sci.*, 1955, **8**, 1–8.

VENKATESWARA RAO, R. & BASU, K. P.—Effect of storage on the essential amino acid content of buffalo milk powder (spray-dried), with and without the addition of glucose (5%), *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954, **12**, 22–23.

VENKATESWARA RAO, R. & BASU, K. P.—Essential amino acid composition of total proteins and casein of cow and buffalo milk, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954, **12**, 20–21.

VENKATESWARA RAO, R. & BASU, K. P.—Essential amino acid content of milk products, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954, **12**, 21–22.

VENKATESWARA RAO, R. & BASU, K. P.—Studies on essential amino acids in milk, *Proc. Soc. biol. Chem. India*, 1954, **12**, 19–20.

VERMA, I. S. & SOMMER, H. H.—Study of the naturally occurring salts in milk, *J. Dairy Sci.*, 1957, **40**, 331–35.

WATT, B. K. & MERRILL, A. L.—Composition of Foods : Raw, Processed, Prepared, *Agric. Handb.*, *U.S. Dep. Agric.*, No. 8, 1950.

WEBB, B. H. & JOHNSON, A. H. (Editors)—Fundamentals of Dairy Chemistry (The Avi Publishing Co., Inc., Westport, Connecticut), 1965.

WILLIAMS, K. A.—Oils, Fats and Fatty Foods : Their Practical Examination (J. & A. Churchill Ltd. London), 4th edn, 1966.

WINTON, A. L. & WINTON, K. B.—The Structure and Composition of Foods (John Wiley & Sons, Inc., New York), Vol. III, 1937.

WU LEUNG, W. *et al.*—Chemical Composition of Foods Used in Far Eastern Countries, *Agric. Handb.*, *U.S. Dep. Agric.*, No. 34, 1952.

Brochure on the Marketing of Goat Hair in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 129, 1961.

Brochure on the Marketing of Milk in the Indian Union (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Brochure Ser.*, No. 3, 1949.

Brochure on the Marketing of Wool in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Brochure Ser.*, No. 2, 1948.

Export of E.I. tanned hides and skins and by-products to U.S.A., *Leathers*, 1967, 8(5), 3–4.

Goat hair grading and marking rules, 1952, *Indian Tr. J.*, 1953, 184(2433), 184.

Grading and Marketing Butter and Ghee under Agmark (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), 1961.

Grading under Agmark exports of Agmarked commodities from India during 1963, *Agric. Marketing*, 1964, 7(1), 21, 24.

विपणन एवं व्यापार

Handbook in Grading of Bristles in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 107, 1958.

Handbook on the Quality of Indian Wool (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 33, 1942.

Heavier goatskin exports from India. Pakistan, China supplies drop, *Tanner*, 1967, 22, 59–63.

India—Handbook of Commercial Information (Dep. of Commercial Intelligence & Statistics, Calcutta), 3 vols., 4th edn 1963–65.

India to import more wool tops from Australia, *Wool News Bull.*, No. 6, 1950, 1.

Indian bristle trade, *Madras agric. J.*, 1954, **41**, 80.

Instructions on Grading and Marketing of Creamery Butter (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 105, 1958.

Marketing of Bristles in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 137, 1962.

Marketing of Wool in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 142, revised edn, 1965.

Monthly Statistics of the Foreign Trade of India, Vols. I and II (Dept of Commercial Intelligence & Statistics, Calcutta), March 1963, 1964, 1965, 1966, 1967 and 1968.

New record set for India's exports, *J. Ind. & Tr.*, 1964, **14**(5), 756–62.

Report on the Marketing of Animal Fats and Certain Important By-products in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 124, 1961.

Report on the Marketing of Bones and Bone-meal in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 115, 1958.

Report on the Marketing of Cattle in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 53, 1946.

Report on the Marketing of Ghee and Other Milk Products in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 85, revised edn, 1957.

Report on the Marketing of Hides in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 164, 1967.

Report on the Marketing of Meat in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 79, 1955.

Report on the Marketing of Milk in the Indian Union (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 64, 1950.

Report on the Marketing of Sheep and Goats in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 50, 1944.

Report on the Marketing of Skins in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 80, revised edn, 1955.

Report on the Marketing of Wool and Hair in India (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 54, 1946.

Report on the Regulated Markets in India, Vol. I, Legislation (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 91, 1956.

Result of public sales of tanned East India goat and sheepskins : 24th January, 1955, *Tanner*, 1955, 9(9), 13–14.

Review of exports of East India tanned hides and skins and by-products to U.K., *Leathers*, 1967, 8(5), 1–2.

Tanned East Indian goat and sheepskins sales, *Tanner*, 1964, 19(2), 59.

Trade in sheep and lambskins, *Leathers*, 1967, 8(7), 1–7.

Varied trends in goatskins trade, *Tanner*, 1967, 21(12), 432–33, 435.

What are the main types of wool recognized in world trade, *Indian Fmg*, 1947, 8, 35.

Wool Grading Instructions (Directorate of Marketing & Inspection, Govt. of India), *Marketing Ser.*, No. 1, 32, 1962.

कुक्कुट पालन

Abbas, F.—Poultry birds can yield manure too, *Indian Fmg, N.S.*, 1964–65, 14(4), 19.

Adhiya, V.—You can get four times more eggs, *Indian Fmg, N.S.*, 1965–66, 15(12), 16–17.

Adlakha, S. C.—Serological investigation to determine respiratory infections of poultry in India, *Avian Dis.*, 1966, 10, 401–04.

Advances in farm research : Poultry, *Indian Fmg, N.S.*, 1960–61, 10(10), 4.

Agarwala, O. P.—Poultry keeping and egg production, *Indian Poult. Gaz.*, 1956, 40(3), 15–26.

Agarwala, O. P.—Compare the effect of replacement of groundnut cake with mustard cake in layer ration on age first egg laid, hatchability and egg production throughout one year of laying, *Indian vet. J.*, 1964, 41, 751–53.

Almquist, H. J.—Amino acid requirements of chickens and turkeys : A review, *Poult. Sci.*, 1952, 31, 966–81.

Ansaari, Z. A. & Talapatra, S. K.—Fish meal as a protein supplement in young ruminants, *Indian J. Dairy Sci.*, 1966, 19(4), 183–86.

Arora, V. K. *et al.*—Comparative study of a variety of crossbreeds in poultry on hatchability and viability, *Indian vet. J.*, 1967, 44, 852–56.

Arya, P. L. & Chhabra, M. B.—Spirochaetosis in poultry (A clinical observation), *Indian vet. J.*, 1959, 36, 32–35.

Aseel—A valiant fighter, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(10), 23.

Athar Ali & Iyer, S. G.—Poultry keeping in hot climates, *Indian Fmg*, 1948, 9, 407–10.

Aykroyd, W. R. *et al.*—The Nutritive Value of Indian Foods and the Planning of Satisfactory Diets, *Spec. Rep. Ser.*, *Indian Coun. med. Res.*, No. 42, 1966.

Ayupan, A. L.—Tips on preserving eggs, *Philipp. Fms & Gdns*, 1964, 1(8), 28.

Bawa, H. S.—Graded eggs can raise your profit margin, *Indian Fmg, N.S.*, 1954–55, 4(9), 16–17.

Benjamine, E. V. *et al.*—Marketing of Poultry Products (John Wiley & Sons, Inc., New York), 5th edn, 1960.

Benk, E. *et al.*—Natural β-carotene in fresh, dried, and frozen yolks of duck eggs, *Chem. Abstr.*, 1967, 67, 20706.

Beri, S. P.—The natural method of hatching, *Indian Fmg, N.S.*, 1952–53, 2(2), 22.

Better fowls at lower cost, *Indian Fmg, N.S.*, 1955–56, 5(6), 38.

Bhattacharya, A. N.—Nutritional value of poultry litter in ruminants and poultry, *Diss. Abstr.*, 1965, 25, 6861–62.

Blanck, F. C. (Editor)—Handbook of Food and Agriculture (Reinhold Publishing Corp., New York), 1955.

Block, R. J. & Mitchell, H. H.—The correlation of the amino acid composition of proteins with their nutritive value, *Nutr. Abstr. Rev.*, 1946–47, 16, 249–78.

Bora, L. R. & Sharma, P. K.—Assam Muga silkworm, *Antharaea assamensis* Ww, pupae as protein supplement in chick ration, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 354–59.

Bose, S.—The marketing of poultry products, *Indian Poult. Gaz.*, 1950, 34(2), 3–5.

Bose, S.—Processed cowdung as poultry feed, *Indian Fmg, N.S.*, 1954–55, 4(8), 13.

Bose, S.—You can make eggs hold on longer, *Indian Fmg, N.S.*, 1958–59, 8(5), 15–16.

Bose, S.—How they determine egg quality, *Indian Fmg. N.S.*, 1959–60, 9(9), 23–24.

Bose, S.—Handling of eggs and poultry meat without refrigeration, *Pacif. Sci. Congr. Abstr.*, 1961, 10, 5.

Bose, S.—Poultry supplement, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(10), 41–48

Bose, S.—What makes poultry keeping paying, *Indian Live-Stk*, 1963, 1, 28–30.

Bose, S.—Storage of eggs and poultry meat, *Indian Poult. Gaz.*, 1965, 48, 125–35.

Bose, S.—You can get more eggs through cross-breeding, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(3), 37–40.

Bose, S. & Tandon, H. P.—Processed cow manure, an ingredient of poultry feed, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1954, Pt 3, 233.

Bose, S. *et al.*—The effect of the addition of mango-seed kernel and jaman seed meal in a simplified poultry ration for egg production, *Indian Poult. Gaz.*, 1951, 34(4), 12–17.

Bose, S. *et al.*—The utilization of mango-seed kernel and *jaman* seed meal in a simplified poultry ration for growing chicken, *Indian J. vet. Sci.*, 1952, 22, 247–50.

Brady, J. C.—Poultry farming along scientific lines, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(1), 44–45, 47.

Breeding : Egg production in the villages, *Annu. Rep. imp. vet. Res. Inst., Izatnagar* (1946–47), 1955, 34, 35.

Breeding and rearing of ducks, *Indian Fmg*, 1948, 9, 389.

Buss, E. G.—Artificial breeding of turkeys requires several careful steps, *Sci. Fmr*, 1967, 14(2), 12.

By-products from poultry and eggs rich field for chemurgic research, *Chemurg. Dig.*, 1957, 16(9), 10–12.

Campbell, A. C. R.—Profitable Poultry Keeping in India and the East—A Complete Guide to Breeding and Keeping Poultry for Eggs or for the Table, with Practical Hints on Diseases (D. B. Taraporevala Sons & Co. Pvt. Ltd, Bombay), 7th edn, 1956.

Cannibalism in poultry, *Indian Fmg, N.S.*, 1957–58, 7(8), 33.

Cappa, V.—Nutritive value of *Urtica dioica*. Analytical investigations and experimental tests on chickens, *Chem. Abstr.*, 1966, 65, 7701.

Card, L. E.—Poultry Production (Lea & Fabiger, Philadelphia), 8th edn, 1952.

Cave, N. A. G. *et al.*—Nutritional value of wheat milling byproducts for the growing chick—I. Availability of energy, *Cereal Chem.*, 1965, 42, 523–32.

Cave, N. A. G. *et al.*—Nutritional value of wheat milling byproducts for the growing chick—II. Evaluation of protein, *Cereal Chem.*, 1965, 42, 533–38.

CFTRI develops a technique to improve keeping quality of eggs, *J. Fd Sci. & Technol.*, 1966, 3, 118.

Chatterjee, N.—Nutrition of growing eggs of the hen, *Gallus domesticus*, *Ann. Zool.*, 1967, 5(4), 31–38.

CHAUDHURY, D. S. & CHATURVEDI, M. L.—Utilization of waste blood from slaughter-houses in poultry feed, *Indian vet. J.*, 1966, 43, 247–49.

CHISHOLM, M.—Origin and history of the Indian runner duck; with discussion, *Rep. Proc. World Poult. Congr.* (1930), 1931, 848–53.

CHUDY, J. & BATURA, J.—Nutrition studies on rapeseed oil—I. Storage of erucic acid in the depot fats in chickens fed rapeseed oil, *Chem. Abstr.*, 1966, 65, 20588.

CHUDY, J. & CICHON, R.—Nutrition studies on rapeseed oil—II. Effect of rapeseed and soybean oil on the food lipemia in cocks, *Chem. Abstr.*, 1967, 66, 17414.

Coccidiosis in chickens, *Indian Fmg, N.S.*, 1955–56, 5(7), 19.

Cold storage of shell eggs, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1955–56, 5, 32.

COUCH, J. R. & STELZNER, H. D.—Preparation of poultry growth-promoting substances, *Chem. Abstr.*, 1964, 60, 11296.

DANI, N. P. *et al.*—Scope of broiler processing industry in India, *Indian Fd Packer*, 1965, 19(1), 35–38.

DAS, J.—Control of common poultry diseases in India, *Indian Poult. Gaz.*, 1951, 35(3), 19–24.

DAS, J. & PANDA, S. N.—Salmonellosis in poultry in Orissa, *Indian vet. J.*, 1962, 39, 218–21.

DATTA, R. K.—Trace elements that your poultry need, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(3), 41–42.

DATTA, S.—Poultry research in 'Fifty Years of Science in India : Progress of Veterinary Research' (Indian Science Congress Association, Calcutta), 1963, 100–17.

DEO, P. G.—Roundworms of Poultry (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1964.

DEO, P. G. & SRIVASTAVA, H. D.—Studies on the effect of different deficient diets on the natural resistance of chickens to *Heterakis gallinae* (Gmelin, 1790), Freeborn, 1923, *Indian J. vet. Sci.*, 1963, 33, 225–29.

DESAI, R. N.—Poultry breeding is yet in its infancy (a review of research), *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(1), 45.

DEVADAS, R. P. & SUTTON, T. S.—Effects of egg-yolk supplementation to the poor rice diet of S. India on the growth of rats—I. Fat extracted egg-yolk, *Indian J. med. Res.*, 1951, 39, 51–58.

DEVADAS, R. P. & SUTTON, T. S.—Effects of egg-yolk supplementation to the poor rice diet of S. India on the growth of rats—II. Egg-yolk extract, *Indian J. med. Res.*, 1951, 39, 59–71.

DHANDA, M. R. *et al.*—Observations on the viability of freeze-dried Ranikhet (Newcastle) disease vaccine, *Curr. Sci.*, 1951, 20, 304.

DHANDA, M. R. *et al.*—Immunization of fowls with combined fowl pox and Ranikhet (Newcastle) disease vaccine, *Indian vet. J.*, 1958, 35, 5.

DHARMARAJU, E.—Turkeys can be bred in your backyard, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(7), 33.

DIKSHIT, P. K. & PATWARDHAN, V. N.—Nutritive value of duck egg white, *Curr. Sci.*, 1950, 19, 18–19.

DIKSHIT, P. K. & PATWARDHAN, V. N.—Nutritive value of duck egg white—Part II. A comparison of the digestibility and growth promoting capacity of hen and duck egg whites, *Indian J. med. Res.*, 1954, 42, 525–32.

DRIGGERS, J. C.—Fish oil in poultry rations, *Chem. Abstr.*, 1955, 49, 10544.

Drying of eggs, *Food Sci.*, 1957, 6, 49–52.

Duck farms, *Indian vet. J.*, 1963, 40, 176.

Ducks for combating pests, *Madras agric. J.*, 1949, 36, 289.

Eggs, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1953–54, 3(3), 75.

EVERSON, G. J. & SOUDERS, H. J.—Composition and nutritive importance of eggs, *Chem. Abstr.*, 1958, 52, 18946.

Feeding poultry, *Indian Fmg, N.S.*, 1957–58, 7(12), 19.

Feeding poultry—Common Errors, *Farm News Release, Indian Coun. agric. Res.*, No. 10, 1958.

FEENEY, R. E. & HILL, R. M.—Protein chemistry and good research, *Advanc. Fd Res.*, 1960, 10, 23–73.

Fowl pox, *Annu. Rep., Indian vet. Res. Inst., Izatnagar*, 1949–50. 13, 1955.

Fowl typhoid, *Mysore agric. J.*, 1954, 30, 48.

GAREWAL, N. S.—The role of minerals in poultry nutrition, *Indian Poult. Gaz.*, 1954, 38(1), 7–9.

GAREWAL, N. S.—Bringing up chicks, *Indian Fmg, N.S.*, 1955–56, 5(10), 23–25.

GAREWAL, N. S.—What eggs cost to produce, *Indian Fmg, N.S.*, 1957–58, 7(6), 18–19.

GAREWAL, N. S.—Broilers do have a future in India, *Indian Fmg, N.S.*, 1959–60, 9(8), 10–11.

GAREWAL, N. S.—Some scourges of poultry birds, *Indian Fmg, N.S.*, 1960–61, 10(11), 25–26.

GAREWAL, N. S.—It's useful to know how to judge poultry birds and eggs, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(4), 40–43.

GAREWAL, N. S.—Poultry shows show-up the best birds, *Indian Fmg, N.S.*, 1968–69, 18(1), 50–51.

GAUD, G.—Two new species of feather mites (Analgesoidea) from poultry in India, *Indian vet. J.*, 1961, 38, 65–70.

GHOSH, G. K.—*Salmonella typhi* infection in fowls, *Indian vet. J.*, 1962, 39, 11–14.

GUPTA, B. N.—Draw up a breeding policy for your birds, *Indian Fmg, N.S.*, 1962–63, 12(1), 30–31.

GUPTA, B. N.—Some points about poultry feed, *Indian Fmg, N.S.*, 1962–63, 12(4), 18–19.

GUPTA, B. N.—Some points of poultry health, *Indian Fmg, N.S.*, 1962–63, 12(8), 25–27.

GUPTA B. N.—Faulty "Foster-mothers" may play havoc in your brooders, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(1), 34, 63.

GUPTA, B. N.—Rid your birds of roundworms, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(2), 19, 55.

GUPTA, B. R. & BOSE, S.—Studies on the internal qualities of thermo-stabilized and untreated hen and duck eggs despatched from distant places, *Indian J. vet. Sci.*, 1962, 32, 143–51.

GURUMURTHY, V.—Some observations on fowl cholera in Andhra Pradesh, *Indian vet. J.*, 1962, 39, 438–42.

HALEEM, M. A. *et al.*—Studies on the economics of processing and preservation of poultry meat, *Annu. Rep., Cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1966, 46–47.

HALEEM, M. A. *et al.*—Studies on the preparation of dehydrated minced poultry meat as a base for soup powder, *Indian vet. J.*, 1967, 44, 348.

HARKIRAT SINGH—Personal care essential in poultry-keeping, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(11), 4.

Hen's eggs in clinical use, *Sci. & Cult.*, 1947–48, 13, 245.

HILDITCH, T. P. & WILLIAMS, P. N.—The Chemical Constitution of Natural Fats (Chapman & Hall, London), 4th edn, 1964.

Indian-American firm makes first import of new disease-resistant U.S. chickens, *Foreign Agric.*, 1966, 4(17), 9.

IYENGAR, J. R. *et al.*—Preparation of whole egg powder, egg white powder and egg yolk powder, *Annu. Rep., Cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1966, 48–49.

IYER, S. G.—Control of poultry mortality in India, *Indian Fmg*, 1948, 9, 335.

IYER, S. G.—Economics of poultry keeping, *Indian Fmg*. 1949, 10, 498.

IYER, S. G.—Improved indigenous hen evolved by selective breeding, *Indian vet. J.*, 1949, 26, 80–86.

IYER, S. G.—Poultry industry in India, *Indian Poult. Gaz.*, 1949, 33(2), 11.

IYER, S. G.—Poultry industry in India, *Indian vet. J.*, 1950, 26, 281–87.

IYER, S. G.—Egg production in Indian fowls (*desi*), *Indian Poult. Gaz.*, 1951, 35(2), 23–26.

IYER, S. G.—Egg production in different breeds of poultry, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1952, Pt 3, 199.

IYER, S. G.—Hatchability in different breeds of fowls, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1952, Pt 3, 200.

IYER, S. G.—Poultry, *Souvenir, Indian Coun. agric. Res.*, 1929–54, 106, 1954.

IYER, S.G.—All about the egg, *Indian Fmg, N.S.*, 1954–55, 4(7), 29.

IYER, S. G.—From 50 eggs to 120 : A rational system of feeding of poultry can make for better poultry production, *Indian Fmg N.S.*, 1955–56, 5(8), 31.

IYER, S. G.—Make the best of the better birds, *Indian Fmg, N.S.*, 1955–56, 5(1), 13.

IYER, S. G.—When Ranikhet comes, *Indian Fmg, N.S*, 1955–56, 5(4), 9, 26.

IYER, S. G.—What a poultry keeper should know, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(1), 31–32, 62.

IYER, S G.—Exploiting hybrid vigour for egg production, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(7), 30–32.

IYER, S. G. & DOBSON, N.—A successful method of immunization against Newcastle disease of fowls, *Vet. Rec.*, 1940, 52, 889.

IYER, S. C. & NARAYANAN, S.—Influence of season on fecundity of Indian fowls in Northern India, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1951, Pt 3, 244.

IYER, S. G. & PARTHASARATHY, D.—Poultry feeding in India, *Indian vet J*, 1950, 26, 378–84.

IYER, S G & TANDON, H. P.—A note on the rate of egg production in a strain of improved Indian fowls, *Indian Poult. Gaz.*, 1951, 35(3), 9–10

IYER, S. G. & TANDON, H P.—Egg production of different breeds of poultry during summer months in Northern India, *Indian Poult. Gaz*, 1953, 37(2), 24–26.

IYER, S G *et al.*—Improvement in egg production, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1951, Pt 3 244.

IYER, S. G. *et al.*—Poultry farming at high altitudes, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1953, Pt 3, 62.

IYER, S. G. *et al.*- Improvement of egg production in a strain of White Leghorn fowls by progeny testing of sires, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1954, Pt 3, 232.

JACOBS, M. B. (Editor)—The Chemistry and Technology of Food and Food Products (Interscience Publishers, Inc., New York), 3 vols., 2nd edn, 1951.

JANSEN, JAC.—Duck plague (a concise survey), *Indian vet. J.*, 1964, 41, 309–16

JEFFREY, E. P.—Blood and meat spots in chicken eggs, *Poult. Sci.*, 1945, 24, 363

JOHARI, D. C. & SINGH, B. P.—Studies on internal egg quality—I. Influence of breed, season and age of the birds on internal egg quality, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 139–44.

JOHARI, D. C. & SINGH, B. P.—Studies on internal egg quality—II. Heritability of internal egg quality traits and genetic correlation of egg weight and shape index with some important egg quality traits in White Leghorn pullets, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 332–37.

JOHN LYON, B. S. *et al.*—Development of poultry diets which do not compete with human food resources, *Indian vet. J.*, 1966, 43, 830–32.

JOLLES, J. *et al.*—Differences between the chemical structures of duck and hen egg-white lysozymes, *Chem. Abstr.*, 1967, 67, 18120.

KADKOL, S. B. & LAHIRY, N. L.—Strained baby foods from poultry, *Indian Fd Packer*, 1964, 18(3), 1–3.

KAHLON, A. S. & DWIVEDI, H. N.—Study of seven poultry farms in the Punjab, *Agric. Situat. India*, 1964–65, 19, 877–79.

KANNAN, S.—Wild ducks—A paddy pest, *Madras agric. J.*, 1950, 37, 38.

KAR, A. B.—Artificial insemination of poultry, *Indian vet. J.*, 1949, 25, 310–20.

KHAN, A. W.—Extractions and fractionation of proteins in fresh chicken muscle, *J. Fd Sci.*, 1962, 27, 430–34.

KIRLOSKAR, M. S.—Raising fine poultry for the table, *Indian Fmg, N.S.*, 1957–58, 7(12), 14–15.

KIRLOSKAR, M. S. & BHAGWAT, A. L.—It costs less to manufacture your own poultry feed, *Indian Live-Stk*, 1965, 3(3), 35–36, 46.

KRISHNAN, T. S.—Studies on egg defertilization, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1951, Pt 3, 245.

KUMAR, J. & KAPRI, B. D.—Genetic studies on internal egg quality and its relationship with other economic traits in White Leghorn birds—I. Heritability and repeatability of egg quality, *Indian vet. J.*, 1966, 43, 825–29.

KUMAR, J. & KAPRI, B. D.—Genetic studies on internal egg quality and its relationship with other economic traits in White Leghorn birds—II. Hatchability and egg quality, *Indian vet. J.*, 1967, 44, 219–24.

KUMAR, J. & KAPRI, B. D.—Genetic studies on internal egg quality and its relationship with some of the economic traits in White Leghorn birds—III. Economic traits, *Indian vet. J.*, 1967, 44, 847–51.

KUPPUSWAMY, S. *et al.*—Proteins in Foods, *Spec. Rep. Ser., Indian Coun. med. Res.*, No. 33, 1958.

LAL Chand—Survey on poultry practices and production, *J. vet. Anim. Husb. Res.*, 1964, 8, 1–8.

LALL, H. K.—Poultry development in Meerut Circle, *Indian Fmg, N.S.*, 1952–53, 2(9), 26–28.

LIPSCOMB, J. K. & HOWES, H.—Ducks and Geese, *Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 70, 1934.

MCARDLE, A. A.—Poultry Management and Production (Angus & Robertson, Sydney), 1963.

MCARDLE, A. A.—Feed problem for a small poultry keeper, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(2), 37, 44.

MCARDLE, A. A.—A Poultry Supplement—to be used in conjunction with the booklet 'A Poultry Guide for the Villager' for the use of the sideline and commercial type poultry operator (United Nations' Children's Fund, New Delhi), 1964.

MCARDLE, A. A.—A Handbook for Poultry Officers in India (United Nations' Children's Fund, New Delhi), revised edn, 1965.

MCARDLE, A. A. & PANDA, J. N.—Fertilizer from your poultry birds, *Indian Fmg, N.S.*, 1963–64, 13(10), 3–5, 23.

MCARDLE, A. A. & PANDA, J. N.—A Poultry Guide for the Villager (Ministry of Food & Agriculture, Dep. of Agriculture, New Delhi), 3rd edn, 1965.

MCCANCE, R. A. & WIDDOWSON, E. M.—The Composition of Foods (Her Majesty's Stationery Office, London), 1960.

MACDONALD, A. J. & BOSE, S.—Growth promoting value of eggs, *Indian J. med. Res.*, 1952, 30, 285.

MACDONALD, A. J. *et al.*—Canning chicken, *Indian Fmg*, 1944, 5, 214–17.

MAHADEVAN, T. D.—Use of egg cooling cabinet to preserve quality of eggs in summer season, *Indian Poult. Gaz.*, 1966, 50(2), 33–37.

MAHADEVAN, T. D. & BOSE, S.—The determination of the percentage of edible flesh in the Rhode Island Red, White Leghorn and *Desi* (indigenous) cockerels at different stages of growth, *Indian J. vet. Sci.*, 1951, 21, 39–41.

MAHADEVAN, T. D. & BOSE, S.—Investigation on carcass yield of table poultry meat, *Indian J. vet. Sci.*, 1967, 37, 122–30.

MAHINDRU, K. G.—Leucosis is another fowl-killer, *Indian Fmg, N.S.*, 1958–59, 8(5), 26–27.

MAHINDRU, K. G.—*Desi* vs. exotic poultry breeds, *Indian Fmg, N.S.*, 1962–63, 12(5), 27.

MAJUMDAR, B. N. & JANG, S.—Comparative manurial value of the excreta of some farm animals, *Ann. Biochem.*, 1963, 23, 91–94.

MALIK, D. D.—Poultry research projects undertaken at the Agricultural University, Hissar, *Indian Poult. Gaz.*, 1967, 50(4), 22–27.

Mash without cereals : Feed for poultry, *Farmer*, 1962, 13(3), 21–22.

MATHUR, P. B.—Cold storage of perishable foods, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1954–55, 4, 215.

MATZ, S. A.—Cookie and Cracker Technology (The Avi Publishing Co., Inc., Westport, Connecticut), 1968.

MEHTA, I. V. P.—Common poultry diseases in India, *Indian vet. J.*, 1951, 27, 337–41.

MENON, P. B.—Poultry-lice, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, 3(12), 12–13.

MINOR, L. J. *et al.*—Chicken flavour : The identification of some chemical components and the importance of sulphur compounds in the cooked volatile fraction, *J. Fd Sci.*, 1965, 30, 686–96.

MIRZA, I. B.—Vaccination against Ranikhet disease in poultry, *Indian vet. J.*, 1953, 30, 242–43.

Model poultry farm in Maharashtra, *Indian Fmg, N.S.*, 1967–68, 17(7), 29.

MOHAN, R. N.—Cutaneous eruptions in rinderpest, *Indian J. vet. Sci.*, 1948, 18, 27–32.

MOHIUDDIN, Gh. & LONE, M. M.—Incidence and control of endoparasites in ducks, *Indian vet. J.*, 1967, 40, 493–95.

MOORE, E. N.—Prosperity through poultry, *Indian Fmg, N.S.*, 1961–62, 11(6), 13–15.

MOORE, E. N.—Routine vaccination can rout Ranikhet, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(1), 32–34.

MORRIS, R. C.—Domestic poultry diseases now endemic in jungle, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1952–53, 51, 747–48.

MORRISON, F. B.—Feeds and Feeding (The Morrison Publishing Co., Ithaca, N.Y.), 22nd edn, 1956.

MUKERJI, A. *et al.*—Duck plague in West Bengal—Pts I & II, *Indian vet. J.*, 1963, 40, 457–62; 753–58.

MUKERJI, A. *et al.*—Report on outbreaks of duck virus hepatitis in West Bengal, *Indian vet. J.*, 1963, 40, 597–600.

MUKHERJEE, D. P. & BHATTACHARYA, P.—Semen studies and artificial insemination in poultry, *Indian J. vet. Sci.*, 1949, 19, 79.

MUKHERJEE, R. & PARTHASARATHY, D.—The digestible nutrients of certain cereal grains as determined by experiments on Indian fowls : Studies on biological values of the proteins of certain poultry feeds, *Indian J. vet. Sci.*, 1948, 18, 41–45, 51–56.

MUKHERJEE, R. *et al.*—Studies on economic poultry rations—II. Effect of the incorporation of pulse chunies in the ration of growing chicks, *Indian vet. J.*, 1966, 43, 533–37.

NAGPAL, M. L. *et al.*—Studies for evolving economic poultry ration : Feeding trials with economic broiler rations with ordinary and deoiled rice bran as cereal substitutes, *Indian vet. J.*, 1968, 45, 341–49.

NAIDU, P. M. N.—Poultry Keeping in India (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1959.

NAIR, M. K. *et al.*—Incidence and pathology of gout in poultry, *Kerala Vet.*, 1964, 3(1), 12–14.

NARAIN, R. & PARTHASARATHY, D.—Phytic acid in poultry feeds, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1951, Pt 3, 244.

NARASINGA RAO, B. S. & PATWARDHAN, V. N.—Nutritive value of duck egg white—III. The presence of a growth inhibitor in duck egg white, *Indian J. med. Res.*, 1954, 42, 533–42.

NARASINGA RAO, B. S. & PATWARDHAN, V. N.—Nutritive value of duck egg white—IV. Antitryptic and growth inhibiting properties of the duck egg white ovomucoid, *Indian J. med. Res.*, 1954, 42, 543–44.

NEB, Y. B.—Better production and handling of eggs for higher returns, *Indian Live-Stk*, 1963, 1(2), 30–31.

NILAKANTAN, P. R.—Poultry industry and virus diseases, *Indian Poult. Gaz.*, 1950, 34(3), 9–13.

OGRA, M. S. *et al.*—Evolving economic rations for poultry, *Indian Live-Stk*, 1964, 2(1), 17–18.

PAL, A. K. & IYER, S. G.—Rational feeding of poultry, *Indian Poult. Gaz.*, 1952, 35(4), 5.

PAL, A. K. & RAMACHANDRA, G.—A note on the feeding of *bajra* to chickens, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1954, Pt 3, 230.

PANDA, B.—Nutritive value of egg of chicken, *Farm J., Calcutta*, 1962, 3(5), 9–12.

PANDA, B.—Turkey egg handling methods, *Indian vet. J.*, 1962, 39, 398.

PANDA, B.—Production and processing of poultry and poultry products, *Poult. Guide*, 1966, 3, 3–13.

PANDA, B.—Marketing aspects of egg and poultry products, *Food Ind. J.*, 1967, 2(2), 12–13.

PANDA, B.—Recent advances in preservation of eggs and its products in India, *Proc. Indian Poult. Sci. Ass., New Delhi*, Dec. 23, 1967, 7–11.

PANDA, B.—Some newer sources of ingredients for poultry feed, *Farm J., Calcutta*, 1967, 8(7), 9–12.

PANDA, B.—Marketing aspects of egg and poultry products, *Food Ind. J.*, 1968, 2(2), 12–13.

PANDA, B. & HALEEM, M. A.—Storage problems of poultry and poultry products, *Proc. 1st Mysore State Poultry Show Seminar, Bangalore*, Dec. 29, 1966.

PANDA, B. & REDDY, M. S.—Studies on preservation of frozen egg yolk by enzymatic treatment, *Indian Fd Packer*, 1968, 22(2), 58–59.

PANDA, B. *et al.*—Effect of feeding egg powder obtained from fresh and preserved eggs on growth and feed conversion of albino rats, *Indian vet. J.*, 1965, 42, 264–66.

PANDA, B. *et al.*—Preservation of shell eggs at room temperature and studies on their internal quality, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 291-92.

PANDA, B. *et al.*—Processing poultry industrial wastes for animal feeds—I. Preparation and utilization of egg shell powder : 2nd conference of poultry research workers in India, March 1965, *Indian vet. J.*, 1965, **43**, 290-91.

PANDA, B. *et al.*—Processing poultry industrial wastes for animal feeds—II. Preparation of hatchery by-product meal from hatchery wastes : 2nd conference of poultry research workers in India, March 1965, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 291.

PANDA, B. *et al.*—Processing and utilization of egg shell as a source of calcium in animal feeds, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 773-77.

PANDA, B. *et al.*—Studies on the effect of different coating materials on the keeping quality of eggs preserved at room temperature, *Proc. World Poult. Sci. Congr., Kiev*, 1966.

PANDA, B. *et al.*—Studies on quality of shell eggs marketed in Mysore city, *Indian vet. J.*, 1968, **45**, 953-57.

PANDA, B. *et al.*—Studies on the effect of washing eggs with different detergent and sanitizer mixtures on microbial load and keeping quality of shell eggs, *Indian vet. J.*, 1969, **46**, 608-15.

PANDA, J. N.—Selection of breed for profitable egg production, *Indian Poult. Gaz.*, 1950, **33**(4), 8-10.

PANDA, J. N.—Poultry development in Orissa, *Indian Poult. Gaz.*, 1954, **38**(1), 4-6.

PANDA, P. C. *et al.*—Studies on the bacterial contamination of market eggs : A preliminary report, *Indian vet. J.*, 1968, **45**, 439-43.

PARKINSON, T. L.—Chemical composition of eggs, *J. Sci. Fd Agric.*, 1966, **17**, 101-11.

PARKINSON, T. L.—Effect of pasteurization on the chemical composition of liquid whole egg—I. Development of a scheme for the fractionation of the proteins of whole egg, *J. Sci. Fd Agric.*, 1967, **18**, 208-13.

PARTHASARATHY, D. & IYER, S. G.—Poultry feeding in India, *Indian Poult. Gaz.*, 1949, **33**(2), 3.

PARTHASARATHY, D. & IYER, S. G.—Dried cow manure in the ration of growing chickens, *Indian J. vet. Sci.*, 1951, **21**, 107.

PARTHASARATHY, D. & MUKHERJEE, R.—The manganese content of some poultry feeds, *Indian J. vet. Sci.*, 1948, **18**, 47-50.

PATHAK, S. P. & VASISTHA, A. K.—Glyceride structure of Indian turkey (*Meleagris gallopava*) depot fat, *Indian Oil & Soap J.*, 1965, **30**, 337-41.

PATIL, R. M.—Quality table eggs in summer, *Poona agric. Coll. Mag.*, 1950, **41**, 56.

PATIL, R. M.—Handling and Marketing of Eggs, *Farm Bull., Indian Coun. agric. Res.*, No. 37, 1958.

PATIL, R. M.—More eggs—more birds, *Farmer*, 1960, **11**(1), 105-06.

PATIL, R. M.—Poultry Co-operatives prosper in Maharashtra, *Indian Fmg, N.S.*, 1968-69, **18**(10), 47.

PATWARDHAN, M. V. & VIJAYARAGHAVAN, P. K.—Nutritive value of duck egg white—I. Note on the essential amino acid composition of duck egg white, *Indian J. med. Res.*, 1954, **42**, 521-23.

PAUL, D. L.—A few words on duck-keeping in Assam, *Indian Fmg, N.S.*, 1954-55, **4**(1), 24.

PILLAI, C. P.—Modification of Newcastle disease (Ranikhet) virus, *Trop. Agriculturist*, 1948, **104**, 190.

PIPPEN, E. L. *et al.*—Volatile carbonyl compounds of cooked chicken—I. Compounds obtained by air entrainment, *Food Res.*, 1958, **23**, 103-13.

PIPPEN, E. L. & NONAKA, M.—Volatile carbonyl compounds at cooked chicken—II. Compounds volatilized with steam during cooking, *Food Res.*, 1960, **25**, 764-69.

Poulty Breeding in 'Handbook of Animal Husbandry' (Indian Council of Agricultural Research, New Delhi), 1962.

Poultry development, *Farmer*, 1962, **13**(6), 24-27.

Poultry diseases—*Annu. Rep., imp. vet. Res. Inst., Izatnagar*, 1946-47, 37-38.

Poultry diseases, *Annu. Rep. Indian Coun. agric. Res.*, 1948-49.

Poultry farming, *Bull. Indian cent. Cocon. Comm.*, 1954-55, **8**, 300.

Poultry feed, *Industr. Bull.*, 1969, **8**, 64-65.

Poultry Feeding in Tropical and Subtropical Countries, *F.A.O. & agric. Developm. Pap.* (Food & Agriculture Organization, Rome), No. 82, 1965.

Poultry Research, *Agric. Anim. Husb. Res., Indian Coun. agric. Res.*, 1929-46, Pt 2, 179, 1952.

Poultry Research, *Annu. Rep. Indian vet. Res. Inst., Izatnagar*, 1949-50, **7**.

Poultry Science Number, *Indian Fmg, N.S.*, 1968-69, **18**(9).

Poultry ticks, *Indian Fmg, N.S.*, 1959-60, **9**(9), 25.

PRASAD, H. & SRIVASTAVA, C. P.—Duck diseases in India with a note on an outbreak of Coli-bacillosis in Bihar, *Indian vet. J.*, 1964, **41**, 787-92.

Processed Cow-dung : A Good Poultry Feed, *Farm News Release, Indian Coun. agric. Res*, No. 122.

RANGANATHAN, N. *et al.*—Study on the dressing of Rhode Island Red, White Leghorn and *Desi* cockerels, *Indian vet. J.*, 1967, **44**, 956-61.

RANGHAN, S. K.—Poultry feeding and egg production, *Indian Fmg, N.S.*, 1961-62, **11**(12), 26-27.

Ranikhet disease, *Annu. Rep., imp. vet. Res. Inst., Izatnagar*, 1946-47, 7.

Ranikhet vaccination in India, *Indian Fmg*, 1949, **10**, 259.

RAO, C. G.—Studies on pox in ducks in Andhra Pradesh, *Indian vet. J.*, 1965, **42**, 151-55.

RAO, P. V. *et al.*—Studies on economic poultry rations—I. An investigation on the inclusion of rice polishings, guar meal and gram chuni in the ration of growing chicks, *Indian vet. J.*, 1966, **43**, 143-49.

RAO, S. B. V.—Protect your birds from fowl-pox, *Indian Fmg, N.S.*, 1957-58, **7**(12), 11.

RAO, S. B. V.—Present position of infectious coryza in chickens in India, *Indian vet. J.*, 1958, **35**, 331-36.

RAO, S. B. V.—Protect your chicks against coccidiosis, *Indian Fmg, N.S.*, 1958-59, **8**(4), 14-15.

RAO, S. B. V.—"F" intranasal vaccine that immunizes chicks against Ranikhet, *Indian Fmg, N.S.*, 1961-62, **11**(11), 23-24.

RAO, S. B. V.—Psittacosis Ornithosis : A new threat to poultry farmer, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(2), 25-26, 52.

RAO, S. B. V.—When CRD strikes your flock, *Indian Live-Stk*, 1963, **1**(1), 35-36, 60.

RAO, S. B. V. *et al.*—Note on the chick embryo vaccine against fowl-pox, *Indian vet. J.*, 1952-53, **29**, 387.

RAO, S. V. S.—Fish-meal in poultry nutrition, *Farm. J., Calcutta*, 1968, **9**(3), 23-24

Rapeseed meal for livestock and poultry—Review, *Publ. Dep. Agric. Canada*, No. 1257, 1965.

ग्रन्थ में प्रयुक्त अँग्रेजी तथा लैटिन शब्द

पशुधन
Livestock

गोपशु
Cattle

Bos indicus Linn.; *Bovidae; Bovinae;* Holstein-Friesians; German Fleckvieh.

भैंसें
Buffaloes

Bubalus bubalis Linn.; *Mangifera indica; Syzygium cumini; Cassia tora; Tamarindus indica; Acacia arabica; Saccharum spontaneum; S. munj; Carthamus oxyacantha; Arachis hypogaea; Madhuca indica, Crotalaria juncea; Enterolobium saman;* Shorthorn; *Haemorrhagic septicaemia; Pasteurella septica; Clostridium chauvoei; Cl. septicum; Bacillus anthracis; Mycobacterium tuberculosis; Corynebacterium pyogenes; Bacterium coli; Pseudomonus aeruginosa; Streptococcus agalactiae; Staphylococcus aureus; Streptococcus dysgalactiae; S. uberis; Brucella abortus; Vibrio foetus; Trichomonas foetus; Bovimyces pleuropneumoniae; Theileria; Trypanosoma evansi; Tabanidae; Stomoxys; Eimerio, E. zurnii, E. smithi, E. cylindrica, E. subspherica, E. bovis, E. bukidnonensis; E. wyomingensis, E. canadensis, E. alabamensis, E. braziliensis, E. thianethi, E. ellipsoidalis, E. auburnensis; Babesiosis; Babesia bigemina, B. argentina, B. berbera, B. bovis, B. major; Theileria annulata; Hyalomma savignyi; Theileria mutans; Fasciola gigantica* Cobbold, *F. indica* Varma, *F. hepatica* Linn.; *Schistosoma nasalis* Datta; *Lymnaea* spp.; *Indoplanorbis* sp.; *Paramphistomum explanatum, Gastrothylax crumenifer; Cotylophoron cotylophorum; Indoplanorbis exutus; Eurytrema pancreaticum* (Janson); *Moniezia expansa* (Rudolphi); *Avitellina centripunctata; Stilesia globipunctata; Haemonchus contortus* (Rudolphi); *Mecistocirrus digitatus* (Linstow); *Oesophagostomum (Bosicola) radiatum* (Rudolphi); *Monodontus* Molin: *Bunostomum* Railliet; *Ascaris vitulorum; Trichuris ovis, T. globulosa, T. discolor; Dictyocaulus viviparus; Habronema* spp.; *Stephanofilaria assamensis* (Pande); *Onchocerca* spp.; *Parafilaria bovicola; Culicoides* sp.; *Hirudinaria* spp.; *Dinobdella* spp.; *Haemadipsa* spp.; *Hypoderma* spp.; *Ornithodoros* spp.; *Hyppderma lineatum* De Vill.; *Ornithodoros* Koch; *Hyalomma* Koch; *Haemaphysalis* Koch; *Psoroptes communis; Sarcoptes scabei* (de Geer); *Demodex folliculorum* (Simon). *Corynebacterium renale; Pfeifferella mallei; Saccharum officinarum; Pennisetum typhoideum; Coffea arabica; Avicennia officinalis; Brassica napus; Bassia latifolia; Manihot utilissima; Guizotia abyssynica; Sorghum vulgare; Cynodon plectostachyum; Cenchrus ciliaris; Brachiaria mutica; Pennisetum purpureum; Phaseolus atropurpureus; Atylosia scarabaeoides; Cenchrus ciliaris. C. setigerus; Chrysopogon fulvus; Vicia sativa; Streptococcus lactis; Onosma hispidum; Withania coagulans; Bixa orellana.*

भेड़ें
Sheep

Ovis orientalis Gmelin; *O. musimon* Pallas; *O. ammon* Linn.: *Bovidae; Caprinae; Vigna aconitifolius; V. aureus; V. mungo; Dolichos biflorus; Sesbania aegyptiaca; Ischaemum pilosum; Clostridium welchii; Pasteurella haemolytica; Fusiformis nodosus; Spirochaeta penortha; Pasteurella multocida; Salmonella abortus-ovis, S. typhimurium; Varestronglus pneumonicus* Bhalerao; *Ixodes ricinus* (Linn.); *Xanthium strumarium.*

बकरियाँ
Goats

Capra spp.; *Alpine; Nubian; Saanen; Toggenberg; Angora; Bacillus anthracis; Brucella melitensus; Vibrio foetus; Leptospira pamona; Corynebacterium ovis; Babesia* spp.; *Fasciola gigantica* Cobbold; *Cotylophoron* spp.; *Schistosoma* spp., *Moniezia* spp.; *Bovicola* sp.; *Ornithodoros* sp.; *Boophilus* sp.; *Sarcoptes* sp., *Chevon; Mohair.*

सुअर
Pigs

Artiodactyla; Suiformes; Suidae; Sus scrofa cristatus Wagner; *S. salvanius* (Hodgson); *Sus scrofa andamanensis* Blyth: *Berkshire; Large White Yorkshire; Middle White Yorkshire; Landrace; Hampshire; Tamworth; Wessex saddleback; Trifolium alexandrinum; Trigonella* sp.; *Dolichos biflorus; Pasteurella suiseptica; Erysipelothrix rhusiopathioe; Brucella abortus suis; Haemophilus influ-*

enzae suis; Escherichia coli; Streptothrix actinomyces; Macracanthorhynchus hirudinaceus Trevassos (=*Echinorhynchus gigas*); *Ascaris lumbricoides* Linn.; *Metastrongylus elongatus* Duj.; *Taenia solium* Linn.; *Trichinella spiralis* (Owen); *Haematopinus suis* Linn.; *Sarcoptes scabiei* (de Geer).

घोड़े और टट्टू
Horses and Ponies

Eohippus; Perissodactyla; Equidae; Equus Linn.; *Asinus; Dolichohippus; Hippotigris; Equus przewalskii* Poliakov; *Equus heminous khur* Lesson; *E. h. onager* Boddaert; *Cicer crietinum* Linn.

ऊँट
Camels

Artiodactyla; Camelidae; Camelus Linn.; *Camelus dromedarius* Linn.; *C. bactrianus* Linn.; *Vigna aconitifolius; V. aureus; Cyamopsis psoralioides; Eruca sativa; Brassica campestris; Azadirachta indica; Dalbergia sissoo; Acacia arabica; Zizyphus nummularia; Sorghum vulgare; Trypanosoma evansi; Sarcoptes cameli.*

याक
Yak

Bos (Poephagus) grunniens Linn.; *Artiodactyla; Bovidae; Zo; Zum.*

पशुधन उत्पादों का रसायन
Chemistry of Livestock Products

Penicillium roquefortii; Lactobacillus bulgaricus; Streptococcus diacetilactis.

कुक्कुट पालन
POULTRY

Gallus gallus Linn.; Langshan; Plymouth Rock; Wyandotte; Rhode Island Red; New Hampshire; Barred Plymouth Rock; White; Buff; Silver; pencilled; Partridge; Columbian; Blue; Silver laced; Golden laced; Black; Sussex; Orpington; Australorp; Cornish; Dorking; Red cap; Leghorn; Minorca; Ancona; Spanish; Andalusian; Buttercup; Bantams; Spanish fowl; *Panicum miliaceum; Avena sterilis; Eleusine coracana; Zea mays; Shorea robusta*; Midget; *Salmonella derby, S. bredeney, S. montividio, S. oranienberg, S. newport, S. bareilly, S. anatis. S. maleagridis; Salmonella gallinarum; Haemophilus gallinarum; Mycoplasma gallinarum; Ascaridia galli; Capillaria; Heterakis gallinae; Argus persicus; Hexamita meleagridis; Histomonas meleagridis; Trichomonas gallinae; Trypanosoma; T. avium, T. gallinarum; Leucocytozoon sabarazesi, L. caulleryi, L. andrewsi; Aegyptianella pullorum; Aspergillus fumigatus; Trichophyten megnini (Achorion gallinae).*

अन्य कुक्कुट
Other Poultry

White Campbell; Indian Runner; Muscovi; Pekin; Aylesbury; Rouens; Sheldrakes.

हंस
Geese

Chinese, Toulouse, Embden.

पीरू
Turkeys

Norfolk; British White; Beltsville Small White; Broad Breasted Bronze; *Streptococcus; Staphylococcus; Micrococci; Bacilli; Pseudomonas; Achromobactor; Escherichiae; Proteus Aerobactor; Salmonella.*

अनुक्रमणिका

त

थ

द

ध

न

प